शल्यतन्त्र

लेखक

श्री कविराज अत्रिदेव जी गुप्त

विद्यालङ्कार, भिषग्रत्न

प्रकाशक—

मोतीलाल बनारसीदास

हिन्दी-संस्कृत-पुस्तक-विक्रेता

सैदमिट्ठा लाहौर

सन् १९३८] [मूल्य ४)

प्राचीन शल्य-तंत्र

HISTORY OF SURGERY *

1 "Surgery in all countries is as old as human needs

2 A certain skill in the stanching of blood, the extraction of arrows, the binding up of wounds, the supporting of broken limbs by splint, and the like together with an instinctive reliance on the healing power of the tissues has been common to men everywhere

3 In both branches of the Aryan stock surgical practice (as well as medical) reached a high degree of perfection at a very early period

4 Susruta describes more than one hundred surgical instruments made of steel

5 We may give the first place than to the eastern branch of the Aryan race in a sketch of the rise of surgery"

Encyclopædia Britanica

---

(१) एतदेवांगं (शल्यं) प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहात् । यज्ञ-शिर:संधानाच्च ।

(२) अभिमताशुक्रियाकरणात्, यंत्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात् । सर्वतंत्र-सामान्याच्च ।

पहला प्रकरण

सामग्री या साधन

वेद

आर्य जाति के सब से प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। आर्य जाति में उनका मान यहां तक है कि वह स्वतःप्रमाण एवं ईश्वरीय ज्ञान माने गए हैं। वेद चार हैं—ऋग्, यजुः साम और अथर्व।

आर्यों का विश्वास है कि जो विद्याएँ इस देश अथवा अन्य देशों में विस्तृत हुई हैं, वे सब वेद से ही निकली हैं*। यह बात सर्वमान्य है कि संसार के पुस्तकालय में सब से प्राचीन पुस्तक वेद ही है। जिस समय आर्य जाति में वेद की सत्यता की व्याख्या और प्रचार हो रहा था, उस समय शेष जगत् अंधकार में डूबा हुआ था। मनु महाराज ने वेद की निंदा करने वाले को नास्तिक बताया है। ऐसे भी दार्शनिक हैं जो ईश्वर पर विश्वास न रखते हुए भी वेद को सर्वमान्य मानते हैं। अखिल जाति में वेद की प्रतिष्ठा इस बात की सूचक है कि किस प्रकार एक जाति अपनी सभ्यता के आदि स्रोत को प्राणों से भी अधिक प्रिय मानती है।

वेद के निर्माण के समय में मतभेद है। एक मत तो यह मानता है कि वेदों का ज्ञान सृष्टि के आरंभ में हुआ है। इसके मतानुसार वेदों का समय सृष्टि के आरम्भ का समय ही है जो कि १९६०८५३०२४ पूर्व माना जाता है। दूसरा मत वेदों की सत्यता आरंभिक ऋषियों के मस्तिष्क तथा आत्मिक प-

---

* (१) तत्राप्तागमस्तावद्वेदः। यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः सचाप्तागमः। चरक।

(२) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानंद।

विप्रता से उत्पन्न हुई मानता है।

प्रथम मत में वेदों का ज्ञान एक समय में ही हुआ है। कालांतर में वह चार भागों में विभक्त होगए हैं। इनमे से ऋग्वेद सबसे पहले और अथर्ववेद सब से पीछे बना है।

महाभारत

इतिहास की सबसे बड़ी और सब से पहली पुस्तक महाभारत है। इसमें, आचार, विचार, नीति और धर्मशास्त्र का संग्रह किया हुआ है। एक प्रकार से यह उस समय के लिए विश्वकोष (Encyclopædia) है, जैसा कि इसके कर्त्ता भगवान् व्यास ने स्वयं कहा है*। इसके द्वारा उस समय के आचार-सभ्यता पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

महाभारत रामायण से पीछे बना है। इस बात का सूचक रामायण में महाभारत के उपाख्यान या कथानकों का न होना है। महाभारत का समय पांच हज़ार पूर्व का कहा जाता है।

पुराण

पुराणों की संख्या १८ है। इनके कर्त्ता साधारणतः भगवान् व्यास कहे जाते हैं। इसलिए इनका समय भी महाभारत के समीप ही होना चाहिए। पुराणों के द्वारा भी प्राचीन काल की सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र

इसका कर्त्ता चाणक्य माना जाता है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का यह प्रधान मंत्री था। इसके बनाए ग्रन्थ से तात्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जाता है। कहा जाता है कि यह ग्रंथ सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिये बनाया गया था।

कइयों का विचार है कि वात्स्यायन कामसूत्र एवं न्यायदर्शन

---

* यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

आदिपर्व महाभारत।

के सूत्रों पर भाष्य करनेवाले वात्स्यायन मुनि ही चाणक्य हैं।

बौद्ध ग्रंथ (महावग्ग)

इनके बनने का कोई समय निश्चित नहीं है। समय समय पर जो बौद्ध परिषदें हुई हैं, उनमें भगवान बुद्ध के समय की घटनाओं का समावेश किया गया है। तृतीय परिषद् सम्राट् अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई थी।

विदेशी यात्री

भारतवर्ष में सिकंदर के आने के पश्चात् समय समय पर विदेशी यात्री या दूत भ्रमण के लिये आते रहे। सेल्युकस ने अपना प्रतिनिधि (मैगास्थनीज़) मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त के दरबार में भेजा था। उसने पाटलिपुत्र में रहकर उस समय का जो वृत्तांत लिखा है, वह इतिहास के लिये उत्तम सामग्री है। इसी प्रकार एरियन तथा ह्युएनसांग, और फाहियान* के लिखे यात्रावृत्तांत भी उस समय की सच्ची स्थिति का द्योतन कराने में उत्तम सहायक हैं।

अन्य सामग्री

(१) अशोक के शिलालेख--सम्राट् अशोक ने स्थान स्थान पर शिलालेख खुदवाए थे जिन पर राजकीय आज्ञाएँ तथा अपने कार्य लिखवा दिए थे। यह एक स्थायी तथा आवश्यक सामग्री है।

(२) नाटक और काव्य—कवियों ने अपने अपने समय की स्थिति, ऐश्वर्य, सभ्यता आदि पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला है।

---

* एरियन—द्वितीय शताब्दी में भारत में आया था।

ह्युएनसांग—शिलादित्य द्वितीय के समय (६१० से ६५० A. D.) भारत में आया था।

फाहियान—चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय (४०५ से ४११ A. D.) भारत में आया था।

देखिए बौद्धकालीन भारत, प्रो० जनार्दन भट्ट कृत।

दूसरा प्रकरण

वैदिक काल

ऋग्यजुसामाथर्ववेदामामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या ।

आत्रेय ।

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापति' ।

विचिन्त्य तेषामर्थं वै आयुर्वेदं चकार सः ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण ।

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास कई भागों में बँटा हुआ है। यथा वैदिक काल का इतिहास, जिसमें दर्शन तथा उपनिषदों का समय भी सम्मिलित है । दूसरा रामायण और महाभारत काल । तीसरा समय बौद्ध काल का है । इसके पश्चात् मुगल काल आरंभ होजाता है । इस शृंखला में जो समय जितना पुरातन है, वह उतना ही अंधकारपूर्ण है । वैदिक काल की सभ्यता और स्थिति का दिग्दर्शन कराने के एक मात्र साधन वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रन्थ हैं । इन्हीं के आधार पर वैदिक काल के विषय में लिखा जाता है ।

*वैदिक सभ्यता सृष्टि के प्रारम्भ से मानी जाती है; और उसी समय से वैदिक काल का आरम्भ भी गिना जाता है । वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरंभ में हुआ है, ऐसा आर्य जाति का विश्वास है । अतः सृष्टि का समय वेदों का समय है, जो कि १९६०८५३०२४ वर्ष पूर्व है । इसलिये इतने पुराने काल का इतिहास पूर्ण रूप से मिलना असंभव है ।

आर्य जाति वेदों को सब ज्ञान का स्रोत मानती है । प्रत्येक ज्ञान का पदार्थ-विद्या का मूल वेद में पाया जाता है । जिस प्रकार अर्वाचीन विद्युत्-तार-यंत्रादि का मूल वेद में मिलता

है, उसी प्रकार आधुनिक कृत्रिम अंगों की योजना का वर्णन भी वेद में विद्यमान है* ।

ऋग्वेद में आयुर्वेद के संबंध में पर्याप्त मंत्र आए हैं । इस के कारण ही कई आचार्य आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद स्वीकार न करके ऋग्वेद का उपवेद स्वीकार करते हैं† ।

वेदों में जहां देवताओं का नाम-संकीर्तन है वहां आयुर्वेद के जन्मदाता एवं प्रवर्त्तक तीनों आचार्यों (दिवोदास भारद्वाज, अश्विनौ) का नाम-कीर्त्तन भी एक ही ऋचा में किया गया है‡ ।

पीछे जाकर इनमें से प्रथम दो आचार्य चिकित्सा को दो भागों में विभक्त कर देते हैं । दिवोदास (काशीपति, धन्वन्तरि) शल्य तंत्र (School of Surgery) का जन्मदाता है§ । भारद्वाज

---

* तार का वर्णन—" युवं पेदवे पुरुवारमश्विनास्पृधां श्वेतं तरुतारं द्रवस्यथ." ।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

अंगों की योजना—(१) चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णं अजाखेलस्य परितक्म्यायाम् ।
सद्यो जंघामायसीं विशपलायै धने हि ते सर्त्तवे प्रत्यधत्ताम् ॥

(२) तस्मा आश्विना सत्याविचक्र अधसं दस्राभिषजाथर्वन् ।

ऋग्वेद ।

† सर्वेषां वेदानामुपवेदा भवन्ति–तद्यथा ; ऋग्वेदस्यायुर्वेद: उपवेदः, यजुर्वेदस्य धनुर्वेदः, सामवेदस्य गांधर्ववेदः, अथर्ववेदस्य शस्त्रशास्त्राणि ।

चरणव्यूह ।

‡ यद यातं दिवोदासाय वर्त्ति भारद्वाजायश्विनाहयन्ता ।

ऋग्वेद, म० १-१२-१६.

§ ' काशीपतिं दिवोदासं . सुश्रुतः परिपृच्छति"
अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम् ।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतम् प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥

सुश्रुत ।

काय चिकित्सा (School of Medicine) का प्रवर्त्तक है; एवं अश्विनौ के शिष्य इन्द्र से ही दोनों आचार्य विद्याध्ययन करते हैं* । इन्हीं आचार्यों के नाम से दोनों शाखाएँ प्रसिद्ध हो गई हैं† ।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में च्यवन ऋषि की वृद्धावस्था का नाश, आंखों का निर्माण, औषधसूक्त, वैद्य का लक्षण, सजैशन चिकित्सा, जल-चिकित्सा आदि का वर्णन स्थान स्थान पर आता है‡ ।

चरक के आठों निन्दित पुरुषों का संकीर्त्तन यजुर्वेद में किया गया है§ ।

---

* अश्विभ्यां इंद्रः इंद्रादहम् । मया तु प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ।
सुश्रुत ।

† दीर्घजीवितमान्विष्यन् भारद्वाज उपागमत् ।
इंद्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम् ॥ चरक ।
"तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ" ।
चरक ।

‡ वृद्धावस्था का नाश-युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तम् । ऋग्वेद ।
वैद्य का लक्षण-यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥
जल-चिकित्सा-अप्सु मे सोमोऽब्रवीत् अंतर्विश्वानि भेषजा ।
इदमापः प्रवहत यत्किञ्च दुरितं मयि ॥
ऋग्वेद ।
सजैशन चिकित्सा-यदिमावाजयन्नह मोषधीर्हस्त आदधे । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति— ।
ऋषि—भिषगथर्वाणः-देवता-औषधिस्तुतिः ।

§ इह शरीरमधिकृत्य अष्टौ निंदिता पुरुषा भवन्ति-तद्यथा-अतिदीर्घ-अतिह्रस्वः अतिलोमश्चालोमा, अतिकृष्णश्चातिगौरः, अतिस्थूलश्चाति-कृशश्चेति । चरक ।
अथेमान् अष्टौ पुरुषानालभे । यजुर्वेद ।

अथर्व वेद में शारीर शास्त्र (Anatomy), रक्तसंचार (Blood-circulation), मूत्रस्रावण-विधि, तथा यक्ष्मा रोग की चिकित्सा का वर्णन स्पष्ट रूप में किया हुआ है* ।

उपनिषदों में प्राणों के आधार, देवकोष, मस्तिष्क की अश्वत्थ वृक्ष से उपमा दी गई है। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर हैं और शाखा-प्रशाखाएँ नीचे को फैली हुई हैं† । वास्तव में मनुष्य का छोटा मस्तक (Cerebalum) एक वृक्ष की भांति है, जहां से स्नायुओं के १२ युग्मों से ८ युग्म निकलने के साथ पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का भी आदि और अंत है।

वेदों का वक्ता या ज्ञानदाता प्रजापति ब्रह्मा कहा जाता है। आयुर्वेद का आरंभ भी यहीं से माना गया है§ । यही कारण है

---

* शारीरशास्त्र-(१) केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं केन गुल्फौ ।
(२) मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिका प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पुरुषस्य दिवि रुरोह कतमः स देवः ॥
रक्तसंचार-कोऽस्मिन्नापो विदधात् विसूवृतः पुरूवृतः सिन्धु सृत्याय जातः ।
तीव्रा अरुणा, लोहिनीस्ताम्र धूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥
मूत्रस्रावण-यदांत्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधिसंश्रितम् ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्व्वकम् ॥
प्रते भिनद्मि मेहनम् ....
अथर्व वेद ।

"एतदेवाङ्गं प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहात्"
सुश्रुत ।

† (१) ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
गीता ।

(२) प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
तदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥"
चरक।

§ ब्रह्मा प्रोवाच—प्रजापतिरधिजगे ।
सुश्रुत ।

कि न्यायशास्त्र के सूत्र में† मंत्र और आयुर्वेद की प्रमाणता को एक ही कोटि का स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि वैदिक काल में चिकित्सा-शास्त्र विद्यमान था। इसके अतिरिक्त वेद में देवासुर-संग्राम का वर्णन भी आता है। उस संग्राम में क्षत, विक्षत, व्यक्तियों की चिकित्सा आवश्यक थी।

चिकित्साशास्त्र का संबंध आयु के साथ है। इसलिए जब से मनुष्य उत्पन्न हुए, उस समय से ही चिकित्साशास्त्र का प्रारंभ होता है। यही कारण है कि आयुर्वेद भी वेदों की भांति अनादि है‡।

† मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यात् तत्प्रामाण्यम्। न्यायदर्शन।

‡ 'सोऽयं आयुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्।
नहि आयुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते अन्यत्र बोधोपदेशाभ्याम्।"
चरक।

तीसरा प्रकरण

महाभारत और पुराण काल

महाभारत काल और वैदिक काल के बीच में एक बड़ा भारी अंतर पड़ा हुआ है। यदि इस अंतर में रामायण काल न होता तो दोनों कालों में एकदम बहुत परिवर्तन हुआ प्रतीत होता। रामायण काल का इतिहास जो कुछ मिलता है, उसका मुख्य आधार वाल्मीकीय रामायण ही है।

रामायण में भी देवासुर-(राम-रावण के) संग्राम का वर्णन है। उसी युद्ध में लक्ष्मण के मूर्च्छित होने एवं वैद्य के संजीवनी बूटी से पुनः जीवित करने का वृत्त भली भांति पाठकों को विदित ही है।

इसके उपरान्त महाभारत का समय है। महाभारत के आदिपर्व में विचित्रवीर्य के यक्ष्मा रोग का वर्णन* और भीम को दिए गए विष के नष्ट हो जाने का कारण† भली भांति व-

---

* (१) ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन्पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥
सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।
जगामाऽस्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥ आदिपर्व ।

देखिए क्षय, यक्ष्मा का कारण चरक चिकित्सा स्थान में—
रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः ।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ।

. . . .

रजोऽन्धमबलं दीनं यक्ष्मा शशिनमाविशत् । चरक ।

† (२) ततो संदश्यमानस्य तद्विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जंगमेन तु ॥ महाभारत, आदिपर्व ।
स्थावर विष जंगम विष को नष्ट कर देता है । सुश्रुत ।

र्णित है, जो कि चिकित्साशास्त्र के सिद्धांतों से अक्षरशः संगत है।

इसी प्रकार उद्योगपर्व में पदार्थविद्या (जंभसाधकाः) के ज्ञाता पुरुषों के बताए हुए पीतमाक्षिक (स्वर्णमाक्षिक) का वर्णन आता है, जिसके उपयोग से मनुष्य अमर हो जाता है, अंधा सुजाखा बन जाता है, बूढ़ा जवान हो जाता है†।

इसी प्रकार सर्पविष की चिकित्सा का वर्णन सर्प-सत्र के वर्णन में विस्तार से महाभारत के आदिपर्व में दिया हुआ है। तक्षक का कश्यप ऋषि की विद्या को देखकर धनधान्य देकर वापस भेज देना विष चिकित्सा का उत्तम उदाहरण है।

इतना ही नहीं, राजा परीक्षित ने ऋषि शृंगी के दिए शाप से बचने के लिये एक स्तम्भवाला मकान जल में बनाया था; और उसमें मंत्र और औषधसिद्ध पुरुषों की योजना की थी*।

---

† कुंजीभूतं गिरिं सर्वमभितो गंधमादनम्।
दीप्यमानौषधिगणं सिद्धगंधर्वसेवितम्॥
तत्रापश्याम वै सर्वे मधुपीतकमाक्षिकम्।
....
यत्प्राप्य पुरुषो मर्त्योऽप्यमरत्वं नियच्छति॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा।
इति ते कथयंति स्म ब्राह्मणाः जंभसाधकाः॥ महाभारत, उद्योगपर्व।

* ततो वृक्षं मया दष्टं इमं जीवय कश्यप।
× × ×
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत्॥
संमंत्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मंत्रतत्त्ववित्।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम्॥
रक्षाश्च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च।
ब्राह्मणान्मंत्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत्॥ आदिपर्व।

महाभारत के उद्योगपर्व में युधिष्ठिर के सैन्य-संचय का वर्णन करते हुए वर्णन आता है कि उसने चिकित्सक वैद्यों का भी कोष, यन्त्र, आयुधों के साथ संग्रह किया। इसी प्रकार सेना का वर्णन करते हुए लिखा है कि उस सेना में वेतनभोगी शिल्पी और वैद्य भी थे‡।

भीष्म के शरशय्या पर लेटने पर दुर्योधन शल्य निकालने में चतुर वैद्यों को लेकर पितामह के पास आया था। परन्तु जाह्नवी-पुत्र ने धन देकर उनको वापस भिजवा दिया§।

महाभारत काल में भी चिकित्सा जीवित थी, इस बात का दिग्दर्शन उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

महाभारत के समय आयुर्वेद के आठ विभाग होचुके थे† और प्रत्येक विभाग अपनी पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ था। भग-

---

‡ (१) कोषयंत्रायुधांश्चैव ये च वैद्याः चिकित्सकाः।

(२) तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः॥ उद्योगपर्व।

§ उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधुशिक्षिताः॥
तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव।
धनं दत्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः॥
एवं गते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम्।
× × × ×
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः॥ महाभारत।

† (१) कच्चित् ते कुशला वैद्या अष्टांगे च चिकित्सिते।
महाभारत सभा अ० ३५।

(२) अष्टांगायुर्वेदवेत्ता मुष्टियोगविधानवित्॥ हेमाद्रिः
(मुष्टियोग=चुटकुले या छोटे छोटे योग।)

ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वञ्चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्।
सुश्रुत।

वान् कृष्ण भी सभापर्व में अपना परिचय आयुर्वेद के त्रिधातु शब्द (वात, पित्त कफ) से ही देते हैं§।

इसी काल में पुराणों का समावेश है। इनके द्वारा उस समय की स्थिति पर बड़ा भारी प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन काल में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति मुख्य उद्देश्य था और इस उद्देश्य की पूर्ति का एक मात्र साधन शारीरिक आरोग्यता ही है। इसलिये आरोग्यता-दान और जीवन दान को सब दानों में श्रेष्ठ ठहराया है। इस दान के लिये पुराणों में आरोग्यशालाएँ बनने का महान् पुण्य कहा गया है*। इस बात का क्रियात्मक रूप बौद्ध काल में स्पष्ट

---

§ आयुर्वेदविदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते। महाभारत।

वातपित्तश्लेष्माण: एव शरीरसंभवहेतव: तैरेव अव्यापन्नैरधोमध्यो-र्ध्वसन्निविष्टै: शरीरमिदं धार्यते आगारमिव स्थूणाभि:। अत: त्रिस्थूण-माहुरित्येके। सुश्रुत

ऊर्ध्वमूलमध:शाखं त्रि:स्थूणं पञ्चदैवतम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित्॥ गयी।

* (१) धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।

*(२) न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते।
आरोग्यशालां य: कुर्यात् महावैद्यपुरस्कृताम्। चरक।
सर्वोपकरणोपेतां तस्य पुण्यफलं शृणु॥
आकाशस्य यथा नान्त: सुरैरप्युपलभ्यते।
तद्वदारोग्यदानस्य नान्तो वै विद्यते क्वचित्॥ स्कंदपुराण।

(३) आरोग्यदानात्परमं न दानं विद्यते क्वचित्।
अतो देयं रुजार्त्तानां आरोग्यं भाग्यवृद्धये॥ विश्वामित्र।
रोगिणो रोगशान्त्यर्थं औषधं य: प्रयच्छति।
रोगहीन: स दीर्घायु: सुखी भवति सर्वदा॥ सौर पुराण।

रूप से दिखाई देता है। इन फलों को सुनकर राजाओं ने अपने राज्य में आरोग्यशालाएँ खोलीं जैसा कि बौद्ध काल में अशोक और शिलादित्य द्वितीय आदि ने किया था† ।

---

† Everywhere in the kingdom of the king Piyadarsi beloved of the gods, and also by the nation who live in the frontiers such as the Cholas, the Pandyas, the realms of Satyaputra and Karalputra, as far as Tamraparni and in kingdom of Antiochus (King of the Greeks) and of the kings who are his neighbours, everywhere the king of Piyadarsi beloved of the gods has provided medicine of two sorts, medicine for men and medicine for animals.

चौथा प्रकरण

बौद्ध काल

बौद्ध काल का इतिहास प्राचीन दोनों कालों की अपेक्षा उज्ज्वल है। इसका मुख्य कारण भारत का विदेशों के साथ संबंध है। ग्रीस, रोम आदि में भारत के इतिहास की जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके आधार पर तथा विदेशियों के यात्रावृत्तांत और अशोक के शिलालेखों से इस समय का इतिहास बना है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो बौद्ध काल सम्राट् अशोक के समय से आरंभ होता है। कारण यह कि उस समय यह धर्म राजकीय धर्म बन जाता है, जिससे इसका प्रचार केवल भारत ही में परिमित नहीं रहता, अपितु चीन, लंका, सुमात्रा, जावा, मिस्र आदि स्थानों में भी फैल जाता है।

सम्राट् अशोक ने तीसरी बौद्ध परिषद् की बैठक की थी। उसमें भगवान् बुद्ध के समय की घटनाओं का संग्रह भी किया गया था। वे संग्रह भी बुद्ध के समय की घटनाओं के अच्छे द्योतक हैं। उन्हीं के आधार पर वैद्यक संबंधी बहुत सी गवेषणा हो सकती है।

महावग्ग में लिखा है कि जीवक ने भगवान् बुद्ध की चिकित्सा की थी। यही जीवक राजा बिंबिसार का राजवैद्य था। जीवक ने तक्षशिला विश्वविद्यालय में सात साल तक आयुर्वेद का अध्ययन किया था। इसी ग्रन्थ में लिखा है कि जब जीवक तक्षशिला में पढ़ा करते थे तब उनके गुरु ने उन्हें ऐसी औषध लाने को कहा जिसमें कि कोई गुण न हो, निरर्थक हो। जीवक एक योजन घेरे में घूमे, परंतु कोई निरर्थक औषध नहीं ला सके§।

---

§ देखिए बौद्धकालीन भारत—लेखक जनार्दन भट्ट एम० ए०।

चिकित्सा-प्रबंध का वर्णन सम्राट् अशोक के द्वितीय शिलालेख में इस प्रकार है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं, जैसे चोल, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, और ताम्रपर्णि में अंतियोक नामक यवन राजा के राज्य में और जो उसके पड़ोसी राजा हैं, उन सबके राज्यों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजाओं ने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। एक मनुष्यों की चिकित्सा दूसरी पशुओं की चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं के लिये जहां जहां औषधियां नहीं थीं, वहां वहां लाई गई और रोपी गई हैं।"

इसी प्रकार जातकों में दिए हुए तक्षशिला के वर्णन से प्रतीत होता है कि इस विद्यालय में वेद-वेदांगों के अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, मूर्त्तिनिर्म्माण और चित्रकारी की भी शिक्षा दी जाती थी। किसी समय महर्षि अत्रि यहां आयुर्वेद के अध्यापक थे। मगध-नरेश बिंबिसार के राजवैद्य जीवक ने यहीं अध्ययन किया था।

इस विश्वविद्यालय में आयुर्वेद की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध था आयुर्वेद के बड़े बड़े बड़े ज्ञाता और शिक्षक यहां रहते थे। वे केवल शिक्षा ही नहीं देते थे, अपितु असाध्य रोगों की चिकित्सा भी करते थे। यहां अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों की अधिकता थी। कहा जाता है कि चीन के राजकुमार को एक बार भयानक नेत्रपीड़ा हुई। जब वहां के चिकित्सकों से वह अच्छी नहीं हुई, तब वह तक्षशिला में आया था और यहां से अच्छा होकर गया था। यह वर्णन अश्वघोष के सूत्रालंकार में है।

महावग्ग में लिखा है कि भगवान् बुद्ध के समय अश्वघोष ने भगंदर रोग (fistula in ano) में शल्यकर्म किया था। पश्चात् बुद्ध ने स्थान के मृदु होने से तथा व्रण के पूर्ण साफ़ न होने के

कारण शल्यकर्म का निषेध कर दिया। इसी प्रकार इस रोग में दाहकर्म भी सर्वथा निषिद्ध कर दिया था*।

यही कारण है कि जीवक ने राजा बिंबिसार का यह रोग प्रलेपों के द्वारा ही अच्छा किया था*।

भगवान् शंकराचार्य को जब भगंदर रोग हुआ, तब भी वैद्यों ने शल्यकर्म नहीं किया*।

इसी प्रकार महावग्ग में लिखा है कि रोगी और परिचारक में निम्न बातें होनी चाहिएँ। रुग्ण पुरुष को पता होना चाहिए कि—

(१) मेरे लिये क्या वस्तु उत्तम है।

(२) मेरे लिये भोजन की कितनी मात्रा उत्तम है†।

(३) मेरे औषध लेने का क्या समय है।

(४) मेरे लिये कौन सी धात्री उत्तम है‡।

(५) मुझे किस प्रकार का रोग है।

(६) मैं बुरी अवस्था से अच्छी अवस्था में आ रहा हूँ या नहीं।

---

* अचिकित्स्यभगन्दराख्यरोगे प्रसरच्छोणितपंकिल स्वशाख्यां।
अजुगुप्स विशो घनादिरूपां परिचर्य्यां अकृताऽस्य तोटकार्य्यः॥

"And Givaka healed the fistula of the Magadha King Bimbisar by an ointment."

महावग्ग अ० ८ और अ० ६।

निगदिते मुनिनेति भिषग्वरा विदधिरे बहुधा गदसत्क्रियाः।
न च शशाम गदो बहुतापदो विमनसः पटवो भिषजोऽभवन्॥

शंकरदिग्विजय, अ० १६।

† मात्राशी स्यात्। चरक।

‡ भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्। चरक।

चिकित्सक औषध, रोगी और परिचारक यह चारों ठीक हों तो चिकित्सा सफल होती है।

(७) मैं तेज़, काटनेवाले; दुःखदायी, नाश करनेवाले दर्दों को कब सहने योग्य हो जाऊँगा।

परिचारक को पता होना चाहिए कि—

(१) कब यह औषध देने योग्य होगा।

(२) रोगी के लिये कौनसा भोजन उत्तम है।

(३) रोगी को किस समय सेवा की आवश्यकता है।

(४) वह रोगी से प्रेम करता है वा नहीं? उसका थूक, वमन आदि उठाने में उसे घृणा तो नहीं है।

(५) वह रोगी को प्रेम से पढ़ा और धार्मिक शिक्षा दे सकता है वा नहीं§।

रोगियों की सेवा (आरोग्यदान) का पुण्य बौद्ध काल में कितना बढ़ा हुआ था, यह बात विशाखा और भगवान् बुद्ध के वार्त्तालाप से स्पष्ट हो जाती है।

विशाखा ने प्रथम वर द्वारा भगवान् से अपनी दीर्घायु मांगी। और एक वर से "रोगियों के लिये, तथा जो रोगियों की सेवा करते हैं, उनके लिये जन्म भर भोजन और औषध दान करने की आज्ञा मांगी थी"।

कारण यह कि वह जानती थी कि यदि रोगी को समय पर उचित भोजन और औषध नहीं मिल सकी, तो रोग बढ़ जायगा। इसी प्रकार यदि परिचारक को अपने भोजन की चिंता स्वयं करनी पड़ी, तो वह पूर्ण रूप से सेवा नहीं कर सकता। अतः संघ में जन्म भर इन दोनों के दान की आज्ञा मांगी। (देखिए परिशिष्ट में महावग्ग)

भारतवर्ष में बौद्ध काल के समय आरोग्यदान के पुण्य का कितना महत्त्व था, यह विदेशी यात्रियों के वर्णन से स्पष्ट होती

---

§ उपचारज्ञता दाक्ष्यं अनुरागश्च भर्त्तरि।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने॥ चरक।

है। इसके साथ उस समय के चिकित्सा ज्ञान के विषय में भी समय समय पर आनेवाले यात्रियों ने उत्तम प्रकाश डाला है।

(१) मेगास्थनीज जो सम्राट् चंद्रगुप्त के समय भारत में दूत बनकर आया था, लिखता है-"भारत में सबसे अधिक प्रतिष्ठा उन शर्मनों की है जो जंगलों में घूमते फिरते हैं। उसके बाद उन लोगों की है जो रोगियों की चिकित्सा करते हैं।"

(२) एरियन लिखता है—"यूनानी लोग जब बीमार होते थे, तब मिथ्यावादी ब्राह्मणों से चिकित्सा करवाते थे। वे लोग अद्भुत और मनुष्य शक्ति के बाह्य उपायों से उन सब रोगों को अच्छा कर देते थे जो अच्छे होने योग्य होते थे।"

(३) नियार्कस, जो सिकन्दर का सेनापति था, लिखता है—"यूनानी लोग सांप काटने की औषध नहीं जानते। परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने स्वस्थ कर दिया।"

(४) ह्युएनसांग—यह चीनी यात्री शिलादित्य द्वितीय के समय भारत में आया था और इसने बहुत वर्षों तक भारत में भ्रमण किया था। यह अपने लेखों में लिखता है कि राजा ने अपने राज्य में पशु-वध की मनाही करदी है। बड़े बड़े शहरों और गांवों में उसने औषधालय खोल रक्खे हैं जिनमें रोगियों को वस्त्र, और औषध मुफ्त दी जाती है। आगे चलकर यही यात्री लिखता है कि भारत में "पुण्यशालाओं" का होना साधारण बात है। तक्षशिला का वर्णन करते हुए लिखा है कि धर्मार्थ धर्मशाला (Goodness or Happiness Punyasala) गरीबों और अनाथों के लिये खुले हुए हैं। वहां उनको आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त भोजन, औषध, वस्त्र सब मुफ्त बांटे जाते हैं जिससे उनको कष्ट न हो। आगे चलकर मतिपुर (Matipur) और मथुरा की पुण्यशालाओं का वर्णन किया है, जहां विधवाओं और गरीबों को बिना मूल्य औषध और भोजन

दिया जाता था। कबंध की पुण्यशाला का भी वर्णन लिखा है। मुलतान की पुण्यशाला (Mercy) के विषय में लिखा है कि वहां भोजन, पान औषध सब मुफ्त दी जाती थी।

शिलादित्य के विषय में लिखा है कि प्रति वर्ष वह दूर दूर से उपदेशकों को बुलाकर एकत्र करता है; और तीसरे एवं सातवें दिन उनको वस्त्र भोजन औषध वितरण करता है।

(५) फहियान—यह चद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय भारत में भ्रमण करने आया था। यह अपने लेखों में पाटलिपुत्र के धर्मार्थ औषधालय का वर्णन निम्न शब्दों में करता है—

'इस नगर के भद्र पुरुषों ने गरीबों के लिये शहर में स्थान स्थान पर औषधालय खोल रक्खे हैं, जहां पर चिकित्सक उनके रोगों की परीक्षा करके भोजन, वस्त्र और औषध देते हैं। अच्छा होने पर वह अपनी सुविधा के अनुसार जहां चाहते हैं, चले जाते हैं।"

इन यात्रियों के वर्णन से प्रतीत होता है कि भारत में पुण्यशालाओं और आरोग्यशालाओं का महत्त्व अधिक माना जाता था जो कि आज तक उसी प्रकार बना हुआ है। इस समय भी उसी पुण्य को ध्यान में रखकर धनी जन पुण्यशालाएँ, धर्मशालाएँ, औषधालय खुलवाते हैं, जहां रोगियों को औषध बिना मूल्य वितरित की जाती है।

जिस प्रकार आजकल बड़े बड़े शहरों में जनसाधारण के लिये प्रसूतिकागृह (Materniary Hospitals) खोले जाते हैं, उसी प्रकार बौद्ध काल में भी उपासित ने गर्भवती स्त्रियों और अंधों के लिये औषधालय खोल रक्खे थे।

संक्षेप से यदि हम बौद्ध काल का अन्वेषण करें तो दया-अहिंसा के भाव से प्रेरित होकर ही बुद्ध भगवान ने इस धर्म का बीजारोपण किया। दया धर्म से ही प्रेरित होकर सम्राट् अशोक कलिंग देश को जीतने के

पश्चात् बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ और अंत तक इस धर्म का दया ही मूल-मंत्र रहा। उसी दया भाव से प्रेरित होकर राजाओं और धनियों ने स्थान स्थान पर दातव्य औषधालय खोले। महावग्ग से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के समय में भी विहारों में चिकित्सक रहते थे†। जो रुग्ण श्रमणों की चिकित्सा करते थे। यह चिकित्सा शल्य चिकित्सा भी होती थी। जैसा कि महावग्ग के पढ़ने से ज्ञात होता है अश्वघोष ने वेलुवन के विहार में एक भिक्षु के भगंदर का शल्य कर्म किया था*; एवं इसी काल में प्रसिद्ध शालाक्य तंत्र (Cranial Surgery) का ज्ञाता, राजा बिंबिसार का राजवैद्य जीवक हुआ है।

इस काल में चिकित्साशास्त्र पूर्ण उन्नति के शिखर पर था। इस काल की घटती के साथ ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म घटता गया, त्यों त्यों चिकित्साशास्त्र की भी अवनति आरंभ हो गई, विशेषतः शल्य-तंत्र की।

---

* देखिए Ancient Surgical Instruments Vol. I, और परिशिष्ट।

पांचवां प्रकरण

ग्रंथ

भारत में चिकित्सा, विशेषत: विष-चिकित्सा का कितना प्रचार था, यह बात तत्कालीन ग्रंथों और काव्यों से भली भांति ज्ञात हो जाती है।

कामन्दकी नीतिशास्त्र में भोजन की परीक्षा को आवश्यक बताया है। इतना ही नहीं भोजन की परीक्षा के अतिरिक्त राजा को आवश्यक है कि पीने से पूर्व औषध या पानी की परीक्षा करले। राजा अपने यहां विषवैद्य रखे* । इसी शास्त्र में लिखा है कि अपने शत्रुओं का पराजय करने में राजा चिकित्सकों से सहायता ले† ।

---

* (१) विषघ्नैरगदैः स्नातः विषघ्नमणिभूषितः ।
परीक्षितं समश्नीयाज्जाङ्गुलीविद्भिषग्वृतः ॥
औषधानि च सर्वाणि पानं पानीयमेव च ।
तत्कल्पकैः समास्वाद्य प्राश्नीयाद्भोजनानि च ॥

(२) भिषग्भेदेन वा शत्रुं रसदानेन साधयेत् ।

† सुश्रुत के कल्पस्थान में लिखा है कि शत्रु राजा को मारने के लिये, या सैन्य को मूर्छित, करने के लिए पानी, कुएँ तालाब, वायु घोड़े की काठी, खड़ाऊं, जूता, वस्त्र आदि विषाक्त कर देते हैं । अतः वैद्य इसकी परीक्षा करके प्रतीकार करे ।

(१) औरंगजेब ने जयसिंह के पुत्र को विषयुक्त खिलअत पहनाकर ही मारा था ।

(२) चाणक्य ने राजा महानन्द का नाश विषयुक्त भोजन देकर किया था ।

(३) राजा पर्वतेश्वर को राक्षस की भेजी विषकन्या के द्वारा ही चाणक्य ने मारा था । विषकन्या बनाने के लिये कन्या को बचपन से ही विष खिलाया जाता है । प्रथम मात्रा घातक नहीं होती है । और फिर धीरे धीरे उसे यहां तक पहुंचा देते हैं कि जो मात्रा दूसरों के लिये

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपर्युक्त नीतिशास्त्र के अनुसार भोजन, पानी और औषध की परीक्षा दी हुई है। इसके अतिरिक्त आशुमृत-परीक्षा देकर न्यायवैद्यक (Medical Jurisprudence) की स्थिति का दिग्दर्शन भी कराया है, जिससे विष, फांसी आदि से मरे हुओं की परीक्षा की जा सके† ।

भविष्यपुराण में सर्पों की जाति, उत्पत्ति, देशभेद, चिकित्सा आदि का अति विस्तार से वर्णन है । सर्पचिकित्सा में यहां के निवासी कितने कुशल थे यह बात सिकन्दर के सेनापति नियार्कस की उक्ति से स्पष्ट है । इतना ही नहीं, सिकन्दर के कई सौ वर्ष बाद होने वाले कालिदास ने भी सर्पचिकित्सा के विषय में "मालविकाग्निमित्र में लिखा है ।

विदूषक को जब पुष्पसंचय करते समय सर्प ने काट लिया, उस समय परिव्राजक ने सर्पचिकित्सा का सब से पूर्व

घातक होती है वही उसे सह्य हो जाती है । इससे कन्या में एक विषाक्त शक्ति उत्पन्न हो जाती है । यह विष उसके शरीर के सब रसों में व्याप्त हो जाता है । ऐसी अवस्था में यदि कोई उसका चुम्बन या सहवास करे, तो वह उस विष से मर जाता है ।

......हन्ति गम्यमाना च मैथुने । डल्हण ।

देखिए सुश्रुत कल्पस्थान ।

आजकल भी Serum तैय्यार करने के लिये यही विधि काम में लाई जाती है । भेद इतना ही है कि वह प्राय: घोड़ों पर से बनाते हैं । प्राचीन काल में शत्रुओं को मारने के लिये राजा लोग विषकन्याएँ (स्त्री चायुधं कुसुममिहात्मजश्च .महाभारत) समीप रखते थे ।

† तस्मादस्य जांगलीविदो भिषजश्चासन्ना स्यु: ।

भोजनविष-परीक्षा के लिये देखिए कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण-विनयाधिकारे आत्मरक्षितम् ।

आशुमृत-परीक्षा के लिये ,, ,, ,, प्रकरण—कण्टकशोधने चतुर्थेऽधिकरणे आशुमृतकपरीक्षा ।

कर्म "दंशच्छेद" करने को कहा. जो चरक में सर्पचिकित्सा का मुख्य और सर्वोत्तम सूत्र बताया गया है और जिससे रक्त निकलने के साथ विष भी निकल जाता है। पश्चात् विदूषक की चिकित्सा ध्रुवसिद्धि द्वारा कराई गई है, जो विषवैद्य था‡।

भोजप्रबन्ध में संज्ञापहरण करके शल्यकर्म करने का विधान स्पष्ट रूप से दिया हुआ है। राजा के पानी का नस्य लेते समय दो कृमि नासा-मार्ग से मस्तिष्क में पहुंच गए थे। उनकी चिकित्सा के लिये यह शल्यकर्म करने की आवश्यकता हुई थी†। (राजा भोज का समय सन् ६२७ ईस्वी है।) इस प्रकार यह ग्रंथ भी उस समय की चिकित्साप्रणाली पर प्रकाश डालने के साथ उस समय के चिकित्साशास्त्र की उन्नति का दिग्दर्शन कराता है।

---

‡ विदूषक परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेणास्मि दष्टः।

परिव्राजक-तेन हि दंशच्छेदः पूर्वकर्मेति श्रूयते। स तावदस्य क्रियताम्।

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतस्य रक्तमोक्षणम्।

एतानि दष्टमात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः।

जयसेन-ध्रुवसिद्धिर्विज्ञापयति उदककुम्भपिधानेन सर्पमुद्रा कल्पयितव्या।

धारि-इदं सर्पमुद्रमंगुलीयकम्।

निपुणक-अपि च ध्रुवसिद्धिना चिकित्सितम्। मा ते विशङ्कितम् पापम्। मालविकाग्निमित्र, चतुर्थ अङ्क।

देखिए चरक और सुश्रुत में विषचिकित्सा।

† 'ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य सन्धानकरण्या मुद्रया कपालं यथावदारस्य संजीवन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तद्दर्शयताम्।" भोजप्रबन्ध।

देखिए सुश्रुत में सम्मोहन-विधि, सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान में मूढगर्भ।

छठा प्रकरण

चिकित्सा-शास्त्र की अवनति ।

अधमः शस्त्रदाहाभ्यां सिद्धवैद्यस्तु मांत्रिकः ।

बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव उस समय हुआ था जब कि यज्ञादि का प्रचार बहुत बढ़ गया था और यज्ञ में बलि का प्रचार चल पड़ा था । इसके अतिरिक्त समाज ब्राह्मणों के कारण बहुत दुःखित हो गया था । कारण ब्राह्मणों ने संपूर्ण विद्याओं पर आधिपत्य जमा रखा था । यह मध्य काल था । इस समय भगवान् बुद्ध ने जनता की अभिरुचि के अनुसार ही "अहिंसा" और "दया" के मूल मंत्र का प्रचार किया; सब वर्णों को समान बताया । धर्म का मूलसूत्र दया जानकर जनता की अभिरुचि यज्ञादि से हटकर बौद्ध धर्म में हो गई । अंत में यह धर्म सम्राट् अशोक के समय में राजकीय धर्म बन गया । इस समय दया के भाव को पूर्ण करनेवाली आरोग्यशालाओं का प्रचार दूर दूर तक हो गया था ।

इसी दया भाव से प्रेरित होकर साधारणतः शस्त्रकर्म की ओर अभिरुचि निम्न लिखित कारणों से न्यून होने लगी थी—

(क) इस कर्म में रोगी को कष्ट और यंत्रणा होती है; अतः रोगी और चिकित्सक दोनों कष्ट से बचने लगे ।

(ख) महावग्ग से प्रकट होता है कि भगवान् बुद्ध ने आज्ञा द्वारा शल्यकर्म, क्षारपातन और दहन क्रिया का निषेध कर दिया था‡ ।

अतः लोगों की तथा चिकित्सकों की रुचि इस कर्म से बचने की ओर होने लगी । वे रोग को अच्छा करने के लिये अन्य साधन ढूंढने लगे ।

इसी समय प्रसिद्ध बौद्ध वैज्ञानिक नागार्जुन का जन्म

---

‡ देखिए महावग्ग अ० ६ ।

हुआ। उसने एक अन्य विधि को जन्म दिया। उस चिकित्सा में मात्रा के छोटे होने से तथा शीघ्र प्रभाव करने से उसका बहुत प्रचार हो गया। उस चिकित्सा को नागार्ज्जुनीय चिकित्सा कहते हैं§।

इसी समय Hypnotic suggestion का भी जन्म हुआ। मनुष्यों का विश्वास पहले चिकित्साशास्त्र से उठने लगा; अतः यह चिकित्सा लोकप्रिय होने लगी।

मनुष्य शस्त्रचिकित्सा से भयभीत होते थे; अतः आवश्यक प्रतीत हुआ कि अन्य ऐसी चिकित्सा का अवलंबन किया जाय जो इतनी बीभत्स एवं कष्टदायक न हो। इसके लिये नागार्ज्जुन ने दैवी चिकित्सा* को जन्म दिया, जिसमें पारद एवं धातुओं का प्रयोग किया जाता है।

मनुस्मृति के काल में धर्म की ओर विशेष रुचि हो गई थी; अतः हर समय शुद्धता का विशेष रूप से ध्यान रखे जाने का आदेश दिया जाने लगा। परंतु इस विद्या में शुद्धता का ध्यान रखना अति कठिन था, अतः उस समय के ग्रंथकारों ने चिकित्सकों के अन्न को त्याज्य और दूषित बताया¶।

§ नागार्ज्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाक्षरैः ब्रूमः॥—चक्रदत्त।

* दिव्यौषधिं विना देवि! शस्त्रविद्या सुनिष्फला।
वैरूप्यं कुरुते या च दुश्चिकित्स्ये व्यधान्तरे॥
जायन्ते हि च पार्शासि पारितानि पुनः पुनः।
किं तत्र शस्त्रसाध्यं स्याद् सुसिद्धिः भेषजैर्विना॥

¶ "पूयं चिकित्सकस्यान्नं ...."
चिकित्सकान्देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युः हव्यकव्ययोः॥

मनु० अ० ३—१२।

च्यवन ऋषि को अच्छा करके अश्विनीकुमारों ने यज्ञभाग प्राप्त करने

विना राज्य की सहायता के कोई शास्त्र उन्नति नहीं कर सकता। सम्राट् अशोक के समय में प्राचीन चिकित्सा-पद्धति का सूर्य जैसा चमक रहा था, वैसा ही मुगल काल में हिकमत का और वर्तमान काल में आंग्ल चिकित्सा का चमक रहा है। राजकीय पद्धति के आगे दूसरी पद्धति चाहे कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, सफल नहीं होसकती। यही बात मुगल काल में आयुर्वेद के साथ हुई।

प्राचीन ग्रंथों में अनिपुण, छद्मवेशी चिकित्सकों के लिये प्राणदंड का विधान था। राज्य की ओर से दूसरा दंड विधेय नहीं था। ऐसे चिकित्सकों के प्रचार का कारण राजाओं का प्रमाद ही बताया गया है†।

चिकित्साशास्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिये शवच्छेद आवश्यक है; परंतु घृणा तथा अशुद्धता के कारण वह छोड़ दिया गया था। इस प्रकार चिकित्साशास्त्र से धीरे धीरे लोगों की अभिरुचि कम होने लगी‡।

इन सब कारणों से चिकित्सा-प्रणाली को एक धक्का लगा, जिससे वह अवनति के गढ़े में गिरने लगी।

की भिक्षा मांगी थी। इसके देने के लिये ऋषि ने पुरोहित बनकर अपने श्वशुर राजा से यज्ञ कराया था। बीच में इंद्र ने विघ्न डाला; परंतु ऋषि के शाप से इन्द्र को भुजस्तंभ हो गया। अंत में उनका भाग स्वीकार करने पर अश्विनीकुमारों ने भुजस्तंभ अच्छा किया था।

देखिए महाभारत आदिपर्व।

† राज्ञां प्रमादात् चरन्ति राष्ट्राणि। —चरक।
राज्ञः तं वधमर्हति। —सुश्रुत।

‡ तस्मान्निःसंशयज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वांछता।
शोधयित्वा मृतं सम्यक् द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥ —सुश्रुत।

सातवाँ प्रकरण

चरक और सुश्रुत

कन्यान्तःपुरबाधनाय यदधीकाराद्दोषानयं
द्वौ मंत्रिप्रवरश्च तुल्यमगदंकारश्च तावूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्यानलदं विना न दलने तापस्य कोपीश्वरः ॥-नैषध।

यद्यपि आयुर्वेद के आठ अंग हैं, तथापि मुख्य रूप से दो ही अंग (कायचिकित्सा और शल्य तंत्र) प्रधान हैं। शेष अंगों का समावेश इन्हीं दोनों अंगों में हो जाता है। इन दोनों अंगों में भी धन्वंतरि ने शल्य तंत्र को सब से प्रधान ठहराया है§।

इन दोनों के जन्मदाता दो व्यक्ति हैं। शल्य-तंत्र के जन्मदाता काशीपति दिवोदास' धन्वंतरि हैं और कायचिकित्सा के जन्मदाता भारद्वाज ऋषि हैं। इन्हीं दोनों मतों के प्रसिद्ध दो ग्रंथ (सुश्रुत और चरक) आज कल मिलते हैं। शेष ग्रंथों में आत्रेय (चरक से) या सुश्रुत के ही वचन संगृहीत किए गए हैं।

चरक संहिता

चरक संहिता के प्रथम अध्याय में आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताते हुए कहा है कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद सब से पहले दक्ष प्रजापति को पढ़ाया। दक्ष से अश्विनीकुमारों ने पढ़ा। अश्विनीकुमारों का शिष्य इंद्र बना। इंद्र से भारद्वाज ने आयुर्वेद पढ़कर उसका प्रचार किया।

---

§ ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चावलोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यं, अगदतंत्रं, रसायनतंत्रं, वाजीकरणतंत्रमिति।

एतदेव अंगं प्रथमं प्रागभिघातव्रणसंरोहाद् यज्ञशिरःसंधानाच्च।

—सुश्रुत।

यही उपाख्यान सुश्रुत में भी है; पर वहां कहा है कि इंद्र से धन्वंतरि दिवोदास ने पढ़ा और उसने सुश्रुतादि ऋषियों को पढ़ाया।

भारद्वाज के कई शिष्य थे जिनमें से पुनर्वसु आत्रेय मुख्य थे*। आत्रेय के अग्निवेश, भेल, हारीत, जतूकर्ण, पराशर, क्षारपाणि ये छः शिष्य थे। इनमें से प्रत्येक ने पृथक् पृथक् ग्रंथ बनाए। चरक संहिता आत्रेय के प्रधान शिष्य अग्निवेश की बनाई हुई है। वर्तमान संस्करण चरक मुनि का किया हुआ है। वर्त्तमान संपूर्ण संहिता चरक मुनि द्वारा संपादित नहीं; अंतिम चौवालीस अध्यायों को पंचनद प्रांत निवासी दृढबल ने पूर्ण किया है। भेल और हारीत के ग्रंथ भी मिलते हैं। भेल के ग्रथ की हस्तलिखित प्रति तंजौर के पुस्तकालय में है। एक प्रति कलकत्ते में छप भी चुकी है।

चरक के विषय में मतभेद है। हिंदू लोग चरक को अत्यंत प्राचीन काल का मानते हैं; परंतु यूरोपियन विद्वान् उसको इतना पीछे नहीं ले जाना चाहते।

सिल्वेन लेवी (Sylvain Levi) ने बौद्ध त्रिपिटकों का चीनी अनुवाद पढ़कर बतलाया है कि "चरक" कुषण राजा कनिष्क के राजवैद्य थे। परंतु इस बात को मानने में निम्न लिखित आपत्तियां हैं—

(१) कनिष्क का समय पूर्ण रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता। विन्सेन्ट स्मिथ ने उसे प्रथम शताब्दी ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बीच में रखा है। यह तीन सौ

* "आत्रेय" शब्द से चरक संहिता में दो भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं- एक पुनर्वसु या कृष्णात्रेय; दूसरे भिक्षुक आत्रेय, जैसा कि सूत्रस्थान में भिक्षुक आत्रेय की उक्ति का कृष्णात्रेय द्वारा खंडन किए जाने से स्पष्ट है। अन्यत्र भी "देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयचिकित्सतम्" आदि में कृष्णात्रेय ही प्रधान था जैसा कि चरक से स्पष्ट है।

वर्ष की सीमा थोड़ी नहीं। बौद्ध त्रिपिटक में चरक को केवल राजवैद्य लिखा है, प्रामाणिक ग्रंथ का निर्माता नहीं लिखा। अतएव यह कहना कठिन है कि चरक संहिता के कर्त्ता और कनिष्क के राजवैद्य एक ही हैं।

(२) हिंदू वैद्य चरक को अत्यंत पुराना बतलाते हैं। इस पर यदि एकदम विश्वास नहीं तो अविश्वास भी नहीं कर सकते। वे चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट इन तीनों में से चरक को ही प्राचीनतम मानते हैं†।

(३) डा० पी० सी० राय का कथन है कि कई वेद-मंत्रों में चरक का नाम आता है। यदि यह ठीक है तो "चरक" एक पद है। बौद्ध त्रिपिटक में कनिष्क के जिस राजवैद्य का नाम आया है, संभवतः उसे यह पद मिला हो। यह सर्वथा असंभव नहीं, कारण वाग्भट्ट सिंध के चरक कहलाते हैं।

(४) पाणिनि ने अग्निवेश और चरक के नाम पर पृथक् पृथक् सूत्र बनाए हैं*। अतएव पाणिनि से पूर्व ये नाम अवश्य प्रसिद्ध होंगे। प्रोफेसर गोल्डस्टकर ने यह सिद्ध किया है कि पाणिनि छठी शताब्दी ई० से पूर्व के नहीं।

(५) बौद्धकालीन भारत में प्रो० जनार्दन भट्ट ने लिखा है कि अत्रि ऋषि किसी समय तक्षशिला में आयुर्वेद के अध्यापक थे। उसी विद्यालय में पाणिनि को भी अध्यापक माना है।

(६) पतंजलि ने चरक पर टीका की है। पतंजलि द्वितीय शताब्दी ई० पू० में हुए थे। अतः चरक उनसे बहुत पहले

---

† चरकः सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथापरः।
मुख्याश्च संहिता वाच्याः तिस्र एव युगे युगे॥
अत्रिः कृतयुगे वैद्यो, द्वापरे सुश्रुतो मतः।
कलौ वाग्भट्टनामा च, गरिमात्र प्रदृश्यते॥　　——हारीत।

* "कठचरकाल्लुक्" गर्गादिभ्यो यञ्-(गर्ग-वत्स, अग्निवेश, पराशर, जतुकर्ण...... .)

हो चुके होंगे। तब तक चरक का ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध हो चुका होगा; अन्यथा वे टीका ही क्यों करते§।

(७) महाभारत में "कृष्णात्रेय" का नाम चिकित्सा के संबंध में आता है*।

(८) ब्रह्मसूत्र में "आत्रेय" का नाम आता है, जिसके कर्त्ता भगवान् व्यास कहे जाते हैं।

(९) चरक के आदि में किसी देवता के प्रति नमस्कार नहीं है। परन्तु पिछले ग्रन्थों में नमस्कार की प्रथा है। पुराने ग्रंथों में इस प्रकार की कोई प्रथा नहीं||। अतएव पौराणिक साहित्य का कम से कम चरक के समय तक विकास नहीं मालूम होता। चरक में बुद्ध भगवान् की कहीं चर्चा नहीं है। यदि चरक का कर्त्ता कनिष्क का राजवैद्य ही होता, तो अवश्य इसकी चर्चा करता। कारण, कनिष्क स्वयं बौद्धधर्मानुयायी था और धार्मिक बातों में बहुत योग देता था। अशोक ने जन-साधारण के लिये जो औषधालय खोले थे, उनके उल्लेख के साथ चरक में उन औषधालयों का भी वर्णन है जो बड़े बड़े धनी लोगों के लिये ही उपयोगी हो सकते थे†।

---

§ (१) पातंजल-महाभाष्य चरकप्रतिसंस्कृते।
मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥

(२) योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
अपाकरोत् यः प्रवरो मुनीनां पतञ्जलिस्तं शिरसा नमामि॥

* देवर्षिचरितं गार्ग्यः कृष्णात्रेयचिकित्सितम्।
—महाभारत, अनुशासनपर्व।

"स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः" अ० ३। पा० ४। सू० ४४।

|| महाभारत के आदि में ही सरस्वती देवी और व्यास के लिये कीर्त्तन आता है। यथा—

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।

† 'दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपरजसामन-

(१०) चरक संहिता का क्रम, लेखनशैली आदि प्रायः ब्राह्मण ग्रंथों और न्याय वैशेषिक आदि दर्शनों से मिलती है। और यह प्राचीन-शैली इस बात का प्रमाण है कि चरक संहिता का निर्माण भी उसी समय हुआ था।

(११) चरक संहिता में वाद, प्रतिवाद, वितंडा, छल एवं प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान आदि प्रमाणों को न्याय दर्शन की भांति माना है तथा सांख्य दर्शन के प्रति भक्ति दिखाई है§। अतः चरकसंहिता सूत्र काल से पहले लिखी गई है।

सुश्रुतसंहिता

सुश्रुत संहिता के कर्त्ता सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। उन्होंने काशिराज दिवोदास से चिकित्सा-शास्त्र शिक्षा ग्रहण की थी। दिवोदास का उपनाम धन्वंतरि था†।

सब से पूर्व रोहण (Art of Healing) का आविष्कार इन्हीं ने किया था। चरक औषध-चिकित्सा जानते थे; सुश्रुत शल्यकर्म के पंडित थे*।

भिगमनीयमनिष्टानाञ्च शब्द-स्पर्श रूप रस गन्धानां . स्नानभूमि-महानसोपेतं वास्तुविद्याकुशल. प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत्।
— चरक १–१५।

इसी प्रकार चरक में सूतिकागृह और कुमारागार का वर्णन भी आता है।

§ यथा आदित्यः प्रकाशक, तथा सांख्यवचनम्। च० वि० अ० ८।
देखिए चरक सू० अ० १० और विमान अ० ८ संभाषण-विधि।

† धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो वाग्विशारदः।
विश्वामित्रात्मजमृषिं शिष्यं सुश्रुतमन्वशात्॥

"अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशीराजं दिवोदासं धन्वन्तरिं......सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः॥

सर्व्वशास्त्रार्थतत्वज्ञस्तपोवृष्टिरुदारधीः।
वैश्वामित्रं शशासाथ शिष्यं काशीपतिर्मुनिं।

* चरक में स्वयं धन्वंतरि संप्रदाय की सहायता मांगी गई है। यथा–

इस ग्रंथ का कर्त्ता कौन है, इसमें मत भेद है। धन्वंतरि ने शल्य-चिकित्सा के सिद्धान्तों पर सुश्रुत को कुछ व्याख्यान दिये थे। कहा जाता है कि वर्त्तमान संहिता उन्हीं व्याख्यानों का संग्रह है। परंतु संहिता के आदि में ही ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, इंद्र, धन्वंतरि, सुश्रुत आदि को नमस्कार किया गया है†। इससे स्पष्ट है कि स्वयं सुश्रुत इस ग्रंथ के कर्त्ता नहीं। डल्हणाचार्य की सुश्रुत पर टीका है। जान पड़ता है कि वर्त्तमानसंहिता सुश्रुतसंहिता की पुनरावृत्ति है। यह दूसरा संस्करण नागार्जुन का है। नागार्जुन प्रसिद्ध बौद्ध वैज्ञानिक था§। सुश्रुत के पठन से यह स्पष्ट है कि वह इसका प्रतिसंस्कर्त्ता अवश्य है। पीछे से कुछ बढ़ाया भी गया है। यदि यह दूसरा संस्करण नागार्जुन द्वारा ही किया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

सुश्रुत के समय का पता लगाना कठिन है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। परंतु विश्वामित्र के विषय में हमें इतना ही ज्ञात है कि वह वैदिक काल में हुए। महाभारत में भी सुश्रुत का नाम आता है*। महाभारत का समय १००० ई० पू० निश्चित किया जाता है। अतएव सुश्रुत इससे से भी बहुत काल पूर्व हुए होंगे। शतपथ ब्राह्मण के कर्त्ता सुश्रुत से परिचित थे। शतपथ का समय ६०० ई० पू० रक्खा जाता है। अतएव

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ।
वैद्यानां कृतवेध्यानां व्यधशोधनरोपणे॥ च० चि० गुल्म।

† नमो ब्रह्मप्राजापत्याश्विनीबलभिद्धन्वन्तरिसुश्रुतप्रभृतिभ्यः।

§ यत्र यत्र परोक्षे लिट्प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यमिति। प्रतिसंस्कर्त्तापीह नागार्जुन एव।

* श्यामानोऽथ गार्ग्यश्च जावालिः सुश्रुतस्तथा।
विश्वामित्रात्मजाः सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः॥
महाभारत, अनुशासनपर्व।

सुश्रुत का कर्त्ता ६०० ई० पू० के बाद का कभी नहीं हो सकता।

कात्यायन अपने वार्त्तिकों में सुश्रुत का वर्णन करते हैं §; अतः सुश्रुत इनसे भी बहुत प्राचीन होंगे।

वर्त्तमान सुश्रुत संहिता सुश्रुत के आदि ग्रंथ की पुनरावृत्ति ही प्रतीत होती है; क्योंकि सुश्रुत स्वयं यह नहीं लिख सकते कि औपधेनवमौरभ्रं‡। सौश्रुत आदि के ग्रंथों के मौलिक सिद्धांत इसी प्रकार हैं। संभवतः नागार्जुन ने ही इसका दूसरा संस्करण किया हो। नागार्जुन कनिष्क के समकालीन थे। कुछ लोग नागार्जुन को चौथी सदी ई० पू० का मानते हैं। यदि यह सत्य हो तो सुश्रुत का प्रथम संस्करण छठी शताब्दी ई० पू० में हुआ होगा, अर्थात् दो सौ साल पूर्व हुआ होगा, फिर भी निश्चित तिथि बतलाना कठिन है। हमें प्राचीन भारतीय इतिहास के थोड़े बिखरे हुए खंड मात्र मिलते हैं। उनके आधार पर कोई प्रामाणिक सम्मति नहीं दी जा सकती।

---

§ सुश्रुतेन प्रोक्तं सौश्रुतम्।

‡ औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषाणां शाल्यतंत्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत्॥ सुश्रुत।

आठवां प्रकाश

शल्य-तंत्र के साधन

सामान्यत: सर्वत्र यंत्र, शस्त्रादि लोहे (Iron) के ही बनाए जाते हैं। जहां इसके अन्य कारण हैं, वहां इसका आधिक्य एवं दृढ़ता भी मुख्य कारण है। यही बात प्राचीन काल के यंत्र-शस्त्रों के लिये भी है। लोहे के अभाव में अन्य धातुओं या अन्य वस्तुओं का उपयोग होता था। राजा महाराजों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र, मणि, वैदूर्य आदि के भी साधन व्यवहृत किए जाते थे* ।

जिस प्रकार आजकल लोहे की उत्तमता के कारण भेद हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में भी लोहों को तपाकर उत्तम प्रकार का बनाया जाता था जिनकी चमक नीले कमल के समान होती थी। इनके बनानेवाले चतुर लोहार होते थे, जो शस्त्र को उत्तम धारयुक्त, सुगमता से पकड़ा जानेवाला, देखने में सुंदर, उत्तम मुखवाला और न डरानेवाला बनाते थे‡ ।

"लोहा" शब्द सामान्य एवं रूढ़ दोनों प्रकार का है। वेद

---

* (१) तानि प्रायशः लौहानि भवन्ति। तत्प्रतिरूपकाणि तदलाभे।

(२) स्वर्णरौप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थि द्रुमवेणुदन्तैः।

नलैर्विषाणैः मणिभिस्तु तैस्तैः कार्याणि नेत्राणि सुकर्णिकानि।

सुश्रुत।

‡ (१) सुकर्मारैः घटितानि यथाविधिः॥ वाग्भट्ट।

(२) कारयेत् करणैः प्राप्तं कर्म्मारं कर्मकोविदम्॥ सुश्रुत।

(३) तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि, अकरालानि चेति शस्त्रसंपत्। सुश्रुत।

(४) अकरालानि सुध्मात, सुतीक्ष्णो वर्ततेऽयाश्रि।

समाहितमुखाग्राणि, नीलाम्भोजच्छवीनि च॥ वाग्भट्ट।

में "आयस" शब्द लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं के लिये भी आया है। इसलिये आचार्यों ने लोहे के अतिरिक्त भिन्न भिन्न धातुओं की शलाखाएँ या पात्र भिन्न भिन्न रोगों में भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिये आयुर्वेद शास्त्र में बताए हैं*।

टिन (त्रपु) का प्रयोग भी चद्दर तथा अन्य रूपों में प्रचलित था। इसका मुख्य उपयोग दाह के योग्य स्थान को छोड़कर शेष स्थान की रक्षा करने में होता था†।

इसके अतिरिक्त बौद्ध वैज्ञानिक नागार्जुन ने लोह-विधि के अन्तर्गत स्वर्ण, त्रपु, ताम्र, रजत, पीतल, कांस्य आदि सब धातुओं का, मणि, मुक्ता, वैदूर्य, पुखराज, नीलम, हीरा आदि सब रत्नों का और शृंग (मृगशृंग) तथा अन्य वस्तुओं के जारण, मारण का विधान दिया है। इन सब से अधिक वीर्य-युक्त औषध पारद को स्वीकार किया है। पारद में सब धातुओं का अंश बताया है। पारद सब धातुओं का रसास्वादन कर लेता है, अतः उसे "रस" कहा है। इसी रस-

---

* (१) प्रशस्ता लेखने ताम्री, रोपणे काललोहजा ॥

चक्रदत्त, अञ्जनाधिकार।

(२) ताम्रायसी शातकौम्भी शलाका स्यादनिन्दिता ॥

सुश्रुत लिंगनाश; चि०।

(३) घृतं कार्ष्णायसे देयं पेया देया तु राजते।
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णोपूपकल्पयेत् ॥

(४) सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमये तथा।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥

प्राचीन लोग ताम्र के पात्र को पानी रखने के लिये उपयुक्त मानते थे; जो ठीक है। कारण थोड़ी मात्रा में ताम्र (तुत्थ Copper Sulphate) रोगनाशक है।

† यदल्पमूलं त्रपुताम्रसीसपट्टैः समावेष्ट्य तदायसैर्वा।
क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद् विदध्यात् प्राणानहिंसन् भिषगप्रमत्तः॥ सुश्रुत।

चिकित्सा" के नाम से यह पद्धति आजकल प्रचलित है† ।

इसके अतिरिक्त शृंग दांत, पत्थर (बिल्लौर) के भी पात्र औषध रखने के लिये अथवा शस्त्र के रूप में प्रयुक्त होते थे §।

यंत्रों की संपत् बताते हुए लिखा है कि वह तेज, खुरदुरे परंतु चिकने मुखवाले, सुदृढ़ उत्तम रूपवाले, उत्तम पकड़वाले या सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिएँ। यंत्र शब्द आधुनिक Blunt Instrument के अर्थ में व्यवहार किया जाता था* ।

शस्त्रों के विषय में लिखा है कि वह बाल को सीधा (Vertical) छेदन करने योग्य एवं बहुत तेज होना चाहिए। शस्त्र का कुंठित (Blunted) होना दोष है । शस्त्र शब्द आधुनिक Cutting Instrument के अर्थ में आता था|| ।

इन शस्त्रों की धार की मात्रा एवं भेद थे। सब शस्त्रों की धार एक सी नहीं होती थी। जो शस्त्र भेदन (to divide) के कार्य में आते थे उनकी धार मसूर के परिमाण की होती थी; और जो

---

† अल्पमात्रोपयोगित्वात् अरुचेरप्रसंगत: ।
... . औषधेभ्योऽधिकोरस: । रसेन्द्र ।
रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते । रसरत्नसमुच्चय ।

§ (१) चूर्णाञ्जनं कारयित्वा स्थापयेत् मेषशृंगजे ।
(२) वंशे वा माहिषे शृंगे स्थापयेत् शोधितं रसम् ॥
(३) एतच्चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं निहितं भाजने शुभे ।
दन्तस्फटिकवैदूर्य शंखशैलासनोद्भवे ॥ सुश्रुत ।
(४) अंगुलीत्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम् ॥ वाग्भट्ट ।

* समाहितानि यंत्राणि खरश्लक्ष्णमुखानि च ।
सुदृढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत् ॥

|| (१) यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ॥
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥
(२) शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनाङ्गुलानि षट् ।

शस्त्र लेखन (scarification) के कार्य के थे, उनकी धार भेदन शस्त्रों से आधी (अर्थात् आधे मसूर के बराबर) होती थी। जो शस्त्र व्यधन (puncture) के कार्य में आते थे, उनकी धार बाल के समान, और जो छेदन (Excision) के कार्य में आते थे, उनकी धार व्यधन शस्त्रों से भी आधी अर्थात् बाल से आधी होती थी। इसी प्रकार बडिश और दंत शंकु (Tooth scaler) जौ के पत्ते के समान तेज होने चाहिएँ। अंजन लगाने की शलाका दोनों ओर से कुंठित, चिकनी, मटर के बराबर मोटी, पत्थर या धातु की होती थी‡।

इन शस्त्रों की धार बनाने के लिये चिकनी, उड़द के रंग की पत्थर की शिला काम में आती थी§। यंत्रों और शस्त्रों को दृढ़ बनाने के लिये उनका निर्वापण (पायन) किया जाता था। इसके लिये यंत्र या शस्त्र को अग्नि में लाल करके, तेल वा पानी अथवा क्षार में निर्वापित किया जाता था। फलक (Blade) को मजबूत करने के लिये उस पर भिन्न-भिन्न प्रकार के लेप करके अग्नि में तपाकर निर्वापण करते थे*।

---

‡ (१) तत्र धारा भेदनानां मासूरी। लेखनानामर्धमासूरी। व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी। छेदनानामर्धकैशिकी।

(२) बडिशो दन्तशंकुश्चानताग्रे तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुखे।

(३) मुखयोः कुण्ठिता श्लक्ष्णा शलाकाष्टाङ्गुलोन्मिता।
अश्मजा धातुजा वा स्यात् कलायपरिमण्डला॥

§ तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा।

* (१) तेषां पायना त्रिविधा—क्षारोदकतैलेषु। तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिछेदनेषु। उदकपायितं मांसछेदनभेदनपाटनेषु। तैलपायितं शिराभिस्नायुव्यधनच्छेदनेषु। —सुश्रुत।

(२) फलस्य पायनं वक्ष्ये वनौषधिविलेपनैः।
येन दुर्भिद्य वर्माणि भेदयेत्तरुपर्णवत्॥ १॥

ये शस्त्र कुंठित न हो जाएँ, इसलिये इनकी रक्षा के विचार से "शस्त्रकोष" बनाए जाते थे, जो प्राय: कोमल एवं हल्के होने के लिये सेमल की लकड़ी के बनते थे। उसके ऊपर रेशम, ऊन या दुकूल का वस्त्र मढ़ा होता था। अंदर कोमल दुकूल और चमड़ा लगा होता था। उसमें बटुए की भांति धागा होता था जिससे वह खोला और बंद किया जा सकता था||।

महावग्ग के अनुसार भगवान् बुद्ध ने प्रलेपों को धूल आदि से सुरक्षित रखने के लिये, डिब्बे (Boxes) बनाने की आज्ञा दी थी; जो सोने, चांदी, बांस, अस्थि, सींग, लकड़ी या ताम्र के बनते थे। उनपर ढक्कन लगाने का आदेश दिया गया था

तैलपायना—पिप्पली सैन्धवं कुष्ठं गोमूत्रेण तु पेषयेत्।
अतिशीतमनाविद्धं पीतं नष्टं तथौषधम् ॥ २ ॥
अनेन लेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत्।
ततो निर्वापितं तैले लौहं तत्र विशिष्यते ॥ ३ ॥

उदकपायना-पंचभिर्लवणैः पिष्टं मधुसिक्थैः ससर्षपैः।
एभिः प्रलेपयेच्छस्त्रं लिप्तं चाग्नौ प्रतापयेत् ॥ ४ ॥
शिखिग्रीवा तु वर्णाभं तस्य पीतं यथौषधम्।
ततस्तु विमलं तोयं पाययेच्छस्त्रमुत्तमम् ॥ ५ ॥

क्षारपायना—क्षारं कदल्या मथितेन युक्ते,
दिवोषिते पायनमायसे यत्।
सम्यक् शितं चाश्मनि नैति भङ्गम्,
न चान्य लोहेष्वपि तस्य कौण्ठ्यम् ॥ ६ ॥ बृहत्संहिता।

|| (१) धारसंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥
(२) स्याच्चवाङ्गुलविस्तारः सुघनो द्वादशाङ्गुलः।
क्षौमपट्टोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥ १ ॥
विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्यशलाकः।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोषः सुसञ्चयः ॥ २ ॥ वाग्भट्ट।

था एवं प्रलेपों को लगाने के लिये शलाका बनवाई गई थीं। इन शलाकाओं को सुरक्षित रखने के लिये कोष (case) बनाने की आज्ञा दी थी; एवं उनको ले जाने के थैले बनवाये थे, जिनमें (Shoulder strap) लगा होता था।

इसी प्रकार बुद्ध ने नासा में समान औषध पहुंचाने के लिये भिक्षुकों को 'यमक नतुकरनी" (Double Nasal Spoon) बनाने की आज्ञा दी थी। ढक्कनदार नल बनवाये थे, जिससे उनमें धूल आदि न पड़ सके। ये नल आपस में रगड़ न खायँ, इसलिये दुहरे बेग (Double Bag) बनवाए थे, जिनमें Shoulder strap लगा होता था‡।

फलक

शल्यकर्म करने के लिये फलक (Operation Table) पर रोगी को बैठाकर शल्य कर्म करते थे, एवं रोगी का व्यधन करने के लिये अरत्नि प्रमाण स्टूल पर बैठाते थे। अस्थिभंग (Dislocation or Fracture) की अवस्था में रोगी को कपाट शयन कराया जाता था जिसमें सुगमता से सब कार्य हो सकें†।

पाठकवृन्द! आपने देखा कि शस्त्र-कर्म के लिये उपयोगी सभी बातों का प्राचीन आर्यों को पूरा ज्ञान था एवं वे उसकी उपयोगिता से पूर्ण परिचित थे।

---

‡ देखिये Ancient Surgical Instruments. Vol. I.

† (१) भुक्तवन्तमुपवेश्य सम्भृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रकाले समे फलके...... ।

(२) शयने फलके वान्यनरोत्संगे व्यपाश्रितम् ॥ वाग्भट्ट ।

(३) तत्र व्यधसिरं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने। चरक ।

(४) अथ जंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम्।
कीलका बन्धनार्थंश्च पंच कार्या विजानता ॥ सुश्रुत ।

नवां प्रकरण

शस्त्र कर्म

आयुर्वेद में शस्त्रकर्म के साधनों को दो भागों में बांट दिया है। यथा—

(१) यंत्र—जो काटने के काम नहीं आते (Blunt), उनको कहा है।

(२) शस्त्र—जो काटने के काम आते हैं, (Cutting instrument) उनको कहा है। शस्त्रकर्म को आठ भागों में बांटा है‡। यथा—

(१) छेद्य (Excision)—किसी वस्तु को शरीर से काट-कर निकालना। यथा अर्श के अंकुर।

(२) भेद्य (Divide)—यथा विद्रधि (Abcess) का खोलना।

(३) वेध्य (Puncturing)—आशय में से पानी निकालना। यथा जलोदर रोग में।

(४) एष्य (Proding)—ढूंढना। जैसा नाड़ी व्रण (sinus) या विद्रधि में शल्य का ढूंढ़ना।

(५) आहार्य (Extraction)—बलपूर्वक निकालना। यथा दांत या अश्मरी का निकालना।

(६) विस्राव्य (Drain)—गम्भीर विद्रधि में से पूय या रक्त का विस्रावण करना।

(७) सीव्य (Suturing)—दो विदीर्ण भागों को सीना।

(८) लेख्य—(Scarification)—जैसा चेचक आदि का टीका लगाने में, या अस्थि की विकृतावस्था में करते हैं।

कई आचार्य शस्त्रकर्म आठ न मानकर छः मानते हैं, जो नीचे

---

‡ छेद्यं भेद्यं लेख्यं वेध्यमेष्यमाहार्यं विस्राव्यं सीव्यमिति।

दिए जाते हैं। वे एषण और आहरण को शस्त्रकर्म नहीं मानते*।

पाटन=भेदन। व्यधन=व्यधन। छेदन=छेदन। लेखन=लेखन। प्रच्छन्न=विस्रावण। सीवन=सीवन।

वाग्भट्ट तेरह प्रकार के शल्यकर्म मानते हैं। उनके अनुसार पाटन, कुट्टन, मंथन, ग्रहण और दहन ये भी शल्य कर्म हैं। दहन-कर्म अग्नि या क्षार से किया जाता है। वाग्भट्ट ने क्षार और अग्नि को अनुशस्त्रों में गिन लिया है, परंतु यंत्र शस्त्र के साथ ही क्षार और अग्नि का भी पाठ है। सुश्रुत ने इन को पृथक् अनुशस्त्रों में नहीं गिना है †।

यंत्र

इन का साधारण कार्य शरीर में बाधा या दुःख देनेवाले शल्य को निकालना है। इस के अतिरिक्त अर्शादि की परीक्षा में, क्षार या अग्नि की क्रिया में और वस्ति-प्रयोग आदि में भी इनका प्रयोग होता था‡। संक्षेपतः शल्य को नष्ट करने के २४ उपाय हैं। वे सब उपाय यंत्र द्वारा ही साध्य हैं।

---

* पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा।
प्रच्छानं सीव्यनं चैव षड् विधं शस्त्रकर्म तत्॥

† (१) छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः।
उत्पाट्य, पाट्य सीव्यैष्य लेख्य प्रच्छान्न कुट्टनम्।

(२) जलौकाक्षारदहनकाचोपलनखादयः।
अलोहान्यनुशस्त्राणि तान्येवं च विकल्पयेत्॥

‡ (१) नानाविधानां शल्यानां नानादेशप्रबाधिनाम्।
आहर्तमभ्युपायो यः तद्यन्त्रं यच्च दर्शने॥ १॥
अर्शोभगन्दरादीनां शस्त्रक्षाराग्नियोजने।
शेषांगपरिरक्षायां तथा वस्त्यादिकर्मणि॥ २॥
घटिकालाबु शृंगश्च जाम्बवौष्ठादिकानि च।
अनेकरूपकार्याणि यंत्राणि विविधान्यतः॥ ३॥ वाग्भट्ट।
तत्र मनः शरीरबाधकराणि शल्यानि।
तेषामाहरणोपायो यंत्राणि। सुश्रुत।

कोई २ आचार्य यंत्र कर्मों को अनिश्चित मानते हैं; और कोई उनकी संख्या १५ मानते हैं। हारीत यंत्रों की संख्या बारह ही मानते हैं।

सब यंत्रों में प्रधान यंत्र "हाथ" ही है। उसके बिना कुछ कार्य नहीं हो सकता। सुश्रुत ने यंत्रों की संख्या १०१ बताई है; और उनके पश्चात् होनेवाले वाग्भट्ट ११५ बताते हैं। परन्तु उनकी दृष्टि में कर्म अनिश्चित है, अतः संख्या भी अनिश्चित है। वैद्य आवश्यकतानुसार यंत्र-रचना कर सकता है*।

सुश्रुत ने १०१ यंत्रों को छः भागों में बांटा है। यथा—

स्वस्तिक यंत्र	Cruciform	... ...	२४
संदंश यंत्र	Forceps	... ...	२
ताल यंत्र	Scoops	... ...	२
नाड़ी यंत्र	Tubuler	... ...	२०

---

(२) यंत्रकर्माणि तु—

१ निर्घातन, २ पूरण, ३ बन्धन, ४ व्यूहन, ५ वर्त्तन, ६ चालन, ७ विवर्त्तन, ८ विवरण, ९ पीडन, १० मार्ग-विशोधन ११ विकर्षण, १२ आहरण, १३ अञ्जन, १४ उन्नमन, १५ विनमन, १६ भञ्जन, १७ उन्मथन, १८ आचूषण, १९ ऐषण, २० दारण, २१ ऋजुकरण, २२ प्रक्षालन, २३ प्रधमन, २४ प्रमार्जनानि।

(३) स्वबुद्ध्या चापि विभजेद् यंत्रकर्माणि बुद्धिमान्।
असंख्येयविकल्पानां शल्यानामिति निश्चयः। सुश्रुत।

(४) निर्घातनोन्मथनपूरणमार्गशुद्धिः, संव्यूहनाहरणबन्धनपीडनानि
आचूषणोन्नमननामनचालभंग व्यावर्तनर्जुकरणानि च यंत्रकर्म।
(क्रमांक: १ निर्घातन, २ उन्मथन, ३ पूरण, ४ मार्गशुद्धि, ५ संव्यूहन, ६ आहरण, ७ बन्धन, ८ पीडन, ९ आचूषण, १० उन्नमन, ११ नामन, १२ चाल, १३ भंग, १४ व्यावर्तन, १५ ऋजुकरण) वाग्भट्ट।

* (१) यंत्रशतमेकोत्तरम्। अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यंत्राणाम्। सुश्रुत।

(२) द्वादशैव तु यंत्राणि, शस्त्राणि द्वादशैव तु।
चत्वारि च प्रबन्धानां शल्योद्धारे विनिर्दिशेत्। हारीत।

शलाका यंत्र	Rod-like	... ...	२८
उपयंत्र	Subordinary	... ...	२५
			१०१

इनकी संख्या को देखकर ही आंग्ल विश्वकोष में लिखा है कि सुश्रुत में १०० से अधिक यंत्रों का वर्णन है* ।

हारीत ने यंत्रों को बारह भागों में बांटा है । यथा—गोग्रा-मुख, वृजमुख, त्रिवक्र, संदंश, चक्राकृति, कंकपद, आनक, शृंग, कुंडल, श्रीवत्स, सौवस्तिक और पंचवक्र । वाग्भट्ट ने भी सुश्रुत के अनुसार ही छः भेद माने हैं ।

शस्त्र

इनकी संख्या सुश्रुत ने बीस बताई है । हारीत ने बारह मानी है, जिन के नाम यहां दिए जाते हैं ।

हारीत के अनुसार—अर्धचंद्र, व्रीहिमुख कंकपत्र, कुठारिका, करवीरक पत्र, शलाका, करपत्र, बडिश गृध्रपद, शूली, सूची, मुद्गर।

सुश्रुत के अनुसार—मंडलाग्र, करपत्र, वृद्धिपत्र, नखपत्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र, अर्धधार, सूची, कुशपत्र आटीमुख, शरारीमुख अंतर्मुख, त्रिकूर्चक, कुठारिका व्रीहिमुख, आरा, वेतसपत्र, बडिश, दंतशंकु और एषणी ।

ये सब शस्त्र (आरा और करपत्र को छोड़कर) तेज धार वाले होते थे । ये शस्त्र दोषों से शून्य होते थे† ।

यहां पर संक्षेप से यंत्र शस्त्रों का विवेचन होगया है । अब प्रत्येक यंत्र शस्त्र पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न किया जायगा।

---

(३) अत: कर्मवशात्तेषां इयत्तावधारणमशक्यम् ।

* Susruta describes more than one hundred surgical instruments made of steel. Ency. Britannica.

† (१) अतो विपरीतगुणमाददीत । अन्यत्र करपत्रात् । तद्धि खरधार-मस्थिच्छेदनार्थम् । सुश्रुत ।

(२) तत्र वक्रं कुण्ठं खरधारमतिस्थूलमत्यल्पमातिदीर्घमातिह्रस्वं खण्ड-मित्यष्टौ शस्त्रदोषाः ।

दसवां प्रकरण।

यंत्रों का वर्णन

स्वस्तिक यंत्र

ये १८ अंगुल लंबे और बीच में कील से जुड़े होते थे। अग्रिम भाग अंकुश के समान आगे से मुड़ा होता था। इनके द्वारा अस्थि में गड़ा हुआ शल्य निकाला जाता था।

ये दो प्रकार के होते थे। एक वह जिनका आकार पक्षियों की चोंच का सा होता था। दूसरे वह जिनका मुख सिंह, व्याघ्र आदि पशुओं की भांति होता था*।

पक्षियों की चोंच या नामों पर बने हुए यंत्र ये हैं—

कंकमुख, काकमुख कुररमुख, चाषमुख, शशघातीमुख, उलूकमुख, चिल्हीमुख, श्येनमुख, गृध्रमुख, क्रौंचमुख, वकमुख भृंगराजमुख, अंजलिमुख, कर्णावभंजनमुख और नन्दिमुख।

ये भी चोंचों के भेद से चार भागों में विभक्त हैं। यथा—

(१) जो भुजा पर आगे से मुड़े हुए हों।

(२) जो नीचे से उल्लू की चोंच के समान कठोर हों।

(३) जिसकी लम्बी चोंच हो परन्तु आगे मुडी हो।

(४) जिनकी गिद्ध के समान छोटी चोंच पर आगे मुड़ी हो

पशुओं के मुखों पर बने हुए यन्त्रों के नाम ये हैं—

सिंहमुख, व्याघ्रमुख, वृकमुख तरक्षुमुख, द्वीपिमुख, मार्जारमुख, ऋक्षमुख, शृगालमुख एर्वारुकमुख और मृगमुख।

---

* तुल्यानि कंकसिंहर्क्षकाकादिमृगपक्षिणाम्।
मुखैर्मुखानि यंत्राणां कुर्यात्तत्संज्ञकानि च ॥ १ ॥
अष्टादशांगुलं आयसानि च भूरिशः।
मसूराकारपर्य्यंतैः कंठे बद्धानि कीलकै ॥ २ ॥
विद्यात् स्वस्तिकयंत्राणि मूलेऽङ्कुशनतानि च।
तैर्दृढैरस्थिसंलग्नं शल्याहरणमिष्यते ॥ ३ ॥ वाग्भट।

दोनों मिलकर २४ हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ यंत्र कंकमुख है। कारण इसकी चोंच पतली होने से सुगमता से प्रविष्ट की जा सकती है। यह लंबा होने से गहरा जा सकता है; शल्य को ज़ोर से पकड़ लेता है; और शरीर के सब स्थानों पर प्रयुक्त हो सकता है‡।

संदंश यंत्र

यह दो प्रकार के होते थे। पहले प्रकार का संदंश यंत्र स्वस्तिक यंत्रों की भांति बीच से कील द्वारा जुड़ा होता था और दूसरे प्रकार का संदंश सीधा तथा आगे से खुले मुख का होता था। इस में पहले प्रकार के संदंश की भांति कोई मोड़ नहीं होता था।

इनका कार्य शल्यको पकड़कर निकालना है। प्रथम प्रकार के संदंश को "सनिग्रहक" (with handle) और दूसरे को को " अनिग्रहक" (Without handle) कहते थे§ । इनकी लम्बाई १६ अंगुल होती थी।

सुश्रुत ने बांस से बने एक संदंश यन्त्र का भी वर्णन किया है, जिससे शरीरस्थ जूं आदि पकड़ी जाती थी †।

वाग्भट ने संदंश की भांति के दो अन्य यन्त्रों का भी वर्णन किया है।

पहले प्रकार का यन्त्र १६ अंगुल लम्बा होता था। इसका उपयोग पलक के बाल उखाड़ने में होता था। चक्रदत्त ने भी आंखों के बाल उखाड़कर उनकी जड़ को सोने की गरम

---

‡ विवर्त्तते साध्ववगाहते च शल्यं निगृह्योद्धरते च यस्मात्।
यंत्रेष्वतः कंकमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि चैव ॥ हारीत।

§ (१) अतिगुप्तश्च शल्यश्च सन्दंशेन समुद्धरेत्।
(२) कीलबद्धौ वियुक्ताग्रौ सन्दंशौ षोडशांगुलौ।
त्वक्शिरास्नायुपिशितलग्नशल्यापकर्षणे ॥ वाग्भट।

† तानाशुतैलेनाभ्यक्तस्य वंशविदलेनापहरेत् ॥ सुश्रुत।

शलाका से जलाने का आदेश दिया है †।

दूसरे प्रकार का यन्त्र 'मुचुटी" है। इसका कार्य भी गम्भीर मांस में प्रविष्ट शल्य को (जैसे दांत के उखाड़ते समय दांत के रह जाने पर होता है) निकालने में एवं अर्जुन (Pterygium) रोग में ग्रन्थि को पकड़ना था §।

इसके अतिरिक्त सफेद बाल उखाड़ने के लिये भी असभ्य लोग सोने का संदंश व्यवहार में लाते थे‡।

तालयंत्र

ताल शब्द का कोई मछली के छिलके (scales) अर्थ करते हैं और कोई तालु (palate) अर्थ करते हैं। यह दो प्रकार के होते थे। एक जिस में एक ताल लगा हो, और दूसरा जिस में दो ताल लगे हों। इन की लंबाई १२ अंगुल होती थी। इन का कार्य कान, नाक आदि में प्रविष्ट शल्य के निकालने में होता था*।

नाडीयंत्र

यह नाना प्रकार के होते थे। इनकी संख्या २० थी। इन

---

† (१) षोडशांगुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मयाम्। वाग्भट्ट।

(२) प्रवृद्धांतर्मुखं रोम सहिष्णोरुद्धरेच्छनैः।
सन्दंशेनोद्धरेद्दृश्यां पक्ष्मरोमाणि बुद्धिमान् ॥

• एवमपि दहेत् पक्ष्म तसहैमशलाकया।
पक्ष्मरोगे पुनर्नैव कदाचिद्रोमसंभवः ॥" चक्रदत्त।

§ (१) मुचुटी सूक्ष्मदंतर्जुमूले रुचकभूषणः।
गंभीरव्रणमांसार्चीचर्म्मणः शोणितस्य च ॥ वाग्भट्ट।

(२) अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य बडिशेन समाहितः।
मुचुण्ड्यागृह्य मेधावी सूचीसूत्रेण वा पुनः ॥

‡ देखिए Ancient Surgical Instruments. Vol. I.

* तालयंत्रे द्वादशांगुले मत्स्यतालवदेकतालद्वितालके।
कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम्। सुश्रुत।

में से कुछ यंत्र दोनों ओर से खुले होते थे, और कुछ एक पार्श्व से बंद होते थे; एवं कुछ में अनेक छेद होते थे। इनके कार्य निम्न प्रकार के थे—

(१) स्रोतों में फंसे हुए शल्य को देखने एवं निकालने में।

(२) आशयों (cavities) का निरीक्षण करने में।

(३) कार्य में सुगमता होने के लिये।

(४) आशय में भरे द्रव्य के आचूषण करने में‡।

इनकी लबाई और चौड़ाई निश्चित नहीं थी। स्रोतसों के अनुसार बनाए जाते थे।

कण्ठशल्यावलोकिनी

इसका उपयोग गले में फंसे शल्य को निकालने में किया जाता था। सुश्रुत ने गले में फंसे शल्य को निकालने के लिये दो तीन विधियां दी हैं। यथा—

(१) एक लोहे की गरम शलाका को अन्य शीत शलाका में रखकर गले में प्रविष्ट करें। इसकी उष्णिमा से या तो वह वस्तु पिघल जायगी, या घुल जायगी, अथवा इसके साथ चिपक जायगी। फिर धीरे २ बाहर कर लें।

(२) लाख या मोम को पिघला कर शलाका में लगा दें, जिससे वस्तु चिपककर बाहर आ जायगी*।

(३) इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने कंठ में फंसे शल्य को

---

‡ नाडीयंत्राणि सुषिराण्येकानेकमुखानि च।
स्रोतोगतानां शल्यानामाशयानाञ्च दर्शने॥
क्रियायां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणाय च।
तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोऽनुरोधतः॥ सुश्रुत।

* "दशांगुलार्द्धनाहान्तःकण्ठशल्यावलोकिनी नाडी"।

जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां तयावगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतमुद्धरेत्।

अजातुषं मधूच्छिष्टलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पेन॥ सुश्रुत।

निकालने की एक अन्य विधि दी है। इसमें एक बालों का ब्रुश (केशोंडुक) एक दृढ़ धागे से बांधकर रोगी को निगलवा देते हैं; और धागा अंदर न चला जाय, इसलिये दूसरे सिरे पर एक लकड़ी बांध देते हैं। शल्य निकालने के लिये रोगी को बहुत सा पानी पिलाकर वमन कराते हैं, जिससे शल्य बाहर हो जाता है। यदि शल्य पार्श्व में लगा हो तो ब्रुश से बाहर करलें। यह विधि ग्रास शल्य में अधिक प्रशस्त है।

पंचमुखी और त्रिमुखी

ये चतुष्कोण एवं तीन कोणवाले बाण को शरीर से निकालने में प्रयुक्त होती थीं†।

शल्य-निर्घातनी

इस यंत्र का एक सिरा कमल के समान होता था। दूसरा सिरा खुला एवं चार भागों में विभक्त होता था। इसकी लंबाई १२ अंगुल होती थी। इसका उपयोग शरीर में गंभीर प्रविष्ट हुए शल्य को निकालने में होता था। कारण, इससे पकड़कर शल्य को चारों ओर घुमाकर ढीला कर सकते थे‡।

सुश्रुत ने दृढ़ संलग्न शल्य को निकालने के लिये लोहे के एक हथौड़े का उपयोग करने को कहा है, जिससे शल्य ढीला करके बाहर निकालते थे।

अर्शोयंत्र

यह यंत्र हाथीदांत, लोहे, सींग या लकड़ी के बनाए जाते थे। इनका आकार गौ के स्तन के समान होता था एवं बीच से ये खोखले होते थे। पुरुषों के लिये इनका आकार चार अंगुल

---

† नाडी पंचमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य संग्रहे।
वारङ्गस्य त्रिकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः॥

‡ पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशांगुला।
चतुर्यंगुलिशिरा नाडी शल्यनिर्घातनी मता॥

और परिधि पांच अंगुल होती थी। परंतु स्त्रियों के लिये अधिक चौड़े और ६ अंगुल परिधि के बनाए जाते थे। इनमें दो छेद होते थे। एक छेद से रोग की परीक्षा की जाती थी और दूसरे छेद से क्रिया करते थे। यह क्रिया प्राय: क्षार एवं दाह द्वारा होती थी। छिद्र की लंबाई तीन अंगुल और परिधि अंगुष्ठ के बराबर होती थी। छिद्र से आध अंगुल की दूरी पर आधा अंगुली भर ऊंचा एक गोल उभार होता था*।

वाग्भट्ट ने उपर्युक्त दोनों अर्थों के लिये भिन्न भिन्न दो यंत्रों का उपयोग बताया है। इनकी लंबाई और परिधि एक समान होती थी। ये दोनों इकट्ठे प्रयुक्त होते थे। एक के द्वारा रोग-परीक्षा की जाती थी और दूसरे से क्रिया कर्म।

इसी प्रकार के एक और यंत्र का वर्णन आता है, जिसके पार्श्वों में छेद नहीं होते थे। उसके द्वारा मस्से देखे जाते थे। इस यंत्र को शमीयंत्र कहते थे†।

इसी प्रकार के अर्शयंत्र का घोड़ों के अर्श (piles) देखने में भी व्यवहार किया जाता था‡।

भगंदर यंत्र

इसका आकार, और लंबाई अर्श यंत्र के समान ही होती थी; परंतु उभार (कर्णिका) नहीं होता था। आकार अर्द्धचंद्र के समान होता था§।

* अर्शसां गोस्तनाकारं यंत्रकं चतुरङ्गुलम्।
नाहे पंचाङ्गुलं पुंसां प्रमदानां षडङ्गुलम्॥
द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रन्तु कर्मणि। वाग्भट्ट।

† शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यंत्रमर्श:प्रपीडनम्॥

‡ अर्शस्तेन तु वाहस्य द्विच्छिद्रेन विलोकयेत्।
एकच्छिद्रेण वै कर्म कुर्य्याच्छेदादिपूर्वकम्॥ अश्वविद्या।

§ "सर्वथाऽपनयेदोष्ठं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे॥" वाग्भट्ट।
' छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठं अर्शोयंत्रस्य यंत्रवित्।

नासायंत्र

इसका स्वरूप अर्शयंत्र के समान होता था। इसका उपयोग नासार्बुद (Tumour of the Nose) एवं नासार्श (Polypus of the Nose) देखने में होता था। यह आकार में अर्शयंत्र से छोटा तथा परिधि में पतला होता था। इसकी लंबाई दो अंगुल और छिद्र तर्जनी उंगली जाने योग्य होता था। इसमें एक ही पार्श्व होता था*।

इसके द्वारा नासिका में फूत्कार द्वारा चूर्ण (प्रधमन नस्य) भी प्रविष्ट किया जाता था‡। नासिका में औषध समान रूप से पहुंचाने के लिये भगवान् बुद्ध ने 'यमल नतुकरनी" (Double Nose spoon) बनाने की आज्ञा दी थी†।

चक्रदत्त और शार्ङ्गधर में इनका आकार ६ अंगुल बताया है। इनका छिद्र नासा के छिद्र के बराबर कहा है||।

नासा में तेल डालने के लिये फाहा तैल में भिगोकर नली में रखकर नासा में प्रविष्ट करते थे§। नासास्थि के भंग (Fracture of the Nasal bone) तथा Rhinoplastic ope-

ततो भगन्दरे दद्यात् एतदर्धेन्दुसन्निभम् ॥" सुश्रुत।

* "घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रा नाडी, द्व्यङ्गुला, प्रदेशनीपरिणाहा स्याद् भगन्दरयंत्रवत्।"

‡ "ध्मानं विरेचनं चूर्णं युञ्ज्यात् तु मुखवायुना। वाग्भट्ट।

"....नावनं चूर्णश्चैषां प्रधमने हितम्।" चरक।

† राजा पिंदिवत्सक के सिर दर्द के लिये नासा में नस्य देने के लिये नतुकरणी एवं यमक नतुकरणी का आदेश भगवान् ने दिया था। देखिए महावग्ग।

|| षडंगुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत्।
तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम् ॥

§ नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत्।
उष्णां भैषज्यं पुनर्नाड्या पिचुनाऽथवा ॥

ration में नाड़ी का उपयोग करने को कहा है‡।

अंगुलित्राण

इसका आकार कौए की चोंच के समान और लंबाई चार अंगुल होती थी। इसका उपयोग रोगी का मुख खोलने में होता था। इससे उंगलियों की रक्षा होती थी। इस कार्य के लिये आजकल Mouth gaug नामक यंत्र व्यवहृत होता है†।

योनिव्रणेक्षण

इसकी लंबाई १६ अंगुल और परिधि ६ अंगुल होती थी। इसमें चार फलक होते थे जो आधार (जड़) पर जुड़े हुए होते थे। खुलने पर इसका आकार कमल के समान होता था। फलकों को चिकित्सक अपने इच्छानुसार एवं बंद कर सकता था§।

एक अन्य प्रकार का योनिव्रणेक्षण होता था, जो भैंसे के सींग को बीच से सीधा काटकर बनाया जाता था। क्रिया के समय इसका नतोदर पृष्ठ सामने रहता था। आजकल व्यवहृत होनेवाला Vaginal spaculum स्वरूप में इससे विभिन्न नहीं होता।

---

‡ (१) नासासन्धां विवृत्तां वां ऋज्वीं कृत्वा शलाकया।
पृथक् नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत् ॥

(२) सुसंहितं सम्यगथो यथावन्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बध्वा .....।

सुश्रुत।

† तत्र वक्त्रविवृत्तौ संवृत्तमुखस्यातुरस्य मुखव्यादाननिमित्तं सुखं सुखकरं स्यात्। स इदं दंतघातात् रक्षति।

अंगुलीर्दंतेभ्यो रक्षणार्थत्वादंगुलीत्राणमिति नाम। सुश्रुत।

§ योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशांगुलम्।
मुद्राबद्धं चतुर्भित्तमम्भोजमुकुलाननम् ॥
चतुःशलाकमाक्रांतं मूले तद्विकसन्मुखे। वाग्भट।

व्रणवस्ति

यह वस्ति वातिक व्रणों में विशेषतः कटि से निचले भाग में, मूत्राघात, मूत्रदोष, अश्मरी, आर्त्तवदोष, शुक्रदोष और मूत्र-मार्ग के व्रणों में प्रयुक्त होती थी। इसके लिये दो प्रकार के यंत्र बनाए जाते थे। एक के द्वारा स्नेह सिंचन किया जाता था और दूसरे से व्रणों का विशोधन किया जाता था। वर्तमानकाल में भी दो एनिमा व्यवहृत होते हैं। एक के द्वारा दूध या अन्य तरल भोजन गुदा द्वारा देते हैं, और दूसरा व्रण या अन्य कार्य में व्यवहृत होता है†।

इसके साथ एक नाड़ी और चमड़े का बैग लगा रहता था। नली गोल चिकनी गौ के स्तन की भांति आगे से पतली और जड़ में मोटी, ६ अंगुल लंबी होती थी। इसका आगे का भाग मटर के दाने के बराबर होता था। मुख से कुछ दूरी पर एक गोल उभार होता था।

दकोदर के लिये

इस रोग की चिकित्सा के लिये नाड़ी किसी धातु अथवा मोर के पंख के समान खोखली वस्तु की बनाई जाती थी। इस-के दोनों ओर मुख होता था। कोष का बंधन व्रीहिमुख (Trocar) के पश्चात् इस नाड़ी (Cannula)‡ से पानी बाहर किया जाता

---

† मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरीव्रणे ।
तथैवार्त्तवदोषे च, वस्तिरप्युत्तरो हितः ॥
विशेष बातें जानने के लिये देखिए 'वस्ति यंत्र"

‡ (१) द्विद्वारा नलिका, पिच्छनलिका वा दकोदरे ।

(२) तत्र अप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत् ।

आजकल Trocar और cannula साथ ही बना आता है, जिसमें नाड़ी स्वयं विद्ध करने पर प्रविष्ट हो जाती है। जैसा Ascites रोग में करते हैं।

था। यह नाड़ी तांबे वा टिन की भी होती थी। इसको Empyema (उरो गुहा में पूयोत्पत्ति) में भी प्रयुक्त कर सकते थे।

वृद्धि (Hydrocele) रोग के लिये

इसकी भी रचना उपर्युक्त यंत्र के समान होती थी। इसमें भी व्रीहिमुख से भेदन कर उपर्युक्त की भांति पानी निकाल देते थे। कोई कोई चिकित्सक छेदन करके पानी निकालते थे†।

निरुद्ध प्रकर्श (Stricture in urethra) में लौह नाड़ी§

जब मूत्रमार्ग अवरुद्ध हो जाता था, तब शलाका (Bougie or catheter) द्वारा खोला जाता था। यह शलाकाएं लोहे वा लकड़ी की बनी होती थीं। प्रविष्ट करने से पूर्व उन पर घी लगा दिया जाता था। प्रविष्ट करने के समय सूक्ष्म से आरंभ करके शनैः शनैः स्थूल को प्रविष्ट करते थे। शलाका को छिद्र के विस्तार के लिये तीन दिन तक वहीं रखते थे अथवा तीन दिन तक एक का ही प्रयोग करते थे। यदि इस प्रकार सफलता नहीं होती थी तो शल्य-कर्म करते थे¶।

---

† सेविन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्वा विस्रावयेद् भिषक्॥

§ (१) निरुद्धप्रकशें नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम्।
दारवीं वायसकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत्॥
त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ् नाडीं प्रवेशयेत्॥

इस रोग की चिकित्सा अथर्ववेद प्रथम अध्याय में भी विस्तार से आई है। उसमें इसी प्रकार बंध को आंत्र गविनी (Uraters) वस्ति (Prostatic urethra) मेहन (Urethra) और योनि (Vagina) में से वर्त्ति द्वारा तोड़ने का विधान है।

(२) सेवनीं त्यक्त्वा शस्त्रेण वा मूत्रस्रोतःसंकोचकरायां चर्म विदारयेत्।

(३) सन्निरुद्धगुदे योज्या निरुद्धप्रकर्शक्रिया। वाग्भट्ट।

¶ निरुद्धप्रकशें नाडीं द्विमुखीं कनकादिजाम्।

यही क्रिया सन्निरुद्ध गुदा (Stricture in rectum) में भी की जाती थी। यह शलाकाएं स्वर्ण की भी बनाते थे।

वस्तियंत्र

इस यंत्र में एक बैग और एक नली होती थी। यह नली किसी धातु या लकड़ी की बनाई जाती थी जो कि चिकनी, साफ, दृढ़ और गौ की पूंछ की भांति जड़ से मोटी और आगे से पतली होती थी। इसके सिरे पर गोल बल्ब (Bulb) होता था। इनके आकार, लंबाई एवं परिधि में अवस्था के अनुसार भेद होता था। यथा—

अवस्था	लंबाई	भाग जो बैग में रहता था	नाड़ी का परिधि,	मुख की परिधि	वस्ति का प्रमाण
१ वर्ष	६ अंगुल	$१\frac{१}{२}$ अंगुल	कनिष्ठिका के समान,	कंक मुख के समान,	२ अंगुल
८ ,,	८ ,,	२ ,,	अनामिका ,,	श्येन ,, ,,	४ ,,
१६ ,,	१६ ,,	$३\frac{१}{२}$,,	मध्यमा ,,	मोर के ,, ,,	८ ,,
५० ,,	१२ ,,	३ ,,	अंगुष्ठ मध्य ,,	खजूर की गुठली के समान	१२ ,,

७० ,, १६ वर्ष के समान जानना। सुश्रुत† ।

हरीत ने लिखा है कि बांस की चार अंगुल शलाका बनाकर गुदा में दो अंगुल प्रवेश करे||।

साधारणतः तब प्रयोग न होता था जब जंतु आदि के प्रवेश से बचाने के लिये छिद्र बंद रखते थे। गुदा में अधिक न

पुनः स्थूलतरा नाडी देया स्रोतोविशुद्धये ॥
.........रुद्धगुदेऽप्येषक्रियाक्रमः ॥ चक्रदत्त ।

† चरक और वाग्भट्ट में और भेद दिए हैं।

|| "चतुरंगुलां वेणुमयीं नाडीं प्रतिलक्षणां कृत्वा तया वास्तिप्रतिकर्म कुर्यात्। गुदाभ्यंतरे अंगुलमात्रम्।" हारीत ।

प्रविष्ट हो जाय, अतः एक और उभार बनाया जाता था। इसी प्रकार आधार से दो अंगुल की दूरी पर एक और उभार होता था जो ट्यूब को बस्ति से नीचे खिसकने नहीं देता था। यह उभार धागा या वस्त्र लपेटकर बनाते थे।

बस्ति—यह पशुओं के मूत्राशय से बनाई जाती थी। दुर्गंध को दूर करने के लिये चूने और पानी से अच्छी तरह साफ किया जाता था। उसको पूर्ण शुष्क करते थे। वस्ति स्वच्छ और चिकनी होती थी। यदि मूत्राशय नहीं मिलता था, तो मेंढक की त्वचा या उदर झिल्ली (Peritoneum) की बनाई जाती थी। सब के अभाव में वस्त्र या चर्म की बनाते थे§। नलिका निम्न कारणों से, एवं निम्न दोषों से शून्य होती थी *।

(१) छोटी—पानी उचित स्थान तक नहीं पहुंचेगा।
(२) दीर्घ—पानी आवश्यकता से अधिक चला जायगा।
(३) पतली—पानी उचित रूप से नहीं जायगा।
(४) मोटी—नली को निकालते समय बली भी बाहर आजायगी।
(५) शिथिलबन्ध—पानी के चूने का भय है।
(६) जीर्ण—नली के अंदर टूटने का भय है।
(७) पार्श्वछिद्र—नर्म स्थानों में व्रण का भय है।
(८) वक्र—पानी दूर तक नहीं जायगा।

इसी प्रकार निम्न आठ दोषों वाली वस्ति भी त्याज्य थी¶।

(१) मांसवाली—दुर्गंध के कारण।

§ अजाविके सौम्यगजोष्ट्रयोर्वा गवाश्वयोर्वस्तिमुशंति माहिषम्।
सुवस्तिमष्टादशषोडशांगुलम्—तथैव नेत्रञ्च दशांगुलं क्रमात्॥

* ह्रस्वं, दीर्घं, तनु, स्थूलं, जीर्णं, शिथिलबंधनम्।
पार्श्वाच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत्॥

¶ मांसल, छिद्र, विषम, स्थूल, जालक, वातलाः।
स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ वस्तीन् कर्मसु वर्जयेत्॥

(२) छिद्र—पानी चूने के कारण।

(३) विषम—दबाव के समान न होने से गुदा में प्रविष्ट न होगा।

(४) स्थूल—पकड़ने में असुगमता के कारण दबाव ठीक नहीं पड़ेगा।

(५) जालक—द्रव बाहर आवेगा।

(६) वातला—वायु भी पानी के साथ जायगा†।

(७) छिन्न—द्रव नीचे गिरेगा।

(८) क्लिन्न—वेग से पानी बाहर नहीं आवेगा।

सुश्रुत ने नलिका में ग्यारह और वस्ति में पांच दोष बताए हैं||।

"उत्तर वस्ति" जो कि मूत्र-मार्ग और योनि में दी जाती थी, इन्हीं नियमों के आधार पर बनाई जाती थी। परंतु नली का परिमाण तथा परिधि आवश्यकतानुसार होती थी‡।

---

† वातला वस्ति—वस्ति के पानी के साथ वायु का प्रविष्ट होना आध्मान (Flatulence) और आनाह उत्पन्न कर देता है। अतः आचार्य ने कहा है—सावशेषञ्च कुर्वीत...वायुःहि तिष्ठति। अर्थात् थोड़ा सा द्रव वस्ति में बचा ले।

|| (१) अतिस्थूलं, कर्कशं, अवनतं, अणु, भिन्नं, सन्निकृष्टं विप्रकृष्टं, कर्णिकं, सूक्ष्मं, अतिच्छिद्रं, अतिदीर्घं, अतिह्रस्वमिति एकादश नेत्रदोषाः।

(२) बहुलताल्पता सच्छिद्रता प्रस्तीर्णता दुर्भिद्धतेति पंच वस्तिदोषाः।

‡ षडष्टद्वादशेत्येवमायामेन यथाक्रमम्।
शशादिभेदभिन्नानां त्रिधा साधनसंस्थितिः॥
स्त्रीणां संसारमार्गोऽपि तद्वदेव प्रभिद्यते।
आयामपरिणाहाभ्यां मृग्यादीनां शशादिवत्॥
नियतं नेति केचित्तु परिणाहं प्रचक्षते।

कामसूत्र की टीका, जयमंगला।

पुष्पनेत्र

इसका उपयोग लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिये होता था। इसकी लंबाई १२ या १४ अंगुल होती थी। यह सोने या चांदी की बनाई जाती थी। इसकी परिधि जाति-पुष्प के समान, छिद्र सरसों के समान होता था। मध्य में एक उभार होता था। नलि-प्रवेश से पहले शलाका के मार्ग की परीक्षा आवश्यक थी।

स्त्रियों में नली की लंबाई साधारणतः १० अंगुल होती थी। आधार से चार अंगुल दूरी पर एक उभार होता था। इसका छिद्र मूंग के दाने के बराबर होता था†।

मूत्र-मार्ग की भांति स्त्रियों में "योनिवस्ति" भी दी जाती थी। इसमें नलिका मोटी तथा परिधि कनिष्ठिका के समान होती थी। योनि में चार अंगुल प्रविष्ट करते थे। युवतियों (१६ से ३५ वर्ष की अवस्था) में दो अंगुल, और बाला (१६ वर्ष तक) में एक अंगुल प्रविष्ट करते थे। इसका छिद्र मूंग के बराबर होता था।

धूम्रनेत्र

यह भी वस्ति यंत्र की भांति भिन्न भिन्न वस्तुओं के बनते थे। इनके तीन भेद थे—

(१) विरेचन के योग्य...नली की लंबाई २४ अंगुल।
(२) स्नेहन के योग्य ... ,, ,, ३२ ,,
(३) प्रयोग के योग्य ... ,, ,, १६ ,,

कासघ्न एवं वामक प्रयोग में इनका आधार अंगुष्ठ के

---

† वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यतः परम्।
चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुलसम्मितम्॥
मालतीपुष्पवृन्ताग्रं छिद्रं सर्षपसन्निभम्।
पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशांगुलम्॥

समान, सिरा कनिष्ठिका के समान और छेद, मटर या माष के बराबर होता था।

पंचनदीय दीर्घबल ने धूम्रपान के लिये औषधियों के पिष्ट कल्क (Paste) को रेशम के वस्त्र पर लपेटकर सिगरेट की भांति पीने का आदेश दिया है। पीने से पूर्व उसे घी में डुबो लेना चाहिए। इससे जहां आग शीघ्र लगेगी, वहां रूक्षता एवं विषजन्य रोगों (Cancer आदि) की संभावना कम हो जायगी। कारण घृत विषघ्न है।

चरक में एक और प्रकार की धूम्रवर्त्ति का विधान है। इसमें औषधों का कल्क सरकंडे पर आठ अंगुल लपेट दिया जाता है। उनको छाया में सुखाकर सरकंडा निकाल देते हैं; और तब वर्त्ति का उपयोग करते हैं§।

चरक में एक अन्य प्रकार के इनहेलर (Inhaler) का वर्णन है। इसमें मिट्टी के दो बर्तन होते थे जिनके मुख आपस में जोड़ दिए जाते थे। जोड़ने से पूर्व निचले पात्र में औषध और खैर के कोयले रख देते थे। ऊपर के बर्त्तन में १० अंगुल लंबी एक नली होती थी। इसका धूम फुफ्फुस के रोगियों के लिये उपयोगी था।

धूम्रपान पांच प्रकार का होता था। प्रत्येक नली की लंबाई भिन्न भिन्न होती थी। यथा—

	चरक,	सुश्रुत,	वाग्भट्ट,	शार्ङ्गधर
मध्यम	३२ अंगुल,	४८ अंगुल,	३२ अंगुल,	४० अंगुल
मृदु	१६ ,,	२४ ,,	४० ,,	३२ ,,
तीक्ष्ण	२४ ,,	३२ ,,	२४ ,,	२४ ,,
कासघ्न	×	×	×	१६ ,,
वामक	×	१६ ,,	× ,,	× ,,

§ (१) 'पिष्ट्वा लिम्पेच्छरेषीकां तां वर्त्तिं यवसन्निभाम्"।
(२) कृत्वा वर्त्तिं पिबेद् धूमं क्षौमचैलानुवर्त्तिताम्॥ चरक।

धूपन

यह क्रिया प्रायः व्रणों के लिये प्रयुक्त होती थी। इसमें प्रयुक्त होनेवाली नलिका की परिधि बेर के समान और छेद कुलत्थी के बराबर होता था। शरावसंपुट में औषध रखकर उसको जला देते थे। उससे उत्पन्न धूएँ से कृमिनाश के लिये धूपन किया जाता था*। यह धूम्र बाह्य व्रणों के अतिरिक्त गर्भसंग की अवस्था में (To make the contraction of the Womb) योनि और गर्भाशय में भी दिया जाता था; एवं मूत्रावरोध में भी प्रयुक्त होता था।

आचूषण शृंग

इस कार्य के लिये प्रायः गौ का सींग प्रयुक्त होता था। इसकी लंबाई १८ अंगुल और आधार तीन अंगुल होता था। इसके चूषण-भाग पर राई के बराबर छेद होता था। आकार चूचुक की भांति होता था। इसका प्रयोग रक्त निकालने में (Wet cupping) होता था। जहां का दूषित रक्त निकालना होता था, वहां पर स्कैरीफिकेशन (Scarification) करके उस पर पतला वस्त्र डालकर चूषण किया जाता था‡। यह क्रिया अर्बुद आदि रोगों में की जाती थी।

भालुकि ने शृंग-प्रयोग की निम्नलिखित विधि बताई है। श्वेत गौ के सींग को अर्द्धचन्द्रकार काटे। उसकीचौड़ाई सात

---

* (१) सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च।
 (२) द्विरह्नः कारयेद् धूमं दशरात्रमतन्द्रितः।
 भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्याः योनिं धूपयेत्। सुश्रुत।

‡ (१) ततः प्रच्छन्ने तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृंगेण शोणितमवसेचयेदा-चूषणात्। सुश्रुत।
 (२) स्वेदं विदध्याद् कुशलश्च नाड्या शृंगेण रक्तं बहुशो हरेच्च।
 योगरत्नाकर।

अंगुल और परिधि अंगुष्ठ के आधार के समान, एवं छिद्र मूंग के बराबर करे।

सुश्रुत ने कान में फंसे कीड़े-मकोड़े, मल आदि को भी चूषण के द्वारा निकालना बताया है। चरक में सर्पादि का विष चूसने के लिये इसका प्रयोग बताया गया है। परंतु सुश्रुत ने विष को चूसने के लिये वस्ति यंत्र का उपयोग किया है†।

अलाबू

यह कद्दू होता है जिसको घिया भी कहा जाता है। इसको गूदे से खाली करके धूप में सुखाया जाता है। इसकी लंबाई १२ से १८ अंगुल, मुख गोल तथा व्यास तीन चार अंगुल होता है। चूषण से पूर्व इसकी वायु तिनके आदि जलाकर बाहर कर देनी चाहिये। यह एक प्रकार का Dry cupping है। भालुकि ने लिखा है कि इसको उत्तम बनाने के लिये काली मिट्टी का लेप करे*।

चरक और योगरत्नाकर में रक्त-मोक्षण के लिये इसका विधान किया गया है।

घटी यंत्र

रचना में यह भी अलाबू के समान होता था। यह बड़े बड़े गुल्मों में प्रयुक्त किया जाता था। यह प्राय पीतल से बनाया जाता था। इसमें तिनके आदि जलाकर वायु बाहर कर देते थे;

† (१) "कर्णच्छिद्रेषु वर्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा शृंगेणापहरेद्धीमान्।"

सुश्रुत।

(२) प्रतिपूर्य्य मुखं वस्तेर्हितमाचूषणं भवेत्। सुश्रुत।

प्रच्छन्नवेधजलौक.शृंगैः स्राव्यं ततो रक्तम्॥ चरक।

* (१) "कृष्णामृदालिप्ता तनुश्रेष्ठा रक्तावसेचनेऽलाबूरिति"।

भालुकितंत्र।

(२) सान्तर्दीपयाऽलाब्वा। सुश्रुत।

(३) जलौकालाबुशृंगैर्वा रुधिरं तस्य निर्हरेत्। चरक।

पश्चात् गुल्म पर प्रयोग करते थे। इससे दर्द कम हो जाता था*।
वर्त्तमान काल में शीशे के cupping में मैथिलेटड स्प्रिट जलाकर कार्य किया जाता है।

शलाका यंत्र

यद्यपि इनकी संख्या २८ बताई गई है तथापि यह संख्या अनिश्चित है। कारण, आवश्यकता के भेद से। कार्य-भेद के कारण इनकी लंबाई और परिधि में भी भेद होता था। साधारणतः यह दो प्रकार का होता था। एक "गंडूपद" जिससे नाड़ी व्रण आदि का पता लगाया जाता था; दूसरा "व्यूहन" जिसके द्वारा वस्तु इकट्ठी की जाती थी, जैसे अश्मरी रोगी में।

उष्णीष शलाका

इनके सिरों पर रूई लपेटी जाती थी। इनका उपयोग बाह्य स्रोतों को साफ करने में होता था। गुदा को साफ करने के लिये १० या १२ अंगुल, कान के लिये ८ या ६ अंगुल, नाक के लिये ६ या ७ अंगुल की होती थी||। इस प्रकार की शलाका घोड़े के कान साफ करने में भी प्रयुक्त होती थी‡।

खल्लमुख

इसका आकार चम्मच या कड़छी के समान होता था। इसमें क्षार आदि रखकर रुग्ण स्थान पर डाला जाता था; यथा अर्शरोग में§।

---

(४) रुधिरागमनार्थमथवा शृंगालाब्वादिभिर्हरेत्। योगरत्नाकर।

* स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते।
परिवेष्ट्य प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान्॥
भिषक् कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे क्षिपेत्।
संगृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्॥ चरक।

|| कार्पासविहितोष्णीषाः शलाका षट् प्रमार्जने। सुश्रुत।

‡ पिचुना वेष्टयित्वा तु शलाकाग्रं समाहितः।
तेन कर्णान्तरे पूयं कर्षयित्वा विचक्षणः॥ अश्वविद्या।

§ तिस्रो दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि। क्षारौषधप्रणिधानार्थम्। सुश्रुत।

नखाकृति

इनकी लंबाई आठ अंगुल होती थी। यह आगे से झुकी होती थी। इनकी संख्या तीन थी। इनका आकार कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमांगुलि के समान होता था। यह भी क्षार आदि गिराने के कार्य में उपयुक्त होती थी§।

जांबवौष्ठ—अंकुशाकृति

इनमें से कुछ का आकार जामुन के समान और शेष का अंकुश के समान होता था। इनकी लंबाई आवश्यकता के अनुसार होती थी। इनके द्वारा क्षार आदि लगाए जाते थे*।

एक और प्रकार का यंत्र होता था जिसका आकार अंकुश के समान होता था। इसके द्वारा नासा के अर्बुद बाहर खींचे जाते थे और आंत्र-वृद्धि रोग में Inguinal Canal का दाह किया जाता था। इसके किनारे तेज और बेर की गुठली के समान गोल होते थे†।

सलाई

इनकी लंबाई आठ अंगुल और मोटाई मटर के दाने के बराबर होती थी। इनके दोनों सिरे गोल (Buds) होते थे। इनका उपयोग आंख में औषध डालने में किया जाता था‡।

पलकों में औषध लगाने की शलाका ६ अंगुल लंबी और फूले किनारोंवाली होती थी। यह सब धातुओं की बनाई जाती थी। परंतु आंख में अंजन के लिये सीसे (lead) की अधिक बनती थी। लेखन में ताम्र की; रोपण (Healing) में लोहे की; प्रसादन (To make clear) में सोने वा चांदी की उत्तम मानी

---

§ अष्टांगुला निम्नमुखास्तिस्त्र: क्षारौषधक्रमे।

* शलाका जाम्बवौष्ठानां क्षारेऽग्नौ च पृथक् त्रयम्।

† कोलास्थिदलतुल्या स्यान्नासाऽर्शोऽर्बुददाहकृत्॥

‡ अञ्जनार्थमेककलायपरिमण्डलमुभयतो मुकुलाग्रम्। सुश्रुत।

है। यह १० अंगुल लंबी, बीच से पतली, और सिरों पर मोटी होती थी§।

कर्णशोधन के लिये

इसका आकार स्रुवा तथा पीपल के पत्ते से मिलता था। इसका उपयोग कान की मैल या कीड़े आदि निकालने में होता था||।

गर्भशंकु

इसकी लंबाई १० से १२ अंगुल और चौड़ाई आठ अंगुल होती थी। अग्र भाग अंकुश के समान टेढ़ा होता था। इसका उपयोग मूढ़ गर्भ (Difficult labour) में किया जाता था†। इसको प्रयुक्त करने से पूर्व मण्डलाग्र से सिर को विदीर्ण कर लेते थे।

प्रजननशंकु

इसका उपयोग जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने में होता था। इसका प्रयोग करने से पूर्व हाथ से क्रिया (manual fraction) की जाती थी। यदि हाथ से कृतकार्यता

---

§ सवितुरुदयकाले साञ्जना व्यञ्जना वा
करकरिकसमेतानर्म्मपैच्छिल्यरोगान्।
असितसितसमुत्थान् संधिवर्त्माभिजातान्,
हरति नयनरोगान् सेव्यमाना शलाका॥ चक्रदत्त।

|| क्लेदयित्वा तु तैलेन स्वेदेन प्रविलाप्य च।
शोधयेत् कर्णगूथं तु भिषक् सम्यक् शलाकया॥ चक्रदत्त।

† (क) नतोऽग्रे शंकुना तुल्यो गर्भशंकुरिति स्मृतः।
अष्टांगुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः॥

(ख) ततः स्त्रियमाश्वास्य मंडलाग्रेण अंगुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य शिरःकपालान्याहृत्य शंकुना गृहीत्वोरसि कक्षायां वा प्रहरेत्। अभिन्ने शिरसि चाक्षिकूटे गंडे वा। सुश्रुत। मूढगर्भ-चिकित्सा।

नहीं होती थी, तब इसका प्रयोग करते थे* ।

शरपुंख

इसका आकार सर्पफण के समान होता था । इसकी लंबाई चार अंगुल होती थी। इसका कार्य दंतकोश में से दांत को निकालना था§ ।

सर्प फण

इसका आकार सर्प के फण की भांति आगे से मुड़ा होता था। इसके एक छोर पर चाकू और दूसरे छोर पर चम्मच होता था। इसका उपयोग अश्मरी के शल्य कर्म में, अश्मरी को मूत्राशय से निकालने मे, होता था। यह शल्य कर्म सीवन (Perinium) पर होता था|| ।

अर्द्धचंद्रमुख

इसका आकार आधे चंद्रमा के समान होता था। इससे आंत्रवृद्धि का मार्ग (Inguinal-canal) तथा कठोर अर्बुद ग्रंथि, अपची (Bubo) आदि दागे जाते थे। आंत्रवृद्धि का मार्ग दागने से वहां दाग बनकर संकोच हो जाता था, जिससे मार्ग का अवरोध हो जाता था† ।

---

* गर्भे जीवति मूढं तु गर्भं यत्नेन निर्हरेत् ।
हस्तेन सर्पिषाक्तेन योनेरन्तर्गतेन वा ॥
मृते तु गर्भे गर्भिण्या योनौ शस्त्रं प्रवेशयेत् ।
शस्त्रशास्त्रार्थविदुषी लघुहस्ता भयोज्झिता ॥ योगरत्नाकर ।

§ शरपुंखमुखं दंतपातनं चतुरंगुलम् ॥

|| (क) अश्मर्याहरणं सर्पफणाद् वक्त्रा अग्रत: ।
(ख) अल्पमप्यवस्थितं पुन परिवृद्धिमेति ।
तस्मात् समस्तमग्रवक्त्रेणाददीत । सुश्रुत ।

† मध्योर्ध्ववृत्तदंडा च मूले चार्द्धेंदुसन्निभा ।
तत्र या वंक्षणस्था तां दहेदर्द्धेन्दुवक्त्रया । सम्यङ्मार्गावरोधार्थम् ।
सुश्रुत ।

मूषल

इन शलाकाओं का उपयोग टूटी अथवा दबी अस्थियों को अपने वास्तविक स्थान पर बैठाना होता था† ।

मूत्रमार्गविशोधक

इसका अग्र भाग मालती-पुष्प के समान होता था । इसके द्वारा मूत्र-मार्ग की शुद्धि की जाती थी‡ ।

एषणी

इसका उपयोग भगंदर, नाड़ी व्रण और गतिव्रणों का पता लगाने में होता था§ ।

उपयंत्र

इस शीर्षक में शल्य कर्म के उन उपकरणों का समावेश होता था जो किसी धातु आदि से नहीं बनाए जाते थे । इनके द्वारा शोथ घट जाता था और विद्रधि (Abscesses) फट जाते थे । इसके अतिरिक्त यह शल्य कर्म में बहुत सहायक होते थे ।

क्षारसूत्र

इसके बनाने की विधि यह थी कि रेशम के धागे को चार पांच दिन तक हल्दी के सांद्र घोल में भिगोकर, पुनः थूहर के दूध में सात आठ दिन रखते थे । पश्चात् इनके द्वारा अर्श के

---

† (क) नासां सन्नां विवृतां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया ।
(ख) समुन्नमयेत् स्विन्नमंसकं मुसलेन तु ॥
(ग) मूसलेनोत्क्षिपेत् कक्षामंससंधौ विसंहते ॥

‡ (क) मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलम् ।
(ख) ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृतान्विते । शलाकयान्विष्य—
गतिं यथाप्रतिहता व्रजेत् । ततः शेफप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत् ।
चरक ।

§ (क) पराचीनमवाचीनं बहिर्मुखमन्तर्मुखं वा ततः
प्रणिधाय एषणीमुखस्य साशयमुद्धरेत् सुश्रुत ।

अंकुर या भगंदर अथवा गतिव्रणों (Sinus) की गति खोली जाती थी। इनका प्रयोग प्रायः निर्बल और भीरु पुरुषों के लिये होता था‡।

वेणिका

यह एक प्रकार के बंध हैं जो रस्सी के द्वारा दिए जाते थे। इनका उपयोग सर्पादि विष की अवस्था में विष के विस्तार को रोकने में होता था†।

पाश

प्राचीन वैदिक साहित्य में भीषणता या क्रूरता के सूचक वरुण के पाश बताए गए हैं। अतः जिन अवस्थाओं में रोगी को भयभीत करने की आवश्यकता होती थी (यथा उन्माद रोग में), उनमें इन्हीं पाशों का उपयोग किया जाता था§।

चर्मबंधन

इसके द्वारा एक दृढ़ बंध बंधता था। अतः सिरावेध के समय अथवा विष की अवस्था में विष का वेग रोकने के लिये यह शल्य कर्म के स्थान से चार अंगुल ऊपर बांध दिया जाता था*।

(ख) नाडीनां गतिमन्वीक्ष्य शस्त्रेणोत्पाट्य कर्मवित्। योगरत्नाकर।

‡ (क) कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥

(ख) बन्धनात् सुदृढं सूत्रं भिनत्त्यर्शोभगन्दरम्।

† (क) दंशास्तु विषं दष्टस्य विसृतं वेणिकां भिषक् बद्ध्वा निष्पीडयेत्। चरक।

(ख) सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता। सुश्रुत।

§ (क) ये ते पाशा विपाशा......। अथर्वणा। अथर्व।

(ख) भीषयेत् सततं पाशैः कशाभिर्वाथ ताडयेत्॥ चरक।

* प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनान्यतमेन च।
न गच्छति विषं देहेऽरिष्टाभिः निवारितम्॥

पट्टी

यह प्रायः सूत, रेशम, कौशेय आदि से बांधी जाती थी। इसके साधारणतः चौदह भेद बताए हैं। परंतु यह निश्चित नहीं। कारण जिस किसी स्थान पर जो पट्टी जिस किसी प्रकार उचित रीति से बंध सके उसे ही बांधना चाहिए। साधारणतः पट्टियां निम्न प्रकार से बांधी जाती थीं।

कोश

यह एक खोल के समान होती थी। इसका स्वरूप जानने के लिये कागज को उंगली पर लपेटकर नख के पास से मोड़कर जाना जा सकता है। यह पट्टी प्रायः इसी स्थान पर बंधती थी।

दाम

यह एक माला के समान चौड़ी बांधी जाती थी। इसका उपयोग दर्द कम करने में होता था। इससे अवयव पर दबाव होता था। इसका स्थान उदर है।

स्वस्तिक

इसका स्वरूप अंगरेजी के आठ (8) से मिलता था। यह सन्धिस्थानों में और कंधे में भंग या व्रण की अवस्था में बांधी जाती थी।

अनुवेल्लित

इसका अर्थ बेल की भांति पट्टी बांधने से है। निचले चक्कर से आरंभ करके प्रत्येक निचले चक्कर का ⅓ भाग छोड़कर ऊपर को बढ़ाते जाते थे। इसका उपयोग पार्श्वास्थि (Ribs) के भंग में, तिरछे, कटे, गहरे व्रणों में तथा शाखाओं (Limbs) में होता था।

प्रतोली

इसकी चौड़ाई तीन अंगुल के लगभग होती थी। उपयोग

गले या शिश्न पर होता था। इसमें पट्टी ऊपर ही ऊपर घुमाई जाती था।

मंडल

इसका आकार गोल होता था; अतः यह गोल अंगों पर बांधी जाती थी। यथा— जंघा, भुजा, कोष्ठ आदि पर।

स्थगिका

इसके द्वारा अवयव की गति रोकी जाती थी। इसका व्यवहार करने में फलक (Splint) या चिपकनेवाले कल्क (Paste Emplastor) की सहायता ली जाती थी। यह अंगूठे, उंगली और शिश्न पर भी बांधी जाती थी। सुश्रुत में वृद्धि रोग (Hydrocele) के लिये इसका उपयोग पानी निकालने में बताया गया है।

यमक

इसमें दो पट्टियां आपस में काटती हुई या १० अश के कोण पर सी जाती थीं। इसका उपयोग हनु या यमक व्रणों में होता था।

खट्वा

आजकल इसको Four Tail कहते हैं। इसको बनाने के लिये एक पट्टी के दोनों छोरों को बीच में चीर देते थे; एवं बीच में स्थानानुसार तीन या चार इंच जुड़ा रहने देते थे। इसका उपयोग माथे, गाल और अधोहनु पर होता था।

चीन

यह आंख पर बांधी जाती थी।

विबंधक

यह चौड़ी और गोल होती थी तथा छाती और पीठ पर बांधी जाती थी।

वितान

यह तबू के समान होती थी। इसके लिये एक चोड़ा वस्त्र

लेकर सिर पर फैलाकर अगले सिरे को पीछे खींचकर बांध देते थे। यह पट्टी सिर पर बांधी जाती थी।

गोफणिका

इसका आकार नतोदर होता था। यह उन्नतोदर स्थानों पर—यथा ठोड़ी, नाक और सीवन पर बांधी जाती थी।

पंचांगी

इसकी पांच पुच्छें होती थीं। यह अधोहन्वस्थि, एवं अक्षकास्थि (Clavical) के भंग पर बांधी जाती थी§।

पट्टी बांधने के समय व्रण पर कवलिका (Pad) रख ली जाती थी। पट्टी को वाम हाथ में पकड़कर बांधा जाता था। पट्टी की गांठ व्रण से हटाकर देते थे। इसका अभ्यास लकड़ी वा मिट्टी के बने मनुष्य के मॉडल (पुस्त) पर कराया जाता था‡। सुश्रुत ने पट्टी का बंध तीन प्रकार का बताया है। यथा-१ गाढ़, २ शिथिल और ३ समबंध। इनको यथास्थान एवं दोषानुसार बांधने की आज्ञा थी।

---

§ 'स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशाभिश्चैव संस्थितम्।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः बध्नीयात्............ ॥"
हनुसंधौ—
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पञ्चांगीं वितरेद्भिषक्।
....
बद्ध्वा वेल्लितिकेनाशु वचस्तैलेन सेचयेत्।
....
"चर्मणा गोफणा बन्धः" सुश्रुत।

‡ (१) ततः कवलिकां दत्वा वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्।
(२) पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यंगविशेषे तु बंधयोग्याम्।
पुस्त का-लक्षण—
मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा।
लौहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते॥

उदरबंध

जलोदर (Ascitis) की अवस्था में पानी निकालने समय एवं उसके पश्चात्, एवं प्रसव के पश्चात् गर्भिणी के कोष्ठ उदर पर पट्टी बांधी जाती थी। इसका अभिप्राय वातप्रकोप को नहीं होने देना था। यह पट्टी चौड़े वस्त्र से बांधी जाती थी||।

भगवान् बुद्ध ने भी खुजली की चिकित्सा बताते हुए व्रण की चिकित्सा में पट्टी बांधने की आज्ञा दी है¶।

इसी प्रकार सिर पर औषध लगाने के लिये केशों को भी बांध दिया जाता था।

चर्म

इसका बंधन वस्त्र की अपेक्षा दृढ़ और उष्ण होता था; अतः गुदभ्रंश (Prolapsus of the anus) रोग में इसका बंधन किया जाता था। इसी प्रकार शाखाओं के संधिभंग या अस्थिभंग की अवस्था में चर्म का बंधन किया जाता था। इसके अतिरिक्त चर्म पर औषध लगाकर व्रण पर भी रखते थे। इसके द्वारा व्रणों को सीया भी जाता था; तथा विष की अवस्था में बंधन प्रयुक्त करते थे†।

यंत्रण शाटिका

अर्श एवं मूत्राशय से अश्मरी निकालते समय रोगी को यंत्रित किया जाता था। इनको यंत्रित करने के लिये शाटिका का उपयोग होता था §।

|| वेष्टयेदुदरं महता वाससा.. तथा न तस्य वायुरुदरे विकृतिमापादयति।
आत्रेय।

¶ देखिए महावग्ग।

† (१) गुदभ्रंशे गुदस्विन्नं स्नेहाभ्यक्तं प्रवेशयेत्।
(२) कारयेद् गोफणाबन्धमच्छिद्रेण चर्मणा॥ चक्रदत्त।
(३) मुञ्चेद् रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सुलोमभिः। सुश्रुत।

§ (१) प्रावनबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कलक्षतानां अन्यतमेन

दृति

इसका वर्णन वेदों में सोमरस को एकत्र करने में आता है। वेद में अगस्त्य ने इससे विष को निकालने का आदेश किया है। मनुस्मृति में बुद्धि के नष्ट होने की उपमा मशक से पानी गिरने के रूप में दी है। इसके द्वारा कूपादि से पानी भी निकाला जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों में चर्म्म के अनेक उपयोग आए हैं†।

कुश और अन्तर्वल्कल

यह वृक्षों की निचली त्वचा होती है। इसका उपयोग फलक (Splint) के अभाव में होता था। इस कार्य के लिये बांस या फट्टियां भी व्यवहार में लाई जाती थीं। वाग्भट्ट ने लिखा है कि फलक चौड़े चिकने पतले दृढ़ और साफ होने चाहिए‡।

लता

इनका उपयोग उत्तेजना (Stimulation) देने में या बंधन में किया जाता था। सर्प की चिकित्सा में यदि लता से प्रहार करने पर भी त्वचा रक्तवर्ण न हो तो उसे असाध्य समझे। इस-

---

यंत्रयित्वा।

(२) तत्र व्यध्यशिरं पुरुषं . यंत्रणशाटकं ग्रीवायामुपरि ' सुश्रुत।

† (१) दृतेरिव तेऽवृकमस्तु सख्यं अच्छिद्रस्य दधन्वतः-"

(२) यो दृवां मधुनो दृतिराहतोरथ चर्षणे ततः पिवतमश्विना।

ऋग्वेद।

(३) सूर्य्ये विषमासृजामि दृतिः सुराचतो गृहे।

(४) ततोऽस्य क्षरति प्रज्ञा दृते पात्रादिवोदकम्। मनुः

(५) "परिशुद्धजीर्णचर्म्मकुरंडकेव अभ्युद्गता, चर्म्मकुरण्डः चर्मपुट.

(६) रौरवे वा चर्म्मे। ' कृष्णाजिनम्"।

‡ "पंकेनालेपनं कार्य्यं बंधनञ्च कुशान्वितम्"।

के द्वारा रक्तसंचार का बंद होना जाना जाता था§।

पत्थर

इसका उपयोग नवजात शिशु की श्रवण शक्ति को जाग्रत करने के अतिरिक्त दृढ़ संलग्न शल्य को ढीला करने में होता था। इसके अतिरिक्त उंगलियों के संधिभंग के ठीक होने पर उनमें बल लाने के लिये भी इनका उपयोग था||। कामंदकी नीतिशास्त्र में लिखा है कि राजा विषहर, पत्थर और मणि अपने पास रखे।

मुद्गर

इसका आकार लोहे के हथौड़े के समान होता था। इसका भी उपयोग शल्य को ढीला करने में होता था†।

उंगली

सब यंत्रों में हाथ ही प्रधान है। कारण इसके अभाव में कोई यंत्र प्रयुक्त नहीं हो सकता।

(१) थोड़ी सूजन को हटाने के लिये धीरे धीरे उंगली से प्रतिलोम मर्दन करते थे, जिससे संचित रक्त पीछे लौट जाता था*।

(२) ग्रास शल्य मे यदि भोजन कंठ में रुक गया हो तो गले पर धीरे धीरे प्रहार करे।

---

§ (१) राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति।
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम्॥

|| (१) अश्मनोर्वादनं चास्य कर्णमूले समाचरेत्॥ चरक।
(२) हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम्।

† अस्थिदेशोत्तिष्ठितमष्ठीलाश्मसुद्गराणामन्यतमस्य प्रहरणे। सुश्रुत।

* संस्वेद्य बहुशो ग्रन्थि विमृद्नीयात् पुनः पुनः।
विमर्दयेत् भिषक् प्राज्ञः तलेनाङ्गुष्ठकेन वा॥ सुश्रुत।

(३) नवजात शिशु के मुख की श्लेष्मा उंगली पर रुई लपेट कर साफ करे¶।

(४) अधोहन्वस्थि भंग में अंगूठों से दाढ़ों को नीचे दबाकर तर्जनी से चिवुक को दबावे‡।

(५) रोगों की परीक्षा के लिये सुश्रुत ने छः उपाय बताए हैं। इनमें हाथ के स्पर्श से शरीर की रूक्षता, चिक्कणता मृदुता ज्वर आदि जाना जाता है।

(६) शल्य यदि अस्थि में फंसा हो तो अस्थि को पांव से दबाकर दोनों हाथों से लकड़ी में फसी कील की भांति उसे खींचे।

(७) गर्भाशय से कमल (Placenta) को निकालने के लिये परिचारिका स्त्री अपने दक्षिण हाथ से गर्भाशय को दबावे और वाम हस्त से हिलावे। एड़ियों से रुग्णा को दबाए रखे, जिससे वह उठ न सके।

दांत

इसमें प्रायः हाथीदांत का ही उपयोग होता था। इसको यंत्र बनाने के अतिरिक्त औषध में भी व्यवहार करते थे*।

नख

शल्यकर्म में एक ओर जहां (मनुष्य के) नखों को हानिकारक बताया है, वहां सिंह आदि के नख आहर्य (Extrac-

---

¶ (१) अंगुल्या सुपरिलिखितनखया ....

‡ (१) व्यात्तानने हनुस्विन्नं अंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च।
प्रदेशनीभ्याञ्चोन्नम्य चिबुकोन्नामनं हितम्॥

(०) स्पर्शेन्द्रियविज्ञेयाः—शीतोष्ण, श्लक्ष्ण, कर्कश, मृदु, कठिनत्वादयो ज्वरशोफादिषु।

* (१) हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यञ्चैव रसाञ्जनम्।
(२) तैलाक्तहस्तिदन्तस्य मसीं वा चौषधं परम्॥

tion) के कार्य में प्रयुक्त होते थे† ।

मुख

इसका प्रयोग प्रायः आचूषण में किया जाता था । सर्पदंश की अवस्था में जौ या रेत से मुख को भरकर चूषण करते थे। सर्पदंश की अवस्था में सर्प को बीच से काटने की चिकित्सा भी सुश्रुत ने बताई है, जिससे उसका पित्त (Bile) प्रतिविष का कार्य करता है* ।

बाल

यह प्रायः मनुष्य या अश्व की पुच्छ के बाल होते थे। इनका उपयोग अर्शादि के मस्से बांधने में सिर में से शल्य निकालकर उनका उण्डुक प्रयुक्त करने में (जिससे मस्तुलुंग का स्राव न हो) केशोंडुक के रूप में, वमन कराने में और मुख्यतः सीने में होता था‡ ।

---

† (१) सदा नीचनखरोम्णा भवितव्यम् ।
तत्कस्य हेतोः हिंसाविहाराणि महावीर्य्याणि .. सुश्रुत ।
(२) आहर्य्ये छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत् ॥
* (१) निरुद्धेऽश्मनि वा वायौ पाणिमंथेन दारयेत् ।
नाडीं दत्वाऽश्मनि भिषक् चूषयेत् पवनं बली । सुश्रुत ।
(२) दंशं वा चूषयेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन । चरक ।
(३) दष्टव्यः सोऽहः । सुश्रुत ।
‡ (१) वालाः अश्वादीनां पुच्छभवाः केशाः ।
नृकेशाश्च, अर्शोवाव्याधिबंधनार्थं युज्यन्ते ।
(२) शिरसोपहृते शल्ये वालवर्त्तिः प्रवेशयेत् ।
वालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुंगं व्रणात् स्रवेत् ॥ सुश्रुत ।
(३) व्रणो रोहति चैकैकं शनैरपनयेत् कचम् ।
मस्तुलुंगस्रुतौ खादेन्मस्तिष्कानन्यजीवजान् ॥ वाग्भट्ट ।
(४) केशोण्डुकेन पीतेन द्रवैः कण्टकमाक्षिपेत् ।

पिपीलिका

यह चिउँटियां सीने के काम में आती थी विशेषत आंतों में। इनमें काली चिउँटी उत्तम समझी जाती थी। इनसे कटवाकर सिर वहीं छोड़कर शेष भाग निकाल लेते थे। सिर पिन का काम करता था†।

सूत्र

इसके अतिरिक्त कई प्रकार के सूत्र यथा वल्कल स्नायु, सन भी सीने के काम में आते थे।

सीना

इसके लिये सूई को न तो अति समीप से न बहुत दूर ले ले जाना चाहिए। एवं सूई को न तो अधिक प्रविष्ट करे और न उपरिपृष्ठ में रहने दे§।

सहसा सूत्रबद्धेन वमत.।

(५) अथास्य बालवेण्या कण्ठतालु परिमृशेत्। चरक।

(६) केशवेष्टितयांगुल्या तस्या. कण्ठं प्रवर्षयेत्॥ योगरत्नाकर।

(७) स्नाय्वा वालेन वा पुनः।

† (१) शल्यमुद्धत्यान्त्स्रावान् संशोध्य तच्छिद्रमात्रं समाधाय कृष्णपिपीलिकाभि. दंशयेत्। दष्टे च तासां कायानपहरेत् न शिरांसि। सुश्रुत।

(२) छिद्राण्यन्त्रस्य तु भिषक् दंशयित्वा पिपीलकैः।
बहुशः संगृहीतानि मत्वा च्छित्वा पिपीलकान्॥
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं बहिः सीव्येद् व्रणं तत:॥ चरक।

(३) अभिन्नमंत्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्य स्वनिवेशने।
पिपीलिकाशिरोग्रस्तं तदप्येके वदन्ति तु॥
प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांशुभिः।
प्रवेशयेत् कृत्तनखो घृतेनाक्तं शनैः शनैः॥ सुश्रुत।

§ (१) सीव्येत् सूक्ष्मेण शस्त्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा।
शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा बालेन वा पुनः॥

यह सीना चार प्रकार का होता है, परंतु इसका परिमाण नियत नहीं और न कोई स्थान ही नियत है। जो जहां उपयुक्त हो, वह वहां प्रयुक्त कर लेना चाहिए।

वेल्लित

यह लता के समान चक्करदार होता है। इसमें टांके पास पास होते हैं और प्रत्येक टांके में से पुनः सूत्र निकाला जाता है। यह प्रायः भुजाओं के सीने में काम आता है§।

गोफणिका

इसका आकार और स्थान गोफणिका पट्टी के समान ही है*।

तुन्न

यह सीवन प्रायः उस स्थान पर उपयुक्त होती है जहां पर वसातन्तु (Adipose Tissue) या वसा नहीं होती। यथा अंडकोष, पलकों और शिश्न में†।

ऋजुग्रंथि

यह प्रायः मांस से भरे अवयवों में सीया जाता है; यथा ओष्ठ आदि में‡।

---

(२) सीव्येन्न दूरे नासन्ने गृह्णन्नाल्पं न वा बहु।

§ अल्पान्तरन्तु कुटिलं संसीव्येत् बहुवेष्टनम्।
यत्तद् वेल्लितकं नाम शाखादौ युज्यते बुधैः॥

* पाटितं योनिगुदयोरन्तरं वा तथाविधम्।
देशं स्यूतं यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया॥
नातिस्थूले नातिदूरे शलाके द्वे निपात्य च।
तदा सिक्तेन सूत्रेण सवेष्ट्य सेवनीकृता॥
नाम्ना गोफणिकाबंधः दुष्करा मंदबुद्धिभिः॥

† पृथक् पृथक् तु संछिन्नां सीव्येत्तां तुन्नसेवनीम्।
या योज्या पक्ष्मकोपादौ .. .. ॥

‡ पार्श्वात्पार्श्वान्तरं यावत् ऋजुसूचीं निपात्य च।
संवेष्ट्याकृष्टसूत्रेण ग्रंथिर्या संधिहेतवे॥

आंत्र

यह भी सीने के काम आती है। इसके लिये मेष की आंतें प्रायः व्यवहार में लाई जाती थीं† ।

अश्ववक्र

यह यंत्र तीव्र गंभीर प्रविष्ट शल्य को निकालने में प्रयुक्त करते थे। इसको घोड़े की काठी में फँसा दिया जाता था। शल्य को इससे बांधकर घोड़े को सहसा चलाया जाता था, जिसके झटके से शल्य बाहर हो जाता था* ।

शाखा

गंभीर शल्य को निकालने के लिये उसे धनुष की कोटि में अथवा झुकाकर शाखा में फँसा देते थे और उसे छोड़ देते थे। इस प्रकार शल्य बाहर हो जाता था ||।

प्रसव के समय यदि गर्भशल्य अवरुद्ध हो जाता है तो अफ्रीका के असभ्य पुरुष प्रसूता को वृक्ष की शाखा पकड़ाते हैं और उसके झटके से शल्य बाहर आ जाता है। वाग्भट्ट ने उपर्युक्त दोनों उपायों का वर्णन किया है‡ ।

क्रियते सा ऋजुग्रंथिः ओष्ठादिषु विधीयते ॥

सुश्रुत टीका हाराणचंद्र ।

† आंत्रं मेषादीनां शुष्कांत्राणि इति ख्यातं । शस्त्रछेदनानंतरं सूक्ष्मशिरादिबंधनादिषु युज्यते ॥

* अश्ववक्रं कटके वा बध्नीयादथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नमयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरति ॥

|| (१) दृढां वा वृक्षशाखां अवनम्य तासां पूर्ववत् बद्ध्वा उद्धरेत् ॥

(२) विनमितायां शाखायां शल्याग्रभागं दृढं बद्ध्वा सहसा शाखात्यागेन उच्छ्रितायाः शाखायाः शल्यमुद्ध्रियते । सुश्रुत ।

‡ तथाप्यशक्ये वारंगं वक्रीकृत्य धनुर्ज्यया ।
सुबद्धं वक्रकटके बध्नीयात् सुसमाहितः ॥
सुसंयतस्य पंचाङ्ग्या वाजिनः कशयाऽथ तम् ।

अयस्कान्त

यह आंख में से अथवा व्रण में से लोहा निकालने के काम आता था। रस ग्रंथों में इसके चार भेद दिए हैं। इसे भस्म करने का भी विधान दिया है† ।

क्षार

शस्त्रों और अनुशस्त्रों में क्षार सबसे श्रेष्ठ बताया गया है। कारण, इसके द्वारा छेदन, भेदन और लेखन रूपी शल्य-कर्म स्वयं हो जाते हैं। यह भीरु और दुर्बल पुरुषों में प्रयुक्त होता था। इसको बनाने की विधि सुश्रुत में विस्तार से दी हुई है। इसको अंतः और बाह्य दोनों कार्यों में व्यवहृत करते थे। इसकी तीव्रता के कारण इसके तीन भेद थे—मृदु, मध्य और तीव्र। क्षार का उपयोग तीन उपायों के द्वारा किया जाता था। (१) दार्वी के द्वारा—यह लकड़ी का स्रुवा होता था। इसमें क्षार भरकर उचित स्थान पर डालते थे। (२) शलाका—यह एषणी (Probe) की भांति की होती थी। इनके सिरे पर तीन उँगलियों समान चम्मच होते थे। यथा-कनीनिका, मध्यमा और अनामिका के समान। (३) कूर्ची जो बुरुश के समान होती थी। क्षार प्रयोग में अन्य स्थान की रक्षा टिन आदि के प्लेटों से की जाती थी§ ।

---

* ताडयेदिति मूर्द्धानं वेगोन्नमयन् यथा ॥
उद्धरेच्छल्यमेवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः ॥ वाग्भट्ट ।

† (१) "मणिगमनं सूच्यभिसर्पणं अदृष्टकारणकम्"।
सूच्यभिसर्पणमिति—सूचीपदेन लौहमात्रं तृणञ्चोपलक्ष्यते । तथा चायस्कान्ताभिमुखं ॥

(२) "अनुलोममनवबद्धकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन"।
देखिए रसरत्नसमुच्चय ।

§ (१) शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः, छेद्यभेद्यलेख्यकरणात् । त्रिदोषघ्नत्वात्, सौम्यः ॥

अग्नि

यह क्षार एवं सब यंत्रों तथा शस्त्रों में श्रेष्ठ है। कारण, इससे नष्ट किए हुए रोग पुनः उत्पन्न नहीं होते; एवं उनके द्वारा जो रोग असाध्य हैं, वे इससे साध्य हैं। इस दाह-कर्म में निम्न उपकरण व्यवहार में लाए जाते थे।

(१) त्वचा का दाह करने में—पिप्पली, अजाशकृत्, गो-दंत, शर, शलाका।

(२) मांस का दाह करने में—जांबवौष्ठ, अन्यलौह।

(३) रक्त-प्रणाली वा संधि के दाह में—क्षौद्र गुड़, स्नेह (घी, तेल और वसा)।

सुश्रुत ने रक्तावरोध का अंतिम उपाय दाह ही बताया है†। इसके अतिरिक्त पक्ष्मकोप रोग में बालों की जड़ों का तथा आंतों की झिल्ली के अर्शस के दाह का भी विधान किया है।

भैषज्य

व्रण-चिकित्सा में बताए हुए सात कर्मों की पूर्त्ति के लिये औषध का उपयोग होता था। इनके द्वारा व्रण की शुद्धि-रोहण, पाक, अवसेचन और पाटन कार्य किया जाता था।

---

(२) आस्वाद्य च दर्व्वीकूर्च्चशलाकानामन्यतमेन क्षारं पातयेत्।
देखिए सुश्रुत क्षारप्रकरण।

† (१) तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भवात्।
क्षारादग्निर्गरीयान्। तदसाध्यानां (रोगाणां) तत् साध्यत्वात्।
सुश्रुत।

(२) अर्शोभगंदरग्रंथिनाडीदुष्टव्रणादिषु।
मांसदाहो मधुस्नेहजाम्बवौष्टगुडादिभिः।
तसैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित्॥

(३) अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यान्मधुसमायुतम्।

(४) रक्ताक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तहेमशलाकया।
पक्ष्मरोगे पुनर्नैवं कदाचिद्रोमसंभवः॥　　चक्रदत्त।

इनके द्वारा व्रण को कृमिरहित करने के लिये धूआं दिया जाता था* ।

रक्तावरोध के उपाय

सुश्रुत ने आवश्यकता से अधिक निकलते हुए रक्त को रोकने के लिये चार उपाय बताए हैं । इनमें से प्रथम तीन उपाय ही करने चाहियें; परंतु असाध्यावस्था में चतुर्थ उपाय का भी आश्रय लेना चाहिए। वाग्भट्ट ने रक्तावरोध का एक और उपाय शिरावेध बताया है† ।

संक्षेपत: यंत्रों का वर्णन यही है। अनुयंत्र और भी हैं; परंतु मुख्य न होने के कारण औरों का वर्णन यहां नहीं किया गया। वाचक-वृंद उनका वर्णन अन्य ग्रंथों में देख सकते हैं।

---

* आदौ विम्लापनं कार्य्यं द्वितीयमवसेचनम् ।
तृतीयमुपनाहञ्च चतुर्थीं पाटनक्रियाम् ॥
पंचमं शोधनं प्रोक्तं षष्ठं रोपणमिष्यते ।
एते क्रमा: व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम् ॥ सुश्रुत ।

विम्लापन = मालिश । अवसेचन = शीत-परिषेक । उपनाह = पुलटिस । पाटन = भेदन । शोधन = शुद्धि । रोपण = Healing वैकृतापह = कृमिघ्न, कृमिनाशक ।

† (१) संधानं स्कंदनं चैव पाचनं दहनं तथा ।
अस्कन्दमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत् ।

(२) व्रणं कषाय: सन्धत्ते, रक्तं स्कन्दयते हिमम् ।
तथा सम्पाचयेद् भस्म, दाह: संकोचयेत् शिरा: ॥

(३) तामेव वा शिरां विध्येत् । व्यधानन्तरं शिरामुखं वा त्वरितं दहेत् तप्तशलाकया । वाग्भट्ट ।

बारहवां प्रकरण

शस्त्र

मंडलाग्र

इसकी लंबाई ६ अंगुल होती थी। एक सिरा गोल तथा दूसरा सिरा उस्तरे के समान होता था। वाग्भट्ट ने इसका आकार तर्जनी के नख की भाँति बताया है।

इसका उपयोग गलशुंडिका रोग में, मूढ़ गर्भ में, आंख के रोग (Pterygium) आदि में, एवं आंख की नवीन वृद्धि (अर्श) में तथा जिह्वा के अधिजिह्वा रोग में होता था*।

करपत्र

इसके शब्दार्थ से पता लगता है कि यह हाथ की उँगलियों के समान होता था। कोई आचार्य इसे बढ़ई की आरी के समान मानते हैं। इसकी लबाई ६ या १२ अगुल होती थी।

गलशुंडिका रोग में-अथाङ्गुलिसन्दंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि च संस्थिताम्॥

मूढ़ गर्भ में-(१) मण्डलाग्रेण कर्त्तव्यं छेदमन्तर्विजानता।
(२) ततः म्रियमाणस्यास्य मण्डलाग्रेणांगुलीशस्त्रेण वा शिरो विदार्य॥

Pterygium में-(१) अर्म्मवन्मण्डलाग्रेण तासां छेदनमिष्यते।
(२) उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण बडिशेन बलान्वितः।

अर्श (वृद्धि) में (१) अर्शस्तथा वर्त्मनाम्ना शुष्कार्शोऽर्बुदमेव च।
मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन मूले छिन्द्याद् भिषक् शनैः।

अधिजिह्वा में-'उन्नम्य जिह्वामाकृष्य बडिशेनाधिजिह्विकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण ...."

सुश्रुत।

चौड़ाई दो अंगुल होती थी। उपयोग अस्थियों के काटने में होता था†।

वृद्धिपत्र

इसका आकार "वृद्धि" वृक्ष के पत्ते की भांति होता था। इसके दो रूप होते थे। १—सीधा, जिससे त्वचा की विद्रधियां खोली जाती थीं। २—वक्र, जिससे गंभीर विद्रधियां खोली जाती थीं। इनको 'अंचिताग्र" और 'प्रयताग्र" कहते थे। इनकी लंबाई ६ या ७ अगुल होती थी। अंचिताग्र को 'क्षुर" भी कहते थे।

इसका उपयोग व्रण के पास से बालों को हटाने में छेदन या लेखन करने में, वृद्धि रोग के शल्य-कर्म में और सिर में काकपद करने में करते थे। इसके अतिरिक्त पशु-चिकित्सा में भी इसका उपयोग देखा गया है*।

---

† करपत्रमिति करवत् पत्रं करपत्रम्। यथा करोऽङ्गुलीभिः रचितो भवति तद्वत् यत्कंटकैः रचितं स्यात्तत् करपत्रम्।
छेदेऽस्थानां करपत्रं तु खरधारं दशांगुलम्॥
वाग्भट्ट।

* बाल साफ करने में रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति।
क्षुरकर्तरिसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत्॥
छेदन या लेखन में -"वृद्धिपत्रेण मतिमान् सम्यग्दंशमथोद्धरेत्।"
वृद्धि रोग में-' रक्षेत् फले सेवनीं च वृद्धिपत्रेण दारयेत्।
मेदस्तथा समुद्धृत्य दद्यात्कासीससैन्धवे॥"
सुश्रुत।
काकपद क्रिया में-' प्रच्छयित्वा क्षुरेणांगं केवलानिलपीडितम्।
कुर्यात् काकपदाकारं ....॥
वाग्भट्ट।

काकपद-Anterior foramen (पूर्व विवर) पर क्षुर से कौए के पांव की भांति निशान बनाते थे। वहां पर औषध रखकर मर्दन करते

नखशस्त्र

यह दो प्रकार का (वक्रधार और ऋजुधार) होता था। इसकी लंबाई ८ या ९ अंगुल होती थी। इसका प्रयोग छेदन, भेदन और लेखन करने में तथा विशेषत: आचूषण (Wet-cupping) क्रिया में होता था‡।

मुद्रिका

इसका दूसरा नाम अंगुलि शस्त्र था। इसका आकार तर्जनी के प्रथम पर्व की भांति होता था। इसका उपयोग गलरोग और मूढ़ गर्भ (विषकुंभक) में होता था§।

थे जिससे औषध रक्त के साथ मिल जाती थी और सीधी शरीर में विलीन हो जाती थी। यह क्रिया प्राय: मूर्च्छा रोग में की जाती थी। इस मूर्च्छा का कारण विष या अन्य मस्तिष्क संबंधी, वा वात संबंधी (Nervous system) रोग होता था जिसमें औषध मुख से पिलाना कठिन होता था; अथवा औषध का शीघ्र प्रभाव अभीष्ट होता था।

इस क्रिया के स्थान में आंख में अंजन और नाक में तीक्ष्ण नस्य भी देते थे। नस्य और काकपद से दी गई औषध मास्तिष्क पर सीधे प्रभाव करती है। शरीर यंत्र की रचना के कारण आंख में दी गई औषध Law of diffusion के कारण शीघ्र रक्त मे मिल जाती है (यह नियम वही है जिससे फुप्फुस मे शुद्ध वायु पहुंचती है और अशुद्ध बाहर आती है।) आजकल यह कार्य Hypodermic injection से किया जाता है।

सर्पविष की अवस्था में विष (Aconite) और पारा (Mercury) क्रम से ४ तोले और ४ माशे लेकर सूची मात्रा प्रमाण में दिया जाता था।

‡ वृद्धिपत्र-नखशस्त्र-मुद्रिकोत्पलपत्रार्द्धधाराणि छेदने भेदने। सुश्रुत।

§ प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका। सुश्रुत।

विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हत:।
मंडलाग्रांगुलिशस्त्राभ्यां तत्कर्म प्रशस्यते॥ सुश्रुत।

[विषकुंभक रोग को आजकल Hydrocephalus कहते हैं। इस रोग में शिशु के मस्तिष्क में पानी भर जाता है।]

उत्पलपत्र

इसका आकार कमल के पत्ते की भांति होता था। अग्र भाग नोकदार और तेज होता था। यह काटने और छेदने के कार्य में आता था। इसका उपयोग मुख्यतः शिरावेध में होता था। पशुरोग (अश्व के Ascitis) में भी इसका उपयोग बताया गया है§।

अर्द्धधार

इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। कई आचार्य इसे एक धार का मानते हैं। डल्हण ने इसको लंबाई में आधी धारवाला कहा है। इसकी संपूर्ण लंबाई ८ अंगुल होती थी, जिसमें हत्था ६ अंगुल और फलका दो अंगुल लंबा और एक अंगुल चौड़ा होता था। इसका उपयोग शरीर को विभक्त करने में होता था‡।

सूची

इसकी मोटाई मालती-पुष्प के तने के बराबर होती थी।

---

§ (१) शस्त्रेणोत्पलपत्रेण वृद्धिपत्रेण वा भिषक्।
शिरावेधविधिं सम्यक् दृष्टकर्मा प्रयोजयेत्॥

(२) पशु-चिकित्सा हृदयस्याधरे भागे ऊर्ध्वभागे च नाभितः।
अधो वा नाभितः कुर्यात् छेदनं चतुरंगुलम्॥
शस्त्रेणोत्पलपत्रेण वामभागे विचक्षणः।
एकमेवांगुलं शस्त्रं कुक्षौ चापि प्रयोजयेत्॥
....
प्रक्षिप्य गालयेद्वारि यावद्धि कोष्ठलाघवम्॥

‡ (१) अर्द्धधारा यस्य तत् अर्द्धधारम्। चक्रधारमिति प्रसिद्धम्। तच्चाष्टाङ्गुलायतम्।

(२) अन्ये तु अधिकमर्द्धं धारा यस्य तत् अर्द्धधारम्। यह बहुव्रीहि समास करते हैं।

सिरे पर सूत्र डालने के स्थान से चिपटी बनी होती थी। इसके तीन भेद थे। (१) ३ अंगुल लंबी जो मांसल स्थानों को सीने में प्रयुक्त होती थी। (२) २½ अंगुल लंबी जिसका उपयोग वहां होता था जहां कि मांस-पेशियां कम हैं, यथा जोड़ों के पास। (३) २ अंगुल लंबी, आमाशय आंत, अंडकोष आदि स्थानों को सीने के लिये। यह सब धनुष के समान अर्द्धगोल होती थीं।

सीने के अतिरिक्त इनका उपयोग कोष्ठ से द्रव निकालने में भी होता था†। गतिव्रण (Sinus) तथा अर्बुदों (Tumers) की चिकित्सा में भी इनका उपयोग होता था। इस चिकित्सा में क्षार सूत्र प्रविष्ट करते थे; अथवा बंध देकर रक्त-संचार रोका जाता था।

कुशपत्र

यह कुश के पत्र के समान बारीक नोकदार, पतला और तेज धारवाला होता था। इसकी पूरी लंबाई ६ अंगुल थी, जिसमें चार अंगुल हत्था और दो अंगुल फलक होता था। इसका उपयोग विद्रधि में से पूय निकालने में होता था। यह प्रायः कोमल स्थानों पर व्यवहार किया जाता था||।

---

† (१) जलौकाभिः तथा शृङ्गैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः।

(२) अवर्त्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत्॥
सूचीसूत्रेण वा पुनः। सुश्रुत।

(३) एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारणीम्।
सूचीं निदध्याद् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत्॥
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रयोजयेत्॥

(४) अर्बुदादिषु चोत्क्षिप्य मूले सूत्रं निधापयेत्।
सूचीभिर्यववक्त्राभिराचितं वा समन्ततः॥
मूले सूत्रेण बध्नीयात् छिन्ने चोपाचरेद् व्रणम्॥

|| जिह्वाधः पार्श्वयोर्मूले शिरा द्वादश कीर्त्तिताः।

आटीमुख

इसका आकार "आटी" पत्ती के समान होता था। लंबाई ६ अंगुल होती थी। प्रयोग कुशपत्र की भांति था||।

शरारीमुख

यह कैंची होती थी, जिसका आकार शरारी पत्ती के समान होता था। यह पत्ती दो प्रकार का होता है—धवलस्कंध और रक्तशीर्षक। इनमें से प्रथम को शरारी कहते हैं। इसका प्रयोग स्रावण में था।

सुश्रुत ने इसे "कर्त्तरि" (कैंची) के नाम से कहा है। परंतु वाग्भट्ट ने कर्त्तरि शब्द से उनका ग्रहण किया है जो कि कर्त्तन करें, न कि स्रावण करें। कर्त्तरि से स्रावण हो सकता है; परंतु सुश्रुत में इसका कीर्त्तन अन्य स्रावण करने वाले त्रिकूर्च्चक आदि के साथ किया गया है। अतः "कर्त्तरि" पृथक् स्वीकार किया गया है‡।

अंतर्मुख

यह भी एक प्रकार की कैंची का ही भेद है। इसकी लंबाई ६ अंगुल और चौड़ाई १½ अंगुल होती थी। वाग्भट्ट ने इसका आकार अर्द्धचन्द्राकार बताया है और लंबाई आठ

तासां स्थूले शिरे द्वे च छिन्द्याद्वै च शनैः शनैः ॥
वडिशेनैव संगृह्य कुशपत्रेण बुद्धिमान्
स्रुते रक्ते व्रणे तस्मिन् दद्यात्सगुडमार्द्रकम् ॥ योगरत्ना १२।

|| आटीमुखमिति आटी जलवर्द्धिनी नाम पक्षिविशेषः तन्मुखवन्मुखं यस्य तत् आटीमुखम्

‡ (१) दशाङ्गुला शरारीमुखी सा कर्त्तरीति कथ्यते। सुश्रुत।
(२) शरारीमुखमिति तस्य शस्त्रस्य लोके कर्त्तरिः इति संज्ञा। डल्हण।
(३) स्राव्ये शरारिमुखत्रिकूर्च्चके। सुश्रुत।
(४) स्नायुसूक्ष्मकचच्छेदे कर्त्तरी कर्त्तरीनिभा ॥ वाग्भट्ट।

अंगुल कही है। कार्य विद्रधियों से पूय निकालना बताया है।
हारीत ने अर्द्धचन्द्राकार शस्त्र का उपयोग मूढगर्भ में बाहुच्छेदन करना बताया है *।

त्रिकूर्चक

एक लकड़ी या धातु के मूठ में तीन कूर्चक (नोकदार कूचियां, लगे होते थे। इन कूर्चकों के बीच का अंतर एक चावल होता था। इनका उपयोग कुष्ठ रोग में अथवा नासार्शस में लेखन द्वारा रक्त निकालने में होता था।

आजकल Vaccination करने के लिये (लेखन करते समय) तीन चार सूईवाला जो शस्त्र प्रयुक्त होता है, वही आर्यों का त्रिकूर्चक है।

वाग्भट्ट ने इसी प्रकार के अन्य दो शस्त्रों का वर्णन किया है।—प्रथम "कूर्च"—इसमें सात या आठ सूईयां एक लकड़ी के हत्थे में लगी होती थीं। इनकी लबाई चार अंगुल होती थी। उपयोग गंज (Baldness), नीलिका रोग में होता था। इसके द्वारा उपरि-त्वचा का लेखन होता था। द्वितीय "खज" है। इसमें १½ अंगुल लंबी आठ तेज सूइयां लगी होती थीं। इनका काम नासार्शस में रक्त निकालना था†।

---

* (१) तद्वद्दन्तमुखं तस्य फलमध्यर्द्धमङ्गुलम्।
अर्द्धचन्द्राननं चैतद् तथाध्यर्द्धाङ्गुलं फले॥ वाग्भट्ट।

(२) अथवा अर्द्धचन्द्रेण शस्त्रेणैव मृतगर्भस्य बाहुयुगलं संछिद्य बाहू निस्सारयेत्॥ हारीत।

† (१) स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रनाडीभिः।
कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तात् क्लेशोऽपनेतव्यः॥ आत्रेय।

(२) कूर्चं वृत्तकपीठस्था ससाष्टौ वा सुबन्धनाः।
संयोज्य नीलिकाव्यङ्गकेशशातेषु कोथने॥

(३) अर्द्धाङ्गुलैर्मुखैर्वृत्तैः अष्टाभिः कण्टकैः खजः।
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृग्॥ वाग्भट्ट।

कुठारिका

इसका आधार मोटा और चौड़ा होता था। हत्था लकड़ी का बना होता था। हत्थे की लंबाई ७½ अंगुल होती थी। फलक गौ के दांत के आकार का एक अंगुल लंबा होता था। उपयोग शिरावेध में (विशेषतः अस्थियों के) होता था *।

पालकाप्य ने 'वत्सदन्ताकृति" नामक अन्य शस्त्र का वर्णन किया है जिसकी लंबाई दस अंगुल थी। इसका उपयोग छेदन भेदन में था।

व्रीहिमुख

इसका मुख व्रीहि के समान आगे से तेज होता था। इसकी पूरी लंबाई ६ अंगुल थी; जिसमें दो अंगुल हत्था और चार अंगुल शस्त्र होता था। इसका प्रयोग करते समय संपूर्ण शस्त्र को हाथ में इस प्रकार से पकड़े कि मूठ करतल के मध्य में हो और नोक अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य में आजाय। इसका उपयोग जलोदर (Ascitis) वृद्धि रोग (Hydrocele) तथा मूढ़गर्भ में शिरोदय में होता था†।

* (१) कुठारिकाख्यशस्त्रेण ततस्तं प्रच्छयेद्भिषक्।
नाति गाढं न च लघु न घनं विरलं न च॥
(२) कुठार्या ताडयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया।
फलोद्देशे सुनिष्कम्पं शिरां तद्वच्च मोक्षयेत्॥
(३) यवार्द्धमस्थ्नामुपरि शिरां विध्यन् कुठारिकाम्॥
(४) कुठारिकाकृतिं कुर्यात् – कुठारिशस्त्रप्रच्छेदनार्थम्।
वत्सदन्ताकृति वत्सदन्तं दशांगुलम्॥

† जलोदर-तत्र जातोदकं सर्वमुदरं च व्यधेत् भिषक्।
वामपार्श्वे त्वधो नाभे. नाडीं दत्वा च गालयेत्॥
लब्धानुज्ञो भिषक् कुर्यात् पाटनम्यथमाक्रियाम्।
सुवेष्टितमधो नाभेः वामतः चतुरंगुलात्॥
अंगुल्युदरमात्रं तु व्रीहिवक्त्रेण भेदयेत्।
नाडीमुभयतो द्वारां संयोज्यापहरेज्जलम्॥ आत्रेय।

आजकल उपर्युक्त कार्यसिद्धि के लिये Trocar प्रयुक्त होता है। यही धन्वंतरि का व्रीहिमुख था।

आरा

लकड़ी के एक हत्थे में मोटी सूई लगी होती थी। हत्था गाय की पूंछ के समान पीछे से मोटा होता था। सूई की लंबाई १६ अंगुल, सिरा तेज नोकदार होता था। यह मोचियों के सूए से मिलता था। इसका उपयोग कर्णपाली रोग में वेधन करने में, अस्थि आदि के वेधन में, तथा शोथ के पकापक का निश्चय करने में होता था।

यूथिका

सुश्रुत ने यूथिका शस्त्र का उपयोग कर्णपाली में दिया है। इसका आकार आरे की भांति होता था। परंतु यह उससे बारीक (सूक्ष्म) कार्य करने में प्रयुक्त होता था ‡।

वेतसपत्र

यह बेंत के पत्ते की भांति तेज़, काटने वाला शस्त्र था। इसमें हत्था और शस्त्र दोनों चार चार अंगुल होते थे। शस्त्र की चौड़ाई एक अंगुल होती थी। उपयोग वेधन करने में होता था†।

मूढ़गर्भ-व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च तच्छिरोदयसन्निधौ।

वृद्धिरोग-(१) सेविन्या पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येत् व्रीहिमुखेन वै।

वाग्भट्ट।

(२) अथात्र व्रीहिमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद् भिषक् ॥

सुश्रुत।

प्रयोगविधि अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु तलप्रच्छादितं भिषक्।

‡ (१) आरेव आरा असिः चर्म्मकाराणां शस्त्रम्।

(२) व्यधने कर्णपालीनां यूथिका मुकुलानना।

(३) आराद्धांगुलवृत्ता स्यात्तत्प्रवेशो तदोर्द्ध्वत:।

† (१) तीक्ष्णांगुलविस्तारं चतुरंगुलायतम्।

(२) अंगुलानि तु चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता।

बडिश

यह मछली को पकड़नेवाले हुक के समान होता था। इसकी लंबाई कुल ६ अंगुल होती थी जिसमें ५½ अंगुल हत्था और ½ अंगुल हुक होता था। यह हुक सिरे पर मुड़ा हुआ आधे चंद्र के समान होता था। यह जौ के पत्ते की भांति तेज होता था। उपयोग मूत्र-मार्ग में फंसी अश्मरी को खींचने में और अक्षिरोगों तथा गलशुंडि में होता था। यह पशुचिकित्सा में भी प्रयुक्त होता था* ।

दंतशंकु

यह चौखूटा और तेज किनारों का शस्त्र था। इसकी लंबाई १½ अंगुल होती थी। इसका उपयोग दांतों की शर्करा (Tartar) को नष्ट करने में होता था। वर्तमान काल का Tooth Elevator प्राचीन आर्यों का दंतशंकु है|| ।

सुश्रुत के समय दांत उत्पाटन किए जाते थे। इस कर्म का अभ्यास मृत पशुओं पर कराया जाता था। यदि दांत में नाड़ीव्रण या गति (Sinus) हो जाती थी, तो दांत को उखाड़कर उसको जला दिया जाता था† ।

---

(१) वेतसे व्यधने ।

* अश्मरी—(१) मूत्रमार्गप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं, शर्करां वा स्रोतसा अपहरेत्। एवं चाशक्ये विदार्य वा नाडिशस्त्रेण बडिशेनोद्धरेत्।

गलशुण्डिका—(१) उत्तमाख्यान्तु पिडिकां संच्छिद्य बडिशेनोद्धरेत्।

(२) ग्रहणे शुण्डिकर्म्मादेर्बडिश: सुवृतानन: ॥

अक्षिरोगे—क्षितौ निपात्य तुरगं ततो नेत्रं प्रसारयेत् ।

कृतकर्म्मा भिषक् विद्वान् बडिशेनाक्षिवर्त्मनि ॥

|| (१) दन्तलेखनकं तेन शोधयेत् दन्तशर्करान् ।

(२) कपालिकां शर्कराञ्च . .. शोधयेत् ।

(३) शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत् ॥ सुश्रुत ।

† (१) 'मृतपशुदन्तेषु आहर्यस्य"

प्राचीन आर्य नवीन कृत्रिम दांतों का बनाना और लगाना भी जानते थे ‡ ।

पालकाप्य ने दांत उखाड़ने के लिये "एनीपद" शस्त्र का वर्णन किया है । यह लोहे का और ३२ अंगुल लंबा होता था ।

एषणी

इसका सिरा गंडूपद के समान होता था । इसकी लंबाई आठ अंगुल होती थी । यह दो प्रकार की वस्तुओं से बनाई जाती थी । एक कठिन लोहे आदि से बनाई जाती थी जिसका उपयोग गंभीर व्रणों की परीक्षा में होता था । दूसरी मृदु जो नाल आदि से बनाई जाती थी । इसका उपयोग ऊपरी त्वचा के व्रणों की परीक्षा में होता था ।

वाग्भट्ट ने एक ऐसी 'एषणी" का वर्णन किया है जिसमें छिद्र होता था । उसमें धागा डालकर भगंदर आदि में प्रयुक्त करते थे । इस प्रकार का कृत्य (Directure) आजकल भी होता है । इसके अतिरिक्त वाग्भट्ट ने लिंग-नाश (Cataract) में प्रयुक्त होनेवाली एषणी का आकार "कुरव" के समान बताया

---

(२) यं दन्तमधिजायेत नाडी तं दन्तमुद्धरेत् ।
छित्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत् ॥
सशूलं दशनं तस्माद् उद्धरेद् भग्नमस्थि च ।
उद्धृते तूत्तरे दन्ते सशूले स्थिरबन्धनैः ॥ सुश्रुत ।

‡ चरक में "पूषन्" देवता के दांत बनाए जाने का वर्णन आया है ।
प्रशीर्णा रदना पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च ।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भः ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥ आत्रेय ।

इसके अतिरिक्त राजा जयचन्द्र के शव की परीक्षा उसके कृत्रिम दांतों से ही की गई थी । देखिए Elphinstone's History of India, P. 365.

"The body of Raja being recognised by the false teeth"

है। सुश्रुत ने एषणी का जो वर्णन दिया है, वह वर्त्तमान काल का Probe है जो आगे से डोडे की भांति होता है§।

सुश्रुत में वर्णित उपर्युक्त बीस शस्त्रों के अतिरिक्त वाग्भट्ट ने और भी दो शस्त्रों का वर्णन किया है।

सर्पास्य

इसका आकार सर्प के मुख के समान और फलक की लंबाई १½ अंगुल होती थी। इसका उपयोग नासार्श और गुदार्श के छेदन में होता था||।

प्रतुद

इसके द्वारा लेखन किया जाता था†।

इन शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य अनुशस्त्रों का वर्णन भी सुश्रुत में आया है, जो या तो शस्त्रों के स्थानापन्न होते थे या उनके सहायक बनते थे। इनमें से मुख्य ये हैं—

(१) जलौका—इनका उपयोग रक्त-मोक्षण में किया जाता था। इनकी संख्या सुश्रुत में बारह बताई है, जिनमें से ६ विष-युक्त होती हैं और ६ निर्विष। विषयुक्त जलौका सर्वथा त्याज्य है। निर्विष जलौका का उपयोग रक्तमोक्षण के लिये बताया है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानी के मिश्रण में से दूध पृथक् पान कर लेता है, उसी प्रकार शुद्ध और दुष्ट रक्त के मिश्रण में से जलौका अशुद्ध रक्त का पान करती है। जब तक यह अशुद्ध रक्त का पान कर रही हो, तब तक रोगी को दंश या

---

§ (१) गतिरन्विष्यते श्लक्ष्णा गण्डूपदमुखैषणी।

(२) एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारणीम्।

(३) पर्व्वसमिता यवक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः॥

(४) भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखा मूलनिविष्टखा"।

(५) ताम्री शलाका द्विमुखा मुखे च कुरवाकृतिः। लिंगनाशं तया विध्येत्॥

|| (२) सर्पास्यं घ्राणकर्णार्शश्छेदनेऽर्धांगुलं फलम्।

† प्रतुदैर्दारयेच्चैनं मर्मघातं विवर्जयेत्॥

कंडु प्रतीत नहीं होता। परंतु शुद्ध रक्त के आस्वादन करते समय दंश या कंडु उत्पन्न होता है। उस समय वैद्य को चाहिए कि उसको हटा दे। हटाने के लिये बल-प्रयोग न करके नमक का पानी या हल्दी का प्रयोग करना चाहिए। इनके प्रयोग से जहां जलौका स्थान से गिर पड़ेगी, वहां यह दोनों वस्तुएं विषघ्न कार्य भी करेंगी*।

(२) नाल—इसके लिये कमल की नाल का विशेष उपयोग होता था। इसका प्रयोग एषणी-कार्य के अतिरिक्त हनु-भंग की अवस्था में क्षीरपान कराने में तथा वमन कराने में होता था। वमन एवं क्षीरपान के लिये प्राचीन आर्यों का Stomach Pump यही था†।

(३) पत्र—शल्य-चिकित्सा में कई प्रकार के पत्र लेखन-कार्य में आते थे। चक्रदत्त ने अर्श के अंकुरों का लेखन करने के लिये शेफालिका के पत्तों का उपयोग बताया है§।

(४) बांस-इसका उपयोग Splint के रूप में किया जाता था। इसके अतिरिक्त ग्रंथि आदि पर दबाव भी दिया जाता था‡।

---

* आदत्ते प्रथमं हंस. क्षीरं क्षीरोदकादिव।

....

क्षेत्राणि ग्रहणं जातिं पोषणं सावचारणम्।

जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद्गदान्।

† (१) उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते।

(२) कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन् तं वामयेद्भिषक्॥ सुश्रुत।

§ (१) कर्कशाणि च पत्राणि लेखनार्थं प्रदापयेत्॥ सुश्रुत।

(२) गोजीशेफालिकापत्रैरर्शः संलिख्य लेखयेत्॥ चक्रदत्त।

‡ (१) विभग्नञ्च नरं दृष्ट्वा वेणुखण्डेन बन्धयेत्।

मृदयेन्नवनीतेनैरण्डपत्रैश्च वेष्टयेत्॥

(२) अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुनाड्या ततः शनैः। सुश्रुत।

शल्यतन्त्र

शल्य-तंत्र

दूसरा भाग

प्रथम प्रकरण

आतुरस्यान्तरात्मानं यो नाविशति रोगवित् ।
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन न स रोगान् चिकित्सति ॥ आत्रेय ।

रोगी की परीक्षा

चिकित्सा की सफलता रोगी और चिकित्सक के एक मत होने पर निर्भर है । यह कार्य तब हो सकता है, कि जब चिकित्सक रोगी की शिकायतों का पूर्ण अनुभव करे । शिकायतों का अनुभव करने के लिये चिकित्सक के पास पांच ज्ञानेन्द्रिय और प्रश्न यह छैः ; अथवा आंख हाथ (त्वचा) और प्रश्न यह तीन साधन* हैं । इनके द्वारा वह कुछ शिकायतों को

---

* (१) षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपाय: ।
तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ॥ सुश्रुत ।

(२) दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता ।
वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणाञ्च दर्शनात ।' चरक ।

प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है, और कुछ का अनुमान करता† है।

चिकित्सक के लिये रोगी का शरीर परीक्षाभूमि होता है। वह अपने साधनों को क्रमशः इस भूमि पर प्रयुक्त करता है। आंख के द्वारा वह शरीर में प्रत्यक्ष विशेषता का जहां अनुभव करता है; वहां स्पर्शेन्द्रिय से शीत, उष्णता, कठोरता और मृदुता को जानता है। इसी प्रकार प्रश्न के द्वारा रोगोत्पत्ति परिवर्त्तनों को, एवं रोग से सम्बन्धित अन्य बातों को, जो कि अन्य साधनों से नहीं जानी जा सकती, जानता§ है।

उदाहरण के लिये—जानू में होने वाली क्षीणता को रोगी के आघात का इतिवृत्त ही बता सकता है। एवं इस आघात के पीछे क्रमशः जो परिवर्त्तन होते गये हैं उनको जानने के लिये चिकित्सक के पास रोगी की जिह्वा के सिवाय और कोई साधन नहीं। इसी प्रकार मूत्रमार्ग के रोग—यथा-रक्तयुक्त मूत्र का आना, या वार वार मूत्र का आना, अथवा रात्रि को विशेषतः मूत्र का आना आदि बातें एवं रोगी के मुख से कहे हुवे लक्षण चिकित्सक के परीक्षा कार्य को बहुत सरल एवं सम्पूर्ण बना देते हैं। अतः परीक्षा के लिये रोगी का इतिवृत्त उसके मुख से सुनना एक आनन्द-दायक ही नहीं होता अपितु आवश्यक हो जाता है।

रोगी से प्रश्न पूछते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उससे निर्देशात्मक प्रश्न* अथवा किसी प्रश्न को दोबारा नहीं करना चाहिये। प्रथम प्रकार के प्रश्न से

---

† रसन्तु खलु शरीरगतं...अनुमानादेवावगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षग्रहणमुपपद्यते। तस्मादातुर प्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्॥ चरक।

§ प्रश्नेन च विजानीयात्–आतङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायम्॥ सुश्रुत।

* यथा–'तुम्हारे यहां दर्द है न"? ऐसे निर्देशात्मक प्रश्न दर्द का होना आवश्यक है, ऐसा रोगी को ज्ञान करा देते हैं।

रोगी को सन्देह हो जाता है, जिससे वह ठीक उत्तर नहीं दे सकता। अथवा अपस्मार रोग की अभिरुचि के व्यक्ति चिकित्सक के निर्देशात्मक लक्षण का अनुभव करने लग जाते हैं। द्वितीय प्रकार के प्रश्न से जहां चिकित्सक के ध्यान न देने का ज्ञान होता है, वहां कुछ व्यक्ति उसकी स्मृति में भी शंका कर लेते हैं। शंका का होना चिकित्सक के लिये असफलता की प्रथम सीढ़ी होती है।

रोगी का इतिवृत्त सुनते हुवे उसकी सब बातों को सुनना चाहिये, चाहे वे बातें बिलकुल फिजूल ही क्यों न हों। इसी प्रकार शरीर की परीक्षा करते समय सम्पूर्ण शरीर के लक्षणों की परीक्षा करनी चाहिये; चाहे उनका रोग के साथ प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध न भी दीखता हो। उदाहरण के लिये—

(१) एक शिशु चिकित्सक के पास इसलिये लाया जाता है कि वह पांव के अगूठों के भार चलता है। यह लक्षण कई कारणों से हो सकता है। यथा—नितम्ब के रोग से, पृष्ठवंश की निर्बलता (कैरीज़ ओफ़ दी स्पाईन) के कारण ' सोवासमसल्स" के संकुचित होने से, एवं उरःस्थल में वायु भरने से (एम्पाईमा) भी हो सकता है।

(२.) एक रोगी भुजा में दर्द की शिकायत करता है। इसका कारण पूर्ववर्ती अष्ठीला ग्रन्थि का रोग (कारसीनोमा ओफ़ दी प्रोस्टेट) होता है। जिसका कि वर्त्तमान काल में कोई भी लक्षण नही मिलता।

(३) मूत्र प्रवाह में विकार कृमियों के कारण आजाता है।

रोगी के इतिवृत्त एवं परीक्षा पर विचार करते हुवे अपनी बुद्धि द्वारा स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिये। किसी निर्णय पर अथवा किसी चिकित्सक की पहिले की गई परीक्षा से ही सम्मति नहीं बनानी चाहिये।

परीक्षा के समय रोगी के शरीर में यदि कोई असाधारण लक्षण यथा—पाण्डुता, नीलिमा, मुख की क्षीणता कामला, लाल गालें, शंख धमनी में विशेषता अतुल्य पुतली, पलकों में भारीपन ग्रीवा या पृष्ठ की स्तब्धता, हाथों में कम्पवात आदि लक्षण हों तो उनपर भी ध्यान देना चाहिये।

रोगी के रुग्ण भाग को स्पर्श करने से पूर्व आंख द्वारा पूर्ण निरीक्षण कर लेना चाहिये। कारण—कई लक्षण स्पर्श की अपेक्षा आंख से भली प्रकार जाने जा सकते हैं। यथा—आंतों की जलतरंग गति। इसके साथ स्वस्थ और रुग्ण भाग की आपस में (विशेषतः अस्थि या सन्धि भंग में) तुलना§ करनी चाहिये।

स्पर्शन क्रिया में मृदुता नितान्त आवश्यक है, विशेषतः कोष्ठ की अवस्था में। उदाहरण के लिये—यदि रोगी परिशिष्ट शोथ (एपन्डीसाईटिस) से पीडित है, तो वह भारी एवं शीतल हाथ के स्पर्श से (अतः उदर आदि के स्पर्श में हाथों को रगड़ कर अथवा आग पर थोड़ा गरम करलेना चाहिये) मांसपेशियों को एक दम संकुचित कर लेगा, जिससे परीक्षा कठिन होजाती है।

अर्बुद की परीक्षा में इसके आकार क्षेत्र, स्वभाव, पृष्ठ, वाह्य किनारों का (गोल, चिकने, कठोर, अतिकठोर, खुरदरे, कटे हुवे आदि), एवं समीपवर्त्ति तन्तुवों से उस का सम्बन्ध और कोई परिवर्त्तन (यदि त्वचा में) हो तो उसे भी देखलेना चाहिये।

सन्धि की परीक्षा में (उदाहरण के लिये स्कन्धसन्धि) निम्न बातें देखनी चाहियें। रुग्ण स्कन्ध का रूप, शोथ अवयव की स्थिति, स्थानीय उष्णिमा, भिन्न २ गतियों की सीमायें (स्कन्धास्थि-अंसफलक की गति), अवयव के आकार में वृद्धि आदि की परीक्षा करनी चाहिये।

---

§ "समेन समम‌ङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः॥ चरक।

कोष्ठ से सम्बन्धित रोग या लक्षण में गुदा की परीक्षा करनी चाहिये। परीक्षा के लिये रोगी को पार्श्व के भार लेटाना चाहिये। अष्ठीला ग्रन्थि की परीक्षा के लिये रोगी को 'नी एल्बो†" अवस्था में रखना चाहिये। वीर्याशय मूत्राशय के आधार अथवा मूत्राशय की अंगुलि द्वारा परीक्षा के लिये रोगी को पीठ के भार लेटाना उत्तम है।

रोगी का संज्ञापहरण करने से पूर्व उसकी छाती की परीक्षा करनी चाहिये, और मूत्र को एल्व्युमन के लिये देख लेना चाहिये।

---

† नीएल्बो-अवस्था—इसमें रोगी की कोहनी और घुटने ही भूमि पर लगे होते हैं और कटि ऊंची उठी होती है। यथा—अश्मरीचिकित्सा में—"आजानुसमे फलके प्रागुपवेश्य पुरुषं च तस्योत्संगे निषण्णपूर्वकायमुत्तानकटिकं वस्त्राधारकोपविष्टं संकुचितजानुकूर्परमितरेण सहावबद्धम्"। सुश्रुत।

दूसरा प्रकरण

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ।
रक्षाविधानैः उद्दिष्टैः यमैः सानियमैस्तथा ॥ सुश्रुत ।

रक्षाकर्म

व्रण की चिकित्सा में चिकित्सक निम्न सूत्रों पर कार्य करता है । यथा-

(१) जीवित परन्तु संक्रान्त तन्तुवों को रासायनिक जन्तुघ्न पदार्थों से स्वच्छ (डिसइन्फैक्ट) करना ।

(२) असंक्रान्त-बन्द व्रण की जन्तुघ्न क्रिया (एन्टीसैप्टीक) से रक्षा करने की कोई आवश्यक्ता नहीं ।

(३) रासायनिक जन्तुघ्न क्रिया की अपेक्षा बाष्पीय क्रिया द्वारा "स्टरलाइज" करना उत्तम है ।

जन्तुघ्न (एन्टीसैप्टीक) और जन्तुरहित कर्म (एसैप्टिक) यह दो शब्द शल्यतंत्र में चिरकाल से प्रसिद्ध हैं । प्रथम शब्द से जन्तुवों को प्राणों से मारडालना —नष्ट कर देना, अभिप्रेत है । और दूसरे शब्द से अभिप्राय उनकी क्रिया शक्ति को रोक देना ही अभिप्रेत है—इसमें जन्तु मरते नहीं । जन्तु, त्वचा, व्रण, वायु, श्वास आदि में रहकर शल्य क्रिया के समय

आक्रमण करते हैं, अतः इनके आक्रमण से रोगी को बचाने की आवश्यक्ता होती* है । जन्तुराहित क्रिया द्वारा व्रण को जन्तुवों से बचा सकते हैं ।

यह दोनों क्रियायें पृथक् २ रूप से असफल हो सकती हैं। परन्तु यदि दोनों क्रियाओं का मिलितरूप में व्यवहार किया जाये तो सफलता की सोलह आना आशा होती है ।

व्रण में कृमि रोगी की त्वचा से चिकित्सक के हाथों से, यंत्र शस्त्रों से, प्लोत द्वारा प्रविष्ठ हो सकते हैं । अतः शल्य शास्त्र इनको यथासम्भव क्रिमि रहित करने का आदेश देता है ।

रोगी की त्वचा और चिकित्सक के हाथ कभी भी पूर्ण रूप से स्वच्छ नहीं हो सकते । त्वचा के लिये शल्यस्थान को चारों ओर से कोमल वस्त्र (गॉज) से ढांप देना चाहिये । और हाथों की स्वच्छता के लिये रबर के दस्ताने पहन लेने चाहियें । ये दोनों वस्तुवें स्टरलाइज्ड होनी चाहियें । व्रण में विष का संक्रमण न हो, इसलिये सब यंत्र-शस्त्रों को उबालकर स्टरलाइज्ड—स्वच्छ कर लेना चाहिये । साथ में यह भी आवश्यक है कि जिनका व्रण के साथ सीधा या दूरवार्त्ति किसी प्रकार का कुछ भी सम्बन्ध है, उनको इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिये, कि उनके द्वारा व्रण में विष का संक्रमण न पहुंचे ।

---

* (१) "हिंसाविहाराणि महावीर्याणि धनपतिकुवेरानुचराणि रक्षांसि नित्यं व्रणिनमुपसर्पन्ति ॥

(२) निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ।
रक्षाविधानैरुद्दिष्टैः .... ॥
अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वा ऽक्षतम् ।
हिंस्युः हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च ॥ सुश्रुत ।

(३) माक्षिका व्रणजातस्य निक्षिपन्ति यदा क्रिमीन् ॥ सुश्रुत ।

कारण, शल्यकर्म की सफलता शल्यचिकित्सक, सहायकों एवं धात्री की ऐक्यता पर निर्भर है ।

व्रण में संक्रमण आने के मुख्य मार्गों की विवेचना

हाथों का स्वच्छीकरण

यह कार्य जितना आवश्यक है उतना ही कठिन है । केवल, रासायनिक जन्तुघ्न घोलों में हाथों को डुबो देने से ही यह कार्य समाप्त नहीं हो जाता । प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि जिसका व्रण से, शस्त्रों से, अंगोछे से, सूत्र से अथवा रोगी के काम में आने वाली वस्तु से किसी भी प्रकार का समीप या दूर का कुछ भी सम्बन्ध है, वे हाथों को ध्यान पूर्वक पूर्ण रूप से स्वच्छ करे । उनको चाहिये कि वे यथा सम्भव कम से कम वस्तुओं का स्पर्श करें । मैली वस्तुओं के स्पर्श से दस्तानों के द्वारा हाथों को बचावें । यदि किसी संक्रमित या अस्वच्छ वस्तु का स्पर्श हो जावे तो पुनः हाथों को स्वच्छ करें । साफ़ करने के लिये हाथों को साबुन और गरम पानी (अधिक से अधिक जितना गरम सहन हो) से रगड़ कर पानी में रखकर मुट्ठियां खोलें और बन्द करें । पुनः नख कूर्ची से साफ़ करें । अंगूठे और अंगुलियों को भली प्रकार साफ़ करें । प्रायः अंगुलियों के बीच में और हाथ की रेखाओं में मिट्टी मैल रह जाती है, अतः इन्हें भी भली प्रकार धोवें । नखों को यथा सम्भव छोटा कटवाना चाहिये* । नखों को

---

* (१) सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा त्वया भवितव्यम् । सुश्रुत ।

(२) नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्र परिहितेन.. वैद्येन विशिखानुप्रवेष्टव्या ॥ सुश्रुत ।

(३) निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ।
रक्षाविधानैः उद्दिष्टैः यमैः सनियमैस्तथा ॥ सुश्रुत ।

नखकूर्ची से साफ़ करना चाहिये। शल्य चिकित्सक के लिये आवश्यक है कि वे दूषित पदार्थ—पूय, पट्टी, कवलिका आदि का स्पर्श न करे—जिससे कि हाथ दूषित न हों। कई अवस्थाओं में उत्तम यह होता है कि व्रण या ड्रैसिंग का स्पर्श संदंश यन्त्र के द्वारा किया जाये। चिकित्सक के लिये आवश्यक है कि सोने से पूर्व हाथों को भली प्रकार साफ़ करके उन पर ग्लैसरीन लगा लेवे।

शल्यकर्म से ठीक पूर्व हाथों और कोहनी से निचले भाग को विशेष प्रकार से साफ़ करना चाहिये। इसके लिये प्रथम इन भागों को सहन होने वाले गरम पानी एवं साबुन द्वारा पांच मिनिट तक रगड़ कर स्वच्छ पानी से धो डालना चाहिये। फिर कुछ देर तक ७० प्रतिशतक अलकोहल में भीगे वस्त्र से बलपूर्वक रगड़ना चाहिये। इसमें नखों के कोने, अंगुलियों की जड़ें, और अंगुलियों के बीच के स्थान का विशेष ध्यान रखना चाहिये। इस कार्य में काम आये हुये वस्त्र को नष्ट ही कर देना चाहिये, इसको पुनः मद्य की बरणी में नहीं डालना चाहिये। कुछ चिकित्सक मद्य के स्थान में कार्बोलिक लोशन (१/४० में) या मर्करी लोशन (१/१०००) का व्यवहार करते हैं। हाथों को स्वच्छ करने के पश्चात् अस्वच्छ वस्तुओं को स्पर्श नहीं करना चाहिये।

रोगी को जबतक मेज़ (फलक) पर लाते हैं, उसको शस्त्रकर्म के लिये तैयार करते हैं—एवं शस्त्रकर्म के लिये अन्य तैयारी कर रहे होते हैं, तब तक अन्य कार्य करने पड़ते हैं। इस समय चिकित्सक और उसके सहायकों को (जिन्होंने कि हाथ स्वच्छ कर लिये हैं) चाहिये कि वे दूषित वस्तुओं के स्पर्श से अपने को बचावें। और जो व्यक्ति इन दूषित अस्वच्छ वस्तुओं का स्पर्श करें, उनको व्रण के समीप नहीं आने देना चाहिये।

नखकूर्ची की स्वच्छता।

ये संक्रमण का साधन होती हैं, अतः इनका ध्यान रखना आवश्यक है। साधारणतः प्रतिदिन जो कूर्चियां काम में आती हों, उनको प्रतिदिन स्वच्छ करलेना चाहिये। इसके लिये इनको दस मिनट तक उबालकर किसी जन्तुघ्न घोल में रख देना चाहिये। घोल को प्रति दिन बदल देना चाहिये। जिन कूर्चियों द्वारा अति संक्रान्त पदार्थ का स्पर्श किया जाये उनको नष्ट कर देना ही उत्तम है।

दस्तानों का लाभ।

शल्यकर्म के समय हाथों को बार बार स्वच्छ करना असम्भव है। अतः आवश्यक है कि इनको किसी अन्य उपाय द्वारा दूषित वस्तु से बचाया जावे। इस कार्य के लिये उत्तम साधन दस्तानों का उपयोग है। कुछ चिकित्सक हाथों की स्वच्छता पर विश्वास न करके प्रत्येक कर्म में दस्तानों का उपयोग करते हैं। रबर के पतले दस्ताने स्पर्श में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते। परन्तु फिर भी शल्यकर्म में मोटे दस्ताने ही उत्तम हैं। कारण—इनके फटने की सम्भावना कम होती है। दस्तानों को स्वच्छ करने के लिये शुद्ध पानी में उबालना अथवा भाप द्वारा गरम करना पर्य्याप्त है।* उबालते समय दस्तानों में पानी भर जाता है; इसको पहिनने से पूर्व निकाल देना चाहिये। यदि हाथों को मद्य से स्निग्ध कर लिया जाये तब दस्ताने सुगमता से चढ़ सकते हैं। दस्तानों को यथा सम्भव कम ही स्पर्श करना चाहिये। दस्ताने सूई आदि से फट जाते हैं, अतः काम में लाने से पूर्व पानी द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिये। शल्यकर्म में इन को यथा सम्भव फटने से बचाना चाहिये। कारण—फटने

---

* दस्तानों को स्वच्छ करने में सोडे (सर्जक्षार) का उपयोग दस्तानों को खराब कर देता है।

पर जन्तु विष का स्पर्श व्रण द्वारा हो सकता है । अंगुलियों को व्रण से दूर रखते हुए—तन्तु आदि का स्पर्श यंत्र के द्वारा करना चाहिये । परन्तु जहां स्पर्श अनिवार्य हो, वहां अंगुलियों पर कोमल वस्त्र (गौज़) लपेटकर स्पर्श करना चाहिये ।

निःश्वास से संक्रमण का भय ।

मुख या नाक से निकला हुवा प्रश्वास लाला एवं श्लेष्मा के कणों से युक्त होता है, जो कि संक्रमण के साधन हैं । विशेषतः यदि व्यक्ति प्रतिश्याय, कृमिदन्त अथवा उपकुश (पायोरीया) रोग से आक्रान्त हो । इसलिये आवश्यक है कि शल्यकर्म में अनावश्यक व्यक्ति नहीं आने देने चाहियें । बात-चीत करना, छींकना, थूकना आदि इस समय यथा सम्भव कम होना चाहिये । चिकित्सक एवं सहायकों को चाहिये कि नाक और मुख पर परदा (वेल) बांध लेवें* । खांसना या छींकना अनिवार्य हो तो मुख को व्रण और शस्त्रों से दूसरी ओर मोड़ लेना चाहिये ।

परदा—इसको बनाने के लिये कोमल वस्त्र की छैः तह कर लेनी चाहिये । परदे के ऊपर का सिरा नाक के पतले भाग के ऊपर रखकर दोनों छोरों को टोपी के पीछे पिन से जोड़ देना चाहिये । निचला सिरा चिबुक तक आना चाहिये । इस निचले सिरे को पीछे की ओर मोड़ देना चाहिये । जिस से दूषित वायु बाहर निकल सके ।

कुछ चिकित्सक परदे के स्थान में "मस्क" का उपयोग करते हैं । जिस से सम्पूर्ण मुंह चेहरा ढंपा रहता है । यह ग्रीवा के नीचे चिबुक पर बांधा जाता है । इस में आंखों के लिये दो छिद्र होते हैं ।

रोगी की त्वचा को तैयार करना ।

व्रण के समीपवर्त्ती भागों की तैयारी नितान्त आवश्यक

* जैनी लोग जिस प्रकार से परदा नाक पर बांधते हैं ।

है। त्वचा के ऊपर के बाल, स्वेद और स्नेहग्रन्थियां एवं त्वचा के छिलके (एपीथिलियल सैल्स) जन्तुवों की आश्रय भूमि होती हैं। विशेषतः कक्षा, वंक्षण और सीवन में। शोथ युक्त स्थान में जन्तु विशेष रूप से रहते हैं। इसके अतिरिक्त स्तनों के नीचे, कोष्ठ की त्वचा की तहों में भी आश्रय पाते हैं।

शल्यकर्म करने से ४८ घंटे पूर्व त्वचा की तैयारी आरम्भ कर देनी चाहिये। त्वचा को उस्तरे से साफ करना चाहिये*। इस से जहां बाल साफ़ होंगे, वहां त्वचा के पृष्ठवर्त्ती छिलके भी साफ हो जायेंगे। फिर गरम पानी और साबुन से साफ करते हुवे कूर्चा से तब तक रगड़ें, जब तक कि त्वचा कठोर न हो जावे। पश्चात् चिकनाहट को जन्तुघ्न घोलों से साफ कर देना चाहिये जिस से कृमि न आ सकें। इस कार्य के लिये 'ईथर" सब से उत्तम है। परन्तु यदि ईथर न मिले तो तारपीन या लाईकर पोटास का उपयोग कर सकते हैं। त्वचा की चिकनाहट जब हट जावे तब जलाने की शराब (मैथिले-टिड स्प्रिट) में भीगे हुवे कोमल वस्त्र से रगड़ना चाहिये। इसके पश्चात् शल्यकर्म के क्षेत्र का कार्बोलिक लोशन ($\frac{1}{६०}$ में) में भीगी कवलिका से ढांपकर स्वच्छ पट्टी बांध देनी चाहिये।

यदि शल्यकर्म मध्याह्न के बाद करना हो तो कवलिका को प्रातःकाल हटाना चाहिये। और यदि सम्भव हो तो इस प्रक्रिया को पुनः दोहराना चाहिये। अथवा $\frac{1}{२०}$ में बने कार्बोलिक लोशन में भीगे हुवे पिचु से क्षेत्र को रगड़कर कवलिका रख देनी चाहिये। प्रथम प्रक्रिया का कार्बोलिक घोल त्वचा को नर्म बना देता है और दूसरी प्रक्रिया से जन्तुघ्न पदार्थ त्वचा के अन्दर प्रविष्ट होजाता है।

साधारणतः त्वचा को तैयार करने में आयोडीन का

---

* रोमाकीर्णो व्रणो यस्तु न सम्यगुपरोहति।
क्षुरकर्तरिसंदंशैः तस्य रोमाणि निर्हरेत्॥ सुश्रुत.

उपयोग किया जाता है। 'आयोडीन" एक तीव्र कृमिनाशक पदार्थ होने के साथ गहराई में जानेवाली वस्तु है। परन्तु इसकी क्रिया तभी सफल हो सकती है जब कि त्वचा शुष्क हो। परन्तु यदि त्वचा शल्यकर्म के लिये सहसा तैयार करनी पड़े तो त्वचा को बिना पानी के उस्तरे से साफ़ करके आयोडीन लगा देना चाहिये। दूसरी बार आयोडीन शल्यकर्म से ठीक पूर्व लगाना चाहिये। यदि त्वचा बहुत ही मैली हो तो इसको ईथर में भीगे पिचु से रगड़ना चाहिये।

आयोडीन तीव्र दाहक है, अतः वृषण पर प्रयोग नहीं करना चाहिये। और नाही बिना संज्ञालोप के गुदा में लगाना चाहिये। आयोडीन की शक्ति २·५ से ३ प्रति शतक रखनी चाहिये।

आयोडीन के स्थान पर पिक्रिक एसिड (एक प्रति शतक घोल) का भी उपयोग कर सकते हैं। कारण—यह त्वचा पर छाला नहीं डालता। अतः शिशुओं की अवस्था में उत्तम है।

यंत्र शस्त्रों का स्वच्छीकरण।

शल्यकर्म में काम आनेवाले सब औज़ारों को सोडा पड़े हुवे पानी में १० मिनिट तक उबालना चाहिये। उबलने पर इन को स्टरलाइज्ड रकाबियों में रखना चाहिये, और इन में स्टरलाइज्ड पानी या $\frac{१}{६०}$ शक्ति का कार्बोलिक लोशन डाल देना चाहिये। शस्त्र (काटने वाले) उबालने से कुण्ठित हो जाते हैं, अतः उन को स्वच्छ करने के लिये प्रथम शुद्ध कार्बोलिक एसिड में रखकर फिर जलाने की शराब में रखना चाहिये। अथवा यदि उबालना ही हो तो इनकी धार को रुई के द्वारा सुरक्षित कर लेना चाहिये। कैञ्ची उबाली जा सकती है। शल्यकर्म में जिन शस्त्रों का दूषित वस्तु—हाथ आदि से स्पर्श होजाये या भूमि पर गिर पड़ें; उनको शुद्ध-स्वच्छ पानी से धोकर फिर १० मिनट तक उबालना चाहिये। शल्य-

कर्म के पश्चात् औज़ारों को ठण्डे पानी से धोकर गरम पानी और साबुन से रगड़ कर सोडे वाले पानी में उबालना चाहिये। अन्त में उनको शुष्क करके मद्य में डुबोकर और फिर चमड़े से पोंछ कर रख देना चाहिये। औज़ारों पर पानी का रहना उन के कुण्ठित होने का कारण होता है। इस से औज़ारों पर ज़ंग लग जाता है।

औज़ारों को सुगमता से लेजाने के लिये "स्टरलाइज़र" का उपयोग किया जाता है।
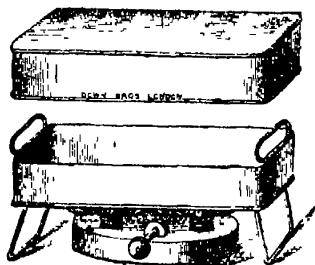
चित्र नं० १ (स्टरलाइज़र)

इस में एक चौड़ी कढ़ाई होती है, जिस में औज़ारों के लिये एक चौड़ी 'ट्रे" होती है। ऊपर का ढकन औज़ारों को ठण्डा करने के काम आता है। इसको गरम करने के लिये स्प्रिट लैम्प काम में लाते हैं।

ड्रैसिंग।

इसमें दो विशेषतायें आवश्यक हैं। एक—यह जीवाणुओं से रहित होना चाहिये; दूसरे—जो स्राव निकले उसको शीघ्रता से सोख लेवे। यह देखा गया है कि सच्छिद्र कोमल वस्त्र (गौज़) स्राव को जल्दी चूस लेता है। साथ ही जल्दी ही ऊपर के पृष्ठ तक पहुंचा देता है। जहां से बाष्प बनकर उड़ जाता है। इस से गहरे भाग में विलीन होने का भय नहीं

रहता। अतः रुई की अपेक्षा सच्छिद्र वस्त्र उत्तम है। शेष अन्य पदार्थ स्राव को सोखकर अपने में ही रोक लेते हैं। इस से जब वे पूर्ण रूप से तर होजाते हैं, तो सोखना बन्द कर देते हैं। अत 'गौज़' यह एक ही उत्तम वस्त्र है, जो सर्वत्र काम में लाया जा सकता है।

"गौज़" को दो प्रकार से स्वच्छ कर सकते हैं। एक उष्णिमा से और दूसरा रासायनिक पदार्थों से। इन में से प्रथम विधि अपने कार्य में पूर्ण निश्चयात्मक होने से संशय रहित कर्म है। इससे न तो गौज़ में कोई विक्षोभक पदार्थ प्रविष्ट होता है और न कोई विषैला पदार्थ इससे छूता है।

'गौज़" में उष्णिमा या तो बाष्प द्वारा दे सकते हैं अथवा शुष्क उष्णिमा ही दी जा सकती है। इनमें से प्रथम विधि सरल और उत्तम है। इसके लिये एक डेगची में पकता हुआ पानी रखकर उसके ऊपर छलनी रखकर उसमें 'गौज़" को रखकर स्वच्छ कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त रूई प्लोत पिचु पट्टी आदि सब पदार्थ स्वच्छ करने आवश्यक हैं। इनको गौज़ की भांति स्वच्छ कर सकते हैं। सम्पूर्ण ड्रैसिंग" जन्तु रहित होना चाहिये। देखो चित्र नं० २, नं० ३।

व्रण का स्राव जन्तुओं की वृद्धि में उत्तम सहायक है। यदि स्राव थोड़े भी समय तक शरीर की उष्णिमा पर रहने दिया जाये तो त्वचा के कृमियों से संक्रान्त होकर व्रण को भी संक्रमित कर सकता है। थोड़ासा भी स्राव सारे पृष्ठ पर फैल जाता है। अतः ड्रैसिंग ऐसा होना चाहिये जो जन्तुओं की वृद्धि को रोक सके। इस कार्य के लिये 'डबल साईनाईज्ड गौज़' काम में लाना चाहिये, जिसमें जन्तुओं को नष्ट करने की शक्ति हो। इसके लिये गौज़ को किसी जन्तुघ्न रासायनिक घोल में यथा—'कार्बोलिक एसिड' ($\frac{१}{४०}$ में) के घोल में, 'फलेवरीन'

के घोल में ($\frac{1}{1000}$), या मर्करी परक्लोराईड' के ($\frac{1}{1000}$) घोल में भिगोकर काम में लाना चाहिये।

चित्र नं० २
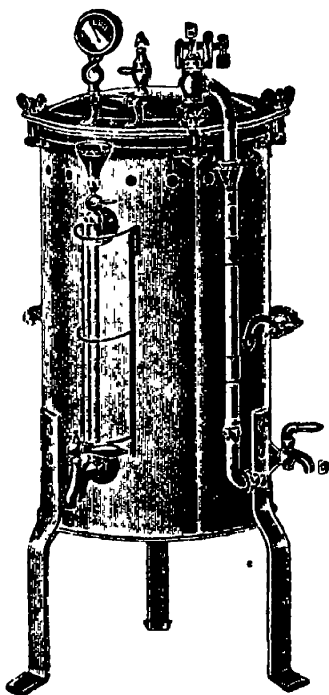
चित्र नं० ३

जन्तुघ्न ड्रैसिंग ले जाने के साधन

जन्तुघ्न ड्रैसिंग।

साधारणतः 'आयडोफार्म' या 'डबल साईनाईड औफ़ मर्करी' या 'डबल साईनाईड औफ ज़िंक' के घोल से बना

गौज़ काम में आता है। इनमें जन्तुओं को मारने की शक्ति नहीं अपितु उनकी वृद्धि को रोकने की शक्ति होती है।

"डबल साईनाईड औफ मर्करी" बहुत कम घुलनेवाला पदार्थ है। परन्तु यदि स्राव की मात्रा अधिक हो तो यह घुल जाता है। जिससे व्रण के समीपवर्त्ती गौज़ की शक्ति नष्ट होजाती है। इस से जन्तु व्रण तक सुगमता से पहुंच सकते हैं। इस दोष से बचाने के लिये गौज़ को काम में लाने से पूर्व $\frac{1}{20}$ शक्ति के 'कार्बोलिक घोल' में भिगो लेना चाहिये। 'मर्करी साईनाईड' त्वचा के लिये बहुत विक्षोभक है परन्तु 'ज़िंक साईनाईड' के साथ मिलने से इसका दोष धुल जाता है। उबालने या बाष्प द्वारा स्वच्छ करने से दोनों पदार्थ पृथक् होजाते हैं। अतः इस प्रकार के गौज़ को स्वच्छ करने की विधि संतोषजनक नहीं है।

आयडोफार्म गौज़ में औषध १० से २० प्रतिशतक होती है। यह चूंकि जन्तुओं की वृद्धि को रोकने में समर्थ है, अतः व्यवहार में लाने से पूर्व स्वच्छ कर लेना चाहिये। इसके लिये इसको 'फौर्मेलडिहाईड' के बाष्प में रखना चाहिये। इस बाष्प को 'पैराफौर्मेलडिहाईड' को गरम करने से प्राप्त कर सकते हैं। उष्णिमा से गरम करना व्यर्थ है। कारण—६७ शतांश पर आयडोफार्म उड़ने लगता है। और १०० शतांश पर गौज़ आयोडीन रहित होजाता है।

रूई—जस्त और डबल साईनाईड औफ़ मर्करी' या 'सैल-सिलिक एसिड' अथवा आयडोफार्म में बनी हुई रुई काम में ला सकते हैं। रूई और गौज़ को चुनते हुवे सस्तेपन की ओर ध्यान न देकर अच्छे बनानेवाले के माल की ओर ध्यान देना चाहिये।

घोल—प्रत्येक चिकित्सक अपने विशेष घोल का उपयोग करता है। यहां पर केवल साधारण एवं सब जगह काम में

लाये जाने वाले घोलों की ही विवेचना करना उत्तम होगा।

(१) 'स्टरलाईज्ड वाटर*'—(स्वच्छ उबला पानी)—शस्त्रों के लिये एवं हाथों को शुद्ध करने के लिये चिकित्सक इस का उपयोग करता है। पानी को उबालकर स्वच्छ कर सकते हैं। फिर इसको गरम किये हुवे स्टरलाईज्ड प्याले में रख देना चाहिये। प्याले को जन्तुघ्न घोल से धोडालना ही इस को स्वच्छ करने के लिये पर्य्याप्त नहीं है।

(२) 'स्टरलाईज्ड नौर्मल सैलाईन'—०·९ प्रतिशतक सैन्धव नमक का पानी 'गौज़' को तर करने के काम आता है। इसके द्वारा गम्भीर गुहा को धोया भी जाता है। इसको शुद्ध पानी की भांति उबालना चाहिये।

(३) 'हाईपरटौनिक सैलाईन'—पांच प्रति शतक या इससे अधिक शक्तिवाला नमक का पानी दूषित-संक्रमित व्रणों में प्रयुक्त होता है। इससे लसीका ग्रन्थि का कार्य बढ़ जाता है।

(४) 'सत्तर प्रतिशतक मद्य'—यह ९० प्रतिशतक (रैक्टीफाईड स्प्रिट) के मद्य से अधिक शक्तिशाली है। रोगी की त्वचा और चिकित्सक के हाथों के लिये उत्तम है।

(५) 'कार्बोलिक एसिड'—इसका भिन्न भिन्न शक्तिवाला ($\frac{१}{२०}$ से $\frac{१}{६०}$ तक) घोल बनाया जाता है। तीव्र शक्तिवाला घोल रोगी की त्वचा, सूत्र और प्रक्षालन नलिका (ड्रेनिंग ट्यूब) के काम में आता है। जो कि पीछे से उबाली जाती हैं। मृदु शक्ति का घोल हाथों को धोने एवं शल्यकर्म से कुछ समय पूर्व के लिये औज़ारों को रखने के काम आता है। यह अम्ल केवल जन्तुघ्न† ही नहीं अपितु दुर्गन्धनाशक भी होता है।

(६) 'परक्लोराईड औफ़ मर्करी'—इसका $\frac{१}{५००}$ से $\frac{१}{५०००}$ की

* उदककुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्यात्।" सुश्रुत.

† (१) मक्षिका व्रणजातस्य निःक्षिपन्ति यदा कृमीन्।

शक्ति का घोल कार्य में लाया जाता है। त्वचा को स्वच्छ करने के लिये तीव्र शक्ति के घोल की आवश्यकता है परन्तु "ड्रैसिंग" को गीला करने के लिये $\frac{1}{1000}$ की शक्ति का ही घोल पर्य्याप्त है। जिस त्वचा पर 'आयोडीन" लगाया गया हो उस त्वचा पर इसके घोल का ड्रैसिंग नहीं करना चाहिये। मृदुशक्ति का घोल मुख और योनि को धोने के काम में भी आता है। इस घोल से धोने पर शस्त्रों की आभा एवं धार जाती रहती है। ग्लैसरीन या मद्य से मिलने पर इसकी शक्ति नष्ट होजाती है।

(७) 'बिनी आयोडाईड औफ़ मर्करी'–इसको पानी अथवा मद्य में घोलकर काम में लाते हैं। इसकी शक्ति $\frac{1}{1000}$ से उतरती हुई काममें लाई जाती है। यह परक्लोराईड की भांति औज़ारों को खराब नहीं करता। इसके द्वारा कृमि तत्क्षण मर जाते हैं, यह विचार अभी सन्देह की सीढी को पार नहीं कर सका। 'बैसिलस एन्थरक्स' (एक प्रकार की कृमि जो प्रायः भेड़ों पर

श्वयथुर्भक्षिते तैस्तु जायते भृशदारुणः ॥
तीव्रा रुजा विचित्राश्च रक्तस्रावश्च जायते ।
सुरसादि हितस्तत्र ·· ·· · · ··· ॥ सुश्रुत.

(२) सुरसारग्वधाद्याभ्यां क्वाथाभ्यां परिषेचयेत् ॥

(३) अर्कादिगणो ह्येष कफमेदोविषापहः ।
· ···· ··· विशेषाद् व्रणशोधनः ॥ सुश्रुत.

(४) ततः प्रक्षालने क्वाथ पटोलीनिम्बपत्रजः ।
अविशुद्धे विशुद्धे तु न्यग्रोधादित्वगुद्भवः ॥

(५) पञ्चमूलीद्वयं वाते न्यग्रोधादिश्च पैत्तिके ।
आरग्वधादिको योज्यः कफजे सर्वकर्मसु ॥

(६) करञ्जारिष्टनिर्गुण्डीरसो हन्याद् व्रणक्रमीन् । योगरत्नाकर.

(७) निम्बसम्पाक जात्यर्क सप्तपर्णाश्च मारकाः ।
क्रिमिघ्ना मूत्रसंयुक्ता सेकालेपनधावनैः ॥ चक्रदत्त.

आश्रय लेता है) जब तक तीव्र शक्तिवाले घोल के सम्पर्क में नहीं आता-नष्ट नहीं होता।

(८) 'पर ऑक्साईड ऑफ़ हाईड्रोजन'—शल्यकर्म में यह २० से १० ओषजन की मात्रावाला काम में आता है। व्यवहार में लाने के लिये इसकी समान मात्रा में गरम पानी मिलाना चाहिये। जिससे ओषजन १० से ५ भाग होजाय। संक्रान्त गुहाओं को (यथा उपकुश-दन्तमांस-विद्रधि-पायोरिया एल्वो-लिस) पिचकारी द्वारा धोने के लिये उत्तम साधन है। मुख के लिये अधिक उपयोगी बन सके इसलिये २० भाग की शक्ति का लेकर इस को समान मात्रा में चूर्णोदक (लाईम वाटर) और गरम पानी मिलाना चाहिये। मुख्य रूप से यह दुर्गन्धनाशक,वानस्पतिक पदार्थ को नष्ट करने वाला और दूषित पृष्ठ (सल्फ) को हटाने वाला है। यह रक्त की मात्रा को भी बढ़ाता है। यदि देर तक काम में लावें तो व्रण में अधिक मांस बढ़ जाता है, जिस को 'हाईपरथीलिया' कहते हैं।

(९) 'टंकण का घोल'—टंकणाम्ल (बोरिक एसिड) का पूर्ण सान्द्र घोल बनाया जाता है। यह मृदु जन्तुघ्न है। 'लिन्ट' के वस्त्र को इसी घोल में भिगोकर सुखा लेते हैं। लिन्ट में टङ्कण के कण न रह जायें अतः इसको गीला करके काम में लाना चाहिये।

(१०) 'फ्लैवरीन'—"एनेलाईन डाई" का यह घोल होता है जो कि पूर्ण निश्चयात्मक कार्यशील है। अन्य जन्तुघ्नों की अपेक्षा इसकी शक्ति चिरस्थायी एवं वीर्यवती होती है। इस का $\frac{1}{1000}$ शक्ति का घोल बनाकर ड्रेसिंग के काम में लाते हैं।

(११) यूपेड'*—एक औन्स ($2\frac{1}{2}$ तोला) चूर्ण किया हुवा

* प्रोफ़ेसर लौरन स्मिथ ने 'हाईपरक्लोरस एसिड' द्वारा ये दोनों पदार्थ बनाने बताये हैं। देखिये—ब्रिटिश मैडिकल जरनल जुलाई २४ सन् १९१५ में।

बोरिक एसिड लेकर इसकी समान मात्रा में रंग उड़ाने का चूर्ण (ब्लीचिंग पाउडर—क्लोराईड औफ़ लाईम) मिलाने से बनता है। अब यदि इसमें पांच पाईन्ट (३ सेर के लगभग) पानी मिलाकर २४ घंटे तक रखकर छान लेवें तो यह—

(१२) यूजोल'—घोल बन जाता है।

इन दोनों वस्तुओं के लाभ—

१—पूर्ण रूप में काम आ सकता है। अतः पानी के न मिलने पर काम ले सकते हैं।

२—युद्धक्षेत्र में 'गौज़" के द्वारा प्रथमावस्था में ही काम में ला सकते हैं।

३—पानी के मिलने पर चूर्ण से साधारण घोल का काम भी ले सकते हैं।

(१३) 'डैकिन सौल्युशन'—यह यूजोल का संस्कृत रूप है। यह इतना थोड़ा विक्षोभक है कि इससे मस्तिष्क को भी धोया जा सकता है। इसके बनाने की विधि निम्न है।

सोडियम कार्बनेट	४०० ग्राम
क्लैक्स क्लोरीनेट	२०० ग्राम
बोरिक एसिड	४० ग्राम

पानी" इतना जिससे कि १० लिटर* बन जायें।

जन्तुघ्न चूर्ण†

(१) यूपेड—इसका वर्णन प्रथम आगया है।

---

* लिटर—यह एक अंग्रेजी माप है।

† (१) पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः।
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा निःसारा हन्ति ते व्रणाः॥

(२) निम्बपत्रवचाहिंगुसर्पिलवणसैन्धवैः।
धूपनं क्रिमिरक्षोघ्नं व्रणकण्डूरुजापहम्॥

(३) न्यग्रोधादिगणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः।

(२) टंकण चूर्ण—इसका मुख्य उपयोग स्राव को रोकने में या पूय को नियमित करने में (यथा अन्न प्रणाली या आस्य में से श्लेष्मा आने पर) होता है। जब यह खुरदरी पृष्ठ पर प्रथम लगाया जाता है, तो दर्द उत्पन्न करता है।

(३) आयडोफार्म—यह संक्रान्त व्रणों (यथा यक्ष्मा के या दूषित व्रण) की चिकित्सा में काम आता है। इसकी कार्य करने की शक्ति आयोडीन के बाष्प के कारण है, जो कि शरीर में स्वतन्त्र होने से उत्पन्न होते हैं। प्रयोग करने से पूर्व इसको 'फौर्मलडिहाईड" या 'कार्बोलिक एसिड" के बाष्प से शुद्ध कर लेना चाहिये। उष्णिमा से "आयोडीन" पृथक् होकर आयडोफार्म को निकम्मा कर देता है।

आयडोफार्म एमलशन—आयडोफार्म—१० भाग
ग्लैसरीन—७० भाग
पानी—१२० भाग

कई बार यह शल्यकर्म के समय व्रण (विद्रधि गुहा—एब्सस कैविटी) में प्रविष्ट किया जाता है। और कई बार शल्यकर्म के पीछे पूय रोकने के काम आता है। आयडोफार्म विष है अतः निम्नलक्षण उत्पन्न कर सकता है। यथा—वमन ज्वर, तीव्र नाड़ी, मूर्च्छा, कभी प्रलाप और मृत्यु।

जन्तुघ्न प्रलेप।

प्रलेपों के लिये प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र में बहुत सी औषधियां कार्य में लाई जाती थीं और हैं। इन में प्राचीन औषधियां यथा—घृत, मधु, तिल, यष्टीमधु, नमक और हल्दी आदि * हैं। घृत और मधु में प्रायः शेष औषधियों

(४) एष रोध्रादिरित्युक्तो ...... ।
... स्तम्भी व्रणयो विषनाशनः ॥ सुश्रुत.

* (१) तिलसैन्धवयष्ट्याह्वनिम्बपत्रनिशायुतैः ।
त्रिवृन्मधुयुतैः पिष्टैः प्रलेपो व्रणशोधनः ॥

को मिलाकर लगाया जाता है । घृत—त्रिपदर, कृमियों का नाशक एवं मधुर रस होने से सन्धान करने वाला और रोपक है* ।

अर्वाचीन शास्त्र में बोरिक एसिड, बिस्मथ कार्बनेट और जिंक औक्साईड (यशद भस्म) का उदाहरण पर्याप्त होगा । इन में से प्रथम को दग्ध की प्रथमावस्था में या व्रण की पृष्ठ पर लगा सकते हैं । दूसरे को " वैज़लीन " में मिलाकर शिश्न के अग्रचर्म काटने के शल्यकर्म में (खतना-सरकम सीश्यन) उपयोग करना उत्तम है । शेष तीसरे का प्रलेप विक्षोभक स्रावों को रोकने के लिये उत्तम है ।

---

(२) तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद् घृतम् ।
मधुकं निम्बपत्राणि लेपः स्याद् व्रणशोधनः ॥ योगरत्नाकर.

(३) तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढामौषधयुक्तां वर्त्तिं प्रणिदध्यात् ।
सुश्रुत.

(४) पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैः बध्नीयादबलं सुखम् । चरक.

(५) या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति सम्यक् ।
घृतेन स शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन ॥
सुश्रुत.

(६) सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिः विधीयते ।
क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च । सुश्रुत.

(७) लशुनेनाथवा दद्यात्लेपनं क्रिमिनाशनम् ॥ चक्रदत्त.

(८) आलेप आद्य उपक्रमः एष सर्वशोफानां सामान्यः । सुश्रुत.

* घृत के गुण – घृतं तु सौम्यं शीतवीर्यं मधुरमभिष्यन्दि . ...
वातपित्तप्रशमनं बलकरमायुष्यं .. श्लेष्माभिवर्द्धनं विषहरं रक्षोघ्नं च । सुश्रुत.

मधुर रस—तत्र मधुरो रसो रसरक्तमांस . . शुक्रस्तन्यवर्धनः
वर्ण्यो बलकृत् संधानः शोणितरक्तप्रसादनः...... ॥

बन्धन और सूत्र ।

रेशम सन, आंत, बैल की महाधमनी आदि पदार्थ बांधने के काम आते* हैं। और सीने के लिये रेशम घोड़े के बाल, चांदी की तार, सन और आंत† काम में लाई जाती हैं।

बहुत से चिकित्सक सीने और बांधने के लिये रेशम का ही उपयोग करते हैं। कारण—यह उबालने के द्वारा निश्चित रूप से शुद्ध हो जाता है। इसको या तो एक प्रतिशतक सोडे के घोल में उबालना चाहिये, अथवा $\frac{1}{20}$ शक्ति वाले कार्बोलिक घोल में रखना चाहिये और घोल को प्रतिदिन बदल देना चाहिये। सब से उत्तम रेशम जापान का है।

सब धागे और बन्धन प्रत्येक शल्यकर्म के पश्चात् आध घण्टे तक उबालने चाहियें। रेशम और धागों को यथा सम्भव कम स्पर्श करना चाहिये।

आंत्र—(स्नायु)—कैटगट—इसको उबाल कर शुद्ध करना कठिन है। कारण—उबालने से जैलेटिन में बदल जाती है। अशुद्ध रीति से तय्यार की स्नायु " एन्थरैक्स " कृमि को उत्पन्न कर देती है। जिसके अण्डे बड़ी कठिनता से नष्ट होते हैं। इसको तय्यार करने के निम्न दो घोल हैं। यथा—

(१) मरक्युरिक क्लोराईड २ ग्राम। (२) क्रोमिक एनहाईड्रेट ४ ग्राम
तिर्यक्पातित पानी ४०० सी. सी. तिर्यक्पातित पानी .०० सी. सी.

* सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा।
पत्राजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा वालेन वा पुनः॥

† (१) दंशस्योपरि बध्नीयात् अरिष्टाश्चतुरंगुले।
प्लोतचर्मान्तवल्कानां मृदुनान्यतमेन च॥

(२) क्षौमकार्पासिकादुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्ट...रज्जुतूलफलसंतानिका-
लौहानि, तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः॥

सुश्रुत.

द्वितीय घोल में पर्याप्त गन्धकाम्ल मिलाना चाहिये। जिससे कि घोल का रंग लाल भूरे रंग से चमकता लाल हो जावे। फिर इसमें ५०० सी. सी (क्युबिकसैन्टीमीटर—एक प्रकार का द्रव का अंग्रेज़ माप) तक पानी मिला देना चाहिये। आंत्र को २४ घन्टे तक इस घोल में रखकर शुष्क कर देना चाहिये। फिर $\frac{1}{20}$ शक्ति में बने कार्बोलिक घोल में रख देना चाहिये। आंत्र को स्टर लाइज़ करके शीशे की बरनी में रखना चाहिये।

घोडे के बाल।

इनको उबाल कर स्वच्छ कर सकते हैं। उबालने के लिये एक प्रतिशतक सोडे का घोल उत्तम है। अथवा $\frac{1}{20}$ की शक्ति के कार्बोलिक घोल में रखना चाहिये। पृष्ठ पर सीने के लिये उत्तम साधन हैं।

सन सूत्र।

इसको भी उबालकर "स्टरलाइज़" स्वच्छ कर सकते हैं।

प्लोत *।

पिचु (मोप्स)-वर्त्तमान शल्यशास्त्र में स्पञ्ज का व्यवहार यथासम्भव कम किया जा रहा है। कारण-ये भली प्रकार स्वच्छ नहीं किये जा सकते। और मंहगे होने के कारण एक वार काम में लाकर उनको नष्ट भी नहीं कर सकते। इसके लिये इनके स्थान पर श्वेत कोमल सच्छिद्र वस्त्र (गौज़) का अथवा रूई के पिचु को गौज़ से बांधकर अथवा " गौमिज़ टिश्यू " का उपयोग करते हैं। इस कार्य के लिये " गौज़ " सब से उत्तम है। कारण—यह पानी को सुगमता से सोखता

* (१) प्लोतेनोदकमादाय................ सुश्रुत.

है और दूषित होने पर नष्ट कर सकते हैं। जिससे संक्रमण के फैलने का डर नहीं रहता। गौज़ के ६"×४" इञ्च के टुकड़े इस कार्य के लिये पर्याप्त हैं। इनकी तह बनालेनी चाहिये।

तीसरा प्रकरण ।

पूर्वकर्म ।

पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि भवन्ति ॥ सुश्रुत.

शल्यकर्म किये जाने से पूर्व रोगी को रोगीगृह* (आगार) में प्रविष्ट करना चाहिये । यह समय कम से कम दो दिन होना चाहिये । इस समय रोगी का वृत्त और उसमें हुवे परिवर्तनों को भली प्रकार देख सकते हैं । साथ में रोगी को शल्यकर्म के लिये तय्यार भी कर सकते हैं । मूत्र की परीक्षा आवश्यक है । इस में यदि पूय, शर्करा, एल्ब्यूमन आदि हो तो इस का ध्यान रखना चाहिये । छाती की परीक्षा (यक्ष्मा और एम्फाइमा-वायु भरी छाती में) अवश्य करनी चाहिये । आंतों को खाली करने के लिये एरण्ड तैल देना चाहिये । तैल ५ से ७ घंटे में कार्य करता है । जिस दिन शल्यकर्म करना हो उस दिन प्रातः बस्ति देनी चाहिये ।

संज्ञा लोप यदि देर तक किया जाना हो तो रोगी के मुख का ध्यान विशेष रूप में रखना चाहिये । कृमिदांत और कृत्रिम दांत सब निकाल देने चाहियें । दांतों को मञ्जन और कूर्ची से साफ़ कर देना चाहिये । त्वचा को पूर्वोक्त विधि से शल्यकर्म के लिये तय्यार करना चाहिये । यदि शल्यकर्म प्रातः ही करना हो तो पिछले सायंकाल को भोजन में कोई ठोस पदार्थ नहीं देना चाहिये । और यदि मध्याह्न में करना हो तो उस दिन प्रातः कोई भोजन नहीं देना चाहिये । शल्यकर्म से

---

* व्रणिनः प्रथममागारमेवान्विच्छेत् ।
तच्चागारं प्रशस्तवास्त्वादिकं कार्यम् ॥ सुश्रुत.

तीन घंटे पूर्व "कोका" का बना एक प्याला शर्करा के साथ देना चाहिये। रोगी के वस्त्रों का पर्याप्त ध्यान रखना चाहिये। रोगी को गरम करने के लिये कम्बलों का उपयोग करना चाहिये। शिशुवों की अवस्था में उनको रूई से लपेट देना चाहिये। केवल शल्यकर्म के क्षेत्र को नंगा रखते हैं। इस में केवल आपत्ति यह है कि रूई बहुत चाहिये। कोई २ चिकित्सक प्रत्येक शल्यकर्म के लिये भिन्न २ प्रकार की पोशाक रोगी को पहिनाते हैं। जो कि स्वच्छ होती है।

स्त्रियों की अवस्था में आवश्यक है कि चिकित्सक उनके आर्तव के समय के विषय में प्रश्न कर लेवे और यदि संभव हो तो इस समय को शल्यकर्म में छोड़ देना चाहिये।

किसी बड़े शल्यकर्म करने के लिये आवश्यक है कि रोगी को कम से कम ७ दिन पूर्व शल्यकर्म से रोगीगृह में रक्खा जाये। यथा अन्नप्रणाली सम्बन्धी शल्यकर्म में। आस्य और मुख के शल्यकर्म में मसूड़ों और दांतों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्रत्येक भोजन के बाद और रात्रि को "हाईड्रोजन पर ऑक्साइड" के साथ मुख को स्वच्छ कर देना चाहिये। शल्यकर्म से २४ घंटे पूर्व सब भोजन स्वच्छ करके देना चाहिये।

जिन शल्यकर्मों में आमाशय से सम्बन्ध हो उनमें भोजन हलका और सुपच होना चाहिये। जो कि ३ दिन पूर्व से देना आरम्भ कर देना चाहिये। अन्तिम भोजन शल्यकर्म से चार घंटे पूर्व होना चाहिये। जिस भोजन* में एक औंस शर्करा

---

* (१) लघु भुक्तवन्तमातुरम्......... ।

(२) "अल्पान्नं द्रवप्रायं स्निग्धमुष्णं भुक्तवन्तम्" । सुश्रुत ।

(३) प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनासहः ॥
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते ।

(ग्लुकोज़) पांच औंस पानी में घुली होनी चाहिये। शल्य-कर्म से प्रथम दिन आमाशय को धो देना चाहिये। और यदि धोवन मैला हो तो शल्यकर्म को कम से कम सात दिन के लिये स्थगित कर देना चाहिये। गुदा के शल्यकर्म के लिये आंत पूर्ण रूप से खाली* होनी चाहिये। इसके लिये शल्य-कर्म से दो दिन पूर्व एरण्ड तैल देकर अगले दिन प्रातः और सायं बस्ति देनी चाहिये। एवं पुनः अगले दिन प्रातः वस्ति का उपयोग करना चाहिये। इस समय भोजन से मांस को सर्वथा निकाल देना चाहिये।

चिरकालीन आन्त्रावरोध में भोजन हलका, पोषक एवं शर्करा-बहुल होना चाहिये। तीव्र विरेचक का उपयोग हानिकारक है। आंतों को यथा सम्भव वस्ति और मृदु विरेचन से खाली करना चाहिये।

औपरेशन थेटर।

भिन्न २ अवस्थाओं में भिन्न भिन्न होता है। शिक्षणालयों में विद्यार्थी चिकित्सक के सहायक होते हैं और आचारिक (हाऊस सर्जन) का काम शस्त्रों को उठाना, देना एवं सीखना होता है। और कहीं आचारिक का काम संज्ञालोप करना होता है। आचारिक का कर्त्तव्य है कि वह देखे कि कमरा ठीक गरम (६८° से ७०° फारनाहिट) है, वा नहीं विशेषतः सर्दियों में। साथ में रबर की बोतलें गरम पानी से भरी तैयार रखनी† चाहियें। आचारिक का दूसरा काम है कि वह शल्यकर्म से पूर्व देख लेवे कि सब आवश्यक सामान

तस्माद्वश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ॥

* मूढगर्भोदराशोंऽश्मरीभगन्दरमुख रोगेष्व भुक्तवतः कर्म कुर्वीत।

† प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते।
निवाते न च रोगा स्युः शरीरागन्तुमानसाः ॥

तैयार है वा* नहीं।

आजकल "ऑपरेशन थेटर" के लिये सहायकों एवं धात्रियों का एक समुदाय निश्चित रूप से रहता है। जिस का काम यह है कि वे सामान को सदा तय्यार रक्खें। कुछ चिकित्सक शस्त्रों को अपने पास में रखते हैं। जिस से कि वे स्वयं उठा सकें। दूसरे चिकित्सक इस कार्य को पसन्द करते हैं कि उन्हें शस्त्र सूई, धागा आदि पकड़ाया जाये।

१ जिस समय रोगी का संज्ञा लोप किया जारहा हो उस समय चिकित्सक एवं सहायकों को चाहिये कि वे अपने हाथों और कोहनी के निचले भाग को स्वच्छ करके स्टर लाईज्ड पोशाक अर्थात् रूई से बना चोला, टोपी, गौज़ का परदा और रबर के दस्ताने पहन लेवें। पोशाक के बाजू लम्बे होने चाहियें और दस्ताने इनके ऊपर पहनने चाहियें। यदि बाजू कलाई तक न आते हों तो दूसरे बाजू पृथक् पहनने चाहियें। जिस सहायक का उत्तरदातृत्व शस्त्र सूत्र आदि का हो उसे भी चिकित्सक की भांति जन्तुघ्न उपायों को काम में लाना चाहिये। उसे चाहिये कि सूत्रों को काटकर सूई में डालकर रक्खे। सामान पकड़ाते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी अस्वच्छ वस्तु का स्पर्श न हो जाये।

सहायक† दो प्रकार के होते हैं स्वच्छ और अस्वच्छ।

---

* कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि। तद्यथा-यंत्र शस्त्रक्षाराग्नि पिचुप्लोतसूत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलं ... . कषायलेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तः॥ सुश्रुत.

† (१) स्मृतिर्निर्देशकारित्वमनुरागश्च भर्त्तरि।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं गुणाः परिचरे जने॥ चरक।

(२) परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तः।

स्वच्छ सहायक चिकित्सक की भांति स्वच्छ पोशाक और हाथों वाले होते हैं। एवं चिकित्सक की सहायता करते हैं। दूसरे अस्वच्छ सहायक प्याले, ड्रम आदि को पकड़ते हैं। इनको चाहिये कि प्याले आदि को अन्दर से स्पर्श न करें।

औपरेशन थेटर में कार्य करने वाले व्यक्तियों को इस बात का अभ्यास होना चाहिये कि जब वे स्वच्छ हों तो किसी अस्वच्छ वस्तु का स्पर्श न करें और जब अस्वच्छ हों तो किसी स्वच्छ वस्तु को न छुवें।

शल्यकर्म।

रोगी का फलक पर संज्ञालोप करके उसको शल्यकर्म की अवस्था के अनुसार आवश्यक स्थिति में रखते हैं। प्रत्येक अवस्था में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी को किसी प्रकार की चोट या आघात (कोहनी के पास की रक्त वाहिनियों के समूह-ब्रेकल प्लैक्सिस) न पहुंचे। प्रायः सब शल्यकर्मों में रोगी को चपटा लेटाया जाता § है। ऐसी अवस्था में हथेली को नीचे रखते हुए हाथों का नितम्ब के साथ रख सकते हैं। यदि यह अवस्था उचित न हो तो छाती पर क्रौस (×) करते हुए रख सकते हैं। तकिये के नीचे

---

§ (१) ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रेषु ···· ·। लघु भुक्तवन्तमातुरमुपवेश्य यंत्रयित्वा प्रत्यङ्मुखो वैद्योमर्मशिरा-स्नायु सन्ध्यस्थि धमनीः परिहरन् ···· ।"

सुश्रुत.

(२) ततः बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतं ·· वेदनाप्रशमनार्थं स्निग्धमुष्णामल्पमन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तमुपवेश्य संस्मृते······ समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्संगे विषण्ण-पूर्वकायमुत्तानं किञ्चिदुन्नतकटिकं वस्त्रकम्बलकोपविष्टं यंत्रशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थिं परिकर्मभिः सुपरिगृहीतम्·········"

सुश्रुत.

कलई को रखना हानिकारक है।

शिर का शल्यकर्म।

रेत की थैलियों से शिर को थोड़ा ऊंचा उठा देना चाहिये छाती में वायु भरने की अवस्था (एम्पाईमा) में या अन्य शल्यकर्मों में उर स्थल का पश्चिम भाग शल्यकर्म का क्षेत्र बनाना चाहिये। इस शल्यकर्म में दूसरे स्कन्ध को रेत की थैलियों से थोड़ा ऊंचा कर देना चाहिये।

पित्ताशय के शल्यकर्म में यकृत् को कुछ ऊंचा कर लेना चाहिये और कोष्ठभित्ति को सीते समय फिर साधारणावस्था में ले आना चाहिये। वृक्क के शल्य कर्म में (पीठ या कटि के भाग पर) दूसरे कटिभाग के नीचे सहारा रखकर रोगी को पार्श्व के भार लेटाना चाहिये। निचली अधः शाखायें सीधी रखनी चाहिये। ऊपर की शाखायें सीधी और ऊपर की भुजा मुड़ी होनी चाहिये। भुजा को छाती के नीचे नहीं आना देना चाहिये, अन्यथा श्वास में कठिनता होगी। अतः भुजा को किसी दूसरे व्यक्ति को पकड़ा देना चाहिये अथवा उसको सहारा देकर रखना चाहिये।

पर्य्यावरण कोष में (पैरेटोनियल कैविटी) यदि शल्य-कर्म करना हो तो फलक का निचला सिरा थोड़ा ऊंचा करके घुटनों को फलक के किनारे मोड़ देना चाहिये। टांगों को रुई से लपेट कर फलक की टांगों से बांध देना चाहिये। रोगी को इस स्थिति में आवश्यकता से अधिक नहीं रखना चाहिये।

सीवन (पैरीनियम) के शल्यकर्म में रोगी को प्रायः अश्मरी के शल्यकर्म की भांति * रखते हैं।

---

* अथ रोगान्वितमुपस्निग्धमपकृष्टदोषं............अभुक्तवन्तमा जानुसमे फलके प्रागुपवेश्य पुरुषं च तस्योत्संगे विपर्यस्तपूर्व-कायमुत्तानकटिकं वस्त्राधारकोपविष्टं संकुचितजानुकूर्पर मितरेण

यदि शल्यकर्म के फलक पर रोगी के लिये पर्याप्त तकिये न हों तो "क्रोवर्स क्रच" का उपयोग करना चाहिये। इस में एक सीधी लोहे की शलाका होती है। जिस के दोनों प्रान्त भागों पर पट्टे (स्ट्रैप्स) लगे होते हैं। इनको घुटने के नीचे टांगों पर बांधते हैं। और एक दूसरी पट्टी स्कन्ध पर से होकर दूसरी (जिस स्कन्ध पर से पट्टी गुज़री है, उस से दूसरी) बगल के नीचे से होती हुई लोहे की शलाका पर लाकर बांध दी जाती है। इसी प्रकार दूसरी पट्टी दूसरे कन्धे और दूसरी बगल में से लाकर बांध देते हैं।

शल्यकर्म के क्षेत्र के चारों ओर "स्वच्छ" अंगोछे (तौलिये) डाल देने चाहियें। और क्षेत्र की त्वचा पर आयोडीन अथवा $\frac{1}{40}$ में बना कार्बोलिक एसिड का घोल लगा देना चाहिये। या इस स्थान पर जलाने की शराब का भी उपयोग कर सकते हैं। रोगी के शरीर अथवा फलक के जिस भाग को चिकित्सक या सहायक से स्पर्श होने की सम्भावना हो, अथवा जिस भाग पर चिकित्सक औज़ारों को रखना चाहता हो उस सारे भाग को स्वच्छ वस्त्र से ढांप देना चाहिये। यह वस्त्र शुष्क अथवा तत्क्षण उबाले एवं गीले स्वच्छ अंगोछे होते हैं। इन में से शुष्क स्वच्छ अंगोछे उत्तम हैं। घुटने की अवस्था में जहां चिकित्सक घुटने को खोलना या मोड़ना चाहता हो वहां पृथक् २ अंगोछों का उपयोग करना चाहिये।

जिस समय छेदन किया जाये उस समय सहायक का कर्त्तव्य है कि वह रक्तस्राव के स्थान को धमनीसंदंश (आर्टरी फौर्सैप्स) द्वारा पकड़ ले, जिससे कि

सहावबद्धं सूत्रेण शाटकैर्वा ....सुश्रुत.

अश्मरी चिकित्सा।

क्षेत्र रक्त से साफ़ रहे। और प्लोत या पिचु से रक्त को सोखता जाये। दस्तानों को यथासम्भव व्रण से दूर रखकर संदंश की सहायता से प्लोत काम में लाने चाहियें। इस प्रकार दस्ताने अस्थि आदि के द्वारा फटने से बचाये जा सकते हैं। रक्तस्राव की अवस्था में धमनी आदि को या अन्य किसी रचना को ऊंचा करने के लिये बल प्रयोग नहीं करना चाहिये। उदर गुहा या अन्य गम्भीर व्रणों में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि प्लोत का कुछ भी भाग व्रण में या व्रण के पार्श्व में लगा न रह जाये। प्रायः यह तब होता है, जब कि रक्त से भीगे प्लोत का कुछ टुकड़ा व्रण के किसी कोने में रह जाता है।

व्रण में यदि कोई संक्रामक वस्तु दिखाई देती हो तो प्लोतों को काम में लाने पर उसको नष्ट करते जाना चाहिये। उसे अन्य प्लोतों में अथवा प्याले में नहीं डालना चाहिये।

रोगी की त्वचा को पूर्ण स्वच्छ करना असम्भव है। अतः छेदन स्थान की चारों ओर की त्वचा स्वच्छ वस्त्र से ढांप देनी चाहिये। इस वस्त्र को व्रण की किनारी (पार्श्वों के साथ) के साथ संदंश से स्थिर कर देना चाहिये।

रक्तवाहिनियों को बांधना।

छोटी रक्तवाहिनियों को संदंश से पकड़ कर मोड़ देना चाहिये। इस कार्य के लिये "स्पैन्सरवैल्स फौरसिप्स" उत्तम है। परन्तु निश्चिन्तता के लिये उसको बांध * देना ही उत्तम है। संदंश के द्वारा वाहिनियों को पकड़ कर ऊंचा उठा

---

* ( ) चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा॥

(२) अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धानानि प्रयोजयेत्।
सन्धाने अंशमाने तु पाचनैस्तमुपाचरेत्।

(३) तामेवातिप्रवृत्तां शिरां विध्येत्॥

लेने से बांधने में सुगमता हो जाती है। चिकित्सक को चाहिये कि शल्यकर्म से पूर्व बन्धन (गांठ) बांधकर तय्यार रक्खे, परन्तु इन बन्धनों में छेद छोड़ देना चाहिये। इस से समय नष्ट नहीं होता। गांठ "रीफ" गांठ "ग्रेनी" गांठ से अधिक निश्चित एवं कार्यशील है।

चित्र नं० ४।

रीफ़ गांठ ग्रेनी गांठ
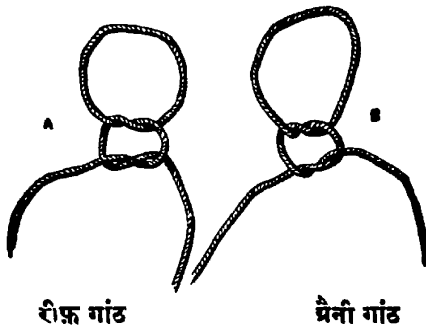
चित्र नं० ५
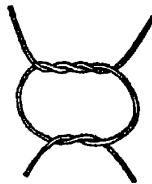
सर्जन या शस्त्रचिकित्सक की गांठ।

रीफ़ गांठ के बांधने में सूत्र के छोर ऊपर या नीचे से गुज़रते हैं। परन्तु ग्रेनी गांठ में $\frac{1}{3}$ भाग ऊपर की ओर रहता है और $\frac{2}{3}$ नीचे। इस कारण इसमें गर्त चौड़ा नहीं बनता। इस लिये जब खींचते हैं तो यह गांठ पूर्ण रूप से कसती नहीं।

सीना।

सीने के लिये उत्तम साधन रेशम और बाल हैं। सीने में गांठ "रीफ़" गांठ का व्यवहार होना है। सीने की अवस्था में सुई व्रण के ओष्ठों से $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{4}$ इञ्च की दूरी से गुज़ारनी * चाहिये।

समय बचाने के लिये व्रण को लगातार टांकों से (कन्टी-

चित्र नं० ६ कन्टीन्यूअस स्यूचर।
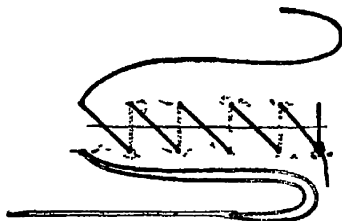
---

* (१) सीव्येन्न दूरे नासन्ने गृह्णन्नाल्पं न वा बहु।
ततो व्रणं समुन्नम्य स्थापयित्वा यथास्थितम्॥

(२) नातिदूरे निकृष्टे वा सूचीं कर्मणि पातयेत्।
दूराद्रुजो व्रणौष्ठस्य संनिकृष्टे ऽवलुञ्चनम्॥

(३) न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न वा मारुतवाहिनः।
नान्तर्लोहितशल्याश्च तेषु सम्यग् विशोधनम्॥
पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत्।
अहृतानि यतो ऽमूनि पाचयेयुः भृशं व्रणम्॥
रुजश्च विविधा कुर्युः तस्मादेतान् विशोधयेत्॥

(४) देशेऽल्पे मांससंधौ च सूची वृत्तांगुलद्वयम्।
आयता त्र्यंगुला शस्ता मांसले वापि पूजिता।

(५) धनुर्वक्त्रा हिता मर्मकुलकोशोदरोपरि।
इत्येतास्त्रिविधाः सूच्यस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः।

(६) कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताग्राः परिमण्डलाः॥

म्युअल स्यूचर) सीना चाहिये । इसकी समाप्ति करने लिये धागों को व्रण के प्रत्येक ओष्ठ में निकालकर बांध देना चाहिये। इस प्रकार के टांके वहीं भरने चाहियें जहां व्रण पूर्णरूप से स्वच्छ हो। अन्यथा टांकों को खोलने में कठिनता होगी। त्वचा के सीने के लिये "बटन होल स्यूचर"
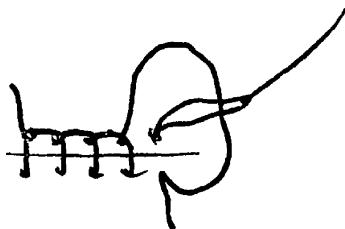
चित्र नं० ७ बटनहोल स्यूचर।

उत्तम है । इस प्रकार के सीने के लिये प्रथम चिकित्सक अपनी ओर से धागे को गुज़ार कर व्रण से कुछ दूरी पर बांध देता है। इस गुज़रे हुए धागे को सहायक कुछ समय के लिये रोके रखता है। इतने में चिकित्सक पुनः सूई गुज़ार कर सहायक के इस रोके हुए धागे के ढीले भाग में से गुज़ार लेता है। अन्त में सब को कसते हुए चलता जाता है। और जहां समाप्त करना होता है वहां चिकित्सक धागे को अपनी ओर निकाल कर व्रण से दूर एक धागे के साथ गांठ देकर समाप्त कर देता है।

गम्भीर व्रणों में (यथा प्रकोष्ठ या जंघा अथवा ऊरु के) जब कण्डरा विभक्त हो जाये तब केवल त्वचा को सी देना ही पर्याप्त नहीं होता, अपितु कण्डरा के सिरों को ध्यान पूर्वक आपस में सीना चाहिये। ऐसी अवस्था में दोनों प्रान्त समीप लाकर स्नायु से सीना चाहिये। जो कि आवरण का भेदन करने के अतिरिक्त कुछ गहरी भी जा सकती है। अन्य

बन्धन भार पड़ने पर टूट सकते हैं। परन्तु "हैल्स्टैड्स स्टिच" के टूटने की सम्भावना कम होती है। इस प्रकार के सीने में प्रथम धागे को व्रण के मुख के ऊपर से गुज़ारते हैं। और फिर व्रण से कुछ दूर त्वचा के नीचे जाकर फिर ऊपर निकालते हैं। इस प्रकार यह टांका व्रण के दोनों ओष्ठों से कुछ दूर त्वचा के नीचे रहता है। और व्रण के ऊपर रहता है।

'लैम्बर्ट स्यूचर" यह आंतों एवं आमाशय के सीने में काम आता है। इसके द्वारा आंतें पर्य्यावरण झिल्ली से दूर रहती हैं। साथ में आंतें व्रण से भी दूर रहती हैं। यह उपरोक्त सीवन की भांति सीया जाता* है।
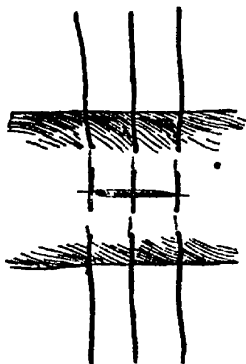
चित्र नं० ८ लैम्बर्ट स्यूचर।

कई बार मांसकन्दी या व्रणचिह्न (स्कार) से बचाने के

* (१) शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा वालेन वा पुनः।
सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा॥
(२) मूर्वागुडूचीतानैर्वा सीव्येद् वेल्लितकं शनैः।
सीव्येद् गोफणिकां वापि सीव्येद् वा तुन्नसेवनीम्॥
ऋजुग्रन्थिमथो वापि यथायोगमथापि वा॥

लिये त्वचा के उपरिचर्म को ही सीया जाता है । ऐसी अवस्था में अन्त: त्वचा का भेदन नहीं किया जाता।

सीने में ध्यान देने योग्य बातें—

(१) व्रण, सूई, हाथ, सूत्र आदि सब स्वच्छ होने चाहियें।

(२) सूई व्रण के ओष्ठ के न तो पास से गुज़रे न बहुत दूरी से।

(३) व्रण के ओष्ठ आपस में समान रीति से मिलने चाहियें। एक दूसरे के ऊपर चढ़े हुए नहीं होने चाहियें। और न आपस में दूर दूर रहने चाहियें।

(४) गांठ इतनी ज़ोर से कसकर न देनी चाहिये कि चमड़ी फट जाये, और न ढीली होनी चाहिये।

(५) सीवन में मांस के अंदर सिलवट नहीं आनी चाहिये।

व्रण का प्रक्षालन।

शल्यकर्म के पश्चात् निम्न अवस्थाओं में व्रण का प्रक्षालन आवश्यक होता है। यथा—

(१) संक्रमणरहित व्रणों में जहां कि बड़ा क्षेत्र बड़ी मात्रा

---

(१) वेल्लित—अल्पान्तरन्तु कुटिलं संसीव्येत् बहुवेष्टनम्।
यत्तद् वेल्लितकं नाम शाखादौ युज्यते बुधैः॥

गोफणिका—पाटितं योनिगुदयोरन्तरं वा तथाविधम्।
देशे स्यूतं यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया॥
नातिस्थूले नातिदूरे शलाके द्वे निपात्य च।
तदासिक्तेन सूत्रेण संवेष्ट्य सेवनी कृता॥
नाम्ना गोफणिका बन्धः दुष्करा मन्दबुद्धिभिः॥

तुन्नसेवनी—पृथक् पृथक् तु सच्छिन्नं संसीव्येत् तुन्नसेवनीम्।
या योज्या पक्ष्मको पादौ ………..

ऋजुग्रन्थि—पार्श्वात्पार्श्वान्तरं यावत् ऋजु सूचीं निपात्य च।
संवेष्ट्या कृत्यासूत्रेण ग्रन्थियां संधिहेतवे॥
क्रियते सा ऋजुग्रन्थिः…… ……..”

में अथवा शीघ्र २ स्राव को निकालता है।

(२) जब कोई बड़ी गुहा (हाईड्रेटिक सिस्ट या अस्थि वास्तु) जलगुहा खोली जाये।

(३) व्रण संक्रान्त हो गया हो या विद्रधि बन जाये।

प्रक्षालन या तो रबर की नली से अथवा गीले गौज़ से किया जाता है। इनके द्वारा स्राव व्रण की गम्भीर पृष्ठ से त्वचा की ऊपर की पृष्ठ तक पहुंच सकता है। इस में केवल आपत्ति यही है कि यदि चिरकाल तक यही विधि बरती जाये और पूर्ण सावधानी न रक्खी जाये तो जीवाणु व्रण में पहुंच सकते हैं। इसलिये यथा सम्भव इस प्रकार से प्रक्षालन बन्द कर देना चाहिये। रबर की नली में यह आपत्ति है कि लगातार दबाव के कारण तन्तुवों की मृत्यु हो जाती है, अथवा वाहिनियों में व्रण या अस्थियों में खोखलापन [केरीज़] हो जाता है।

गौज़ में यह आपत्ति है कि यह चारों ओर के तन्तुओं से चिपट जाता है और सूख कर डाट का काम करता है। दोनों वस्तुयें बाह्य शल्य की भांति चारों ओर के तन्तुओं में शोथ उत्पन्न करती हैं।

व्रण के अन्दर स्राव एकत्रित न हो, इसके लिये रबर की नली का व्यवहार करना चाहिये। नली का व्यास पर्याप्त बड़ा होना चाहिये, जिससे कि स्राव जमकर छिद्र को बन्द न कर देवे। नली २४ घन्टे से ४८ घण्टे के अन्दर अवश्य बदल देनी चाहिये। शल्यकर्म के समय त्वचा को नली के पास से सी देना चाहिये। जिससे कि नली के निकालने पर व्रण सुगमता से भर जाये।

द्वितीयावस्था में प्रक्षालन चिरकाल तक करना होता है, अतः ड्रैसिंग अति सावधानी और स्वच्छता से करना चाहिये।

तृतीयावस्था में रबर की नली की अपेक्षा गौज़ का व्यवहार * उत्तम है।

रबर की नलियां।

इन को एक घण्टे तक उबाल कर $\frac{1}{20}$ की शक्ति में बने हुए कार्बौलिक एसिड के घोल म रख देना चाहिये। प्रयोग करने से पूर्व फिर उबाल लेना चाहिये। नली का बाह्य छोर त्वचा के समीप तक आना चाहिये। इसके बाहर के किनारे पर स्वच्छ सेफ्टीपिन लगा दने चाहियें, जिससे कि नीचे की ओर फिसल न सके।

दूसरा उपाय यह है कि नली को व्रण के किनारों के साथ सी दिया जाये। यह विधि वहीं उत्तम है जहां नली २४ घण्टे से ४८ घण्टे रखनी हो नली को व्रण की निचली त्वचा से $\frac{1}{4}$ इञ्च ऊपर रखना चाहिये। नली सुगमता से प्रविष्ट हो सके इसलिये इसका एक छोर तिरछा काट देना चाहिये। स्राव भली प्रकार से बह सके इसलिये स्थान २ पर बीच में छेद बना देने चाहिये।

गौज़ से प्रक्षालन† ।

इस अवस्था में लम्बी पट्टी के रूप में गौज़ को काट

---

* ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरं प्रश्वास्य समन्तात्परिपीड्यांगुल्या व्रणमभिमृद्य प्रक्षाल्य कषायेण प्रोतेनोदकमादाय तिलसर्पिर्मधुप्रगाढामौषधयुक्तां वात्त प्रणिदध्यात् ॥

† (१) नच विकोशिकौषधे अतिस्निग्धे अतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत॥सुश्रुत.

(२) विकोशिकामौषधं च नातिस्निग्धं समाचरेत्।
प्रक्लेदयत्यतिस्निग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च॥
युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म घर्षति।
विषमं च व्रणं कुर्यात् स्तम्भयेत्स्रावयेत्तथा॥

(३) गम्भीरान्मेदसा जुष्टान्दुर्गन्धान् चूर्णशोधनैः।

कर कटे हुए प्रान्त को अन्दर की ओर मोड़कर व्रण के अन्दर रख देना चाहिये।

शल्यकर्म के समय मूर्च्छा से रक्षा।

इसके लिये सर्वोत्तम साधन उष्णिमा है। शल्यकर्म के क्षेत्र को छोड़कर रोगी को कम्बलों से ढांप देना चाहिये। शिशुवों की अवस्था में रूई से लपेट कर पट्टी बांध देनी चाहिये। यदि सम्भव हो तो रोगी के समीप गरम पानी से भरी रबर की बोतलें रख देनी चाहियें। बोतलों में न तो बहुत गरम पानी होना चाहिये और न उनको त्वचा के समीप ही रखना चाहिये।

संज्ञालोप।

इस का वर्णन पृथक् ही अध्याय में करना उत्तम होगा।

मृदुता।

शल्यकर्म में मृदुता नितान्त आवश्यक है। तन्तुवों को बलपूर्वक काटना, कुचलना या तोड़ना नहीं चाहिये। कई बार मूर्च्छा का कारण बलप्रयोग ही होता है।

उपाचरेद् भिषक् प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनवर्त्तिजैः॥

(४) शिरस्युपहते शल्ये वालवर्त्ति प्रवेशयेत्।
वालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुंगं प्रयात्स्रवेत्॥

(५) तिलसर्पिर्मधुप्रगाढामौषधयुक्तां वर्त्ति प्रणिदध्यात्॥

चौथा प्रकरण।

पश्चात्कर्म।

रोगी का बिस्तर।

व्रणे श्वयथुरायासात्स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वप्नात् ताश्च मृत्युश्च मैथुनात्॥ सुश्रुत.

जब तक रोगी शल्यकर्म के फलक पर हो तब तक उस के स्वागत के लिये शय्या* तैय्यार कर लेनी चाहिये। यह बिस्तर अवस्थाओं के अनुसार होना चाहिये। अर्थात् सर्दियों में पर्याप्त गरम होना चाहिये। रबर की बोतलें यदि रखनी हों तो बड़ी सावधानी से रखनी चाहियें। कारण—कई बार इन के कारण मनुष्य जले देखे गये हैं। बड़े २ शल्यकर्मों में वस्ति भाग के नीचे बिस्तर पर एक गज़ चौड़ी चादर इस प्रकार बिछा देनी चाहिये जो कि बिस्तर के दोनों पार्श्वों में लटकती रहे। मूत्रमार्ग के शल्यकर्म में इस चादर के नीचे मोमजामे का टुकड़ा बिछा देना चाहिये। और जब मूत्र लगातार बहता हो तो पर्याप्त शोषक प्लोत रख देना चाहिये।

शल्यकर्म के पश्चात् की चिकित्सा।

यदि रोगी पूर्णतः संज्ञानाशक औषध से स्वस्थ न हुआ हो, तो उसको बैठने नहीं देना चाहिये। यही प्रक्रिया अधिक रक्तस्राव की अवस्था में काम में लानी चाहिये। कोष्ठ भित्ति के शल्यकर्म में रोगी को यथासम्भव शीघ्र बिठा देना चाहिये जिस से कि बस्ति और पार्श्वों से द्रव, प्रक्षालन नलिका द्वारा

---

* (१) तस्मिन् शयनमसम्बाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं कुर्वीत।
(२) सुखचेष्टाप्रचारः स्यात् स्वास्तीर्णे शयने व्रणी।
प्राच्यां दिशि स्थिताः देवाः ·· ·· । सुश्रुत.

जो इस कार्य के लिये ही लगाई गई है, सुगमता से निकल जाये।

मूर्च्छा* ।

मूर्च्छा का कारण वातनाड़ियों को गति देनेवाले (वैसो-मोटर) संस्थान की उत्तेजना है । जो कि तन्तुओं में समाप्त हुए वातनाड़ियों के प्रान्तों के आघात का परिणामस्वरूप होती है । इस से केशिकाओं में रक्तवृद्धि होजाती है, जिससे कि रक्त संस्थान में रक्त घट जाता है ।

मूर्च्छा का कारण हृदय और श्वास का "सुपीरियर लैरिञ्जियल नर्व" की उत्तेजना से प्रत्यावर्तित इनहिबिशन है अथवा रक्त का कम होना है ।

मूर्च्छा की सब से बड़ी पहिचान ।

अत्यन्त पाण्डुता, पतली परन्तु तीव्र नाड़ी, तेज़, अनियमित गाता हुआ श्वास, अति उदासी और अचेतनता है ।

चिकित्सा में यथासम्भव ऐसा यत्न करना चाहिये जिस से कि रक्त का दबाव बढ़े और वैसोमोटर सिस्टम को अधिक मात्रा में रक्त पहुंच सके । इस के लिये बिस्तर की पांयत ऊंची उठा देनी चाहिये । तीव्रावस्थाओं में भुजाओं और टांगों पर पट्टी बांध देनी चाहिये । रोगी के शरीर को गरम बोतलों एवं कम्बलों से गरम रखना चाहिये । शिरावेध द्वारा (इन्टरावीनस) नमक का गरम घोल (सैलाइन इन्फ्यूज़न) अथवा गोंद का घोल (गम सौल्युशन) देना चाहिये । ऐड्रेनलीन क्लोराईड ($\frac{1}{1000}$ का घोल) रक्त के दबाव को बढ़ाता है । परन्तु इस का प्रभाव कुछ ही काल तक रहता है । "पिचुटरी एक्सट्रैक्ट" रक्त के दबाव को बढ़ाता है । परन्तु

---

* क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
विघातादभिघाताद्वा हीनसत्वस्य वा पुनः ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषाः तदा मूर्च्छति मानवः ॥

सब से उत्तम नमक का घोल है। इस का प्रभाव देर में होता है, परन्तु होता स्थायी है*।

दर्द।

यथा सम्भव दर्द के कम करने का यत्न करना चाहिये। यदि दर्द बहुत हो तो मौरफिया $\frac{1}{4}$ ग्रेन और ऐट्रोपीन $\frac{1}{150}$ ग्रेन को सूचीवेध द्वारा देना चाहिये। इस में ऐट्रोपीन वमन को रोकती है। यदि दर्द बहुत न हो और अफीम न दे सकें तो 'एस्पिरीन" दस ग्रेन की मात्रा में प्रत्येक तीन या चार घंटे के अन्तर से देना चाहिये अथवा फिनैसिटीन पांच ग्रेन की मात्रा में देकर देखना चाहिये। पट्टी का कसकर बांधना भी रोगी में बेचैनी-दर्द† उत्पन्न कर देता है। अतः इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। अधोभाग के प्रत्येक शल्य कर्म में निचले भाग को तकिये से ऊंचा कर देना चाहिये। बिस्तर के कपड़ों का बोझ प्रतीत हो तो लाठी का उपयोग करना चाहिये।

निद्रानाश।

यदि उपरोक्त साधनों से दर्द हट जाये तो साधारणतः निद्रानाश के लिये औषध की आवश्यकता नहीं होती। कारण—निद्रा नाश का मुख्य कारण प्राय दर्द होता है। परन्तु यदि दर्द के कारण नींद नहीं आती हो उसको हटाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये‡। जब कुछ दर्द हो तो

---

* (१) शीतलेन जलेनैनं मूर्च्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्च तम्॥
(२) ततः शस्त्रमवचार्य शीताभिरद्भिरातुरं प्रश्वास्य ....।

† (१) गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च।
(२) पीडयत्ररुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः।
नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः॥
(३) अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिरसृक् प्रसादो मार्दवं च।

‡ (१) निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाऽबलम्॥ चरक.

'ट्रायोनल' और एस्प्रिन प्रत्येक २० ग्रेन अथवा पोटासियम ब्रोमाइड और क्लोरल प्रत्येक २० ग्रेन अफीम के टिंचर के साथ या इसके बिना देना चाहिये। यदि "वैरोनल" या "सल्फोनल" का उपयोग करना हो तो प्रथम एक ग्रेन की मात्रा में और दूसरी को आधी ग्रेन की मात्रा में प्रत्येक आधे घण्टे से ५ ग्रेन की मात्रा तक देनी चाहिये। कई रोगियों में पैरिलडिहाईड (दो ड्राम मात्रा में) ने उत्तम फल दिखाया है।

यदि रोगी रात्रि में जाग जावे और फिर न सोये एवं दर्द न हो तो गरम दूध का गिलास पीने को देना चाहिये।

प्यास।

कोष्ठ के शल्यकर्म में रोगी को पर्याप्त पानी पीने के लिये देने से प्यास हट जाती है। उदर के छेदन में (लैपैरोटौमी) पानी आमाशय में पहुंच कर आध्मान उत्पन्न कर देता है। जो कि प्यास से भी बुरा है। अतः ऐसी अवस्था में नमक के पानी को गुदा से देना चाहिये। आंतों को खोलने से पूर्व मुख द्वारा पर्य्याप्त पानी पिला देना चाहिये।

आनाह एवं आध्मान।

यदि शल्यकर्म के अड़तालीस घण्टे बाद रोगी को मल-त्याग हो जाये तो उत्तम है। इस के लिये रोगी को पर्याप्त नमकीन पानी (एपीरियण्ट) देना चाहिये। युवाओं के लिये कैलोमल (१ से २ ग्रेन) और शिशुओं के लिये "ग्रे पाऊडर" उत्तम रेचक है। प्रथम से यदि शूल उत्पन्न हो तो नहीं देना चाहिये। प्रातः सौल्ट की मात्रा देनी चाहिये।

---

(२) सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः।
आश्वासयन्तो बहुशः स्वनुकूलाः प्रियंवदाः।

(३) या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरा प्रदुनोति सम्यक्।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन॥

कोष्ठ के शल्यकर्मों में जहां आध्मान के कारण बेचैनी हो वहां साबुन और पानी की वस्ति देनी चाहिये। यदि आध्मान अधिक ही हो तो तारपीन की वस्ति ($\frac{1}{2}$ से १ औन्स तारपीन स्टार्च-निशास्ते के साथ मिलाकर) देनी उत्तम है। वायु की आपत्ति दूर करने के लिये गरम पानी में एक औन्स पीपर-मैन्ट का पानी मिलाकर धो डालना चाहिये।

यदि मलबन्ध बहुत ही हो तो वस्ति देने से चार घण्टा पूर्व ज़ैतून का तेल (औलिव औयल=४ औन्स) और एरण्ड तैल (दो औन्स) गुदा में पिचकारी से देना चाहिये।

मूत्र।

शल्यकर्म के पश्चात् मूत्राशय के खाली होने का पूर्ण निश्चय कर लेना चाहिये। जब तक अनिवार्य न हो मूत्र शलाका † (कैथेटर) प्रविष्ट नहीं करनी चाहिये। यदि रोगी मूत्र न कर सके तो वस्ति देनी चाहिये। जिससे मल त्याग के साथ मूत्र भी आ जायगा। बस्तिप्रदेश पर सेक भी उत्तम फल प्रद है। यदि यह सब निष्फल हों तो मूत्रमार्ग में ग्लिसरीन (५ सी. सी.) प्रविष्ट कर पीठ के भाग को अष्ठीला (मूत्र-ग्रन्थि-प्रौस्टेट) की तरफ़ मलना चाहिये। परन्तु जब यह भी निष्फल हो जाये तो मूत्र शलाका का उपयोग करना चाहिये।

वमन।

साधारणतः संज्ञालोप की वमन स्वयं बन्द हो जाती है। यदि वमन आती जाये तो बहुत से पानी में सर्जक्षार (सोडा बाईकार्ब) घोलकर पीने को देना चाहिये। यह पानी कुछ ही समय में आमाशयिक श्लेष्मा के साथ बाहर आ जायेगा। जब यह भी उपाय असफल हो तो औषधियों का उपयोग करना चाहिये। यथा सीरियम औक्ज़ेलेट (दस ग्रेन) प्रत्येक

---

† कनीनीमध्यमानामिनखमानसमैः मुखैः।
स्वं स्वं युक्तानि यंत्राणि मेवृशुद् व्यञ्जनादिषु।' वाग्भट्ट.

दो घण्टे के अन्तर से देना चाहिये। अथवा—

सोडियम बाई कार्बोनेट ग्रेन २०

एसिड हाईड्रोस्यानिक डाइल्यूट मिनिम ६

स्प्रिट अमोनिया एरोमैटिक ,, १५

पानी इतना मिलाना जिससे एक औन्स हो जाये।

इसको प्रत्येक चार घण्टे के अन्तर से देना चाहिये।

और यदि वमन अब भी होती रहे तो मुख से सब भोजन बन्द करके केवल बर्फ चूसने को देनी चाहिये। अथवा पानी घूंट २ करके पीने को देना चाहिये। यदि इन सब उपायों से वमन शान्त न हो और पित्त आता दिखाई देवे तो आमाशय को आमाशय-प्रक्षालन-नलिका (स्टमक ट्यूब) से धो देना उत्तम है। अथवा वमन बन्द करने के लिये आमाशय के ऊर्ध्व भाग (एपीगैस्ट्रीयम) पर राई का लेप करना चाहिये।

हिक्का।

यदि यह थोड़ी हो जो कि आमाशय के विक्षोभ या फैलाव के कारण होती है तो लौंग के तेल (औयल औफ़ क्लोव्ज़) या काजपुट के तेल को बूंदों की मात्रा में देने से रुक सकती है। अथवा प्रत्येक तीन घण्टे के अन्तर से कोकेन की टिकड़ी ($\frac{1}{12}$ ग्रेन , चूसने को देनी चाहिये। यदि हिक्का बनी रहे (यथा पर्य्यावरण शोथ में) तो बड़ी मात्रा में क्लोरल और ब्रोमाईड, मौर्फिया देना चाहिये।

भोजन।

शल्यकर्म के बाद ही जो भोजन अन्न प्रणाली को विक्षोभित करने वाला न हो देना चाहिये। परिशिष्ट के शल्यकर्म में जब तक मल त्याग न हो तब तक भोजन हलका (दूध-तक्र) देना चाहिये। आमाशय के शल्यकर्म में प्रथम चौबीस घंटे में पानी बहुत थोड़ा देना चाहिये। एल्ब्युमन वाटर प्रत्येक आधे घंटे के अन्तर से प्रथम छः घंटों तक, दूसरे छैः घंटे में एक

ड्राम एल्ब्यूमन वाटर और एक ड्राम दूध प्रत्येक आधे घंटे के अंतर से, एवं ४८ घंटे के अन्दर इसको बढ़ाकर प्रत्येक की आधे औंस की मात्रा तक पहुंचा देना चाहिये।

यदि शल्यकर्म के पश्चात् वमन कष्टदायक हो तो प्रत्येक आधे घंटे के अन्तर से 'एल्ब्यूमन वाटर' ड्राम की मात्रा में देकर पीछे से पूर्व पाचित दूध (पैप्टोनाईज्ड मिल्क) देना चाहिये *।

यदि शल्यकर्म मुख, आस्य, जिह्वा का हो तो व्रण को भोजन द्वारा संक्रान्त होने से बचाना चाहिये। इसके लिये भोजन आमाशय में एक शलाका यंत्र द्वारा (कमल की नाल†) अथवा मूत्रशलाका (कैथेटर) द्वारा—जिसमें पीक (फ़नल) लगी हो तो उसके द्वारा पहुंचाना चाहिये। रोगी की नासिका में शलाका यन्त्र प्रविष्ट करके भोजन देना निष्फल है।

पोषकवस्ति।

इस की तब आवश्यकता होती है, जब कोई भी भोजन मुख द्वारा न दिया जा सके। कुछ चिकित्सक चार से छः घंटे के अंतर से ८ से १० औंस की मात्रा में 'ग्लूकोज़ सैलाईन' देना उत्तम समझते हैं। और दूसरे चिकित्सक ३ औंस पूर्व पाचित दूध और ½ औंस ब्राण्डी (मद्य) के साथ एक अण्डे की ज़र्दी को वस्ति द्वारा (यौक औफ़ एन ऐग) देना उचित समझते हैं।

---

* (१) जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम्।
भुञ्जानो जांगलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति॥

(२) सक्तून् विलेपीं कल्माषं जलं चापि शृतं पिबेत्।

(३) तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्गः प्रकीर्त्तितः।
दोषसंजननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः॥

(४) मद्यमम्लं तथा रूक्षं तीक्ष्णमुष्णं च वीर्यतः।
आशुकारि च तत्पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद् व्रणम्॥

† उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते।

उत्तेजना ।

यदि हृदय की गति मन्द हो रही हो तो "डिजिटेलीन" [१० बूंद] मांस पेशी में सूचीवेध द्वारा देने पर कई रोगियों में उत्तम लाभ करता है । कुछ चिकित्सक अलकोहल को उत्तम समझते हैं । यदि ओषजन वाष्प के रूप में मुख और नाक पर फैंकी जाये तब भी रोगी को उत्तेजना मिलती है । "कैम्फ़र ऑयल" का भी प्रयोग कर के देखना उत्तम है । ' स्ट्रिकनीन" के प्रभाव में अभी सन्देह है ।

फुप्फुस के उपद्रव ।

साधारणतः संज्ञालोप के पश्चात् फुप्फुस के उपद्रव हो जाते हैं । प्रायः यह कोष्ठ के ऊपर के भाग के (आस्य और मुख के) शल्य कर्म में होते हैं । इन में कास सब से मुख्य है । कई वार "लोबर न्यूमोनिया" भी देखा गया है । यदि श्वासप्रणाली में संक्रान्त रक्त या पूय चली जाये तो ' सैप्टिक न्यूमोनिया" उत्पन्न हो जाता है ।

"मैसिव कोलैप्स" जो कि ' ब्रौंकस" के श्लेष्मा द्वारा अवरुद्ध होने पर या फेफड़े की शोथ का परिणाम होती है. उत्पन्न हो जाती है । कई वार [बहुत कम] फुप्फुस में शिरारोध [पल्मनरी एम्बोलिज़म] उत्पन्न हो जाता है । जो कि श्वास में काठिन्य, तथा नीलिमा उत्पन्न कर के अन्त में मृत्यु का कारण बनता है ।

थ्रौम्बोसिस ।

टांगों में थ्रौम्बोसिस होने का पूर्ववर्त्ती कारण शिराओं में रक्तावरोध (शिरा प्रतान) है । और संनिकृष्ट कारण " बैसिलस कोलाई " (बृहदांत्र में रहने वाला कृमि) है । यह अवस्था प्रायः अधोकोष्ठ के निचले भाग के शल्य कर्म में उत्पन्न होती है, विशेषतः यदि व्रण संक्रान्त हो । थ्रौम्बोसिस के कारण ज्वर होने के साथ रोग के स्थान पर कण्डू होती है । समीपवर्त्ती

तन्तु शोथ युक्त होकर कठोर हो जाते हैं। इस रोग के होने पर अंग की गतियां रोक देनी चाहिये। जिससे जमा हुआ रक्त का चक्का (क्लौट) टूट कर शिरा द्वारा फेफड़ों में पहुंच न सके। स्थानिक त्वचा पर ग्लिसरीन और पेट्रोपीन [अथवा बैलोडोना ग्लिसरीन या एक्सट्रैक्ट बैलोडोना लिक्विड] लगाकर गरम सेक करना चाहिये। रोग के स्थान २ पर पृथक् २ पट्टियां बांध देनी चाहिये। बिस्तर के वस्त्रों के भार से अंगों को बचाने के काठी का उपयोग करना चाहिये।

यदि चक्का शिरा में तेजी से जा रहा हो एवं पूय बन रही हो तो स्वस्थ शिरा भाग पर बन्धन बांध देना चाहिये। और यदि पूय हो तो खोल देनी चाहिये।

जन्तुघ्नों से विष।

प्राय: कई बार जन्तुघ्न घोलों, चूर्णों या प्रलेपों से विष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—

(१) कार्बौलिक एसिड—इससे मूत्र काला आने लगता है। इसके विष का मुख्य लक्षण न रोके जाने वाली वमन का होना है। मांस पेशियों में कम्पन, मूर्च्छा और कभी २ मृत्यु भी हो जाती है।

(२) परक्लोराईड औफ़ मर्करी – इसके कारण कोष्ठ फैल जाता है, अति मात्रा में अतिसार जिसमें कभी २ रक्त भी होता है, एवं थकान-श्रान्ति से मृत्यु होती है।

(३) आयडोफार्म—इससे वमन ज्वर प्रलाप और कभी २ त्वचा पर दाने (कोठ) निकल आते हैं। ऐसी अवस्था में चूर्ण वा घोल एकदम बन्द कर देना चाहिये। और यदि गुहा में आयडोफार्म डाला गया हो तो एक दम हटा देना चाहिये। साथ में रोगी की शक्ति का ध्यान रखते हुए मूर्च्छा की चिकित्सा करनी चाहिये।

डिलीरीयम ट्रिमन्स ।

जिस व्यक्ति का वातसंस्थान मद्यपान से निर्बल हो गया है, एवं साथ में अनिद्रा और विक्षोभक लक्षण होते हैं, उस पर यदि अचानक कोई घटना घटती है, अथवा कोई शल्य-कर्म किया जाता है तो उसकी अवस्था को यह नाम दिया जाता है। निद्रानाश, बिस्तर के चारों ओर भूत प्रेत की प्रतीति बिस्तर के वस्त्रों को तितर बितर करना, उठाना, फेंकना, चूंटना, पट्टी या फलकों को खींचना, खोलना, बिस्तर से उठकर भागना आदि लक्षण होते हैं। इसके साथ हाथों में कम्पन भी होता है। इस प्रकार के रोगी को अपने शरीर पर चोट पहुंचाने से बचाना चाहिये। इसके लिये उसे पट्टियों से बांध देना चाहिये अथवा उसके ऊपर चादर तान कर बांध देनी चाहिये। रोगी के पास एक परिचारक रखना चाहिये जो सदा उसकी रक्षा करता रहे। परन्तु तीव्र रोगियों के लिये यही उत्तम है कि उनको "स्ट्रेट जैकेट" पहना दी जाये, जिससे भुजाओं की रक्षा हो सके।

चिकित्सा के लिये रोगी को नींद लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये अहिफेन की अपेक्षा 'क्लोरल हाईड्रेट" उत्तम है। बीस ग्रेन क्लोरल हाइड्रेट समान मात्रा में ब्रोमाईड औफ़ पोटासियम के साथ एक दम दे देना चाहिये। और इस औषध की आधी मात्रा प्रत्येक चार या छः घण्टे के अन्तर से देते जाना चाहिये जब तक नींद न आवे। पोषक पदार्थ द्रव के रूप में पर्य्याप्त देना चाहिये। परन्तु उत्तेजक पदार्थ कोई नहीं देना चाहिये।

आचारिक का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह रोगी का कुछ दिनों तक विशेष ध्यान रक्खे। कहीं व्रण संक्रान्त व्रण में तो नहीं बदल रहा। यदि शल्य कर्म के कुछ ही घण्टों बाद पट्टी के ऊपर रक्त का थोड़ा धब्बा दिखाई देवे तो पट्टी सम्पूर्ण

बदल देनी चाहिये। एवं रूई और कवलिका (गौज़) अधिक मात्रा में बाहर रख देना चाहिये। यदि स्राव की मात्रा अधिक हो तो नये सिरे से पट्टी बांधनी चाहिये।

तापपरिमाण।

प्राय: सब शल्यों के पीछे तापपरिमाण बढ़ जाता है। प्राय: यह शोथ के स्राव के विलीन होने से होता है। जो कि बड़े व्रणों में छोटों की अपेक्षा अधिक होता है। प्राय: ताप परिमाण ९९° और १००° फारनाहिट के बीच में रहता है। यह तापपरिमाण अगले सायंकाल तक बढ़कर १००° से १०१° फारनाहिट हो जाता है। अगले दिन अभिघात जन्य ज्वर के सब लक्षण घट जाते हैं। रोगी अपने आप को स्वस्थ अनुभव करने लगता है। व्रण भी अच्छा होने लगता है। जो व्रण संक्रमण रहित होगा उसमें *दर्द नहीं होगी। परन्तु यदि दौर्भाग्य से व्रण संक्रान्त हो जाय तो उसका रास्ता दूसरा ही होता है। और यदि ज्वर केवल अभिघात जन्य ही हो तो तापपरिमाण लगातार बढ़ता जाता है। रोगी जहां व्रण में दर्द की शिकायत करता है वहां अपने को अस्वस्थ भी अनुभव करता है। यह लक्षण प्राय: उन अवस्थाओं में मिलता है जहां स्राव के निकलने का कोई प्रबन्ध न किया गया हो। वास्तव में यह एक चेतावनी है कि व्रण संक्रान्त हो रहा है। अत: विष की मात्रा बढ़ने से पूर्व ही प्रतिकार करना चाहिये।

---

* (१) अल्पबाधमशूनं च नीरुजं निरुपद्रवम्।

(२) जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णः विगतवेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्च शुद्धो व्रण इति ॥

(३) त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावोष्णपिटिकासमः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥

व्रण की पीछे से चिकित्सा ।

इस में निम्न तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। यथा—

(१) विश्राम *—रोग की तीव्रावस्था में रोगी को बिस्तर पर रखना चाहिये। साधारणावस्था में उसे कार्य से सर्वथा रोक देना चाहिये (यदि आवश्यकता हो तो " स्लिंग " (गलवस्त्र) का उपयोग करना चाहिये।

(२) स्वच्छता—इसके लिये सब कार्य चिकित्सक को स्वय देखने चाहियें।

(३) स्वभाव †—इसके लिये रोगी को आचारिक रोगी गृह में अपनी दृष्टि में रखे।

यदि प्रथम पट्टी को बिगाड़ा न जाये या वह स्वयं न बिगड़े तो रोगी की सातवें या आठवें दिन स्वस्थ होने की आशा की जाती है। विशेषतः जब इसमें दर्द, शूल या ज्वर की कोई शिकायत न हो। परन्तु यदि स्राव बहुत हो तो शल्यकर्म के दूसरे दिन पट्टी बदल देनी चाहिये। यदि व्रण में नली का उपयोग किया गया हो और यह आशा हो जाये कि अब व्रण संक्रान्त नहीं होगा, तो नली निकाल देनी चाहिये। यदि सब अवस्थायें उत्तम हों तो पट्टी उसी दिन खोलनी चाहिये (अर्थात् आठवें दिन) जिस दिन टांके काटे जांये।

टांके काटने का कर्म यदि उचित रीति से किया जाये तो रोगी को कष्टदायक नहीं होता। टांकों को मध्य में से संदंश द्वारा उठाकर कैंची से काट देना चाहिये। और फिर खींच

---

* (१) उत्थान-संवेशन-परिवर्त्तन-चंक्रमण-उच्चैर्भाषणादिषु चात्मचेष्टासु अप्रमत्तः व्रणं संरक्षेत् ॥

(२) स्थानासनं चंक्रमणं यानायान तिभाषणम् ।
व्रणवान्न निषेवेत शक्तिमानपि मानवः ॥ सुश्रुत.

† ततः कृतरक्षमातुरमागारं प्रवेश्याचारिकमादिशेत् ॥ सुश्रुत.

लेना चाहिये। प्रायः दर्द टांकों को ऊंचा उठाते समय होती है। टांकों को ऊंचा इस लिये करते हैं कि कैंची की नोक को इनके नीचे से गुज़ार कर गांठ को काट दिया जाये। कई बार टांकों के किनारे तेज़ होने से कष्ट देते हैं। गांठ को व्रण के मुख पर बांधना चाहिये। जिससे संदंश से पकड़ कर उठाने में स्पष्ट दीख सकती है। गांठ को कैंची से काटकर धागों को व्रण की दिशा में खींच लेना चाहिये।

यदि पट्टी बांधते समय व्रण के संक्रान्त होने का सन्देह या भावी में भय हो अथवा स्राव अधिक हो तो नलिका को लगा रहने देना चाहिये, जब तक कि सन्देह दूर न हो जाये। परन्तु यदि व्रण बन्द हो जाये और नली हटा दी गई हो और पूय आने लगे तो चिकित्सक को चाहिये कि परीक्षा करे। दूसरे दिन यदि तापपरिमाण गिर जाये और दर्द शान्त हो जाये तो यह समझ लेना चाहिये कि सब ठीक है। परन्तु यदि इस से विपरीत अवस्था हो अर्थात् तापपरिमाण बढ़ रहा हो एवं दर्द हो तो व्रण की परीक्षा करनी चाहिये। इसके लिये किनारों को देखना चाहिये—वे सूजे हुए तो नहीं, उन पर स्राव लगा हुआ तो नहीं। कई बार द्रव स्राव के कारण ही भयानक लक्षण हो जाते हैं।

यदि स्राव थोड़ा हो तो उसे विलीन होने के लिये वहीं छोड़ देना चाहिये। परन्तु यदि स्राव अधिक हो तो एषणी (साइनस फौरसैप्स) पर आयोडीन लगाकर स्राव के बहने के लिये सब स्थान को खोल* देना चाहिये।

कई बार गम्भीर स्थानों में पूय नीचे रह जाती है और उपरि पृष्ठ स्वस्थ हो जाता है ऐसी अवस्था में लगातार दर्द का बना रहना, दबाने से दर्द का बढ़ना, चिकित्सक के संदेह

---

* एषण्या गतिमन्विष्य यथामार्गं चिकित्सकः।
प्रसाराकुञ्चनं नूनं······ ··· ·॥

करने के लिये पर्य्याप्त कारण* है, विशेषतः यदि ताप-परिमाण कुछ भी बढ़ा हुआ हो। सन्देहावस्थाओं में व्रण की प्रतिदिन परीक्षा करनी चाहिये। जब भी निश्चय हो जाये उसी समय छेदन करके पूय निकाल देनी चाहिये। एवं प्रक्षालन नलिका का उपयोग करना चाहिये। तापपरिमाण का बने रहना या बढ़ना और स्थानिक चुभती दर्द तीव्र संक्रमण का सूचक है। जिस का निश्चय व्रण स्वयं कर देता है। ऐसी अवस्था में त्वचा को हटा कर व्रण का मुख चौड़ा करके व्रण को पिचु द्वारा भर देना चाहिये†।

यदि व्रण के ओष्ठ आपस में न मिलें तो व्रणतल (अन्तः पृष्ठ) निचली स्तर से दानों की रचना में भरना आरम्भ करेगा‡। ऐसी अवस्था में इस को गीले पिचु से भरना§ चाहिये। जो कि प्रति दिन बदल देना चाहिये। और इस बात

---

* (१) न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्।
स ह्यल्पेनाप्यपचारेणाभ्यन्तरमुत्संगं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति॥
(२) शोथपाकौ रुजश्चोग्रा, कुर्याच्छल्यमनिर्हृतम्॥

† (१) एकेन वा व्रणेनाशुध्यमानेन नान्तरा बुद्ध्याऽवेक्ष्यापरान्व्रणान् कुर्यात्॥
(२) यतो यतो गतिं विद्यात् उत्संगो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात् यथा दोषो न तिष्ठति॥

‡ कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेद वर्जिताः।
स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत्॥

§ (१) ततो मधुघृतेनाभ्यज्य पिचुप्लोतयोरन्यतरेणावगुण्ठ्य ····
(२) आमतैलपरिषेकं त्रिरात्रमवचारयेत्।
ततस्तैलेन संसृष्टं त्र्यहादपनयेत् पिचुम्॥
तैल या घृत में भीगा पिचु स्निग्ध होने से जहां शुष्क नहीं होता वहां कृमि संक्रमण को भी रोकता है। स्निग्ध होने से कृमि इस में गति नहीं कर सकते।

का यत्न करना चाहिये कि जब तक व्रण का अन्तः पृष्ठ न भर जाये ऊपर के ओष्ठ आपस में न मिलें। अन्यथा नाड़ी व्रण उत्पन्न हो जायेगा*। जब स्राव की अवस्था बन्द होजाये और व्रण दानों से भर जाये तब इस बात का यत्न करना चाहिये कि व्रण के किनारे पास २ आ जायें। इस के लिये या तो सी देना चाहिये अथवा चिपकने वाली पट्टी से (स्ट्रैपिंग) जोड़ देना चाहिये।

स्ट्रैपिंग के लिये एड्हैसिव प्लास्टर का उपयोग करना चाहिये। यह इतना बड़ा काटना चाहिये जिस से कि व्रण के वास्तविक स्थान से ३—४ इञ्च की दूरी तक आ जाये। परन्तु ओष्ठ दाली (हेयर लिप) आदि रोगों में जहां खिंचाव चाहिये वहां अमरीकन रबर प्लास्टर' का उपयोग करना चाहिये। इस के किनारे व्रण के वास्तविक भाग से अधिक चौड़े होने चाहिये। इस के ऊपर पानी का प्रभाव नहीं होता। भुजाओं या गालों के व्रण की अवस्था में आपस में काटते हुवे (×) प्लास्टर लगाने चाहियें। ये प्लास्टर पर्य्याप्त लम्बे होने चाहियें।

कोष्ठ के लम्बे छेदन, जो कि शल्य कर्म के समय टांकों से जोड़े गये हैं, टांकों के काटने पर प्लास्टर से जोड़ देने चाहियें—जिससे पृथक् न हो सकें।

शल्यकर्म के पश्चात् ड्रैसिंग।

शल्यकर्म के पश्चात् पट्टी लगाने की तिथि व्रण के स्वभाव पर निर्भर है। अर्थात् व्रण संक्रान्त हुआ है या नहीं, व्रण में प्रक्षालन नलिका रक्खी गई है वा नहीं, व्रण के सिरे सीए

* (१) स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमपक्वमिति मन्यमानः चिरमुपेक्षितं व्याधिं वैद्यः तदा गम्भीरानुगतां द्वारमलभमानः पूयः स्वाश्रयमवदीर्योत्संगं महान्तमवकाशं कृत्वा नाड़ीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवति असाध्यो वा॥

गये हैं वा नहीं; और व्रण में पिचु रक्खा गया है वा नहीं। व्रण की जितनी कम पट्टी की जाये उतना उत्तम है। साथ में ताप-परिमाण साधारण रहना चाहिये। परन्तु यदि स्राव से पट्टी खराब हो रही हो तो पहले या दूसरे दिन अवश्य ही बदल देनी चाहिये। यदि पिचु या प्रक्षालन नलिका का उपयोग किया गया हो तो ४८ घण्टे में पट्टी बदल देनी चाहिये। कुछ चिकित्सक दूसरे दिन दो बार पट्टी बदलते हैं। यह तब अवश्य करना चाहिये जब स्राव अधिक हो और व्रण शुष्क न* होता हो। दूसरे चिकित्सक केवल एक ही पट्टी से व्रण को अच्छा करते हैं। जब तक कोई विशेष घटना नहीं घटती वे पट्टी नहीं खोलते†। और अन्त में आठवें या दसवें दिन जब टांके काटते हैं तो उसी दिन पट्टी बदलते हैं।

सहायक को पट्टी बदलते समय पट्टियां टुकड़ों के रूप में काट देनी चाहियें। और शेष निचला ड्रेसिंग चिकित्सक को स्वयं हटाना चाहिये, इस में हाथ पूर्ण स्वच्छ होने चाहियें। यदि पट्टी कठोर हो गई हो तो उसे गरम पानी

---

* (१) अतिपातितरोगेषु नेच्छेद् विधिमिमं भिषग्।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम् ॥

(२) अतः ऊर्ध्वं देशकालबलादीनवेक्ष्य कषायलेपबन्धाहाराचारान्विदध्यात् ॥

† (१) ततस्तृतीयेऽहनि विमुच्यैवं बध्नीयात् वस्त्रपट्टेन । न चैनं त्वरमाणोऽपरेद्युः मोक्षयेत्। द्वितीयदिवसे परिमोक्षणात् विग्रथितो व्रणश्चिराद् उपसंरोहति–तीव्ररुजश्च भवति ॥

(२) हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोक्षयेत्।
त्र्यहाद् त्र्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान् ॥
तत्र पैत्तिके शरदि ग्रीष्मे द्विरह्नो बध्नीयात्। रक्तोपद्रुतमप्येवम्।
श्लैष्मिकं वसन्तहेमन्तयोस्त्र्यहात्। वातोपद्रुतमप्येवम् ॥

से तर करना चाहिये । संदंश के द्वारा 'ड्रैसिंग' टुकड़े २ करके थोड़ा २ उतारना चाहिये । और जो ड्रैसिंग व्रण के किनारों के साथ लगा हो उसके हटाने में विशेष सावधानी रखनी चाहिये । इस के उतारने में कभी भी बल प्रयोग नहीं करना चाहिये । अन्यथा दानों के टूट जाने से रक्तस्राव आरम्भ हो जायेगा । इसके लिये उसको तर करके व्रण के पास से पकड़ कर व्रण की ओर खींचना चाहिये व्रण से दूर नहीं ।

व्रण गुहा को अब साफ करके प्रक्षालन नलिका हटाकर उबाल कर फिर लगा देनी चाहिये । अथवा (व्रण के स्वभाव के अनुसार) सर्वथा हटा देनी चाहिये । यदि व्रण संक्रान्त न हो रहा हो तो शल्यकर्म के दूसरे या तीसरे दिन नलिका निकाल कर नई पट्टी शल्यकर्म के समान किये गये ड्रैसिङ्ग की भांति फिर लगा देनी चाहिये ।

यदि टांके बहुत गहरे हों और उनके कारण दबाव पड़ रहा हो-यथा छाती के अर्बुद (कार्सिनोमा) को हटाने से अथवा कोष्ठ के शल्यकर्म में-तो पट्टी सातवें या आठवें दिन बदलनी चाहिये । उस समय ये टांके हटा देने चाहियें । अन्यथा व्रण उत्पन्न कर देते हैं । परन्तु यदि कोई गहरे टांके नहीं तो दसवें दिन से पूर्व पट्टी नहीं बदलनी चाहिये । कुछ चिकित्सक जन्तुघ्न या जन्तु रहित ड्रैसिंग * पसन्द करते हैं और दूसरे रूई और कोलोडियम की पट्टी पसन्द करते हैं ।

---

* (१) तत्र घनां कवलिकां दत्वा वामहस्तपरिक्षेपमृजुमनाविद्धमसंकुचितं मृदुपट्टं निवेश्य बध्नीयात् ।

(२) यथा च बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः ।
घनां कवलिकां दत्वा मृदु चैवापि पट्टकम् ॥

(३) विकेशिकामौषधं च नातिस्निग्धं समाचरेत् ।
यथा व्रणं विदित्वा तु योगं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥

कोष्ठ के व्रण का फटना ।

यह घटना कभी टांकों के काटने से पूर्व या कभी काटने के बाद हो जाती है । इसकी पहिचान पट्टी के स्राव से भीगने से हो जाती है । रोगी अनुभव करता है कि व्रण में कुछ हो गया है । परीक्षा करने से पता लगता है कि कोष्ठ के कुछ पदार्थ पृष्ठ पर आ गये हैं ।

ऐसी अवस्था में छेद को स्टरलाईज्ड अंगोछे (टावल) से ढांपकर रोगी को शल्य फलक पर ले जाना चाहिये । रोगी का संज्ञा लोप करके पुनः व्रण को सी देना चाहिये ।

संक्रान्त व्रण ।

परन्तु यदि दौर्भाग्य से व्रण संक्रान्त हो गया हो एवं किनारों पर सूजन आ गई हो और उपरोक्त ज्वर, दर्द आदि लक्षण * हों तो प्रतिकार करना चाहिये । इसकी चिकित्सा लक्षणों की तीव्रता पर निर्भर है । यदि लक्षण मृदु हो तो एक या दो टांके तोड़कर स्राव के निकलने का मार्ग बना देना चाहिये और जन्तुघ्न ड्रैसिंग कर देना चाहिये । ऐसी अवस्था † में पट्टी प्रतिदिन या दूसरे दिन बदल देनी चाहिये । परन्तु यदि स्राव भयानक ‡ हो तो या बिल्कुल बन्द हो गया हो तो नली या विकेशिका अथवा पिचु निकाल लेनी चाहिये । परन्तु यदि

---

* (१) तत्रातिसंवृतो पूतिपूयमांसपरिपूर्णः पूतिपूयस्रावी अमनोज्ञदर्शनगन्धो वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूदुष्टशोणितस्रावी दुष्टव्रणलिंगानि ॥

(२) अतिपातितरोगेषु नेच्छेद् विधिमिमां भिषक् ।
प्रतीक्षागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥

† अत ऊर्ध्वं दोषकालबलादीनवेक्ष्य कषायालेपबन्धाहाराचारान्विदध्यात् ।

‡ (१) पक्वाशयादसाध्यस्तु पुलकोदकसंनिभः ।

लक्षण बहुत ही तीव्र हों एवं स्ट्रैप्टोकोकाई या अन्य कृमि का विष प्रतीत हो तो व्रण को पुनः खोलकर तेज़ जन्तुघ्न कषाय से धो डालना चाहिये । फिर गीली विकेशिका से भरकर जन्तुघ्न पट्टी बांध * देनी चाहिये । परन्तु यदि स्राव बहुत दुर्गन्ध युक्त हो तो कई बार पट्टी बदलनी चाहिये । ऐसी अवस्था में कुछ चिकित्सक बोरिक फोमण्टेशन † (टंकणसेक) पसन्द करते हैं ।

मुख और आस्य के शल्यकर्म के पश्चात् की चिकित्सा ।

मुख और आस्य के शल्यकर्म के पश्चात् धात्री को आवश्यक है कि समय समय पर दिन में कई कई बार प्लोत से मुख को साफ़ करे । हल्के बनाये " हाई-ड्रोजन पर औक्साईड " में भीगी रुई से रोगी अपने मुख को बारबार साफ़ करता रहे । यदि मुख साफ़ होगा तो किसी प्रकार की बदबू नहीं आयगी। अन्यथा अस्वच्छता के कारण द्वितीय रक्तस्राव भी हो सकता है ।

कोलोडियन ड्रैसिंग ।

आंत्रवृद्धि या परिशिष्ट शोथ (उपांत्र शोथ) अथवा अन्य इस प्रकार के शल्य कर्मों में टांके तोड़ने के पश्चात् व्रण

• क्षारोदकनिभः स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात्स्रवन् ॥

(२) आमाशयात्कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसंधिजः ।
स्रावानेतान्परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरेद् भिषक् ॥

* न च विकेशिकौषधे अतिस्निग्धे अतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत । यस्मादतिस्नेहात् क्लेदो रौक्ष्याच्छेदो दुर्न्यासाद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति ॥

† (१) रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च ।
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्यवंविधा व्रणाः ।

(२) अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु....... .॥

के शीघ्र रोहण के लिये यह ड्रैसिंग किया जाता है। एक गौज़ के टुकड़े की चार या पांच तह बनाकर जो कि स्कार के चारों ओर एक २ इञ्च आ सके रख देना चाहिये । इसके ऊपर गौज़ की एक दूसरी तह जो कि इसके चारों ओर दो या तीन इञ्च बढ़ती हो " कोलोडियम " से स्थिर कर देनी चाहिये ।

कोलोडियम के स्थान पर " मैस्टिक " घोल भी उत्तम प्रकार से काम में ला सकते हैं। यह घोल निम्न प्रकार से बनाया जाता है ।

मैस्टिक—४ ग्राम एरण्डतैल—२० बूंद बैन्ज़ोल—६० सी.सी	मैस्टिक को एरण्डतैल में घोलकर छान लेना चाहिये। फिर इसमें बैन्ज़ोल इतना मिलाना चाहिये जिससे सब मिलकर १०० क्यूबिक सैन्टीमीटर हो जाये।

मूत्र का सुप्राप्यूबिक सिस्टौस्टोमी के पश्चात् नियमित करना ।

जब यह शल्यकर्म किया जावे तो मूत्रस्राव के लिये मूत्राशय में मूत्र शलाका (रबर की) लगा देनी चाहिये । परन्तु स्वयं रहने वाली मूत्रशलाका* (कैथेटर) उत्तम है। इस मूत्र शलाका को मूत्राशय में रखकर व्रण को चारों ओर से सी देना † चाहिये।

गुदा का भगन्दर ।

कई बार यक्ष्मा जन्य पर्य्यावरण शोथ (टयूबरकल पैरी-

---

* (१) यह डि पैज़र कैथेटर होता है।

† इस के लिये अन्य भी उपकरण बने हुवे हैं यथा—

(१) पैज़र सैल्फ़रिटेनिंग कैथेटर, (२) कोल्ट्स एपैरेटस फ़ौर सुप्राप्यूबिक ड्रेनेज औफ़ दी ब्लैडर, (३) कैथकार्ट्स एपैरेटस फ़ौर सुप्राप्यूबिक ड्रेनेज औफ़ दी ब्लैडर ।

टोनाइटिस) या अवरुद्ध-आन्त्रवृद्धि (स्ट्रैंग्युलेटिड हर्निया) के कारण कोष्ठ की भित्ति की त्वचा और सूक्ष्मांत्र में भगन्दर* हो जाता है । आंत्र के पदार्थ बहुत विक्षोभक होते हैं । ऐसी अवस्था में त्वचा पर बिस्मथ का प्रलेप लगाना चाहिये और शिशुओं की अवस्था में यदि सम्भव हो तो दिन के समय उनको टंकणोदक के टब में रखना चाहिये । आंतों के लगातार स्राव को मुख द्वारा बिस्मथ और अफ़ीम देकर नियमित करना चाहिये । कई रोगियों को लाइकर आरसनिक का उपयोग भी उत्तम होता है ।

कोलोस्टौमी ।

अतिपातित आंत्रावरोध को छोड़कर इस शल्यकर्म में तीन दिन बाद तक पट्टी को नहीं खोलना चाहिये यह आवश्यकता पट्टी खोलकर मल और वायु को निकालने की होती है । अतः इस शल्यकर्म के करने से पूर्व आंत्र स्वच्छ कर लेनी चाहियें । 'लूप' के काटने में दस दिन की देरी करनी चाहिये ।

रोगी को कोलोस्टोमी बैल्ट पहना देनी चाहिये । रोगी को चाहिये कि औषध द्वारा वह अपनी आंतों को नियमित रक्खे जिससे यह कार्य सुगमता से हो सके ।

शय्याव्रण ।

यथासम्भव इन के होने से रोगी को बचाना चाहिये । कारण—यदि ये एक बार हो जावें तो जब तक स्वस्थ नहीं होते रोगी आराम से नहीं लेट सकता । तनिक भी कठोरता

---

* (१) तेषु भगवद्गुदवस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते ।
अपक्वा: पिडिका:- पक्वास्तु भगन्दरा: ।

(२) गुदस्य द्व्यंगुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिटिकाऽऽर्त्तिकृत् ।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः ॥

या रक्तिमा जो त्रिक, एड़ी, कोहनी, नितम्ब पर हो उस पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। त्वचा का साबुन द्वारा रगड़ कर, साबुन को धोकर जलाने की शराब लगा देनी चाहिये। पीछे से यशद् भस्म और निशास्ता अथवा लोध्र एवं मुलहठी का चूर्ण लगाना चाहिये। यदि व्रण हो जायें तो यशद् प्रलेप में ब्राण्डी मिलाकर लगाना चाहिये। एवं स्थानों को दबाव से बचाना चाहिये, जो स्थान रगड़े जाते हों यथा—गुल्फ और एड़ी, उनको रूई से ढांप देना चाहिये। वायु या पानी से भरी थैली या तकिये वस्ति के नीचे रख देने चाहियें। कमज़ोर या वृद्ध पुरुष के लिये जिस को कि चिरकाल तक इस अवस्था में रखना हो आरम्भ से ही तकिया दे देना चाहिये।

यदि व्रण हो जायें तो व्रण के बराबर लिन्ट के टुकड़े को टिंचर बैन्ज़ोईन को० (फ्रायर बालसम) में तरकर स्थान पर लगा देना चाहिये। पीछे से लिन्ट का बड़ा टुकड़ा इस पर रख देना चाहिये। यदि व्रण पर मैली पूय जम गई हो तो उसे साफ़ करके 'बोरिक लिन्ट फोमन्टेशन' करना चाहिये। पूय उतरने पर उत्तेजक औषध (स्कारलैट रैड) लगाना चाहिये।

पक्षाघात के रोगियों को केवल पानी का तकिया ही पर्य्याप्त नहीं अपितु उनको पानी का बिस्तर देना चाहिये। कारण—उन के सारे शरीर पर व्रण हो सकते हैं। इस के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। इस के लिये 'इण्डिया रबर वाटर मैट्रस' भी आती हैं। जिन को गरम पानी से भर दिया जाता है। और फिर उन पर कम्बल बिछा दिया जाता है। यदि पानी बहुत भरा होगा तो रोगी अच्छी प्रकार से हिल जुल नहीं सकेगा। और यदि पानी कम होगा तो शय्या पर आ लगेगा। पानी शरीर की उष्णिमा पर गरम होना चाहिये।

अन्य बातें।

रोगी के लिये आवश्यक है कि वह वीर्य की विशेष रूप

से रक्षा करे। कारण—वीर्य शरीर का पोषक एवं रक्षक पदार्थ है। इस का क्षय मृत्यु का कारण होजाता है। इसकी रक्षा के लिये प्राचीन आचार्यों ने पुरुषों के रोगीगृह में स्त्रियों का परिचारक के रूप में या अन्य प्रकार से रहना या आना जाना रोका * है। कारण—स्त्रियां व्रत के भंग करने में मुख्य सहायक हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त रोगी को चाहिये कि वह दिन में न सोये। दिन में सोने से श्लेष्मा की वृद्धि होने के साथ वायु का प्रकोप होता है। जिस से रात्रि को नींद भली प्रकार नहीं आती। जो कि व्रणी के लिये आवश्यक है।

---

* (१) गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शनसंभाषणसंस्पर्शनानि दूरतः परिहरेत्।

(२) स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चालितं स्रवेत्।
ग्राम्यधर्मकृतान्दोषान् सोऽसंसर्गेऽथवाप्नुयात्॥

(३) स्त्री चायुधं कुसुममिहात्मजश्च ·· महाभारत

(४) तदेवं चेष्टयुवतेः दर्शनात्स्मरणादपि ·· चरक.

(५) आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।

† (१) न च दिवा निद्रावशगः स्यात्।
दिवास्वप्नात् व्रणे कण्डूः गात्राणां गौरवं तथा।
श्वयथुर्वेदना रागः स्रावश्चैव भृशं भवेत्॥

(२) दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः।
व्रणी वैद्यवशो तिष्ठन् शीघ्रं व्रणमपोहति॥

(३) व्रणे श्वयथुरायासात्स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वप्नात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात्॥

पांचवां प्रकरण ।

शोथ ।

"त्वङ्मांसस्थायी दोषैकसंघातः शोफ इत्युच्यते" ॥ सुश्रुत.

चिकित्सा के इतिहास के प्रारम्भ में शोथ को घातक समझा जाता था । परन्तु अब यह विश्वास किया जाता है कि शोथ के द्वारा कीटाणुवों से शरीर की रक्षा होती है । अतः वर्त्तमान काल के पाश्चात्य विज्ञ चिकित्सकों ने 'आघात के प्रति शरीर की प्रतिक्रिया' यह लक्षण किया है ।

आघात कई प्रकार के हैं । प्रतिक्रिया जीवित वस्तु ही कर सकती है । अतः ज्ञात होता है कि जो तन्तु जीवित हैं, उन में ही शोथ उत्पन्न होती है या हो सकती है । अतः शोथ का वास्तविक लक्षण "जीवित तन्तुओं की आघात के प्रति प्रतिक्रिया" है ।

कारण—यह संनिकृष्ट एवं विप्रकृष्ट भेद से दो प्रकार के हैं। इन में विप्रकृष्ट कारण—

(१) व्यापक—सारा शरीर निर्बल हो जाता है। जैसे शीत और निर्बलता के कारण विशेष २ कृमि अपने लिये उचित स्थान कर लेते हैं।

(२) दीर्घ उपवास-विरुद्ध भोजन—यह देखा गया है कि जो चिकित्सक भूख में चिकित्सा या शल्यकर्म करते हैं उस समय कीटाणु अधिक प्रभाव* करते हैं। भूख से प्राणशक्ति घट जाती है। इस समय जीवाणु सुगमता से प्रभाव करते हैं।

---

*षड्विधोऽवयवसमुत्थः शोफोऽभिहत. । तद्यथा — विषनिमित्तस्तु गरोपयोगात् दुष्टतोयसेवनात् प्रकोथाद् सविषत्वगादिग्धचूर्णो-नावचूर्णनाद्वा । स तु मृदुः शिघ्रोत्थानावलम्बी चलो वा दाहपाकप्रायश्च भवति ॥

यह देखा गया है कि जो चिकित्सक भूखे होकर शवच्छेद परीक्षा करते हैं, वे प्रायः मरते हैं।

(३) आयु—प्रायः वृद्धावस्था में अष्ठीला शोथ *—मूत्र-ग्रन्थिशोथ हो जाती है।

(४) विष भी शरीर को निर्बल कर देते हैं।

(५) रक्तस्राव।

(६) गन्दी हवा में रहना।

(७) चिरकाल तक संज्ञालोप।

(८) रोग—प्रमेही रोगियों में पिडका † विशेष होती है।

स्थानिक।

(१) शारीरिक आघात।

(२) रासायनिक द्रव्य-क्षार से जलना।

(३) स्थानीय शीत या ताप।

(४) शिरा या धमनी के अवरोध के कारण रक्तसंचार की न्यूनता।

सन्निकृष्ट।

ये कृमिजन्य और अकृमिजन्य भेद से दो प्रकार के हैं।

सम्प्राप्ति

शोथ में प्रायः रक्तवाहिनियों का संस्थान और तन्तु ‡ भाग लेते हैं। इस को देखने के लिये यदि मेंढक की सूक्ष्म प्रणा-

* अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्। अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिः मूत्रग्रन्थि. स उच्यते॥

† (१) मधुमेहिनामध.काये पिडका: प्रादुर्भवन्ति। अपक्वानां पिडकानां शोफवत् प्रतिकारः॥

(२) एवमकुर्वतस्तस्य क्षोभ: प्रवृद्धः मांसशोणितं प्रदूष्य शोफं जनयति। एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्ररुजो विदाहमापद्यते। तत्र शस्त्रप्रणिधानमुक्तं व्रणक्रियोपसेवा च॥

‡ त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते॥

लियों का एक भाग अणुवीक्षण यंत्र के नीचे रखकर देखें तो रक्तसंचरण दो भागों में विभक्त दीखता है। एक मध्य भाग है जिस में रक्ताणु मध्यधारा में बह रहे होते हैं और दूसरी पार्श्विक धारा जिस में श्वेताणु गति कर रहे होते हैं। श्वेताणुवों की पंक्ति दीवार के साथ अति मन्दता से बहती है।

दूसरी बात जो देखने योग्य है वह संकोच विकास की है, जिस में रक्तप्रणालियां भी अपनी गति करती हैं। रक्ताणु भी अधिक मन्दता से गति करते हैं। इस पर प्रकाश और अन्धकार का प्रभाव होता है।

रक्तप्रणालियां प्रथमावस्था में संकुचित होती हैं। यह अवस्था शीघ्र ही समाप्त हो जाती है, फिर विकास आरम्भ होता है। इस अवस्था में प्रणालियां विस्तृत हो जाती हैं।

रक्त का प्रभाव उस समय तेज़ होता है जब कि रक्त प्रणालियां फैलतीं हैं। थोड़ी देर बाद प्रणालियों के भर जाने से रक्तसंचार मन्द हो जाता है। और शनैः २ रक्तसंचार अत्यन्त मन्द हो जाता है। परन्तु उस के बाद भी कुछ २ गति होती रहती है।

जिस समय शान्ति हो जाती है तो स्टेशन पर पहुंची रेल गाड़ी की भांति श्वेताणु तथा रक्ताणु दीवारों से निकल जाते हैं। कई परमाणु वहीं जम जाते हैं (थ्रौम्बोसिस) यह सदा नहीं होता।

इस के पश्चात् निःसरण आरम्भ हो जाता है। रक्तनालियों मे से श्वेताणु दीवार में से निकलने लगते हैं। जब तक जम नहीं जाता तब तक बाहर निकलते हैं। ये निकल कर या तो लसीकावाहनियों द्वारा अन्दर चले जाते हैं--ये पूय बन कर बाहर आते हैं। इस से ये एक मुख्य कार्य करते

---

* (१) वातादृते नास्ति रुजा न पाकः पित्तादृते नास्ति कफाच्च पूयः ।
तस्मात्समस्ताः परिपाककाले पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः ॥

हैं। अर्थात् विषैले पदार्थों से बचाव करते हैं। रक्ताणु भी बाहर आते हैं किन्तु फिर से वह शिराओं में विलीन हो जाते हैं। रक्तद्रवांश भी निकलता है। साधारणावस्था में भी द्रव भाग निकलता है परन्तु अभिघात से ज्यादह निकलता है। लसीका-वाहिनियां इतने द्रवांश को अपने में विलीन नहीं कर सकतीं।

इस लिये संक्षेप में शोथ रक्तसंचय* एवं द्रव निःसरण का नाम है।

लक्षण

श्वयथु†—यह दो कारणों से रक्तसंचय एवं द्रव के निःसरण से होता है। शोथ-रोग की तीव्रता, तन्तुओं की अवस्था, और द्रव की राशी पर निर्भर है। यदि द्रवांश ज्यादह होगा तो शोथ भी अधिक होगा।

कई बार श्वयथु शोथ की जगह पर न होकर अन्य स्थानों पर होता है। यह स्थान ढीले तन्तुवों वाला होता है और जहां श्वयथु नहीं होता वहां कठोर तन्तु होते हैं। यथा शिर के आघात के कारण--आंख पर शोथ।

(२) रक्तिमा‡—आरम्भ में श्वयथु का स्थान रक्तवृद्धि के कारण लाल हो जाता हैं। गति मन्द होने के कारण रक्त ठहरने लगता है और रंग बदल =जाता है। यह रंग भूरा हो

---

(२)- पचत्यत: शोणितमेष पाको मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः।
कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य॥

* रक्तपित्तकफान्वायु. दुष्टो दुष्टान्बहि. शिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम्।
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहु: निचयादत:॥

† बाह्या: शिरा: प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि संदूषयतीह वायु:।
तैर्बद्धमार्ग: स तदा विसर्पन् उत्सेधलिंगं श्वयथुं करोति॥

‡ चलस्तनुस्त्वक् परुषोऽरुणोऽसित:।

= (१) सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिंगं श्वयथो. प्रदिष्टम्॥

जाता है। दबाने से हट जाता है। और जब गति बहुत मन्द हो जाये तो दबाने से वह रंग नहीं हट सकता वहां पीला सा रंग हो जाता है। यदि यह कुछ देर तक रहे तो स्थानीय तन्तु भूरे लाल रंग हो जाते हैं। कई बार रंग दिखाई नहीं देता। यथा—आंख के प्रथम पटल में (कौर्नियां में)—इस का कारण रक्तवाहिनियों का अभाव है। दूसरा उदाहरण—दूसरे रंग से रंग का छिपना है यथा—कर्नीनका की शोथ की प्रथमावस्था में रंग नहीं दीखता।

(३) दर्द—दर्द का कारण स्थानिक वातनाडियों पर द्रव* का दबाव है। जहां पर दबाव कम होता है. वहां दर्द भी कम होता है। कई बार शोथ में उत्पन्न रासायनिक पदार्थों के विक्षोभ के कारण दर्द होता है। शोथ का तीसरा कारण नाडियों का पोषण मन्द होना भी है, परन्तु इस की सत्यता में अभी सन्देह है।

दर्द का स्वभाव भिन्न भिन्न अवस्थाओं एवं भिन्न २ स्थानों में भिन्न भिन्न होता है। किसी विद्रधि के प्रारम्भ में यह मन्द वेदना (डल) होती है, यदि पूयोत्पत्ति हो जाये तो चुभने वाली होती है। श्लेष्मकला की शोथ के कारण जलन का रूप धारण कर लेती है। मुख में दाह का अनुभव होता है। अस्थियों में दर्द का स्वभाव छेद करने का (बोरिंग) होता† है। अण्डशोथ आदि की दर्द को रुक् शब्द से जानते हैं।

---

(२) त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिः

* (१) तत्पूर्वरूपं दवथुः शिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥

(२) सोत्सेधमूष्मातिशिरातनुत्वम् ॥

† सूचिभिरिव निस्तुद्यते, दश्यते इव पिपीलिकाभिः, ताभिश्च संसृप्यते, छिद्यते इव शस्त्रेण, भिद्यते इव शक्तिभिः, ताड्यते इव दण्डेन, पीड्यते इव पाणिना, घट्ट्यते इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यते इव क्षाराग्निभ्यां, ओषचोषदाहाश्च भवन्ति। त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिः…

कई बार दर्द असली स्थान पर न होकर अन्यत्र होती है। यथा—नितम्बसन्धि के कारण जानु में दर्द होना। इस का कारण एक ही नाड़ी का अन्यत्र होना है। कई बार शोथ नाड़ी में होती है। और दर्द का अनुभव उस के जाने के स्थान में होता है।

४ उष्णिमा*—शोथ का स्थान गरम होता है। इस का कारण रक्तागमन है। यह हाथ से या तापमाप से देख सकते हैं।

५ क्रिया का अभाव†—इस क कई कारण हैं। यथ शोथ—कक्षा में शोथ होने से बाजू नहीं हिलती। दूसरा कारण दर्द, और तीसरा कारण स्थानिक नाड़ी का पक्षाघात होता है।

६ अन्य लक्षण‡—रोग यदि तीव्र नहीं है तो व्यापी लक्षण कम होते हैं। अन्यथा रोगी अपने को अस्वस्थ, सुस्त, ज्वर वाला अनुभव करता है। कृमि रक्त में पहुंच कर व्यापक रूप में विष§ उत्पन्न कर देते हैं। ज्वर के लक्षण साधारण ज्वर के ही होते हैं¶।

---

* सोत्सेधमूष्माऽथ शिरातनुत्वम्।

† (१) क्रियासु अशक्तिस्तुमुला रुजश्च।
(२) सगौरवं स्यादनवस्थितत्वम्॥

‡ (१) ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च ...
(२) भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः॥
(३) यः पिपासाज्वरार्त्तस्य दूयतेऽथ विदह्यते।
स्विद्यते क्लिद्यते ग्रन्थिः स पित्तश्वयथुः स्मृतः॥

§ रसैः शूकैश्च संस्पर्शाद् श्वयथुः स्याद् विसर्पवान्।

¶ स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपादिश्यते॥

चिकित्सा ।

सब से प्रथम कारण को हटाना चाहिये*। इस के पश्चात् अंग को सर्वथा विश्राम देना है । विश्राम दो प्रकार से दे सकते हैं, एक अंग की गति न करना और दूसरा उससे कार्य न लेना यथा आंख से न देखना ।

तीसरा उपाय रक्त के दबाव को घटाना है । इसके कई साधन हैं । यथा—

(१) अंग को ऊँचा करना—इस से स्थान को रक्त कम मिलता है, और सिराओं द्वारा संचित रक्त लौटता है ।

(२) रक्तमोक्षण†—जलौका द्वारा या अलाबु अथवा शृंग से

(३) विरेचन‡—इस के द्वारा रक्त का दबाव पर्य्याप्त कम हो जाता है ।

---

* जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः ।
हेतुसाम्यात् समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥ चरक

† (१) रक्तावसेचनं कार्यं आदावेव विचक्षणः ।
शोथे महति संरब्धे वेदनावति च व्रणे ॥

(२) निवारणाय पाकस्य वेदनोपशमाय च ।
अचिरोत्पतिते शोथे कार्य्यं शोणितमोक्षणम् ।

(३) एकतश्च क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः ।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥

(४) सशेषदोषे रुधिरे न व्याधिरतिवर्त्तते ।
सावशेषं ततः स्थेयं न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥

(५) ततः प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलावछन्नेन शोणितमवसेचयेदाचूषणात् । सान्तर्दीप्याऽलाब्वा वा ।

(६) परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः ।

(७) रक्तावसेचनं कार्यमजातव्रणशान्तये । चरक.

‡ वातपित्तप्रदुष्टेषु दीर्घकालानुबन्धिषु ।
विरेचनं प्रशंसन्ति व्रणेषु व्रणकोविदाः ॥

(४) शीतपरिषेक*—इस के लिये शीत घोल, बर्फ का बैग काम में लाते हैं। इसको देर तक नहीं करना चाहिये। अन्यथा शीतव्रण (निक्रोसिस) होने का भय है।

(५) विम्लापन†—इसके द्वारा संचित द्रवभाग को लसीका-वाहिनियों द्वारा वापिस करने का यत्न करते हैं।

(६) स्वेदन‡—इसके द्वारा स्थानिक रक्त संचार बढ़ जाता है। नया रक्त आता है। जिस से कि विष नष्ट हो जाता है।

---

* (१) यथा प्रज्वलिते वेश्मन्यम्भसा परिषेचनम्।
क्षिप्रं प्रशमयत्यग्निं एवमालेपनं रुजः॥

(२) शीतां क्रियां प्रयुञ्जीत पित्तरक्तोष्मनाशनीम्॥

(३) ...... द्वितीयमवसेचनम्।
आलेप आद्य उपक्रम एष सर्व शोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च॥

(४) न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसशेलुभिः।
चन्दनद्वयमञ्जिष्ठायष्टिशूरयागैरिकैः।
शतधौतघृतोन्मिश्रैः लेपो रक्तप्रसादनः॥

(५) यथोक्तैः शीतलैर्द्रव्यैः क्षीरपिष्टैः घृतप्लुतैः।
.... लेपान् सुशीतांश्चावचारयेत्।

† (१) आदौ विलाम्पनं कुर्यात् ...."

(२) अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः।
विमर्दयेत् भिषक् प्राज्ञः तलेनागुंष्ठकेन वा॥

(३) ततो बन्धः प्रधानम्। तत्र शुद्धिः व्रणरोपणमस्थिसंधिस्थैर्यञ्च। तत्र प्रतिलोममालिम्पेत् नानुलोमम्। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति च रोमकूपान् स्वेदवाहिभिः शिरामुखैश्च वीर्यं प्राप्नोति। सुश्रुत.

‡ (१) रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च।
शोफानां स्वेदनं कार्यम् . ...

(२) स्वेदयेत्सततं चापि निर्हरेच्चापि शोणितम्॥

यह रक्त संचार की वृद्धि सेक-उष्ण पानी से विशेष रूप से होती है।

(७) साधारण चिकित्सा—रोगी को खुले वातायन वाले गृह में रखना चाहिये। भोजन हल्का-सुपच होना चाहिये। ज्वर की साधारणतः चिकित्सा की आवश्यक्ता नहीं होती। यदि हो तो साधारण ज्वर की भांति चिकित्सा करनी चाहिये।

चिरकालीन शोथ।

इस के कारण प्रायः साधारण शोथ वाले ही हैं। इस में वे कारण मृदु और मन्द वेदना वाले होते हैं। यह कारण प्रायः रचना सम्बन्धी होते हैं। यह शोथ प्रायः उपदंश, आमवात, वातरक्त, और यक्ष्मा के रोगियों में होता है। जो शोथ इन कारणों से न हो उसे साधारण चिरकालीन शोथ कहते हैं।

इस में रक्त संचय कम होता है परन्तु देर तक रहता है। अतः स्थानिक लक्षण कम होते हैं। तन्तु विशेष रूप से रंगे जाते हैं। चिरकालीन रक्त संचार के कारण रक्तवाहिनियों की शक्ति घट जाती है। निकला हुआ स्राव प्रायः द्रव एवं श्वेताणुवों वाला होता है। तन्तु में चिरकालीन विक्षोभ के कारण अधिक वृद्धि (हाईपरट्रौफ़ी) हो जाती है। व्यापक लक्षण-रोग से सम्बन्धित होते हैं।

चिकित्सा।

कारण को हटाना चाहिये। यक्ष्मा पदार्थ को निकाल कर दाह* कर देना चाहिये। इस के अतिरिक्त—

(१) रक्तवाहिनियों की शक्ति बढ़ाने के लिये दबाव देना चाहिये। जिससे द्रव विलीन हो जायेगा। दबाव के लिये पट्टी उत्तम† है।

---

* उत्सन्नमांसान्कठिनान्कण्डूयुक्तान् चिरोत्थितान्।
तथैव खलु-दुःसाध्यान् शोधयेत्क्षारकर्मणा॥

† यस्माच्छुध्यति बन्धेनव्रणो याति च मार्दवम्।
रोहत्यपि च निःशंकः तस्माद् बन्धो विधीयते॥

(२) रक्त संचार को बढ़ाने के लिये उत्तेजक औषधियों का उपयोग करना चाहिये।

(३) विम्लापन से भी रक्त वृद्धि विशेष रूप से होती है। यह तीन प्रकार से कर सकते हैं। यथा—

(क) हाथ के द्वारा ऊपर से नीचे मलना। इस से रक्त संचरण क्रिया शील होने के अतिरिक्त तन्तु भी उत्तेजित हो जाते हैं।

(ख) स्राव को लीन करने के लिये नीचे से ऊपर की ओर मालिश करना चाहिये।

(ग) छोटी अंगुली (कनिष्ठिका) की ओर से करना चाहिये

रचनासम्बन्धी रोग का पता लगने पर "औटोजीनस वैक्सीन" का उपयोग करना चाहिये।

———

छठा प्रकरण ।

व्रण

वृणोति यस्माद् रूढेऽपि व्रणवास्तु न नश्यति ।
आदेहधारणात्तस्मात् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥ सुश्रुत.

व्रण आकार और स्थिति के अनुसार अपरिमित हैं। कुछ व्रणों की रक्तस्राव के कारण चिकित्सा की आवश्यक्ता पड़ती है। साधारणतः व्रण की चिकित्सा में मुख्य उद्देश्य "रोहण" होता है।

यदि व्रण चिकित्सक द्वारा चाकू से बनाया गया है तो यह जन्तु रहित होगा। समस्त रक्तस्राव बन्द कर के व्रण को शुष्क कर लेना चाहिये। फिर व्रण को सीकर कवलिका रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये। यदि व्रण गहरा हो तो उसे पिचु या विकेशिका से भरना ही उत्तम है जिस से कि निकलने वाले रक्त के बन्द होने के साथ स्राव भी शुष्क होता रहेगा। यदि व्रण शुष्क हो तो पिचु निकाल कर व्रण सी देना चाहिये। यदि फिर कुछ स्राव प्रतीत हो तो संदंश द्वारा (साइनस फौरसैप्स) व्रण के किनारे कुछ दूर कर के रक्त को शुष्क कर देना चाहिये।

अचानक आघात आदि से या गोली द्वारा व्रण होने पर व्रण संक्रान्त हो जाता है। अचानक व्रण की अवस्था में यथा सम्भव व्रण का इतिवृत्त पूछना चाहिये। इस से संक्रमण के विषय में जाना जा सकेगा। यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस बात का निश्चय कर लिया जाये कि धूल के साथ "टैटानस बैसिलस" तो व्रण में नहीं पहुंचा। यदि गया हो तो "एन्टीटैटानस सीरम" ५०० इकाई की मात्रा में दे देना चाहिये। रोगी की साधारण अवस्था, अचेतनता, मूर्च्छा आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि ये अवस्थायें हों, तो चिकि-

त्सा करनी चाहिये। व्रण की शीघ्र परीक्षा व्रण की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करा सकती है। विशेषत: यदि अस्थियों का भंग, नाड़ियों का आघात, सन्धि शोथ, कोष्ठ भेदन आदि उपद्रव हों। कारण—यदि ऐसी अवस्था में परीक्षा या चिकित्सा के लिये संज्ञालोप करना हो तो वह कर के देखा जा सकता है। सन्देहावस्था में संज्ञालोप करना ही उत्तम है।

बन्दूक की गोली की निम्न नवीन विधि से चिकित्सा करनी चाहिये। इस के लिये व्रण को किसी जन्तुघ्न घोल* में भीगे हुवे पिचु से भर देना चाहिये और चारों ओर की त्वचा उस्तरे से साफ़ कर के ईथर लगाकर, फिर आयोडीन लगाकर तैय्यार कर लेवें। फिर अंगोछे रखकर पिचु निकाल कर पूर्ण परीक्षा करें। विशेषत: यदि शारीरशास्त्र आज्ञा देता हो तो चारों ओर के तन्तुवों की परीक्षा भली प्रकार करनी चाहिये। व्रण के सब मार्ग (छिद्र) खोल देने चाहियें। रक्तस्राव के स्थान को स्नायु से बांध कर जन्तुघ्न पट्टी लगा देनी चाहिये। इस अवस्था में "फ्लैवीन" और "आयडोफार्म" के बहुत से समास लाभदायक हैं, विशेषत: ग्लैसरीन में बने† हुवे। अब व्रण के सीने या न सीने का निश्चय करना चाहिये। यदि कटाव साफ़ हो और संक्रमण की बहुत थोड़ी सम्भावना हो तो व्रण को सी देना चाहिये। परन्तु

---

* जन्तुघ्न घोल के लिये—यूज़ोल, कार्बोलिक एसिड ($\frac{1}{40}$ की शक्ति में) परक्लोराईड ऑफ़ मर्करी उत्तम हैं।

† ग्लैसरीन में एक प्रकार की शर्करा है। मधु में भी शर्करा है। परन्तु दोनों शर्करायें रसायन की दृष्टि से कुछ भिन्न हैं। एक ग्लुकोज़ है तो दूसरी ग्लाईकोजन। आयुर्वेद कहता है कि "मधुरो सन्धानकृत्" अर्थात् मधुर पदार्थ जोड़ने वाला है। अत: "सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पि: विधीयते" सद्योव्रण में घी और मधु का उपयोग कहा है।

यदि व्रण कई घन्टे पुराना हो एवं संक्रमण की सम्भावना हो तो व्रण को न सीकर केवल पिचु से भर देना* चाहिये। फ्लैवीन और २४ से ४८ घन्टे में टांके का उपयोग करने से व्रण में संक्रमण के लक्षण नहीं आते।

संक्रान्त व्रण।

यदि व्रण संक्रान्त होगा तो उस के किनारे लाल एवं सूजे हुवे होंगे। व्रण से पूय का स्राव होगा। रुग्ण स्थान पर दर्द होगी। जो कि संभवतः शोथ के समीपवर्त्ति तन्तुवों पर एवं वातनाड़ियों पर दबाव पड़ने से होती है। रोगी को ज्वर भी होता है। इस की मात्रा विष की मात्रा †पर निर्भर है।

संक्रान्त व्रण की चिकित्सा।

बन्दूक के व्रणों से त्वचा अनियमित--विषम रूप में फटती है। और विषम गुहायें रक्त के चक्के से भर जाती हैं। इस में मांस पेशी एवं आवरण (फेशिया) भी विदीर्ण हो जाता है। जब इस प्रकार की गुहा (वास्तु) बन जाये तो व्रण का मुख पर्य्याप्त बड़ा कर देना चाहिये। विशेषतः यदि स्थिति और आकार आज्ञा देवें। जिस से पूय बाहर निकल‡ सके। अतिस्राव युक्त व्रण के भरने में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहियें। यथा—

१ गुहा का प्रक्षालन उत्तम रूप से किया जाये।

---

* नान्तर्लोहितशल्याश्च तेषु सम्यग् विशोधनम्।
पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत्॥
अहृतानि यतोऽमूनि पाचयेयुः भृशं व्रणम्।
रुजश्च विविधा कुर्युः तस्मादेतान् विशोधयेत्॥

† तत्रातिसंवृतो ·····वेदनावान् दाहपाकरागकण्डू···दुष्टशोणितस्रावी · ··दुष्टव्रण लिंगानि।

‡ यतो यतो गतिं विद्यादुत्संगो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात् यथा दोषो न तिष्ठति॥

२ उपरिपृष्ठ एवं अन्तःपृष्ठ दोनों पृष्ठों से सब स्राव दूर कर दिये जायें।

३ सब शल्य--बाह्य वस्तु को दूर कर दिया जाये

४ भाग--अंग को विश्राम दिया जाये

५ रोगी की साधारणावस्था को उन्नत किया जाये·विशेषतः खुली वायु से।

प्रक्षालन।

यह उत्तमता से तब हो सकता है, जब कि बाह्य छिद्र पर्य्याप्त बड़ा हो। इस छिद्र का अन्तः गुहा से सीधा सम्बन्ध होने के साथ गुहा से सम्बन्धित सब छिद्रों से भी सम्बन्ध* हो। इस अवस्था को लाने के लिये रोगी का संज्ञालोप कर के सब छिद्रों को चाकू से मिला देना चाहिये। छोटे २ व्रणों का सम्बन्ध या तो मुख्य गुहा से कर देना चाहिये अथवा पृष्ठ के साथ। बाह्य वस्तु बाहर निकाल देनी चाहिये। पूय की गुहा को बहुत ही सावधानी से छूना चाहिये। कारण-पूय के द्वारा समीपवर्त्ति तन्तुवों में संक्रमण फैलने का भय रहता है।

स्राव को दूर करना।

छोटे या पृष्ठ के व्रणों में यह सुगमता से हो सकता है। सब से उत्तम "ड्रैसिंग" बोरिक फोमन्टेशन है। जो कि ३ या ४ घन्टे के अन्तर से बदलना चाहिये। अथवा 'गीला स्टर-लाईज्ड गौज़" लगा कर २४ घन्टे में एक या दो बार बदल देना चाहिये। इन पट्टियों का महत्त्व यही है कि ये स्राव को बहुत शीघ्र सोखती हैं। शुष्क "ड्रैसिंग" पूय को शुष्क नहीं करता--जिससे पूय पृष्ठ पर फैल कर दर्द उत्पन्न करने के

---

* (१) एकेन वा व्रणेनाशुध्यमानेनान्तरा बुद्ध्याऽवेक्ष्य परान्व्रणान् कुर्यात्।

(२) आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते॥

(३) आयतो विशालः समः सुविभक्त इति व्रणगुणाः॥

साथ रोहण को रोकती है। इस प्रकार का "ड्रैसिंग" व्रण से बहने वाले स्राव को तो कम करता है परन्तु अन्तःपृष्ठ के स्राव को दूर नहीं करता। यदि व्रण में एक ही बड़ी गुहा हो तो प्रक्षालन के लिये "रबर की प्रक्षालन नलिका" या पिचु अथवा दोनों का व्यवहार सुगमता से कर सकते हैं। यदि छिद्र बनाना हो तो गुहा के निचले भाग से ऊपर की ओर पृष्ठ पर छिद्र बनाना चाहिये। कम से कम २४ घण्टे में व्रण को बस्ति से अवश्य* साफ़ करना चाहिये। इस बस्ति का उद्देश्य यही है कि सम्पूर्ण पूय बह जाने के साथ व्रण की सब छोटी बड़ी गुहायें धुल जायें। इस के लिये केवल स्टरलाइज्ड पानी ही व्यवहार में लाना चाहिये। कई चिकित्सक पानी में "यूज़ोल" या अन्य कृमिनाशक औषध, अथवा हाईड्रोजन पर ऑक्साईड (जो कि दूषित पृष्ठ-सल्फ को सुगमता से हटाता है) मिलाते हैं।

प्रक्षालन के लिये सब से उत्तम साधन अभी तक "कैरलडेकिन" की विधि है। इसमें पानी रबर की कई छोटी २ बहुत छिद्रों वाली नालियों से व्रण में जाता है। परन्तु पानी ज़ोर से लगातार नहीं बहता। अपितु शनैः शनैः दो घन्टे के अन्तर से जाता रहता है। वास्तव में यह लगातार प्रक्षालन नहीं है। पानी पिचकारी द्वारा प्रविष्ट होता है या किसी अंकित सञ्चायक द्वारा†। पानी का प्रवाह एक क्लिप द्वारा नियमित किया जाता है। पानी की मात्रा व्रण की अवस्था पर निर्भर है, जो कि ८० से १००

* वातदुष्टो व्रणो यस्तु रूक्षश्चात्यर्थवेदनः।
अधःकाये विशेषेण तत्र बस्तिर्विधीयते॥

† यंत्रे नाडीव्रणाभ्यंगक्षालनाय षडंगुले।
बस्तियंत्राकृतिमूले मुखेऽगुंष्ठकलायके॥
अगुंलोऽकर्णिके मूले निबद्धमृदुचर्मणा॥ वाग्भट.

सी. सी. हो सकती है। स्राव या पानी की अधिक मात्रा को शोषक कर्पास सोख लेती है। जो कर्पास अशोषक रुई एवं कवलिका पिचु से ढंपी होती है। यह आवश्यक है कि पानी
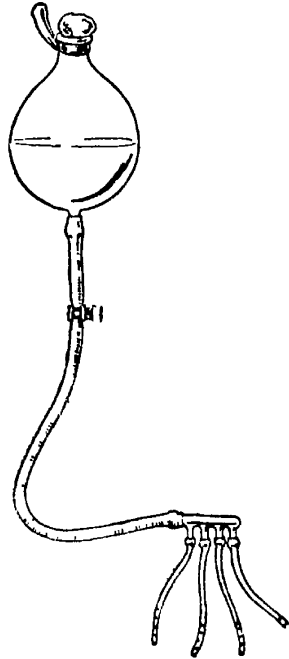
चित्र नं० ६ कैरलडोकिन इरिगेशन ट्यूब्स

की मात्रा अधिक न हो। कारण-"हाईपोक्लोराइट घोल" त्वचा में विक्षोभ उत्पन्न कर सकता है। इस के लिये व्रण के चारों ओर की त्वचा को घृत या "वैज़ेलीन से स्निग्ध कर देना चाहिये। कइयों का विचार है कि इस प्रक्रिया से अवश्य व्रण

का रोहण होना ही चाहिये। यदि इस से भी व्रण ६ से १० सप्ताह में रोहण न करे तो अन्य शल्य कर्म करना चाहिये।

आंख के प्रथम पटल (कौर्निया) का व्रण।

इस का मुख्य कारण "आइरिस" का बाहर आजाना है। अक्षिगोलक के भेदक व्रण से यह भय रहता है कि वह आइरिस में प्लास्टिक या पूय जन्य शोथ उत्पन्न न कर देवे। जिस का परिणाम स्वरूप "पैन ऑपथैलमाइटिस" और सिम्पैथैटिक ऑपथैल्मिआ हो जाता है। "कनजङ्कटाइवल सैक" को तुरन्त टंकण के घोल द्वारा या परक्लोराईड ऑफ़ मर्करी ($\frac{१}{५०००}$) से धो देना चाहिये। यदि आइरिस थोड़ा ही बाहर आया है और रोगी चिकित्सक के पास जल्दी आ गया है तो यह पीछे चला जावेगा। यदि व्रण किनारे का हो तो "एसेरीन" और यदि केन्द्र का हो तो "एट्रोपीन" का उपयोग करना चाहिये। आइरिस को सूक्ष्म शलाका (प्रोब) से पीछे हटा देना चाहिये।

बहुत से रोगियों में आइरिस को काटना पड़ता है। इस को यथासम्भव शीघ्र ही करना चाहिये, जिस से व्रण के साथ आइरिस जुड़ न सके। कोकेन से आइरिस को मृत कर के सदंश द्वारा व्रण से दूर हटा कर कैंची से काट देना चाहिये। फिर आंख में एट्रोपीन डालते रहना चाहिये। जिससे आइरिस की शोथ का भय कम* हो जाता है।

स्क्लिरोटिक कोट का व्रण कौर्निया के व्रण की अपेक्षा

---

* (क) अभ्याहते तु नयने बहुधा नराणां
संरम्भरागतुमुलासु रुजासु धीमान्।
दृष्टिप्रसादजननं विधिमाशु कुर्यात्
स्निग्धै. हिमैश्च मधुरैश्च तथा प्रयोगै:॥ सुश्रुत.

(ख) अभ्याहतं नयनमीषदथास्य बाष्पसंस्वेदितं भवति तन्निरुजं क्षणेन।

कहीं भयानक है। कारण, इस से दृष्टि का नाश शीघ्र होता है। यदि व्रण छोटा हो तो दोनों ओष्ठों को समीप लाकर सी देना चाहिये। सीने के लिये रेशम का धागा (0·0000) उत्तम है। सब अवस्थाओं में आंख को रुई से ढांप देना चाहिये। और दिन में दो बार एक सप्ताह तक आंख को टंकणोदक से धोना चाहिये।

संधियों के व्रण।

यदि व्रण प्रथम से देख लिया जाये तो उत्तम है। सन्धि का व्रण चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो पूर्ण ध्यान देना चाहिये। बहुत से रोगियों में त्वचा को साफ कर के अंग को आराम देने से आराम हो जाता है। और यदि आवश्यक्ता हो तो "ऐक्स रे" के द्वारा बाह्य शल्य को देखकर रोगी का संज्ञालोप कर के, सन्धिगुहा के नीचे छेदन कर के शल्य को निकाल देना चाहिये। फिर गुहा को जन्तुघ्न घोल (फलैवीन) से धोकर सी देना चाहिये। पूर्ण विश्राम के लिये सन्धि को फलकों से बांध देना चाहिये। आराम देने के लिये अंगुलियों को भी फलकों से बांध देना चाहिये। यदि सन्धि विशेष रूप से संक्रमित हो गई हो तो चिकित्सक को चाहिये कि वह व्रण को भली प्रकार खोलकर "स्टरलाईज्ड सौल्ट सौल्युशन" से धो डाले। फिर मर्करीलोशन ($\frac{1}{1000}$) से साफ़ कर देना चाहिये। अन्त में फिर स्टरलाइज्ड सौल्ट सौल्युशन से धो डालना चाहिये। ताज़ा व्रण सी कर बन्द कर देना चाहिये और स्टरलाईज्ड पिचु या वर्त्ति से भर देना चाहिये। और फिर अंग को फलक के साथ बांध देना चाहिये। जिस से वह हिल न सके। घुटने की अवस्था में टांग को फैलाकर एवं

(ग) भिन्नं नेत्रमकर्ण्यमभिन्नं लम्बते तु यत्। तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धशिरं शनैः॥

(घ) सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेतत्प्रशस्यते।

कोहनी की अवस्था में समकोण पर मोड़कर रखना चाहिये।

यह भी सम्भव है कि व्रण बिना पूय के ही अच्छा होजाये परन्तु यह भी असम्भव नहीं कि व्रण में पूयोत्पत्ति हो जाये*। विशेषत: यदि दूसरे दिन तापपरिमाण बढ़ जाये, स्थान पर रोगी दर्द की शिकायत करे तो सम्पूर्ण ड्रैसिंग उतार डालना चाहिये। और पूयोत्पत्ति के होते ही सन्धि को पूर्ण रूप से खोलकर भली प्रकार "डिसइन्फ़ैक्ट" कर देना चाहिये। गुहा में एक लम्बी प्रक्षालन नलिका लगा देनी चाहिये। सन्धि के ऊपर का कोष (बर्सा) जब खोला जाता है तब "सायनोवियल द्रव" से मिलता हुआ द्रव बाहर आता है। इस की परीक्षा एषणी कर देती है। सायनोवियल द्रव रक्त से अपने हल्के रंग के कारण पृथक् किया जा सकता है।

नाड़ियों के व्रण।

इन में मुख्य व्रण कलई (मणिबन्ध) के ऊपर अलना और मीडियन वातनाडियों के हैं। व्रण की चिकित्सा करने से पूर्व इन वातनाड़ियों से पोषित किये जाने वाले "सैन्सरी क्षेत्र" की भी परीक्षा करनी† चाहिये।

त्वचा को साफ़ कर के किनारे उठाने चाहिये और रक्तस्राव बन्द कर के नाड़ियों के प्रान्तों का पता लगाना चाहिये। प्रान्त कुचले गये हैं वा टूट गये हैं, इस की परीक्षा करनी चाहिये। उत्तम यही है कि इन प्रान्तों को ऊंचा उठा कर उत्तम स्नायु से सी दिया ‡जाये। सीते समय सूई सम्पूर्ण

---

* शोफाभिवृद्धि: तुमुला रुजश्च बलक्षय: पर्वसु भेदशोफौ।
क्षतेषु संधिष्वचलाचलेषु स्यात्सर्वकर्मोपरमश्च लिंगम्॥

† सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेत्तत्क्षतजश्च वायु:।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान् शिरासु विद्धास्वऽथवा क्षतासु॥

‡ ये व्रणाः विवृताः केचित् शिर:पार्श्वावलम्बिन:।
तान्सीव्येत्तु विधानेन बध्नीयात् गाढमेव च॥

मोटाई में से गुज़ारनी चाहिये। फिर आवरण को (शीथ) पतले स्नायु से सन्धिस्थान के चारों ओर सी देना चाहिये। तदनन्तर व्रण को बन्द कर देना चाहिये। फलक बांधकर कोहनी को मोड़ देना चाहिये। इस अवस्था में कम से कम एक मास तक कोहनी को रखना चाहिये। अंगुलियों की सन्धि को कड़ा होने से बचाना चाहिये।

नाड़ी के आघात के कारण जो पेशियां मर गई हों उन पर विम्लापन और विद्युत धारा का उपयोग करना चाहिये।

क्षत और पिच्चित।

(ब्रयूसिज़ एण्ड कन्ट्यूज़न)—प्रायः ये रोगी मिलते हैं। सब प्रकार के पिच्चित व्रण ध्यान पूर्वक देखने चाहियें। यदि चिकित्सा पूर्ण रूप से की जाये तो शोथ उत्पन्न नहीं होती। अशुद्धियों से बचने के लिये उत्तम है कि क्षत की "एक्स रे" से परीक्षा की जाये। तात्क्षणिक क्षत के लिये सब से उत्तम चिकित्सा शीतोदक है। इस को किसी भी प्रकार किया जा

कर्णौ स्थानादपाहृत्य स्थापयित्वा यथा स्थितम्।
सीव्येद् यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाप्यभितर्पयेत्॥
सम्यग् निवेश्य बध्नीयात्सीव्येच्चापि निरन्तरम्।
आजेन सर्पिषा चैव परिषेकं तु कारयेत्॥
उत्तानोऽन्नं समश्नीयात् शयीत च सुयंत्रितः।
त्रयोदशांगं त्रिवृतमेतद्वा पयसान्वितम्॥

* (१) शीतां क्रियां चरेदाशु रक्तपित्तोष्मनाशनीम्॥

(२) रक्तेन चापि भूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत्।
यथोक्तैः शीतलैः द्रव्यैः क्षीरपिष्टैः घृतप्लुतैः॥

(३) शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः।
षट्स्वेतेषु यथोक्तेषु छिन्नादिषु समासतः॥

(४) छिन्ने भिन्ने तथा विद्धे क्षते सद्यो भिषग्वरः।

सकता है। अर्थात् वस्तिद्वारा या आईस बैग (बर्फ की थैली, दृति) या अन्य उडनशील घोल के लगाने से। उड़नशील घोल के लिये निम्न प्रयोग उत्तम है।

स्प्रिट वाईनम रैक्टीफाई—एक ड्राम.
लाइकर अमोनियम एसीटेट—एक ड्राम.
एक्वा कैम्फर—आठ औन्स

अथवा सिरका और जलाने की शराब लेकर १६ गुने पानी में मिलाकर लगानी चाहिये।

रोगी को इस बात का आदेश दे देना चाहिये कि वह घोल को उड़ने देवे। किसी वस्तु से ढांपे नहीं अपितु ऊपर का पृष्ठ खुला छोड़ देवे।

पिच्चित व्रणों की सब से उत्तम चिकित्सा आराम है। छाती की पिच्चितावस्था में यदि पसलियां न भी टूटी हों तो भी पसलियों की मध्यवर्त्ती पेशियों को (इन्टर कोस्टल मसल्स) आराम देने के लिये छाती पर चौड़ी पट्टी बांध देनी चाहिये*। इसी नियम से अंग पर भी पट्टी बांध देनी चाहिये।

यदि रोगी घोड़े से या अन्य प्रकार से गिर गया हो और मूर्च्छित न हुआ हो तो गरम स्नान देना उत्तम है।

हीमेटोमा (रक्त का संचित होना) औफ स्कल।

यह क्षत का एक विशेष रूप है। जिस में आघात से शिर पर शोथ

पट्टसूत्रेण संस्वेदं कुर्याद् व्रणविशारदः।
(४) अथवा दीप्यलवणपोट्टल्या स्वेदयेन्मुहुः॥

* (१) उत्तानोऽन्नं समश्नीयात् शयीत च सुयंत्रितः।
(२) चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम्।
अस्थिस्नायुशिराछिन्नमाशु बन्धेन रोहति॥
(३) सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः॥

उत्पन्न हो जाती है। कभी २ इस का "डिप्रेस्ड फ़्रैक्चर ऑफ़ स्कल" (कपाल का नीचे की ओर दबा भंग) से भी सन्देह हो जाता है। इस अवस्था में मस्तिष्क के लक्षण, यथा कनकशन के, थोड़े या बहुत होते हैं। ऐसी अवस्था में आवश्यक है कि पूर्ण परीक्षण किया जाये। केन्द्र में 'फ्लक्चूएशन*" होना बहुत कुछ शोथ के सन्देह को दूर कर देता है।

सब से उत्तम चिकित्सा शिर पर चौड़ी तली की रबर की थैली (शिरोवस्ति, दृति) का उपयोग किया जाता है। साधारणतः रक्त १० से १४ दिन में विलीन हो जाता है। परन्तु कई बार इस की विलीनता में देरी हो जाती है (प्रायः शिशुओं की अवस्था में) तो स्थान पर दबाव देने से दर्द, उष्णिमा और थोड़ी रक्तिमा होती है।

यदि अंग की त्वचा के नीचे द्रव की बहुत अधिक मात्रा हो तो "व्रीहिमुख" (एसपिरेटिंग नीडल) से भेदन कर देना चाहिये। और न जमे हुवे रक्त को बाहर कर देना †चाहिये। इस प्रकार से केवल द्रव भाग ही निकलता है। जमा भाग रह जाता है, जिस से द्रव उत्पन्न हो जाता है। यदि इस को खोल दिया जाये तो जमा रक्त सब बाहर हो सकता है। जमा रक्त निकल जाने के बाद व्रण को बन्द किया जा सकता है और व्रण के शीघ्र भरने की आशा की जा सकती है। परन्तु यदि केशिकाओं से द्रव आ रहा होगा तो भरना कठिन होगा।

संक्रमणजन्य अस्थिशोथ।

पैरीओस्टायटिस (अस्थिधरा कला की शोथ) और

---

* (१) आध्मातबस्तिरिवाततश्च भवति।

(२) निम्नदर्शनमंगुल्यावपीडिते प्रत्युन्नमनं बस्ताविवोदक संचरणं पूयस्य

† (१) जलौकापातनं शस्तं सर्वस्मिन्नेव विद्रधौ।

(२) दुष्टं रक्तं स्थितं चापि शृंगालाब्वादिभिः हरेत्।

(३) एकतश्च क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः।

औस्टियोमाइलायटिस—इस का कारण प्रायः शिशुवों में साधारण आघात से लम्बी अस्थियों में विशेषतः जंघास्थि (टिबिया) में मृतावस्था (निक्रोसिस) का उत्पन्न हो जाना है। शीघ्रता से बढने वाली शोथ को क्षत के साथ नहीं मिलाना चाहिये, और नाहीं "एरीथीमा नोडोसम" को क्षत से मिलाना चाहिये। जोकि दोनों टांगों पर आक्रमण करता है। तापमापक (थर्मा मीटर) एक दम शोथ एवं अन्य तीव्र विषों से भेद कर देगा।

ऐसी अवस्था में अतिशीघ्र मध्यवर्त्ति गुहा को खोल देना चाहिये। छेदन पश्चिमीय पृष्ठ पर करना चाहिये।

आशयों का विद्ध होना।

कोष्ठ के समीप वर्त्ति क्षत में विशेषतः गाड़ी के ऊपर से गुज़रने पर चिकित्सक को किसी आशय के रुग्ण होने की आशंका अवश्य करनी चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि वह रोगी के वस्त्रों को गाड़ी या अन्य चिन्हों के लिये अवश्य देखे। और यदि कोई पृष्ठवर्त्ती क्षत हो तो उस की स्थिति ध्यान में लानी चाहिये। यदि घटना कोष्ठ के ऊपर के भाग में हुई हो तो यकृत्, प्लीहा, आंत्र, वृक्क के रुग्ण होने की सम्भावना करनी चाहिये। और यदि अधोभाग में हुई हो तो मूत्राशय के विदग्ध होने की आशंका करनी चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि मूर्च्छा अथवा मन्दनाड़ी, शीत-तर त्वचा, या तेज़ नाड़ी, उथला श्वास क्षत की गम्भीरता के सूचक* हैं। यदि रोगी को विस्तर पर लेटाने से लक्षण प्रति

---

* (१) स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते।
तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति॥

घन्टे कम होते जायें तो समझ लेना चाहिये कि कोई गम्भीरावस्था नहीं है। परन्तु यदि लक्षण उत्तरोत्तर बढते जायें अर्थात् तीव्र नाड़ी होती जाये और अन्तःस्राव के लक्षण यथा बेचैनी, प्यास, श्वास की भूख, चेहरे की पाण्डुता बढ़ती जाये तो किसी गम्भीर आशय के विद्ध होने की सम्भावना अवश्य करनी चाहिये। उदरावरण में वायु का स्वतंत्र होना आमाशय या आंत्र के विद्ध होने का सूचक है। परन्तु साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि बृहदांत्र के फैलाव के कारण भी यकृत् की मन्द ध्वनि सुन पड़ती है। यदि रोगी-गृह में प्रविष्ट करते समय मन्दता हो और एक या इस से अधिक घन्टे बाद मन्दता न रहे तो वायु का स्वतंत्र होना पूर्ण निश्चित है। कोष्ठ में स्वतंत्र पानी का होना या पार्श्वों पर मन्द ध्वनि का होना, और रोगी की स्थिति के साथ न बदलना, इस बात का पूर्ण सूचक है कि अधिक रक्त या मूत्र भरा हुआ है। कठोर तख्ते के समान भित्ति की स्पर्शन (पैलपेशन) करने में रुकावट करना, आशय के तीव्र क्षत का सूचक है। यकृत् के विद्ध होने पर रक्त का बोझ दक्षिण कटि और बस्ति पर एवं प्लीहा के विद्ध होने पर रक्त प्रथम अवयव के चारों ओर सञ्चित होता है। परन्तु यह भी दक्षिण कटि तक जा सकता है।

कोष्ठ के अधोभाग में आघात मूत्राशय पर अधिक चोट करता है। इस की पहिचान बहुत कठिन नहीं। रोगी को कुछ समय के लिये मूत्र न करायें। फिर रबर की मूत्र शला-

---

विण्मूत्रवातसंगश्च स्वेदः स्रावोऽचिरक्तता।
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च॥
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि—

(२) अभिन्नेऽप्याशयेऽन्त्राणां खैः सूक्ष्मैरंत्रपूरणम्।
पिहितास्ये घटे यद्वत् लक्ष्यते तस्य गौरवम्॥

का द्वारा मूत्राशय से मूत्र निकाल कर उस की राशी की परीक्षा करनी चाहिये। साथ में रक्त की भी परीक्षा करनी चाहिये। यदि मूत्र में रक्त न हो तो—यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मूत्राशय विशेप रूप से नहीं फटा। यदि मूत्राशय में मूत्र न हो तो स्टरलाइज्ड पानी या बोरिकलोशन की ज्ञात राशी मूत्राशय में प्रविष्ट करें। यदि मूत्राशय फट गया होगा तो पानी चू जायेगा जिससे राशी घट जायेगी और शेष पानी रक्त से रंगा होगा। यदि मूत्रमार्ग या मूत्राशय की ग्रीवा विद्ध होगी तो सीवन पर सद्रव रक्त होगा अथवा मूत्र मार्ग से रक्त आयेगा।

काली आंख (ब्लैक आई)

त्वचा के नीचे के या कंजङ्क्टाइवा के नीचे के तन्तुवों का रक्तस्राव (एकीमोसिस) आंख पर रुई की कवलिका रखकर दृढ़ता से (बहुत ज़ोर से नहीं) पट्टी बांध देने से अच्छा हो जाता है। मुख पर आघात लगने से रक्तस्राव अक्षिगोलक में स्थान स्थान पर टुकड़ों के रूप में (बिखरे रूप में) होता है। त्वचा का रंजित होना १२ घन्टे के अन्दर देखा जा सकता है। कनजङ्क्टाइवा में होने वाला रक्तस्राव त्रिकोणाकार होता है। जिस का आधार ऊपर की ओर होता है। यह धीरे २ कौर्निया की और बढ़ता है। और "सब एपोन्यूरोटिक" रक्तस्राव ऊपर के वर्त्म में रंग परिवर्त्तन करता है निचले में नहीं।

हीमेटोमा कौंकी।

यह प्राय: मुष्टामुष्टी (बौक्सर) करने वालों में या फुटबाल खेलने वालों में होता है। इस के कारण रक्त की अधिक मात्रा त्वचा के निचले तन्तु और कौंकी के मध्य में एकत्रित हो जाती है। और रक्त धीरे २ विलीन होता है और कर्ण प्राय: बदशकल हो जाता है। इस के लिये सब से उत्तम

चिकित्सा यह है कि चाकू से छेदन कर के रक्त निकाल कर व्रण को सी देना चाहिये।

रक्त का छाला।

दो कठोर पदार्थों के बीच में त्वचा के भिंच जाने से यह बनता है। इस के लिये त्वचा को साफ कर के सूई से रक्त निकाल देना चाहिये।

नाखूनों के नीचे रक्त।

यह प्रायः अंगुलि के पिस जाने से होता है। दबाने से बहुत दर्द होता है। इस के लिये चाकू या पतली सूई से नख को इतना उठाना चाहिये जिस से वह रक्त तक पहुंच जाये। अथवा नख को त्रिकोणाकार (▽) थोड़ा सा काट कर रक्त निकालना चाहिये।

मोच (स्प्रेन एण्ड स्ट्रेन)

स्प्रेन का अभिप्राय दृढ़ स्नायु (लिगमैन्ट) के फटने से है और स्ट्रेन का अभिप्राय मांसपेशी या कण्डरा के फटने से है। इस में प्रथमावस्था अधिक भयानक है। परन्तु यह परिभाषा अपूर्ण है। कारण—"राईडर स्प्रेन" से अभिप्राय ऊरु की एड्डैक्टर (साथ मिलाने वाली) मांसपेशियों के फटने से है। अतः यहां "स्प्रेन" से अभिप्राय केवल यांत्रिक कारण से मांसपेशी, स्नायु या कण्डरा के विदीर्ण होने से है।

सन्धि के समीपवर्ती मोच उपद्रव उत्पन्न कर के सन्धि में द्रव उत्पन्न कर सकती है। अथवा दृढ़ स्नायुओं के साथ अस्थि के छोटे भागों (फ्रैगमैन्ट) को भी फाड़ सकती है। मुख्य लक्षण दर्द, शोथ, और गति का परिमित होना है। कई बार मोच का भ्रम भंग से हो जाता है। मणिबन्ध की सन्धि में यथा कौलस फ्रैक्चर में, अथवा स्कैफोयड के भंग में उसे भूल से मोच समझ कर चिकित्सा की जाती है। सन्देहावस्था में "रेडियोग्राम" खिंचवा लेना चाहिये। यदि यह संभव न हो तो पूर्ण परीक्षा

करनी चाहिये। संज्ञालोप करना चाहिये। जब तक शोथ और दर्द शान्त न हो जायें अंग को गति नहीं देनी चाहिये। और फिर आगे गवेषणा करनी चाहिये।

मांसपेशी या कण्डरा के तन्तुवों के फटने से अति दर्द, गति का परिमित होना, शोथ*-जोकि विदीर्ण तन्तुवों के चारों ओर रक्त के द्रव के एकत्रित होने से होती है-ये लक्षण होते हैं। यदि यह शोथ पृष्ठवर्त्ती हो तो त्वचा का रंग भी बदल जाता है।

इस के लिये सब से आवश्यक है कि मांसपेशी को आंकुचित कर के कुछ दिनों के लिये पर्य्याप्त आराम देना चाहिये। यदि दर्द अधिक हो तो स्थान पर एट्रोपीन और "ग्लिसरीन" का घोल लगाकर स्थान पर गरम सेक करना चाहिये। अथवा शीतोपचार करना चाहिये। ज्यों ही तीव्र लक्षण शान्त हों-मांसपेशी पर विम्लापन आरम्भ कर के समीपवर्त्ती जोड़ को गति देना आरम्भ कर देना चाहिये। जिस से एकत्रित द्रव विलीन हो जाये। यदि उचित रीति से चिकित्सा न की गई हो तो रुग्ण प्रदेश को पट्टी से दृढ़ता के साथ बांधकर अथवा "स्ट्रैपिंग" कर के रखना चाहिये। कई अवस्थाओं में फटे हुवे तन्तु चौड़े फैल जाते हैं। ऐसी अवस्था में उन को काट कर सी देना चाहिये।

"राईडर स्प्रेन" में कई बार ऊरु को दूर ले जाने वाली (एबडक्टर) मांसपेशियों में विदीर्णता आ जाती है। एवं क्षत और रक्त की मात्रा के कारण घुटनों से काठी को नहीं पकड़ सकता। इस के लिये एलास्टिक सहारा देना चाहिये।

---

* शोफाभिवृद्धिः तुमुला रुजश्च बलक्षयः पर्वसु भेदशोफौ।
क्षतेषु संधिष्वचलाचलेषु स्यात्सर्वकर्मोपरमश्च लिंगम्॥
······ ······तत्सेको विहितस्तथा।
वेशवारैः सकृशरैः सुस्निग्धैश्चोपनाहनम्॥
धान्यस्वेदांश्च कुर्वीत ··· ··· ·········सुश्रुत.

'लॉन टैनिस एल्बो" में करोत्ताननी (सुपीनेटर ब्रीविस) मांसपेशी विदीर्ण होती है। यह प्रायः गेंद को पीछे से मारने में होता है। इस मे प्लास्टर की पट्टी से सहारा देना चाहिये।

"लॉन टैनिस लैग" इस में जंघा की पिंडली की मांसपेशी फटती हैं। इस के लिये "एलास्टिक स्टौकिंग" पहनने के साथ बूट की एड़ी ऊंची कर देनी चाहिये।

निर्बल कलाई में सदा रिस्टस्ट्रैप, एवं घुटने की मांस पेशियों की निर्बलता या विदीर्णता में "नी कैप" का उपयोग करना चाहिये।

इन्टरनल डिरैजमैन्ट श्रौफ़ नी।

यह नाम उस अवस्था को दिया गया है कि जिस में दर्द सन्धि की स्थिरता और पीछे सायनोवियल कला की शोथ (सायनोवाइटिस) हो जाती है। सम्भवतः इस का मुख्य कारण अर्द्ध चन्द्राकार इन्टरआर्टिक्युलर तरुणास्थि का स्थान भ्रंश अथवा अस्थिर शल्य का उपस्थित होना है। यह शल्य तरुणास्थि के अस्थि रूप में परिणत होने से बनता है। कई बार सायनोवियल कला के नीचे वसा सञ्चित हो कर भी (लिपोमा आरबोरेस्सैन्स) हो जाता है। जिससे 'एलर लिगमैन्ट" "इन्टर कौण्डीलोयड नौच" से जुड़ जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में तन्तु का टुकडा जो सन्धि में ढीला लटक रहा है। वह "आर्टिक्युलर" पृष्ठ में पकड़ा जा कर यह लक्षण उत्पन्न कर सकता है। यदि विकार अर्द्धचन्द्रकार तरुणास्थि के स्थान भ्रंश से हुआ है तो रोगी सन्धि की स्थिरता को नहीं हटा सकता। इस के लिये चिकित्सक को बुला कर भ्रंशित तरुणास्थि को हटवा देना चाहिये। अन्य अवस्थाओं में प्रायः अपने आप अवस्था ठीक हो जाती है। और अवस्थाओं में सब कार्य प्रायः चिकित्सक अपने ही हाथ से कर लेता

है। अतः यहां पर अर्द्धचन्द्रकार तरुणास्थियों के विषय में लिखना उत्तम रहेगा।

दोनों (अन्तः और बाह्य) फट सकती हैं, स्थानभ्रष्ट हो सकती हैं और जुड़ सकती हैं। परन्तु प्रायः बाह्य की अपेक्षा अन्त. अधिक क्षत होती है। यह प्रायः तब होता है, जब पांव भूमि पर स्थिर रहे और सारा शरीर चारों ओर घूम जाये। अन्तः तरुणास्थि बाह्य घुमाव से और बाह्य तरुणास्थि अन्तः घुमाव से स्थान भ्रष्ट हो सकती हैं। दोनों घुमाव जघास्थि के अनुजंघास्थि पर घूमने से होते हैं। घुटना आधा मुड़ी अवस्था में स्थिर हो जाता है। ठीक अवस्था, रोगी का संज्ञालोप कर के घुटने को मोड़ने से लाई जा सकती है। अन्तः तरुणास्थि के स्थान भ्रंश होने पर सहसा फैला कर टांग को अन्तः घुमाना चाहिये, और बाह्य तरुणास्थि की अवस्था में फैलाकर बाहर की ओर घुमाना चाहिये।

एड़ी की कण्डरा का फटना (रप्चर्ड टैंडो एकिलिस)

यह प्रायः वृद्ध पुरुषों में सहसा कण्डरा पर भार पड़ने से होता है। कभी २ शब्द सुनाई देता है। विदीर्णता अंगुली से जानी जा सकती है। अंग को फलक या "प्लास्टर ऑफ़ पैरिस" की पट्टी से स्थिर करना चाहिये। और पाद सन्धि को खींच कर-फैलाकर घुटना थोड़ा सा मोड़ देना चाहिये। और जहां तन्तु अधिक चौड़े हो गये हों वहां सीना चाहिये। युवाओं और बच्चों में स्वस्थता की बहुत आशा है।

गिरी अंगुलि (ड्रौप्ड फिंगर)

इस अवस्था से यह अभिप्राय है कि रोगी अंगुलि को सीधा अकड़ा नहीं सकता। यह प्रायः गिरने के कारण या अंगुलि के अन्तिम प्रान्त पर प्रहार होने से होता है। कई बार अंगुली प्रसारणी दीर्घिका पेशी (एक्सटैन्सर लौंगस डिजिटोरम) के फटने से होता है, और कई बार अस्थि का

टुकड़ा उस भाग से जुड़ जाता है जिस भाग से कण्डरा लगी होती है। यह देखा जा सकता है कि "टर्मिनल फ़ैलैङ्क्स" तभी तक रुकावट डाल सकता है, जब तक अंगुली अकड़ी हो। परन्तु यदि अगुलि-पर्व सन्धि पर से मुड़ी हो तो इस की सब शक्ति नष्ट हो जाती है। इस लिये यदि समकोण पर बना फलक अंगुलि पर रक्खा जायेगा तो विदीर्ण कण्डरा गति रहित हो जायेगी। पर्व ऐक्यता उत्पन्न हो जायेगी। इस के साथ यह भी उत्तम है कि पृष्ठ पर भी फलक बांध दिया जाये। १४ दिन में पूर्ण मिलाव हो जाता है।

यांत्रिक आघात।

यह सब प्रकार की होती है। एक साधारण से क्षत से लेकर अंग के पूर्ण छेद तक मिलती है। यदि कोई रक्तस्राव हो तो उसे रोकना चाहिये। और जो व्रण हो वह शुद्ध करना चाहिये। भागों को यथा सम्भव समीप लाकर स्थिर कर देना चाहिये। यदि कोई भी अस्थि भंग न हो तो भी फलक के द्वारा कुचले हुवे अंग को सहारा देना चाहिये। जब तक अंग के स्वस्थ होने की आशा हो तब तक अंग को काटने का विचार नहीं करना चाहिये। जब किसी अंग का भाग फट गया हो तो अंगच्छेद ऊपर की ओर आवश्यक हो जाता है।

शिर का असाधारण व्रण कभी २ मैशीनरी में लम्बे बालों (स्त्रियों में) के आने से हो जाता है। ऐसी अवस्था में पूर्ण या अपूर्ण रूप में सिर फट जाता है। यदि शिर की त्वचा का कुछ ही भाग फटा हो तो स्वच्छ कर के ठीक स्थान पर लाकर सी देना* चाहिये। यदि शिर की त्वचा पूर्ण फट गइ हो तो यथा सम्भव "स्किन् ग्राफटिंग" से शीघ्र ढांपने का यत्न करना

* कर्णौ स्थानादपाहृत्य स्थापयित्वा यथास्थितम्।
सीव्येद् यथोक्तं तैलेन स्रोतश्चाप्यभितर्पयेत्॥

चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो व्रण को प्रतिदिन भली प्रकार साफ करके पट्टी बांधनी चाहिये। और जब अंकुर होने लगे तो स्किन ग्राफ़्टिंग करना चाहिये।

यदि हाथ या भुजा में मैशीनरी से क्षत हो जाये तो उसे स्वस्थ होने का अवसर देना चाहिये। इस के लिये सौल्ट सौल्युशन से धोना चाहिये। पानी का लगातार प्रवाह उपद्रव युक्त व्रण को भी साफ कर देता है। शोथ को हटाकर स्वस्थता की ओर झुकाता है। व्रण में जब अंकुर उत्पन्न हो जायें तो आवश्यक है कि स्वच्छता, और मन्द उत्तेजना देने वाले घोलों का उपयोग किया जाये। रोगी के साधारण स्वास्थ्य एवं सहारे का ध्यान रखना चाहिये।

अग्निदाह*।

तीव्र सांघातिक अवस्था में स्थानिक चिकित्सा की अपेक्षा रचनात्मक व्यापक चिकित्सा अधिक मूल्य की है। रोगी की

* तत्र स्निग्धं रूक्षं वाश्रित्य अग्निर्दहति। अग्निसन्तप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मशिरानुसारित्वाद् त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति। तस्मात्स्नेहदग्धेऽधिका रुजा भवति॥
अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव योगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते॥
तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रवतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च वर्द्धते॥
तत्र प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यक्दग्धमतिदग्धं चेति चतुर्विधमग्निदग्धम्। तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत्प्लुष्टम्। यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटाः तीव्राश्चोषदाहरागपाकवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यति तद्दुर्दग्धम्। सम्यग्दग्धमनवगाढं तालफलवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च। अतिदग्धे — मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः शिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्या-

मूर्च्छा की चिकित्सा तत्क्षण करनी आवश्यक है। उस को गरम कम्बल में लपेट कर अग्नि के समीप रखना चाहिये। साथ में ब्रांडी पानी में मिला कर पीने को देनी चाहिये। बिस्तर की पांयत ऊंची कर देनी चाहिये जिस से कि रक्त, कोष्ठ की शिराओं में न्यून हो जाये। यदि दर्द बहुत हो तो सूचीवेध द्वारा "मॉर्फ़िया" देना चाहिये। यदि रोगी को इस चिकित्सा से आराम न हो तो शिरावेध द्वारा "नौर्मल-सैलाईन" देना चाहिये। शरीर में जब गरमी आ जाये तब स्थानिक आघात का ध्यान देना चाहिये। एक भाग पर पट्टी लगाते समय शेष भाग को पूर्ण रूप से ढांप देना चाहिये। शरीर के मध्यवर्त्ती (कोष्ठ और उर) भाग के जलने पर शिशुवों की अवस्था में (यदि सम्भव हो तो युवाओं में भी) बोरिक स्नान (१००° फारनाहिट) दिया जाना उत्तम है। इस से जहां दर्द कम हो जायेगी वहां जले, अर्धजले भाग भी साफ़ हो जायेंगे। जिस से प्रलेप सुगमता से लग सकेगा। यदि लगातार स्नान दिया जाये तो रोगी इस में तब तक रहे जब तब कि रोहण आरम्भ न हो जाये।

केवल पृष्ठ के दहन में (जहां केवल त्वचा सूजी है या केवल उपरि पृष्ठ जला है-प्लुष्ट) सोडा बाईकार्ब का पूर्ण घोल शान्तिप्रद है। दाह को घोल से स्नान करा के लिन्ट या गौज़ को घोल में भिगो कर रख देना चाहिये। ऊपर से "औयल्ड सिल्क" गटापरचा रख देना चाहिये। कुछ चिकित्सक जले हुवे स्थान पर "कोलोडियन मिक्सचर" और एरण्डतैल (दो और एक के अनुपात में) कूर्ची से लगाना उत्तम बताते हैं। अथवा डेढ़ ड्राम पिक्रिक एसिड को तीन औन्स अलकोहल में घोलकर दो पाइन्ट तिर्यक्पातित पानी मिला कर काम लाते हैं। स्टर-

---

पदनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति । व्रणश्चास्य चिरेण रोहति रूढश्च विवर्णो भवति ॥

लाइज्ड गौज़ के स्ट्रिप्स घोल में तरकर लेने चाहियें। ऊपर से शोषक रुई रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये। जोकि तीन चार दिन तक रहने देने चाहियें।

दाह की सब से उत्तम चिकित्सा यह है कि दाह को प्रथम "टैनिक एसिड" के २½ प्रति शतक घोल से तब तक तर करें जब तक वह काला न हो जाये। इस को ढांपना नहीं चाहिये अपि तु वायु में खुला रहने देना चाहिये। इस से त्वचा आ जायेगी, ऊपर की रंगी एवं जली त्वचा गिर जायगी और अंकुर आने लगेंगे।

जब छाले उत्पन्न हो जायें तो उन को कैंची से विद्ध कर के पानी निकाल कर रुई से सोख देना *चाहिये। और फिर

---

* (१) प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं तथौषधम्।
शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्नं भवति शोणितम्॥
शीतामुष्णां च दुर्दग्धे क्रिया कुर्याद् भिषक् पुनः।

(२) घृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवास्य कारयेत्॥
सम्यक्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः।
सामृतैः सर्पिषा स्निग्धैरालेपं कारयेद् भिषक्॥
ग्राम्यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मांसैः प्रलेपयेत्।
पित्तविद्रधिवच्चैनं सततोष्णं समाचरेत्॥
अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम्।
क्रियां कुर्यात् भिषक् पश्चात् शालितण्डुलकण्डनैः॥

(३) तिन्दुकत्वक् कषायैर्वा घृतमिश्रं प्रलेपयेत्।

(४ मधूच्छिष्टं समधुकं रोध्रं सर्जरसं तथा।
मंजिष्ठा चन्दनं मूर्वां पिष्ट्वा सर्पिः विपाचयेत्॥
सर्वेषामग्निदग्धानामेतद् रोपणमुत्तमम्।

(५) अन्तर्धूम कुठेरको दहनज लेपाग्निहन्ति व्रणम्।
अश्वत्थस्य विशुष्कवल्कलभवं चूर्णं तथा गुण्ठनात्॥
अभ्यंगात् विनिहन्ति तैलमखिलं गण्डूपदैः साधितम्।

कोलोडियन मिक्सचर लगा देना चाहिये। कोलोडियन के ऊपर और कोई दूसरा ड्रैसिंग नहीं करना चाहिये। यदि दहन बहुत ही हो तो "एन्टीसैप्टिक ड्रैसिंग" करना चाहिये। ऐसी अवस्था में स्निग्ध प्रलेप यथा बोरिक एसिड या यूकिल-प्टस प्रलेप उत्तम है। मसलिन पर प्रलेप कर के व्रण पर रख देना चाहिये। ऊपर से रुई से ढांप देना चाहिये। यदि स्राव अधिक हो तो लकड़ी का बुरादा लगाना चाहिये।

यदि वास्तविक त्वचा जल गई हो तो उस को शेष स्वस्थ भाग से इस प्रकार पृथक् करना चाहिये जिस से पूयोत्पत्ति न हो। इस के लिये प्रथम चारों ओर की त्वचा को जन्तुघ्न विधि से साफ़ कर के व्रणोक्त विधि से इस की चिकित्सा करनी चाहिये। और यदि दौर्भाग्य से पूयोत्पत्ति हो गई हो और समीप के तन्तु शोथयुक्त हो गये हों तो जब तक शोथ शान्त न हो बोरिक फोमन्टेशन करना चाहिये। जब स्राव बन्द हो जाये तब प्रलेप लगाना चाहिये।

उपसंहार—यदि दाह बहुत हो तो गरम बोतलें पांव पर रखनी चाहिये। घटना के कुछ दिनों बाद तक नींद लाने के लिये एवं दर्द कम करने के लिये संशामक औषध देनी चाहिये। अतिदाह की अवस्था में प्रथम ड्रैसिंग संज्ञा लोप कर के करना चाहिये। और शामक औषध 'मॉर्फिया" सूची वेध द्वारा देना चाहिये। यदि दाह सन्धि के समीप हो तो

पिष्ट्वा शाल्मलितूलकैर्जलगतां लेपात्तथा वालुकाम् ॥

(६) स्नेहदग्धे क्रियां रूक्षां विशेषेणावचारयेत् ।
सुधा पुरातनी दध्नो वारिणा परिपेषिता ॥
लेपनं तैलदग्धस्य .....

(७) कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च ।
व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ॥
व्रणं गुडूचीपत्रैर्वा छादयेदथवौदकैः ॥

मांसकन्दी बन कर गति को रोक देता है। इस से बचाने के लिये अंग को फैला कर रखना चाहिये। और ज्यूं ही व्रण में अंकुर बनने लगे त्यूं ही स्किन ग्राफटिंग करना चाहिये।

स्किन ग्राफ्टिंग।

इस के लिये निम्न तीन विधि यथा-(१) थीर्स्कस (२) रैवरडिन्स (३) वुल्फ्स; काम में आती हैं। इन में स प्रथम विधि विशेष रूप से कार्य में लाई जाती है।

थीर्स्कस विधि—यह विधि वहीं बरती जाती है जहां कि व्रण ताज़ा हो परन्तु उस के किनारे समीप में न लाये जा सकें अथवा जो व्रण चिरकालीन हों। या उस अवस्था में जहां बहुत दाह हुवा हो और वास्तविक त्वचा नष्ट हो गई हो। इस विधि से केवल शीघ्र रोहण ही नहीं होता अपितु बहुत बड़ा स्कार होने से बचाती है।

दाह की अवस्था में जहां अंकुर उत्पन्न हो जाये निम्न विधि से कार्य करना चाहिये। अंकुरों की पृष्ठ पूर्ण स्वस्थ होनी चाहिये। अर्थात् आकार चमकता लाल हो, एवं थोड़ा छूने से भी अर्थात् गौज़ के रगड़ने से शीघ्र रक्त निकलने लगे। यह उत्तम है कि इस शल्य कर्म से कुछ दिन पूर्व स्थान को "बोरिक फोमन्टेशन" से स्वच्छ कर लिया जाये*। जिस से यथा सम्भव साफ़ हो जाये। व्रण से कुछ दूरी पर त्वचा को शल्य कर्म के लिये तैय्यार करना चाहिये। और जिस स्थान से त्वचा उठानी है (प्रायः ऊरु से) उसे भी उसी प्रकार तैय्यार करना चाहिये। इस के लिये-केवल स्टरलाइज्ड पानी या सैलाईन सौल्युशन काम में लाना चाहिये। इस काम में कोई भी रासायनिक घोल काम में नहीं लाना चाहिये।

यह आवश्यक नहीं कि त्वचा को रखने से पूर्व अंगूरों को छीला जाये। कारण—इस प्रकार से जो रक्त स्राव होगा

---

* न चासंशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं चिरारक्तं वा संदध्यात् ॥

वह रोकना कठिन है। और जब तक यह रुके नहीं इस का लगाना निष्फल है।

त्वचा को काटने के लिये सब से उत्तम औज़ार वह है जो कि उस्तरे के समान चौड़ा अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला हो। इस को ग्लैसरीन (१ भाग), शुद्ध अलकोहल (१ भाग), और पानी (३ भाग) के घोल में रख कर गीला करना चाहिये। जंघा की त्वचा को बांध कर चिकित्सक को चाहिये कि वह इतनी लम्बी और इतनी पतली 'एपिथीलियम" काटे जितनी कि सम्भव हो सके। कटाव "पैपिल्ली" के शिखर से गुज़रेगा-इस लिये रक्तस्राव अवश्य होगा। सम्पूर्ण व्रण को पूर्ण ढांपने के लिये जितने टुकड़े आवश्यक हों, उतने काट लेने* चाहियें। उन को व्रण तक या तो चाकू से उठा कर लाना चाहिये अथवा सैक्शन लिफ्टर द्वारा। व्रण में उन को या तो सदंश के द्वारा अथवा सूई के द्वारा फैलाना चाहिये। फिर खुरदरे पृष्ठ पर गौज़ के द्वारा दबा देना चाहिये। इस से वे चिपक जायेंगे।

शुष्क गौज़ बहुत संतोषजनक ड्रैसिंग है। इस से टुकड़े स्थिर हो जाते हैं और जब ड्रैसिंग बदलते हैं तो साथ में उठ कर नहीं आते। ८ वें या १० वें दिन टुकड़ों का गहरा पृष्ठ चिपका होता है और केवल ऊपर का पृष्ठ उतरता है। शल्य-कर्म को सफल बनाने के लिये आवश्यक है कि ड्रैसिंग

---

* (१) गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता।
कर्णपालिमपालेस्तु . ...

(२) विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया वक्ष्यामि संधानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्ब्य तस्य ॥
तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रतिसंदधीत तत्साधु बन्धैर्भिषगप्रमत्तः ॥

(३) "मांस मांसेन रोहतु" अथर्व. ४।१२।४. चर्मणा चर्मरोहतु.

फिसले नहीं। इस के लिये यदि व्रण शाखा या अंग पर हो तो उस से पर्य्याप्त नीचे और ऊपर पट्टी को ले जा कर दृढ़ता से बांध देना चाहिये। शिशुवों की अवस्था में अंग स्थिर करने के लिये फलक बांध देना चाहिये। यदि व्रण छाती या कोष्ठ पर हो तो गौज़ की गम्भीर पृष्ठ स्वस्थ त्वचा से "कोलोडियन" के द्वारा बचाई जा सकती है।

जहां से त्वचा उठाई जाती है, वह पृष्ठ बहुत दुःखदायी होता है। इस के लिये गौज़ की चार तह कर के कटे पृष्ठ एवं रक्तस्राव के स्थान पर रख देनी चाहिये। यह कवलिका चारों ओर एक २ इञ्च बढ़ी होनी चाहिये। गौज़ के किनारे ज़िंक औक्साइड प्लास्टर से स्थिर कर देने चाहियें। रक्त को गौज़ सोख लेगा और २४ घन्टे के बाद एक शुष्क पृष्ठ बन जायेगी। यह ड्रैसिंग तब तक खुला ही रहना चाहिये, जब तक पृष्ठ सूख न जाये। यदि चक्का (जमा रक्त) तर हो गया तो जल्दी से पूय आ जायेगी। जब तक नीचे की त्वचा पूर्ण स्वस्थ न हो जाये ड्रैसिंग लगा रहने देना चाहिये।

रैवरडिन्स विधि—इस अवस्था में दानों को खुरचा नहीं जाता। अपितु यथा सम्भव बोरिक एसिड के सेक से स्वस्थ बनाया जाता है। तब त्वचा में एपिथीलियम के छोटे टुकड़े दीखने लगते हैं। कोमल स्वस्थ त्वचा को काट कर टुकड़ों को खुरदरे पृष्ठ पर रख कर स्टरलाईज्ड गौज़ रख देना चाहिये*। ड्रैसिंग दो या तीन दिन से पूर्व नहीं खोलना चाहिये।

वुल्फस विधि—इस में त्वचा की सम्पूर्ण मोटाई ली जाती है। इस में ८×२ इञ्च का टुकड़ा सुगमता से बदला जा सकता है। यह विधि प्रथम विधि के समान उत्तम नहीं, परन्तु यदि सफलता से हो जाये तो बहुत लाभदायक है।

---

* स यदा सुरूढो निरुपद्रवः सवर्णो भवति तदैनं शनैः शनैरभिवर्धयेत्।

स्कैल्ड्स ऑफ़ दी ग्लौटिस ।

रोगी प्रायः शिशु होता है। गरम द्रव-पानी या दूध जब पी लिया जाता है तो आस्य एवं श्वास प्रणाली का ऊपर का भाग जल सा जाता है। श्वासकाठिन्य होता है, जो कि अवस्थाओं के अनुसार थोड़ा या बहुत होता है। श्वासकाठिन्य हो तो चिकित्सक को चाहिये तत्क्षण "लैरिंजोटौमी" करने में देरी न करे। परन्तु यह शल्यकर्म तभी करना चाहिये जब अन्य उपाय से सफलता प्राप्त न हो।

इन्जरीज़ फ्रौम गन पाऊडर—बारूद से क्षति ।

खुले चूर्ण की लपट त्वचा को खुरच या फाड़ देती है। आंख को हानि करता है, बालों को जला देता है। पाऊडर के कण त्वचा में बिखर जाते हैं। यदि इन को रहने दिया जाये तो रोगी का चेहरा नीला हो जाता है। पाऊडर के चुनने में व्यर्थ समय नहीं खोना चाहिये। इस के लिये उत्तम है कि रोगी का संज्ञालोप कर के पाऊडर चुना जाये। इस की चिकित्सा प्रायः दाह से मिलती है। रोगी के औषधालय में आने पर यदि रक्तस्राव हो तो एक दम बन्द कर देना चाहिये। एवं व्रण की परीक्षा भली प्रकार करनी चाहिये। यदि अंगुली पर आघात हो तो, उत्तम है कि उस को करमूल-शलाका (मैटाकार्पल) के सिरे से पृथक् कर दिया जाये। अंगुली चाहे कितनी क्यों न फट गई हो, अस्थि भंग क्यों न हो गया हो, काटनी नहीं चाहिये, अपितु फलक से बांध देनी चाहिये।

दंश और काटना ।

जो व्यक्ति कुत्ते से काटा जाये उस के लिये जलत्रास की सम्भावना अवश्य करनी चाहिये। यदि पागल कुत्ते ने वास्तव में काटा हो तो व्रण को रजतनत्रित से जला देना चाहिये। और यदि सन्देह हो तो रोगी का संज्ञालोप कर के व्रण को

चाकू से बढ़ा देना चाहिये। और जहां यह करना असम्भव हो वहां पूर्ण रूप से जला देना चाहिये। सर्पदंश की अवस्था में दंश से ऊपर अरिष्ट बांधना चाहिये। व्रण को फिर चीर कर यथासम्भव सब विष चूस कर बाहर कर देना चाहिये। यदि सम्भव हो तो आचूषण द्वारा या कपिंग ग्लास द्वारा विष को निकाल कर बोरिक फोमन्टेशन करना* चाहिये। विष के कारण शक्ति तत्क्षण कम होने लगती है। अतः अमोनिया, ईथर ब्रांडी आदि देनी चाहियें। बिच्छू या ततैये के दंश के लिये क्षार (अमोनिया) अथवा धत्तूर लगाना चाहिये।

सस्पैन्डैड एनीमेशन (पानी में डूबने की या फांसी की अवस्था)

श्वास कार्य में परिवर्तन आने से ओषजन सम्यक् प्रकार से शरीर में नहीं जाती और न कार्बन डायऑक्साईड बाहर निकलती है। इस के कारण तन्तु मर जाते हैं। प्रथम मध्यवर्ती वातसंस्थान प्रभावित होता है और अन्त में हृदय। प्राणरक्षा के लिये आवश्यक है कि फेफड़ों में रक्त प्रवाह को उत्तेजित किया जाये। और साथ में उसी समय फेफड़ों में वायु पहुचाई जाये। इस के लिये दो विधियां हैं। यथा—स्कैफ़र्स विधि और सिलवेस्टर्स विधि।

स्कैफ़र्स विधि—यह विधि युवाओं में एवं सहायक के

---

* (क) छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतस्य रक्तमोक्षणम्।
एतास्तु दृष्टमात्राणामायुषः प्रतिपत्तयः॥ मालविकाग्निमित्र.

(ख) रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्॥

(ग) दंशस्योपरि बध्नीयात् अरिष्टाश्चतुरंगुले॥

(घ) पाटयित्वा यथादोषं व्रणवच्चापि शोधयेत्॥

(च) त्रस्यत्यकस्माद् योऽभीक्ष्णं श्रुत्वा दृष्ट्वाऽपि वा जलम्।
जलत्रासं तु तं विद्यात् रिष्टं तदपि कीर्त्तितम्॥

(छ) आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः॥

देखिये न्यायवैद्यक और विषतंत्र पुस्तक.

अभाव में उत्तम है। रोगी को मुंह के भार धरती पर लेटा कर चिकित्सक अपने हाथों को रोगी की उरोगुहा के नीचे के भाग पर रख कर घुटने झुका कर तथा रोगी के ऊरुओं के दोनों ओर टिका कर बैठ जाये। अपने शरीर का भार अपने हाथों पर देकर सम्पूर्ण वायु और रक्त को गुहाओं से बाहर करे। ज्यू ही यह भार उठाया जायेगा तो वायु और रक्त फिर खिंच कर फैफड़ों के अन्दर आ जायेगा।

सिलवेस्टर्स विधि—रोगी को पीठ के भार मेज़ पर लेटा कर सिर और कन्धों को थोड़ा ऊंचा रक्खे। जिह्वा को किसी धागे या क्लिप से सुरक्षित रखना चाहिये। इस को बाहर की ओर खींच लेना चाहिये, जिस से ग्लौटिस न रुके।

चित्र नं० १०

सिलवेस्टर्स विधि – आकृति नं० १ बहिः श्वास

अब चिकित्सक रोगी के सिरहाने खड़ा हो कर कोहनी के नीचे से हाथों को पकड़ लेवे। प्रकोष्ठ को मोड़ कर भुजायें दबाव के

साथ छाती पर रख देनी चाहियें और फिर सिर के ऊपर भुजाओं को थोड़ा फैलाना चाहिये। जिस से कि छाती फैल सके।

चित्र नं० ११
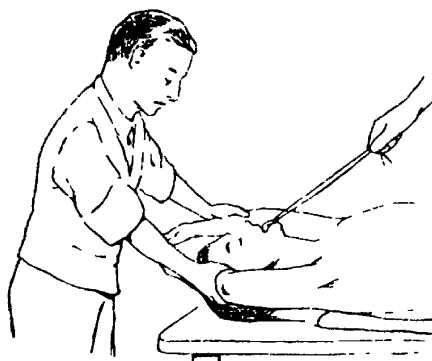
सिलवेस्टर्स विधि—आकृति नं० २ अन्तःश्वास।

चाहे जो भी विधि बरती जाये छाती को एक मिनिट में १० बार से अधिक नहीं दबाना चाहिये। और कृत्रिम श्वास चार घन्टे तक जारी रखना चाहिये। पांच वर्ष के बच्चों में मुख से मुख मिला कर श्वास क्रिया प्रचलित करना उत्तम है। सब अवस्थाओं में रोगी को गरम कम्बल और गरम पानी के बोतलों से गरम रखना चाहिये।

फांसी और जलमग्नावस्था में प्रायः चेहरा पीला और सूज जाता है। ऐसी अवस्था में "बाह्य जुगुलर शिरा" या शंख धमनी (टैम्पोरल आर्टरी) से रक्तमोक्षण करना चाहिये।

जब लक्षण स्वस्थता के प्रतीत होने लगें तो उत्तेजक वस्ति, मद्य (ब्राण्डी) लाभदायक है। जब तक पूर्ण स्वस्थता न हो जाये, मुख से उत्तेजक औषध आदि कुछ भी नहीं देनी चाहिये। कारण-फुफ्फुस में जाने का भय है। क्लोरोफार्म या

कार्बोनिक एसिड गैस से मृत्यु के लक्षण दीखने पर यही विधि काम में लानी चाहिये। हृदय पर गरम टॉवल-अंगोछे रखने चाहियें। इन को थोड़े २ मिन्टों में बदल देना चाहिये।

अचेतनता।

कई बार चिकित्सक को सड़क के किनारे या घर में पड़े अचेतन व्यक्ति को देखना पड़ता है। ऐसी अवस्था में कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। अचेतनावस्था निम्न तीन कारणों में से किसी एक से हो सकती है। यथा—

(१) निद्रालु पदार्थ (नारकोटिक)-यथा अफीम।

(२) विषावस्था (टौक्सिक यूरीमिया, मधुमेह, सूर्याभिहत।

(३) मस्तिष्क का आघात (आघातजन्य)—कनकशन, विदीर्ण रक्तवाहिनियों से रक्तस्राव, (अनभिघातजन्य)—एपोप्लैक्सी (सन्यास), मस्तिष्क के एन्युरिजम (शिरार्बुद) का फटना।

इन में भेद करने के लिये साधारणतः निम्न अवस्थायें अवश्य देखनी चाहियें। यथा—

(क) आघात—शिर और अन्य अंगों को आघात के लिये देखना चाहिये।

(ख) श्वास में गन्ध—का ध्यान रखना चाहिये। श्वास में मूत्र की गन्ध यूरीमिया, एवं मीठीगन्ध मधुमेह या एसीटोन को बताती है। जब तक मद्य का पूर्ण निश्चय अन्य साक्षियों से न हो जाये तब तक श्वास की गन्ध से ही मद्य का पूर्ण निश्चय नहीं करना चाहिये। "कोमा" के अन्य कारण भी धीरे २ निकालते जाना चाहिये।

(ग) मूत्र—कैथेटर द्वारा निकाल कर उस की एल्ब्युमन शर्करा, डाईएसेटिक और बी औक्सीब्युटीरिक एसिड के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

(घ) औक्युलर फंडाई—की रक्तस्राव और रैटिनाईटिस के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

(च) कनीनिका यह भी बहुत कुछ ज्ञान कराती है। मद्य के कारण विस्तृत, अफ़ीम से संकुचित, कनकशन की अवस्था में विस्तृत होने पर प्रकाश सहिष्णु, कम्प्रैशन की अवस्था में अतुल्य होती है। परन्तु कम्प्रेशन की अन्तिम अवस्था में यह फैल जाती एवं स्थिर हो जाती है।

(छ) मध्यवर्त्ती वातसंस्थान—की प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं की वृद्धि के लिये एवं स्थानिक पक्षाघात (अर्दित, फेशियल, मोनोप्लीजिया-एकाङ्ग, हैमिप्लीजिया-अर्धांग, कोष्ठ की प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं के अभाव) के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

(ज) नाड़ी—इस की विशेष मुख्यता है। धमनी में बढ़ा हुआ रक्त का दबाव (आरटीरियल टैन्शन) कम्प्रेशन या यूरीमिया का मुख्य लक्षण है।

(झ) कोमा की अवस्था—मद्य और कनकशन की अवस्था में न्यून मात्रा में होता है।

कनकशन, कम्प्रेशन, और कन्ट्युझन।

मस्तिष्क की कनकशन की अवस्था में अचेतनता कुछ मिन्टों से लेकर कुछ घन्टों तक रहती है। "कोमा" की गम्भीरता आघात की भयानकता पर निर्भर है। अधिक भयानक अवस्थाओं को छोड़ कर अचेतनता बहुत गम्भीर नहीं होती। रोगी कुछ क्षण के लिये उठ जाता है और तीव्र उत्तेजना को भी कई बार सह लेता है। श्वास उथला होता है, नाड़ी कमज़ोर एवं कंपकपाती होती है। रोगी पीला, त्वचा शीत, एव प्रत्यावर्त्तित क्रियायें केवल भयानक अवस्थाओं में ही नष्ट होती हैं। प्रायः मूत्राघात (रिटैन्शन) होता है, परन्तु कभी २ मूत्र प्रवाहित होता रहता है। पुतली फैली परन्तु प्रकाश की सहिष्णु होती है। वमन स्वस्थता का प्रथम लक्षण है। इस से रक्त का दबाव बढ़ जाता है और रोगी चेतन हो जाता है।

यदि मस्तिष्क की रक्तवाहिनी पर आघात हुआ है तो रक्त का दबाव बढ़ कर रक्तस्राव उत्पन्न करेगा, जिस से कि कम्प्रेसन अवस्था उत्पन्न हो जायेगी।

कम्प्रेशन—इस शब्द से अभिप्राय उस अवस्था से है जिस में बाह्यरक्त द्वारा मस्तिष्क पर दबाव पड़ता है। अतः रोगी के लक्षण रक्तस्राव के स्थान पर और मस्तिष्क में इस के फैलाव पर निर्भर करते हैं। जब रक्तस्राव मात्रा से अधिक हो तो वह मस्तिष्क के रुग्ण भाग में शिराओं से वापिस जाने वाले रक्त में बाधा उत्पन्न करता है। जिस से केशिकाओं में दबाव बढ़ जाता है। इस से प्रथमावस्था में शिराप्रतानावस्था (वीनस इनगौर्जमैन्ट) आती है और दूसरी अवस्था में "एनीमिया" पाण्डुता होती है। प्रथमावस्था मस्तिष्क में बढ़ कर उत्तेजना उत्पन्न करती है और द्वितीयावस्था पक्षाघात को। इस लिये मस्तिष्क में रक्तस्राव के कारण क्रमशः बढ़ता हुआ दबाव प्रथम विक्षोभक और पीछे से पक्षाघात (पैरेलिसिस) के लक्षण उत्पन्न करने वाला होता है।

आक्रमण प्रायः अर्धगोल के पार्श्वीय भाग पर क्रियाक्षेत्र (मोटर एरिया) के समीपवर्त्ती भाग पर होता है। प्रथमावस्था में रक्तसंचय (हीमेटोमा) उत्पन्न हो कर शिराओं के जाल पर दबाव देता है। और उस स्थान से मस्तिष्क मेरुदण्डवर्त्ती द्रव (सैरिब्रोस्पाईनल फ्लूइड) को स्थान भ्रंश कर देता है। ये सब परिवर्त्तन मस्तिष्क के रक्तसंचार में बिना बाधा के हो जाते हैं, अत कोई लक्षण नहीं दीखता। और जब शिराओं में रक्त का दबाव (वीनस इनगौर्जमैन्ट) होने लगता है तो क्रियाओं के क्षेत्र में भी उत्तेजना के लक्षण होने लगते हैं।

लक्षण—शरीर के विरुद्ध भाग में (यथा मस्तिष्क के दक्षिणपार्श्व में यदि लक्षण होंगे तो शरीर के वामभाग में एवं वाम भाग के रक्तस्राव में शरीर के दक्षिण भाग में) लक्षण होते

है। और गम्भीर प्रत्यावर्त्तित क्रियायें बढ़ जाती हैं। अर्थात् मांसपेशियों में कठोरता (रिजिडिटी-अकड़ाव), अंगों में कम्पन और सम्भवतः आक्षेप होते हैं। रक्तसंचय की और अधिक वृद्धि पाण्डुता का कारण बन कर पीछे से विरुद्ध भाग का अर्धांग उत्पन्न करती है। इस समय समीपवर्त्ती मस्तिष्क के भाग (अर्थात् क्रियाक्षेत्र के समीपवर्त्ती भाग) मध्यमस्तिष्क पर दबाव पड़ने लगता है। जिस से उत्तेजना हो कर आघात के पार्श्व की कनीनका संकुचित हो जाती है। रक्तसंचय में और अधिक वृद्धि मस्तिष्क में पाण्डुता उत्पन्न करती है, और सम्भवतः मैडल्ला में शिराओं में रक्तवृद्धि उत्पन्न कर देता है। इस अवस्था में जब कनीनका पक्षाघात (पैरेलेटिक) अवस्था में आ रही होती है तब "बल्ब" में उत्तेजना बढ़ रही होती है। "बल्ब" में विक्षोभ के लक्षण-धीरा परन्तु गहरा श्वास, नाड़ी की मन्दता और रक्त का बढ़ना है। कई बार इसी सम्पूर्ण चित्र को "कम्प्रेशन" नाम दिया जाता है।

कई बार शिरःसम्पुट के ऊपर के कोष्ठ (सुपीरियर चैम्बर ऑफ़ दी स्कल) में हुए रक्तस्राव पर देर तक ध्यान न देने से भी यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मस्तिष्क के कम्प्रेशन के लक्षण आघात के स्थान और रक्तस्राव की मात्रा पर निर्भर है। प्रायः रक्तस्राव अर्द्धगोलक से आरम्भ होता है अतः उपरोक्त लक्षण होते हैं। परन्तु यदि रक्तस्राव पश्चिमीय खात (पोस्टीरियर फोसा) से प्रारम्भ हो तो 'बल्बर" के लक्षण सब से प्रथम होंगे। एवं अर्धगोलक के लक्षणों का अभाव रहेगा। अर्थात् अंगों में उत्तेजना नहीं रहेगी।

रक्तस्राव के कारण पक्षाघात के लक्षण निम्न होते हैं—एकांग पक्षाघात, अर्धांग पक्षाघात, कोष्ठ की प्रत्यावर्तित क्रिया-

ओं का अभाव, एफेज़िया (श्वासकाठिन्य), पुतली का पक्षाघात जन्य फैलाव एवं यूनीलेटरल वैबिन्स्की के लक्षण होते है। इन लक्षणों के आधार से कम्प्रैशन को जानने का यत्न करना चाहिये।

कई बार "कोमा" जो कि मस्तिष्क के रक्तस्राव के कारण होता है, उसका भ्रम मद्यजन्य "कोमा" से हो जाता है। एवं मस्तिष्क के रक्तजन्य 'प्रलाप" का भी मद्यजन्य प्रलाप से धोखा हो जाता है। रक्तस्राव की अवस्था में यह आवश्यक नहीं कि रोगी गड़बड़ाये परन्तु यह वश में नहीं किया जा सकता। और यदि प्रलाप बढ़ जाये तो कुछ देर के बाद कोमा की अवस्था आकर मृत्यु हो जाती है। मद्य की अवस्था में रोगी गड़बड़ा जाता है और प्रलाप को वश में किया जा सकता है।

रोगी जो कन्ट्यूज़न या मस्तिष्क विक्षोभ के कारण अपने अंगों को मोड़कर लेटा हुआ है और "कोमाटोज़" अवस्था मे पड़ा है वह समीप में शोर करने से उठाया जा सकता है।

कनकशन या कन्ट्यूज़न के रोगी को विस्तर पर लेटा कर शिर के बाल साफ़ करा के शिर पर आईसबैग रखना चाहिये। और आंतों को "कैलोमल" से साफ़ करना चाहिये। यदि रक्त का दबाव धमनियों में कम हो तो रोगी के पांव ऊंचे कर देने चाहियें। और शाखाओं पर पट्टी बांध देनी चाहिये। गरम बोतलें एवं गरम कम्बल काम में लाने चाहियें। यदि रक्तस्राव के लक्षण हों तो बड़े चिकित्सक को बुलाना चाहिये।

कनकशन और कम्प्रैशन में भेद—

	चिन्ह	कनकशन	कम्प्रैशन
१	अचेतनता में रोगी को वुलाया जाये तो मूर्च्छा के समान लक्षण हों तो—	रोगी ज़रा चेत हो जाता है।	पूर्ण अचेतन। वुलाने पर नहीं बोलता।
२	श्वास	उथला, मन्द, आह युक्त	मन्द, सघोष, अनियमित
३	·पुतली	समान, परन्तु प्रकाश के लिये असहिष्णुता,	स्थिर, असमान, पहिले संकुचित फिर फैली।
४	मोटर सिस्टम	पेशियां रिलैक्स्ड, कोई पक्षाघात नहीं होता।	पक्षाघात, श्वास में गालें फूल जाती हैं। प्रायः एक पक्ष में पक्षाघात होता है।
५	मूत्राशय	मूत्र का बार बार आना।	मूत्राघात, परन्तु मूत्र के बहुत भरने पर स्राव निरन्तर रहता है

कम्प्रैशन की अचेतनता की पहिचान कई रोगों से करनी चाहिये। प्रायः निम्न पांच रोगों में भ्रम पड़ता; है यथा—

रोग	पुतली और कनजङ्क्टाइवा	श्वास और नाड़ी	पक्षाघात	कोमा की गम्भीरता	कोर्स
अलकोहल	सामान, साधारण फैली	नाड़ी तेज़ मज़बूत, फिर निर्बल। श्वास सघोष-साधारण* ।	कोई नहीं	हटाई जा सकती है *	१२ घन्टे मे ठीक हो जाता है।
अपस्मार	पुतली फैली, प्रकाश की असहिष्णुता, कनजङ्क्टाइवा रिफ़्लैक्स नष्ट ।	नाड़ी तेज, निर्बल । श्वास सघोष ।	कोई नही	नही हटाई जा सकती ।	चेतनता पूर्णतः आ जाती है*
कम्प्रेशन	पुतली फैली परन्तु असमान* । कनजङ्क्टाइवा रिफ्लेक्स नष्ट ।	रक्त का दबाव ऊंचा । श्वास सघोष और चेनस्टोक ।	हेमीप्लीजिया ।	नही उठाया जा सकता ।	स्थिर होता है ।
अफ़ीम	पुतली बहुत संकुचित, परन्तु समान । कनजङ्क्टाइवा रिफ्लैक्स उपस्थित* ।	श्वास और नाड़ी दोनों तेज, श्वास सघोष ।	साधारण निर्बलता	उठाया जा सकता है	१२ घंटे में मृत्यु या स्वस्थता ।
यूरीमिया	पुतली फैली या नियमित । कनजङ्क्टाइवा रिफ्लैक्स उपस्थित ।	नाड़ी मन्द, रक्त का दबाव ऊंचा, श्वास आहयुक्त ।	कोई नहीं	नहीं उठाया जा सकता ।	आक्षेप के साथ अंतर से होता है

* यह चिन्ह मुख्य भेदक लक्षण का है ।

सातवां प्रकरण ।

बाह्य शल्य ।

मन:शरीराबाधकरं शल्यम् ॥ सुश्रुत.

तन्तुवों में शल्य ।

सूई या लकड़ी की फांस प्राय: हाथ या पांव में चुभ जाती है। कई बार फांस नखूनों के नीचे जा फंसती है। इस के लिये आवश्यक है कि फांस के ऊपर के नख को काट दिया जाये जिस से फांस निकाली जा सके। यदि फांस त्वचा के नीचे आगई हो तो उत्तम है कि स्थान को खोल कर पूर्ण रीति से साफ़ कर देना चाहिये, जिस से कि पूयोत्पत्ति न हो। सूई का ज्यूं ही पता लगे उसे काट कर निकाल देना चाहिये। यदि सूई का पता न लगे तो उत्तम है कि "ऐक्स रे" से परीक्षा की जाये। इन की गहराई और आवश्यक रचना से सम्बन्ध देखना चाहिये। साधारणत: छेदन सूई की लम्बाई में करना चाहिये। एवं इस के सब से पृष्ठवर्त्ति भाग पर करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि लोहा (फौलाद) तन्तु में कुछ समय तक रहे तो काला पड़ जाता है

यदि भुजा को कसकर पट्टी बांधने से (एसमार्चेस बैण्डेज) रक्त रहित कर दिया गया हो तो सूई को उस के रंगे हुए मार्ग के द्वारा ढूंढना चाहिये। रक्तस्राव का अभाव शल्य को ढूंढने में बहुत सहायता करता है। एसमार्चेस पट्टी के स्थान पर स्थानिक संज्ञालोप भी 'एड्रेनलीन" या "नौवोकेन" द्वारा किया जा सकता है; इस से जहां रक्तस्राव कम होगा वहां पर रोगी को सुगमता से "एक्स रे" के स्थान पर ले जासकते हैं। यह

आवश्यक है कि शल्यकर्म से ठीक पूर्व "एक्स रे" से परीक्षा की जाये। कारण, सूई बड़ी जल्दी इधर उधर हो जाती है।

आंख में शल्य।

बाह्य शल्य, धूल आदि से लेकर सीसे के बड़े टुकड़े तक आंख के प्रथम पटल (कौर्निया) को ढांप सकते हैं। सब अवस्थाओं में शल्य को तुरन्त बाहर करना चाहिये। इस के लिये पलकों को उल्टा कर के प्लोत या रूई से साफ़ कर देना चाहिये*। जब कभी किसी धातु का शल्य या अन्य ऐसी

* (१) अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृंगास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लोहमयेषु एव विशेषेणार्थोपपन्नत्वात् लोहस्य। लौहानामपि दुर्वारत्वाद् अणुमुखत्वात् दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृत: ॥

(२) सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गतिविशेष: उर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यङ्ऋजुरिति।

(३) श्यावं पिडकावन्तं शोफवेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणितस्राविणं बुद्बुद्उन्नतं मृदुमांसं च व्रणं जानीयात् ॥

यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुतापि च।
घट्टते बहुशो यत्र रुज्यते तुदतेऽपि च ॥
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति।
संवाह्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत् ॥
अल्पबाधं अशूनं च नीरुजं निरुपद्रवम्।
प्रसन्नं मृदुपर्यन्त निराधारमनुन्नतम् ॥
एषयया सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः।
प्रसाराकुञ्चनाभ्यां नूनं नि:शल्यमिति निर्दिशेत् ॥

तत्र समासेनावबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदशान् हेतून्वक्ष्यामः। तद्यथा स्वभावः पाचनं दारणं भेदनं पीडनं प्रमार्जनं निर्ध्मापनं वमनं विरेचनं प्रक्षालनं प्रतिमर्शः प्रवाहणमाचूषणमयस्कान्तो हर्षश्चेति।

वस्तु आंख में पड़ जाती है तो उस को ढूंढने में बहुत कठिनता होती है। इस के लिये "आचारिक" को चाहिये कि वह अपने आप एवं रोगी को प्रकाश में खड़ा कर के पटल को देखे। इस प्रकार वह फटी हुई एपिथीलियम-जहां से शल्य घुसा है उसे या शल्य को देख सकेगा। पटल को हाइड्रोक्लोराईड ऑफ़ कोकेन के दो प्रति शतक घोल से संज्ञा रहित कर के चौड़ी सूई के नोक से शल्य को निकाल कर आंख में एरण्डतैल डाल देना चाहिये। जब शल्य आंख से निकाला जाता है तो भी एक हलका निशान छोड़ जाता है—जिस का चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। इस का निर्णय ताल यंत्र (मैग्नीफाईंग ग्लास) कर देंगे।

कई अवस्थाओं में शिशुवों में पलकों के स्पाज़म का बन्द करना इतना असम्भव हो जाता है कि आंख खोली नहीं जा सकती और नाही शल्य निकाला जा सकता है। ऐसी अवस्था में संज्ञालेप करना चाहिये।

आंख में चूना।

यदि यह तुरन्त न निकाला जाये तो बहुत उपद्रव उत्पन्न करता है। इस के लिये इस को ऊंट के बालों से बनी शुष्क कूर्चा (कैमल हेयर ब्रश) से साफ़ कर के सिरकाम्ल और पानी के घोल से अथवा हल्के "एसिटिक एसिड" से धो डालना चाहिये। जिस से बचा हुआ चूना हानि न करने वाले समास में बदल जायेगा। स्थिर काच रोग (परमनैन्ट

सर्वेशल्यानां तु महतामणूनां वा द्वावेवाहरणहेतू भवतः। प्रतिलोमोऽनुलोमश्च। तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेदनुलोमं पराचीनम्। ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदार्हमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्यावदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमुपदिशेत्॥ सुश्रुत.

ओपेसिटी) से बचाने के लिये चार प्रति शतक में बने कोकेन के घोल से एवं न्यूटरल अमोनियम टार्टरेट के दस प्रति शतक घोल से संज्ञा रहित कर के "ऐट्रोपीन" का प्रलेप लगा कर पट्टी बांध* देनी चाहिये, और यह प्रति दिन करना चाहिये। रोगी के सम्बन्धियों को कह देना चाहिये कि आघात भयानक है, यह भी सम्भव है कि काच रह जाये, यदि चिकित्सा शीघ्र न की गई।

कान में शल्य।

बच्चे कई बार छोटी वस्तु कान में डाल लेते हैं। इन में प्रायः मटर, फली, बटन, गोलियां और अन्न के दाने होते हैं। यदि इन को कान में रहने दिया जाये तो यह शोथ†, व्रण, और सल्फ़ तक उत्पन्न कर देते हैं। शोथ बढ़ कर कर्णपटह (मैम्ब्रेना टिम्पेनाई) को भी नष्ट कर सकता है। इस के साथ चिरकालीन स्राव (मध्यकर्ण से) एवं अन्य उपद्रव उत्पन्न कर सकती है। अतः आवश्यक है कि शल्य को यथासम्भव शीघ्र निकाला जाये। परन्तु अनुचित विधि से निकालने का यत्न करने पर श्रोत्रेन्द्रिय को विशेष क्षति पहुंच जाती है। अतः आवश्यक है कि यह कार्य विशेष निपुणता से किया जाये। जब शल्य "स्पैक्युलम‡" से दिखाई देता है तो अनि-

---

* अणून्यक्षिशल्यानि परिषेचनाध्मापनैः वालवस्त्रपाणिभिः प्रमार्जयेत्।
सर्वनेत्राभिघाते तु सर्पिरेवप्रशस्यते ॥

† शोथपाकौ रुजश्चोग्राः कुर्याच्छल्यमनिर्हृतम् ।
वैकल्यं मरणं चापि तस्माद् यत्नात् विनिर्हरेत् ॥

‡ (१) आददीत भिषक् तस्मात्तानि युक्त्या समाहितः ।
एतैरुपायैः शल्यं तु नैव निर्घात्यते यदि ॥
मत्या निपुणया वैद्यो यंत्रयोगैश्च निर्हरेत् ॥

(२) तालयंत्रे द्वादशांगुले, कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम् ।

(३) कर्णछिद्रेषु वर्त्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा शृंगेनापहरेत् ।

पुए चिकित्सक अपने हाथ में पकड़े संदंश से निकालने का यत्न करता है। परन्तु यदि वस्तु कठोर अथवा "स्फैरिकल" (चक्करदार) होती है तो यह और भी अन्दर चली जाती है।

यदि यह बहुत साफ़ न हो ता उत्तम है कि रोगी का संज्ञालोप किया जाये। फिर छिद्र का पूर्णप्रकाश में "हैड-मिरर" और स्पैक्युलम की सहायता से देखना चाहिये। यदि छिद्र पूर्णरूप में अवरुद्ध नहीं हुआ तो पिचकारी सब से सरल एवं सुरक्षित* विधि है। विशेषत. यदि वस्तु पानी से फूलने वाली नहीं है। चूंकि चिकित्सक का उद्देश्य शल्य को पानी की वापिस आती हुई धारा के साथ निकालने का होता है अतः नौज़ल बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिये। पानी की धारा कर्ण की छत से लगती हुई कर्णपटह के ऊपर से घूम कर नीचे वापिस आनी चाहिये। इस प्रकार से शल्य बह आयेगा। पिचकारी की अवस्था में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि वस्तु वनस्पति प्रकृति की है तो इस को उसी समय उसी अवस्था में निकालना चाहिये। अन्यथा दूसरी अवस्था में तरी पाकर फूल जायेगी, एवं कान में फंस जायेगी जिस से निकालने में कठिनता होगी।

शस्त्र के द्वारा शल्य को निकालने के प्रयत्न में चम्मच (स्कूप) को छिद्र की दिवार और वस्तु के बीच में रखना चाहिये। और फिर चम्मच को दिवार की तरफ़ ज़ोर से दबाते हुए वस्तु को घुमाकर ४५° अंश के कोण पर ला कर बाहर की ओर खींच लेना चाहिये। "लिस्टर्स हुक" समकोण पर मुड़ा होने से वस्तु के पिछले छोर तक सुरक्षित रूप में पहुंचाया जा सकता है। हुक के खींचने से शल्य या

---

* (१) व्रणदोषाश्रयगतानि प्रक्षालनैः।

(२) यंत्रेण विमृदितकर्णकानि कर्णवम्स्यनाबाधकरदेशोनुपिक्षतानि पुरस्तादेव।

तो टुकड़े २ हो जायेगा अथवा बाहर आ जायेगा।

बार बार खींचना कई बार रक्तस्राव का कारण बन जाता है। अतः चिकित्सक को चाहिये कि जब तक रक्त बन्द न हो प्रतीक्षा करे। शल्य निकालने के पश्चात् छिद्र को धोकर शुष्क कर देना चाहिये। यदि छिद्र या पटह क्षत युक्त हो गये हों तो जब तक रोहण न करें, स्वच्छ रखना* चाहिये। यदि यह विधि सफल न हो तो अन्य बड़ी विधि (छेदन विधि) कार्य में लानी चाहिये।

नासा में शल्य।

छोटे शल्य, अनाज़ के दाने, गोलियां आदि को खेलते समय बच्चे नाक में डाल लेते हैं। यदि डालते समय देख लिया जाये तो तुरन्त चिकित्सक के पास ले जाना चाहिये। शिशु में बाह्य शल्य के कारण नाक से स्राव होता रहता है। बहुत सी अवस्थाओं में नथनों को 'स्पैक्युलम†" से फैलाने पर शल्य दीख जाता है। यदि यह कुछ देर वहां रह जाये तो स्राव से मैला हो जाता है। अथवा शोथ एवं व्रण वाली श्लेष्मकला में गड़ जाता है। स्राव को शोषक रुई से साफ़ कर के नथनों को स्पैक्युलम से फैलाकर "हैडमिरर" से प्रकाश प्रतिक्षिप्त कर के नाक मे डालते हुए, शल्य को देखना चाहिये। और यदि दिखाई न देवे तो एषणी से ढूंढना

---

* ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमुपादिशेत् ॥

† हस्तेनापहर्तुमशक्यं विमृष्य शस्त्रेण यंत्रेण वापहरेत्।
व्रणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रनाड्यांगुलद्वया।
प्रदेशनीपरिणाहा स्याद् भगन्दरयंत्रवत् ॥ वाग्भट.
व्रणदोषाश्रयगतानि प्रक्षालनैः।
तालयंत्रे द्वादशांगुले। कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम् ॥

चाहिये। नाक में फंसी वस्तु, निकालने के अनुचित प्रयत्न में और भी आगे चली जाती है। नाक और कान की अवस्था में अथवा अन्य गुहाओं से भी शल्य निकालने के लिये शक्ति शल्य के पीछे से आगे की ओर लगानी चाहिये। आगे से लगाने पर शल्य पीछे की ओर धकेला जा सकता है। इस सिद्धान्त से दूसरी नाक द्वारा वस्ति देनी चाहिये। आहरण के लिये साधारणत चांदी की एषणी उत्तम है। इस को किनारे पर समकोण पर मोड़ देना चाहिये। श्लेष्मकला को दस प्रतिशतक कोकेन घोल से मृत बना कर एषणी को नासा के खात के साथ साथ वहां तक ले जाना चाहिये जहां तक यह शल्य के पीछे पहुंच जाये। तब इस को झुका कर धीरे से खींच लेना चाहिये, बस शल्य बाहर आ जायेगा। यदि एषणी से सफलता न मिले तो चांदी की तार से बना चम्मच शल्य के ऊपर फिसल जायेगा। यदि शल्य नर्म है तो वह मुड़े हुए संदंश से सुगमता द्वारा निकाला जा सकता है। जो शल्य नासागुहा (नेज़ल फोसा) में बहुत दूर चला गया है उस को एषणी की सहायता से "नेज़ोफेरिङ्क्स" में धकेल कर मुख द्वारा निकालना चाहिये।

शल्य यदि कुछ दिनों तक रह चुका है तो निकालने पर रक्तस्राव होता है। जो कि शीघ्र शान्त हो जाता है। शल्य के निकलने पर शोथ स्वयं शान्त हो जाता है। स्राव को दिन में दो या तीन बार पिचकारी द्वारा टंकणाम्ल के घोल से धो देना चाहिये। अथवा नमक और सोडाबाईकार्ब (प्रत्येक ३० ग्रेन, पानी बीस औन्स) से धो देना चाहिये।

लेरिङ्क्स में शल्य।

लैरिङ्क्स में शल्य एक दम भयानक लक्षण उत्पन्न करता है। रोगी का चेहरा काला, फीका हो जाता है। चिकित्सक को चाहिये कि वह अपनी अंगुलि तुरन्त गले के नीचे डाल देवे। जिस से

कि वह रुकावट करने वाली वस्तु को (यथा मांस या अस्थि का टुकड़ा) अनुभव कर सके एवं साथ में स्थानच्युत भी कर देवे। यदि इस में अकृतकार्यता हो तो तुरन्त क्रीको थाईरोयड मैम्ब्रेन में छेद बनाना चाहिये। जिस से फेफड़ों में वायु जा सके।

श्वासकाठिन्य के तीव्र लक्षणों को इस प्रकार हटा कर कृत्रिम श्वास आरम्भ कर देना चाहिये। फिर अवरोध के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। और सम्भवतः यह स्वरयंत्र के (वोकल कॉर्ड) मध्य में ढूंढने पर मिल जायेगा। फिर इस को निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। इस के लिये शिशु को उल्टा कर के इस की पीठ पर थप्पड़ मारने *चाहियें। अथवा धीरे से रबर की शलाका (कैथेटर) नीचे से प्रविष्ट करनी चाहिये। और जब शल्य श्वासप्रणाली (ट्रेकिया) में आ जाये तो उल्टा करना (विपरीत करण मुद्रा) आदि क्रियाओं के साथ "लैरिंजोटौमी" भी करनी चाहियें।

अन्नप्रणाली में शल्य।

ठोस भोजन का बड़ा ग्रास कई बार अन्नप्रणाली में फंस जाता है। परन्तु मुख्यरूप से शल्य अस्थि (मच्छली की अस्थि) या कृत्रिम दांत का तालु होता है। यदि वस्तु सुगमता से पच सकती हो, अथवा बिना किसी प्रकार की हानि के प्रणाली से बाहर हो सकती हो तो उसे रबर की ठोस शलाका (बूजी) के द्वारा अन्दर ही धकेल देना †चाहिये।

* कण्ठासक्ते तु निःशंकमनवबद्धं स्कन्धे मुष्टिनाभिहन्यात्।

† जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां तथावगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतमुद्धरेत्। अजातुषं जतुमधूच्छिष्टलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पेनेत्येके।

अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं स्थैकसूत्र-

और जब आस्य में अस्थि फंस जाये—जैसा कि रोगी को निगलते समय चुभने के अनुभव से प्रतीत होता है-तो, ऐसी अवस्था में गले के पीछे अंगुली डाल कर वमन करा देनी *चाहिये।

यदि "ऐक्स रे" के द्वारा शल्य—सिक्के, कृत्रिम दांत आदि देख लिये जायें तो उन को उसी अवस्था में वहीं रखकर अन्न-प्रणाली प्रेक्षकयंत्र "ईसोफेगोस्कोप" से परीक्षा करते हुए खींचना चाहिये। अन्नप्रणाली में शल्य का फंसना भयानक अवस्था है। कारण—इस से शीघ्र व्रण उपस्थित हो जाता है। इस के अतिरिक्त उरोगुहा को पृथक् करने वाली भित्ति की शोथ (मीडिआस्टिनाइटिस) एवं संक्रामक निमोनिया भी हो जाता है। अतः प्रतिकार शीघ्र ही करना चाहिये।

श्वासप्रणाली और "ब्रौंकाई" के शल्य को भी इसी प्रकार सीधे परीक्षण एवं दूरीकरण से प्रतिकार करना चाहिये।

मूत्रमार्ग में शल्य।

चिकित्सक को बड़ी सावधानी से कार्य करना चाहिये, जिस से कि शल्य अन्दर नली में न चला जाये। कई बार शल्य मूत्रमार्ग के साथ २ खींचने से बाहर किया जाता है परन्तु इस प्रकार से यदि सफलता न मिले तो शल्य के पीछे

बद्धं द्रवभुक्तोपहितं पाययेदाकण्ठाच्च। पूर्णकोष्ठं च वामयेत्। वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्। मृदुना वा दन्तधावनकूर्चकेनापहरेत्। प्रणुदेद्वान्तः। क्षतकण्ठाय च मधुसर्पिषी लेढुं प्रयच्छेत्। त्रिफलाचूर्णं वा मधुशर्करामिश्रम्।

* उदकपूर्णोदरमवाक्शिरस्कं समवपीडयेत् धुनीयाद् वामयेद्वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात्॥ ग्रासशल्ये तु कण्ठासक्ते निःशङ्कमनवबद्धं स्कन्धे मुष्टिनाभिहन्यात्। स्नेहं मद्यं पानीयं वा पाययेत्।

मूत्रमार्ग को अंगुली से दबाकर "स्नेलएडर पेयर* ऑफ़ फार-सिप्स" से निकालने का यत्न करना चाहिये। मूत्रमार्ग में "पिन" के फंसने पर शिर सुगमता से बाहर नहीं आता। इस के लिये सिरे को त्वचा में दबाते हुए सिर को खींचने का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिये। सिरे को नीचा दबाने से सिर ऊंचा उठ जायेगा। तब संदंश द्वारा सुगमता से निकाला जा सकता है। सिर को घुमा कर बाह्य छिद्र की ओर कर लेना चाहिये।

मूत्राशय और मूत्रमार्ग में हेयर पिन।

कई बार युवतियों में "हेयर पिन" मूत्रमार्ग से मूत्राशय† में आ जाता है। मूत्रमार्ग को कैलीज़ मैटल यूरीथ्रल डाय-लेटर से ईथर द्वारा फैला सकते हैं। जिस से अंगुली को प्रविष्ट कर के मूत्राशय तक पहुंचा सकते हैं। वहां पर वस्तु को निकालने की सुगम स्थिति में लाकर संदंश द्वारा निकाल लेना चाहिये। स्त्रियों में मूत्रमार्ग के छोटा होने से "हेयरपिन" वहां स्थिर नहीं हो सकता। परन्तु पुरुषों में "हेयर पिन" शल्यकर्म के द्वारा निकालना पड़ जाता है। फंसे हुए पिन

---

* शल्याकृतिविशेषांश्च स्थानान्यावेक्ष्य बुद्धिमान्।
तथा यंत्रपृथक्त्वं च सम्यक् शल्यमथाहरेत्॥

† स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः।
मांसगते शोफाभिवृद्धिः शल्यमार्गानुपसंरोहः पीडनासहिष्णुता चोषपाकौ च॥
सिरास्नायुविलग्नं शलाकादिभिर्विमोचयेत्।
कर्णवन्ति च शल्यानि दुःखाहार्याणि यानि च।
आददीत भिषक् तस्मात् तानि युक्त्या समाहितः॥

को बलपूर्वक खींचने से एक या दोनों सिरे श्लेष्मकला को चीर देते हैं। इस के लिये एक छोटी नली (यथा चांदी की एषणी-डायरैक्टर) डालकर, पिन को मूत्रमार्ग की भित्ति में पकड़ कर दोनों किनारे समीप कर लेने चाहियें। जिस से नली ऊपर फिसल जायेगी। अब पिन सुगमता से निकाला जा सकता है।

———

आठवां प्रकरण ।

रक्तस्राव ।

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥ सुश्रुत

भिन्न २ स्रोतों से होने वाले रक्तस्राव के लिये चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है । रक्तस्राव साधारण से लेकर भयानक हो सकता है। परन्तु बाह्यपृष्ठ से होने वाला ऐसा कोई रक्तस्राव नहीं जो कि रोका न जा सके—विशेषतः अस्थायी रूप में। प्रायः रक्त, बन्धन और दबाव के द्वारा रोका जाता है। परन्तु दाहक एवं स्तम्भक औषध भी काम में आती है । इस के अतिरिक्त दाह गरम पानी (१२०° से १६०° फारनाहिट) तारपीन और एड्रेनलीन से भी किया जाता है*। व्रण की स्थिति भी रक्तस्राव पर प्रभाव करती है। अतः आवश्यक है कि इस बात का भी ध्यान रक्खा जाये। उदाहरण के लिये यदि टांग से रक्तस्राव हो रहा हो तो इसे हृदय से ऊंचा रखना चाहिये।

रक्तस्राव की साधारण चिकित्सा करने के उपरान्त आवश्यक है कि रोगी एवं व्रण की ओर भी ध्यान किया जाये। यदि रक्तस्राव के स्थान सुरक्षित रूप में बांध दिये गये हैं, तो फिर पीछे विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। यदि रक्त बहुत गम्भीर पृष्ठ से आ रहा हो और स्थान सुरक्षित न किये जा सकें तो व्रण को पिचु से भर देना चाहिये। और ऊपर से कस कर पट्टी बांध देनी चाहिये। अंग को आराम देने के साथ उस को ऊंचा करना चाहिये। पिचु को निका-

---

* समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैः वा यथोक्तैः व्रणबन्धनद्रव्यैः गाढं बध्नीयात्। क्षारेणाग्निना वा दहेत् ॥

लने से पूर्व इस को स्टरलाइज्ड वाटर या हाईड्रोजन पर-ऑक्साईड से खूब गीला कर लेना चाहिये। और यदि व्रण से स्राव पुनः होने लगे तो फिर इसे पूर्ववत् भर देना चाहिये।

जहां बहुत रक्तस्राव हो रहा होता है, वहां चिकित्सक को रचनात्मक चिकित्सा भी करनी पड़ती है। एक तरफ़ जहां अधिक रक्तस्राव के कारण रोगी की मृत्यु की आशंका है, वहां अधिक उत्तेजना के कारण दूसरी तरफ पुनः रक्तस्राव के प्रारम्भ होने का भय है। ऐसी अवस्था में अफीम विशेष मूल्यवान् है। $\frac{१}{४}$ से $\frac{१}{२}$ ग्रेन की मात्रा में बार बार दी गई अफीम रोगी को जहां शान्त रखती है वहां रक्त के दबाव को भी बढ़ने नहीं देती। रक्तस्राव की भयानक अवस्थाओं में रक्त का *प्रवेश (ट्रान्सफ्यूझन ऑफ़ ब्लड) या इन्फ्युझन ऑफ़ नौर्मल सैलाईन का शिरावेध द्वारा देना बहुत ही उत्तम है। परन्तु यह तब तक व्यर्थ ही है जब तक कि रक्तस्राव के स्थान बांध न दिये और विद्ध न† कर दिये जायें। चिकित्सा के पश्चात् लोह और संखिया के समास विशेष क़ीमत के हैं।

रक्तस्राव आघातजन्य एवं रोग अथवा शल्यकर्म के कारण होने से दो प्रकार का है।

आघात के कारण होने वाला रक्तस्राव।

व्रण से होने वाले रक्तस्राव में सब से प्रथम रक्तस्राव को रोकना चाहिये। यदि सम्भव हो तो प्रथम अस्थायी साधनों से कार्य करना चाहिये, जिस से व्रण गदला होने से बचता रहे। इस के लिये धमनी को दबाना उत्तम है। रक्तस्राव के रोकने पर चारों ओर की त्वचा और व्रण साफ़ कर देना

* (क) रक्तं रक्तेन आप्यायते।

(ख) एणहरिणोरभ्रशशमाहिषवराहाणां वा रुधिरं पाययेत्।

(ग) अतिनिःसृतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक्।

† तामेवातिप्रवृत्तां शिरां वा विध्येत्।

चाहिये। तब रक्तस्राव को स्थिर रूप में रोकने के सब जन्तुघ्न उपाय काम में लाने चाहियें।

खोपड़ी के व्रण।

ये प्रायः होते हैं। इस भाग में रक्तवाहिनियों के विशेष रूप में होने से रक्तस्राव बहुत शीघ्रता से होता है। साफ़ कटे हुए छिन्न व्रणों में दबाव बहुत उत्तम उपाय है। और यह तब पूर्ण रूप से सफल हो सकता है-जब कि व्रण के किनारे यथास्थान रखकर उन को कार्बोलिक लोशन ($\frac{1}{20}$) या परक्लोराईड औफ़ मर्करी ($\frac{1}{1000}$) से स्वच्छ कर दिये जायें। यदि व्रण ओष्ठ दूर दूर हों तो उन को सी देना चाहिये। और फिर कवलिका-रुई रख कर पट्टी इस प्रकार कस कर बांध* देनी चाहिये, जिस से कोई वस्तु हिले नहीं। समीपवर्त्ती बाल काट† देने चाहियें और यदि बहुत खराब हो गये हों तो उन को मूंड कर "कार्बोलिक लोशन" और नखकूर्ची से साफ कर देना चाहिये। जिस से व्रण के किनारों में कोई बाधा न आये। यदि केवल किसी धमनी का ही क्षत हुआ हो तो दोनों ओष्ठ समीप में लाने से पूर्व इस को विभक्त कर देना चाहिये। सिर पर बन्धन बांधना कुछ कठिन है परन्तु संदंश के द्वारा कुछ समय के लिये दबाव दिया जा सकता है। यदि धमनी से रक्तस्राव होता रहे तो उत्तम है कि कटे हुए सिरों को उठा कर समीप लाकर रेशम, बाल वा स्नायु से सी देना चाहिये। और कस कर बांध देना चाहिये। खोपड़ी के व्रण कई बार खोपड़ी के अस्थिभंग के साथ होते हैं। ऐसी अवस्था में रक्त खोपड़ी (शिरःसम्पुट) के अन्दर से भी आ सकता है। ऐसी अवस्था में मुख्य चिकित्सक की सहायता आवश्यक है।

---

* ततः कवलिकां दत्त्वा वस्त्रपट्टेन गाढं बध्नीयात् ॥

† क्षुरकर्त्तरिसन्दंशैः तस्य रोमाणि निर्हरेत् ॥

चेहरे के व्रण ।

चेहरे के व्रण से विशेष रूप में रक्तस्राव होता है। व्रणों को प्रायः बन्धन की आवश्यकता होती है। यद्यपि हनु के समीपवर्ती भाग पर दबाव दिया जा सकता है। यदि निम्नप्रकार से "कोलोडियन" लगा दिया जाये तो थोड़े छिन्न व्रणों को स्वस्थ कर देता है। छिन्न भाग को अंगुली और अंगूठे के बीच में पकड़ कर दबाते हुए साफ़ करना चाहिये। और फिर किनारों को ठीक स्थान पर रख कर उन को पूर्ण शुष्क करना चाहिये। तब कोलोडियन इस प्रकार से लगानी चाहिये कि जिस से यह व्रण के चारों ओर भी कुछ दूरी तक आ जाये। इस को शुष्क हो कर कठोर होने देना चाहिये। और जब ओष्ठ अपने स्थान पर आ जाये तो एक बार फिर सब पर लेप कर देना चाहिये। शल्यकर्म के लिये ब्रिटिश फार्माकोपिया की फ्लैक्साइल कोलोडियन उत्तम है। व्रण पर रुई की पतली तह रख कर लगाने से इस की शक्ति और भी बढ़ जाती है। गीली या स्राव करने वाली पृष्ठ पर कोलोडियन* लगाना व्यर्थ ही नहीं अपितु हानिकारक है। अब चिपकने वाली पट्टी (एडहेसिव प्लास्टर) व्रण को शीघ्र भरने के लिये लगाते हैं। परन्तु इस का उपयोग तभी उत्तम है जब कि व्रण में अंकुर† उत्पन्न हो जायें। मुख के व्रणों में स्कार को कम करने के लिये प्रायः सीने की आवश्यकता होती है इस के लिये बाल, रेशम अथवा सूक्ष्म स्नायु का उपयोग करना चाहिये।

---

* टिंक्चरबैनज़ोइन को० (फ्रायर बालसम) भी प्रयुक्त करके देखना चाहिये।

† कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः।
स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ॥

ओष्ठ का फटना।

आघात से या दांत के भार गिरने से जब ओष्ठ फटता है तो धमनी के विभक्त होने से रक्तस्राव बहुत होता है। इस को या तो बन्धन से अथवा संदंश के दबाव से रोक सकते हैं। किनारों को समीप में लाकर गम्भीर एवं उपरिपृष्ठ के टांके क्रमशः रेशम और बाल से लगाने चाहियें। एक या दो बारीक टांके ओष्ठ की श्लेष्मकला पर भी लगा देने चाहियें। यदि ओष्ठ की कोई भी भाग सर्वथा पृथक् नहीं निकला तो वे अवश्य जुड़ जायेंगे। व्रण को "गौज़" से ढांप कर उस को कोलोडियम के द्वारा स्थिर कर देना चाहिये। साथ में दबाव से बचाना चाहिये।

नासा से रक्तस्राव।

आघात के कारण रक्त थोड़ा आता है, जो शीत पानी से रोका जा सकता है। परन्तु जब शिर के आघात के कारण रक्तस्राव हो तब रोगी को सीधा बैठा कर स्पञ्ज नाक के सामने पकड़नी चाहिये अथवा ठण्डी वायु नाक में पहुंचानी चाहिये।

कान से रक्तस्राव।

आघात के कारण कर्णपटह या छिद्र की आधारभूत श्लेष्मकला फट जाती है। इस को शिरःकपाल के अस्थिभंग का लक्षण नहीं समझना चाहिये। जब तक कि अन्य साक्षियां न हों। छिद्र को स्वच्छ कर्पास से भर देना चाहिये। प्रक्षालन हानि कारक है।

जिह्वा का कटना।

यदि जिह्वा की मोटाई में कटाव आ जाये तो भयानक रक्तस्राव होता है। यदि दबाव और शीतक्रिया से सफलता न हो तो रोगी का संज्ञालोप करना चाहिये। बन्द हुए मुंह को

खोल कर रेशम के धागे को जिह्वा की पृष्ठ पर क्षत से पीछे ले जा कर जिह्वा को आगे खींचना चाहिये। कई बार रक्तवाही स्रोतसों के बांधने से भी रक्त रुक जाता है। परन्तु यदि न रुके तो व्रण को खोल कर सब जमा रक्त निकाल कर "एड्रेनेलीन क्लोराइड" में तर किये हुए पिचु से भर देना चाहिये। और जब तक रक्तस्राव बन्द न हो उसे नहीं निकालना चाहिये। फिर व्रण को बाल या स्नायु से सी देना चाहिये। कई बार रक्तस्राव रोकने के लिये सीधा दाह* भी करना पड़ता है।

गले का कटना।

यदि चाकू से मुख्य वाहिनियां कट गई हों तो प्रायः चिकित्सक के आने से पूर्व ही मृत्यु हो जाती है। परन्तु आत्महत्या के प्रयत्न में क्षत "हायोइडबोन" और थाइरोयड कार्टिलेज के मध्य में से जाता है। जिस से कि कैरोटिड आर्टरी बच जाती है। प्रथम दो या तीन छोटी धमनियों से रक्तस्राव होता है। परन्तु यह बन्धन या वेधन द्वारा सुगमता से रोका जा सकता है। क्षत गहराई और आकार के अनुसार भिन्न२ प्रकार के हैं। पृष्ठवर्ती क्षत कान से कान तक जा सकता है और एक छोटा परन्तु गहरा क्षत श्वास एवं अन्नप्रणाली दोनों को काट सकता है। रोगी बहुत उदास एवं निराशा की स्थिति में होता है। यह अवस्था कुछ तो रक्त की न्यूनता से होती है और बहुत सी मानसिक अवस्था के कारण जिसने की उस को इस प्रयत्न में प्रवृत्त किया होता है।

आधुनिक नव्य चिकित्सक गले के कटाव में सीना उत्तम नहीं समझते। कारण—श्वासप्रणाली में रक्त के जाने का भय रहने के अतिरिक्त व्रण में पूयोत्पत्ति की भी सम्भावना रहती है। इस के साथ ही ग्रीवा के आवरण (सरवाईकल

---

* असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते।

फोशिया) के नीचे इन्फिल्ट्रेशन होने की भी आशंका है। परन्तु यदि रक्तस्राव पूर्णतः रोक दिया गया है और व्रण भली प्रकार साफ़ कर दिया है तो कोई कारण नहीं दीखता कि व्रण कितना ही गहरा क्यों न हो, उस को टांकों से क्यों न बन्द कर दिया जाय, परन्तु यदि इस से श्वास घुटता प्रतीत हो तो निःसन्देह व्रण को पुनः खोल देना चाहिये। कई रोगियों में यह उत्तम है कि श्वासप्रणाली मे "ट्रेकिओटौमी ट्यूब" डाल दी जाये। अथवा स्वतन्त्र रूप से "ट्रेकिओटौमी" शल्य कर्म किया जाये। प्रायः जब थाइरो-हायोआइड-मैम्ब्रेन पूर्णतः विभक्त हो जाती है, जिस से कि श्वासप्रणाली के ऊपर का भाग (लैरिंक्स) विभक्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में उत्तम है कि इस को टांकों द्वारा ही ठीक किया जाये। यह टांके हायोआइडबोन (कण्ठिकास्थि) और थाईरोयड कार्टिलेज से सम्बन्धित होने हैं। थाईरो-हायोआइड-मैम्ब्रेन को बारीक टांकों से मिलाना चाहिये।

रोगी की स्थिति बहुत मूल्यवान् है। यदि रक्त बन्द हो गया और प्रथम मूर्च्छा हट गई तो रोगी के स्कन्धों को तकिये से ऊंचा कर देना चाहिये, जिस से आगे की ओर झुक जाये। यदि रोगी स्वस्थ है तो उसे इस स्थिति का महत्त्व समझा देना चाहिये। परन्तु यदि रोगी अस्वस्थावस्था में (पागलपन) है तो उत्तम है कि उसे पट्टियों से बांध देवे।

गले के रक्तस्राव में मूर्च्छा के पश्चात् फेफड़ों की शोथ अधिक भयानक है। इस शोथ का कारण संक्रान्त विष या पदार्थ का व्रण से श्वासप्रणाली में जाना है। इस विष के स्रोत--श्लेष्मा, त्वचा और औज़ार हैं। जब तक आस्य (फैरिंक्स) को खोलने की आवश्यकता न हो तब तक विशेष प्रबन्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। रक्त के स्थान बांध देने चाहियें और व्रण को जन्तुघ्न पदार्थ से साफ़ करना

चाहिये। "लैसिरेटिड" (भिन्न) तन्तु काट देने चाहियें । प्रक्षालन नलिका रख देनी चाहिये और यदि व्रण बड़ा हो तो कुछ भाग बन्द कर देना चाहिये।

आस्य के क्षत में श्लेष्मा विशेष रूप से संक्रमित होती है। अतः बचाव के निम्न उपाय काम में लाने चाहियें। आस्य का व्रण यदि सम्भव हो तो सुरक्षित कर देना चाहिये। ग्रीवा की बड़ी रक्तवाहिनियां यदि नंगी हो जायें तो उरःकर्णिका मांस पेशी को "प्रीवरटिब्रल फेशिया" के नीचे सीकर ढांप देना चाहिये। आस्य के चारों ओर का व्रण स्टग्लाइज्ड बोरिक पाउडर से भर देना चाहिये। जिन रोगियों में श्वासप्रणाली भी क्षत हो जाये उन में नीचे की ओर एक पृथक् छिद्र बना देना चाहिये। यदि सम्भव हो तो "ट्रेकिओटौमी ट्यूब्" बांध देनी चाहिये।

आघात के प्रथम कुछ घन्टों तक रोगी की शक्ति स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। इस के लिये यदि सम्भव हो तो मुख से भोजन और उत्तेजना देनी चाहिये। यदि सम्भव न हो तो अन्नप्रणाली या आमाशय में नली डाल कर अथवा गुदा में बस्ति द्वारा पहुंचायें।

रप्चड फ्रीनम।

फ्रीनम प्रीप्युटाई के फटने से लगातार होने वाला रक्तस्राव धमनी की आंशिक विदीर्णता पर निर्भर करता है। इस के लिये इसे कैंची से काट कर यदि आवश्यक हो तो किनारों को बांध देना चाहिये।

स्टैब्स चुभोना)।

इस के कारण भी रक्तस्राव शरीर के बहुत से भागों में होता है।

स्टैब्स इन दी थ्रोट।

इस की चिकित्सा उसी प्रकार है जिस प्रकार गले के काटने की। अर्थात् रक्त को बन्द करके व्रण को स्वच्छ

करना चाहिये । इस अवस्था में उपद्रव (एम्फाईसीमा) होता है जो कि चाकू के श्वासप्रणाली मे छेद करने से एवं कोमल तन्तुवों में व्रण इतना पर्य्याप्त अथवा छिद्र के सामने न होने से, जिस से कि वायु निकल सके होता है । यदि श्वासप्रणाली से स्राव थोड़ा हो तो यह पिचु के भरने से रोका जा सकता है। परन्तु यदि एम्फाईसीमा बढ़ रहा हो तो पृष्ठ के व्रण को अवश्य बढ़ा कर खुला छोड़ देना चाहिये। जिस से कि श्वासप्रणाली का व्रण खुली वायु के सीधे सम्पर्क में आ जाये। केवल स्वच्छ गौज़ की कुछ तहें बीच में रखनी चाहियें।

स्टैब्स इन दी चैस्ट।

रक्तस्राव, स्तन की अन्तः धमनी (इन्टरनल मैमरी आर्टेरी) में, हृदय, फेफड़े और बड़ी रक्तवाहिनी में चुभने से होता है। स्तन की अन्तःधमनी का रक्तस्राव भयानक है यदि चिकित्सा न की जाये। इस स्थान पर न तो धमनी दबाई जा सकती है और न व्रण को बढ़ा किये विना (पर्शुकाओं के मध्यवर्त्ती स्थान के तंग होने से) और उपपर्शुकों के बिना काटे इस को सुगमता से पकड़ नहीं सकते। इन्टरकॉस्टल आर्टेरी (पर्शुकामध्यवर्त्ती धमनी) के रक्तस्राव को कई वार संदंश के दबाव से रोक सकते हैं। यदि यह सम्भव न हो तो रक्तस्राव के पार्श्व में पसलियों के चारों ओर कस कर बंधन बांधने से रोका जा सकता है। इस की अकृतकार्यता मे पसली का टुकड़ा काट लेना चाहिये एव वाहिनी को नंगा कर लेना चाहिये।

हृदय या फेफड़े के रक्तस्राव की अवस्था में तत्क्षण $\frac{1}{2}$ ग्रेन मौर्फीया देना चाहिये, जिस को कि आधे घन्टे के पश्चात् फिर दोहराना चाहिये । जब परीक्षण पूर्ण हो जाये तो रोगी को मौर्फीया देने के अतिरिक्त किसी भी अवस्था में

छेड़ना नहीं चाहिये। कारण—तीव्र रक्तस्राव की अवस्था में थोड़ी सी भी गति पुनः भयानक रक्तस्राव उत्पन्न कर सकती है। इस लिये यदि रोगी कौच पर देखा गया है तो उसे वहीं पर उन्हीं वस्त्रों पर पड़े रहने देना चाहिये।

स्टैब्स इन दी एबडोमन।

क्षतव्रण रक्तस्राव आरम्भ कर सकते हैं, जो कि सुगमता से रोका जा सकता है। परन्तु देखने में छोटा व्रण पर्य्यावरण को विद्ध करने के साथ आंतों को भी जख्मी बना सकता है। जिस से न केवल अन्तः रक्तस्राव उत्पन्न होता है। अपितु मल भी निकल आता है। जिस से कि "एक्सप्लोरेटरी औपरेशन*" करने की आवश्यकता पड़ती है। यदि पर्य्यावरण की विदीर्णता में सन्देह हो तो व्रण को बड़ा करके इस की गहराई जाननी चाहिये। आंतों के फटने की पहिचान मल के आने से, मल की गन्ध से अथवा वायु के आने से की जा सकती है। साधारण क्षत को सी कर एक दम बन्द कर देना चाहिये। पर्य्यावरण के फटने पर बड़े चिकित्सक का कार्य है।

धमनी के व्रण।

आघात के स्वभाव एवं धमनी के आकार के अनुसार चिकित्सा भी भिन्न २ है। भाग्य से यह क्षत प्रायः शाखाओं पर होते हैं। जहां पर दबाव से कार्य ले सकते हैं। छोटी रक्तवाहिनियों के लिये दबाव ही पर्य्याप्त है।

जहां पर रक्त तेजी में धमनी द्वारा व्रण से आ रहा हो वहां तुरन्त मुख्य धमनी पर अंगुली से दबाव देना चाहिये। जिस से कि सामयिक रूप से रक्तस्राव बन्द हो जाये। इस से जहां रोगी के मित्रों की घबराहट दूर हो जायेगी, वहां व्रण को

---

*व्रणाल्पत्वाद् बहुत्वाद् वा दुष्प्रवेशो भवेत् यत्।
तदापाट्य प्रमाणेन भिषगन्त्रं प्रवेशयेत्॥

भी जन्तुघ्न घोलों से साफ़ कर सकेंगे। सम्भवतः दबाव के हटने पर फिर रक्तस्राव नहीं होगा। यदि यह चल पड़े तो रक्तस्राव के स्थान को ढूंढना चाहिये। यदि रक्तस्राव करने वाली धमनी मिल जाये (जैसा प्रायः मिल जाती है) तो धमनी के दोनों प्रान्तों पर बन्धन बांध देने चाहियें। जब बहुत संख्या में छोटी वाहिनियों से रक्तस्राव हो रहा हो और संदंश से दबाव न पड़ता हो तो व्रण के किनारों को यथा सम्भव मिला कर ड्रैसिंग कर के दृढ़ता से पट्टी बांध देनी चाहिये।

यदि रक्तस्राव प्रचलित रहे और रक्त का स्थान न मिले तो व्रण को स्वच्छ पिचु से भर देना चाहिये। इस प्लग को तीसरे* दिन पूर्वोक्त सावधानियों के साथ निकालना चाहिये। इस विधि में केवल आपत्ति यही है कि चूंकि व्रण नीचे से रोहण करता है अतः इस के रोहण में बहुत समय लगने के साथ बहुत बड़ा निशान शेष रह जाता है। रोहण में शीघ्र यत्न करना चाहिये। इस के लिये ज्यूं ही व्रण में अंगूर आ जायें तो चिपकने वाले प्लास्टर के द्वारा दोनों किनारे समीप लाने चाहियें।

दबाव रखने के अनन्तर अंग को रखने में बहुत ध्यान रखना चाहिये। हाथ की अवस्था में हाथ को गले की पट्टी में (स्लिंग) सहारा दे कर दूसरे कन्धे पर पहुंचाना चाहिये। इस से कोहनी मुड़ जायेगी। पांव या टांग की अवस्था में इन को तकिये के द्वारा शरीर पृष्ठ से ऊंचा कर देना चाहिये।

भुजा को स्लिंग पर लटकाना ही पर्य्याप्त नहीं इस को दूसरे कन्धे पर भी सहारा देना चाहिये। यही उपाय भुजा की या अन्य अंग की छोटी धमनी के क्षत में भी काम में लाने चाहियें। मुख्य कोष्ठ के क्षत से होने वाले रक्तस्राव को

---

* त्रिरात्रमपनयेत् पिचुम् ॥

क्षत से ऊपर मुख्य धमनी पर अस्थायी दबाव द्वारा रोका जा सकता है। फिर टौर्नीकैट "पैंड देकर पट्टी" पट्टी बांध सकते हैं। इस से धमनी के रक्त का फव्वारा रुक जायेगा। परन्तु सम्भव है कि काले रंग की रक्त की धारा अब भी व्रण से बहती रहे। व्रण के निचले भाग से आने वाला यह रक्त शिरा का है। अथवा दोनों को व्रण के नीचे की ओर एक और बन्धन बांधकर (टौर्नीकैट) रोके जा सकते हैं।

ट्रौमेटिक एन्युरिज़्म।

छोटी वाहिनियों के यथा—कलई की "अलनर" और रेडियल धमनी में ट्रौमेटिक एन्युरिज़्म (आघात जन्यरक्तार्बुद) प्रायः मिलता है। यह प्रायः तब होता है जब कि आघात शीशे के टुकड़े चुभने से या चाकू से होता है। बाह्य रक्तस्राव उस समय थोड़ा होता है जिस को उस समय पट्टी और ड्रैसिंग से रोक लेते हैं। और जब तक व्रण रोहण नहीं करता एन्युरिज़्म का पता नहीं लगता। फिर जब ड्रैसिंग उतारते हैं तब स्पन्दनयुक्त शोथ दिखाई देती हैं। इन एन्युरिज़्म को अलीक रक्तार्बुद* (फॉल्स एन्युरिज़्म) नाम दिया गया है। धमनी की दिवार पर आघात लगने से रक्त निकल कर स्थानिक रक्तसंचय (हीमेटोमा) उत्पन्न करता है। इस रक्त-संचय की पृष्ठ जमे रक्त से बनती है। इस के चारों ओर फाइब्रस तन्तु घिर जाते हैं। जिस से कि "एन्युरिज़्मल सैक" की दिवार बन जाती है। यह भी सम्भव है कि एन्युरिज़्म में सब जमा ही रक्त हो, विशेषतः जहां स्राव थोड़ा हो। जब मध्यगुहा धमनी के छिद्र के साथ संयुक्त रहे तो स्पन्दन वाला अर्बुद (पलसेटिंग ट्यूमर) उत्पन्न होता है। इस के ऊपर

---

* दोषा प्रदुष्टाः रुधिरं शिराश्च संकोच्य संपीड्य गतस्त्वपाकम्।
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धिम्॥
कुर्वन्त्यजस्रं रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद् रुधिरात्मकं तु।

कम्पन (थ्रिल) अनुभव किया जा सकता है। एवं ध्वनि (ब्रूयूट) सुनी जा सकती है।

सैक को चाकू से खोल देना चाहिये और इस समय स्राव को धमनी पर दबाव या टौर्नीक्वैट के द्वारा रोकना चाहिये। जमा हुआ रक्त सब साफ़ कर के धमनी नंगी करनी चाहिये। व्रण के दोनों पार्श्वों पर बन्धन बांध कर वाहिनी को बीच से विभक्त कर देना चाहिये।

हथेली (पामरआर्च) के व्रण।

व्रण की परीक्षा के समय अस्थायी टौर्नीक्वैट लगाना चाहिये। यदि रक्त सुपरफिशल पामर आर्च से आ रहा हो तो वाहिनी के दोनों प्रान्त संदंश से पकड़ कर साधारण रीति से बांध देने चाहियें। परन्तु यदि रक्त गम्भीर आर्च से आ रहा हो और बिना छेदन के स्राव के स्थान सुरक्षित न किये जा सकें तो (समीप की रचना के क्षत होने के भय से) दबाव से रक्त बन्द कर के व्रण की जन्तुघ्न पदार्थों से पट्टी कर देनी चाहिये। इस पट्टी को जल्दी नहीं हटाना चाहिये।

व्रण में स्वच्छ पिचु अच्छी प्रकार दृढ़ता से भर कर कस कर पट्टी बांध देनी चाहिये। फिर कोहनी को मोड़कर हाथ को दूसरे कन्धे पर रख देना चाहिये। यदि इस विधि में सफलता न मिले तो "रेडियल" एवं "अलनर" धमनी का कलाई पर बन्धन बांध देना चाहिये।

शिरा का व्रण।

कम दुःखदायी है। यदि शिरा साधारण आकार की है तो दबाव से रक्तस्राव रोका जा सकता है। बड़ी शिरा में कई वार बन्धन की आवश्यकता होती है।

रोग से रक्तस्राव।

शरीर के पृष्ठ पर "वैस्क्युलर" या "मैलिग्नैन्ट ग्रोथ"

के कारण रक्तस्राव हो सकता है। यह रक्तस्राव प्राय: एक बड़ी रक्तवाहिनी की अपेक्षा बहुत सी छोटी रक्तवाहिनियों से होता है। इसलिये बन्धन कम लग सकता है। रोग की अवस्था के कारण दबाव भी बहुत कठिनता से दिया जा सकता है। इस लिये स्तम्भक* (हीमोस्टेटिक) औषध काम में लानी चाहिये। यथा-लाईकर फैराई परक्लोराईड फोर्टिअर, लाईकर फैराई परसल्फेटिस, रजतनत्रित की बत्ती, एड्रेनलक्लोराईड ($\frac{1}{5000}$ से $\frac{1}{1000}$ शक्ति में) और तीव्रावस्था में दाह† काम में लाना चाहिये।

---

* (१) व्रणं कषाय: सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।

(२) अथातिप्रवृत्ते रक्ते रोध्रमधुप्रियंगुपत्तंगगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशंखशुक्तिमाषयवगोधूमचूर्णैः शनैः व्रणमुखमवचूर्ण्याङ्गुल्याग्रेण वा पीडयेत्। समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैः व्रणबन्धनद्रव्यैः गाढं बध्नीयात्। शीताच्छादनभोजनागारैः शीतपरिषेकैः प्रदेहैश्चोपचरेत्॥ यथोक्तव्यधनानन्तरं तामेवातिप्रवृत्तां शिरां विध्येत्। काकोल्यादिक्वाथं वा शर्करामधुमधुरं पाययेत्।

† (१) चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
सन्धानं स्कन्दनं चैव पाचनं दाहनं तथा॥

(२) व्रणं कषाय: सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा सम्पाचयेद् भस्म दाह: संकोचयेच्छिरा:॥

(३) अस्कन्दमाने रुधिरे सन्धानानि प्रयोजयेत्।
सन्धाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत्॥
... ...।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाह: परमिष्यते॥

(४) क्षारादग्निर्गरीयान् ··भेषजशस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च। तत्र द्विविधमग्निमाहुरित्येके। त्वग्दग्धं मांसदग्धं च। इह तु शिरास्नायुसंध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्नि:। तत्र रोगाधि-

व्रण वाली रचना (अल्सरेटिङ्ग ग्रोथ) जो कि हर समय रक्त स्रवित करती है, जिस के कारण बार बार पट्टी बदलनी पड़ती है उस के लिये पिचु को $\frac{1}{1000}$ में बने मर्करी परक्लोराइड के एक औन्स घोल में बीस ग्रेन कैलसियम क्लोराईड डालकर उस में भिगो कर रखना चाहिये।

पैक्वैलिनकी थर्मोकॉटरी—दाह के लिये यह सब से उत्तम साधन है। इस में प्लाटिनम के प्रान्त (पौयन्ट्स) लगे रहते हैं, जो भिन्न २ आकार के एवं रूप के होते हैं। इन को स्प्रिट लैम्प पर गरम कर सकते हैं। और इसी यंत्र में रखी 'कौमन बैन्ज़ोलीन" के वाष्प से ठण्डा कर सकते हैं। दाह के लिये आवश्यक है कि सिरे को लैम्प पर पूर्ण गरम कर के आवश्यकतानुसार बैन्ज़ोलीन के वाष्प से उचित अवस्था में (स्पर्श किये जाने की) ले आना चाहिये। रक्तस्राव को रोकने के लिये प्लाटिनम को गरम लाल करना ही पर्य्याप्त है। तन्तुवों को अन्दर से जलाने के लिये इन को श्वेत गरम करना चाहिए। ईथर के वाष्प की अवस्था में मुख के समीप दाह बड़ी सावधानी से करना चाहिये।

गैलवैनोकॉटरी—इस में प्लाटिनम की तार विद्युत् धारा द्वारा गरम की जाती है। विद्युत् की धारा को पोटासियम बाई क्रोमेट की बैटरी के द्वारा उत्पन्न कर सकते हैं। जो धारा प्रकाश के काम आती है वह भी उत्तम है।

स्थानभेदात् अग्निकर्म चतुर्धा। तद्यथा—वलयबिन्दुविलेखाप्रतिसारणानि।
तत्रेमानि दहनोपकरणानि—पिप्पली, अजाशकृत्, गोदन्त, शरशलाका, जाम्बवौष्ठ, इतरलौहाः क्षौद्र, गुड, स्नेहाश्च।

(४) त्वक्लोऽस्मभवान्मूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः।
निःशेषच्छिन्नो संधिश्च साधयेदग्निकर्मणा॥

नकसीर (एपिस्टैक्सिस)

नासा का रक्तस्राव, स्थानिक उपाय से यथा-शिर पर, चेहरे पर शीतस्पर्श* से, नासागुहा में सह्य होने वाले गरम पानी से, तारपीन के वाष्प के सुंघाने से, अथवा फिटकरी के चूर्ण के सुंघाने से. रोका जा सकता है । नासा से रक्तस्राव की अवस्था में (विशेषत: लगातार स्राव में) नासा को प्रतिक्षिप्त प्रकाश एवं नासाप्रेक्षक यंत्र (स्पैक्युलम) की सहायता से देखना चाहिये । देखने से स्पष्ट दिखाई देगा कि रक्त नाक के परदे के एक सिरे से चू रहा है । जहां कि एक व्रण वाहिनी तक पहुंचा हुआ है । रक्त स्थायीरूप में विद्युत् धारा से जलाने पर रोका जा सकता है । यदि परीक्षण के समय रक्त न बह रहा हो तो व्रण एक छिलके से ढंपा होगा । जिस को कि हटा देना चाहिये । रक्त एक दम स्रवित होने लगेगा । और अन्त में दाह करने से रुक जायेगा । शरीररचना के कारण भी नकसीर आती है । अतः कारण को ढूंढ कर चिकित्सा करनी चाहिये ।

रुक रुक कर होने वाले रक्तस्राव में नाक को पिचु से भर देना चाहिये ।

नासागुहा में पिचु भरना ।

(पूर्वीय नासागुहा)—शुष्क या उबाल कर शुद्ध किये पिचु

---

* (क) शीताच्छादन-शीतपरिषेकैः प्रदेहैश्चापाचरेत् ॥

(ख) घ्राणप्रवृत्ते जलमाशु देयं सशर्करं नासिकया पयो वा ।
द्राक्षारसं क्षीरघृतं पिबेद्वा सशर्करञ्चेक्षुरसं हितं वा ॥

(ग) नस्यं दाडिमपुष्पोत्थो दूर्वारससमन्वितः ।
आम्रास्थिजः पलाण्डोर्वा नासिकास्रुतरक्तजित् ॥

(घ) अलक्तकरसोपेतः पथ्यया वा समन्वितः ।
नासाप्रवृत्तरक्तं तु हन्यादेव न संशयः ॥

को "पैराफीन लिक्विड" में तर कर के उस से भर सकते हैं। और यदि इस को शनैः शनैः पीछे हटाते हुए आस्य तक पहुंचा दें तो पश्चिमीय गुहा भी अवरुद्ध हो जायेगी। पश्चिमीय गुहा को भरने के लिये प्रायः "बेलौक्स सौन्ड" काम में लाया जाता है। यह घड़ी के स्प्रिंग का बना होता है, इस के सिरे पर छल्ला होता है। यदि यह न मिले तो ४ या ५ नम्बर का रबर कैथेटर काम में लाया जा सकता है। इस का कुछ प्रान्त काट कर धागा गुज़ार देना चाहिये। जो कि स्टिलिट के द्वारा सुगमता से किया जा सकता है।

गुदा से रक्तस्राव।

रक्तस्राव के लिये गुदा की परीक्षा अंगुलि द्वारा या प्रोक्टोस्कोप अथवा सिग्मॉयडोस्कोप (अर्शयंत्र) से करनी चाहिये। युवाओं में रक्तस्राव का कारण अर्श एवं शिशुवों में गुदभ्रंश होता है। अर्श की अवस्था में रक्त शिरा से आता है जो कि स्तम्भक औषध द्वारा (यथा हैमेमेलिस) एवं आंतो को नियमित करने से सुगमता से रोका जा सकता है। यदि धमनी से रक्त आता हो और अर्श का शल्यकर्म सम्भव न हो तो रक्त के स्थान का दाह* करना चाहिये।

---

* (क) छागं पयो लोहितचन्दनेन
बिल्वारुणाकौटजवल्कलेन।
आभारसेनापि विपक्कमाशु
निहन्ति पित्तास्त्रमध प्रवाहि॥

(ख) चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः तद्यथा - भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति।
......................कर्कशास्थिरपृथुकठिनानि अग्निना।
सावशेषं पुनर्दहेत्॥

अर्शयंत्र के लिये देखिये वाग्भट एवं सुश्रुत, और गुदभ्रंश के लिये चक्रदत्त एवं सुश्रुत देखिये।

गुदभ्रंश के लिये आधार को बांध कर ग्रीवा पर से काट देना चाहिये।

मूत्र में रक्त।

रक्त सम्पूर्ण मूत्र मार्ग में कहीं से आ सकता है। किस भाग से रक्त आ रहा है इस की परीक्षा निम्न प्रकार से हो सकती है। यदि रक्त वृक्क से आ रहा है तो यह मूत्र के साथ पूर्ण रूप में मिला होगा। इस का रंग काला होगा। परन्तु यदि मूत्र की राशी थोड़ी है तो चमकता लाल होगा। लम्बा, पतला, चक्का इस बात का साक्षी है कि रक्त गवीनियों (यूरेटर) में एक-त्रित हुआ है। रक्त जब मूत्राशय से आयेगा तो मूत्र के साथ वृक्क की अवस्था की भांति पूर्ण रूप से मिला होगा। अथवा यह भी हो सकता है कि मूत्राशय के अधोभाग में रक्तसंचय हो। इस अवस्था में मूत्र का प्रथम भाग स्वच्छ और पिछला भाग लाल काला और सम्भवतः कुछ चक्के वाला भी हो। मूत्रग्रन्थि (अष्ठीला-प्रौस्टेट) से आने वाला रक्त मूत्रमार्ग के अष्ठीला भाग में एकत्रित होता है। अतः मूत्रप्रवाहण में यह रक्त प्रथम आयेगा और फिर स्वच्छ मूत्र आयेगा। अन्त में गुदोत्क्षेपक मांसपेशी (लैवेटर एनाई) के कारण रक्त के कुछ बूंद मूत्रमार्ग से आयेंगे। मूत्रमार्ग का रक्त मूत्रप्रवाहण में प्रथम आयेगा।

मूत्राशय में अधिक रक्तस्राव जम कर मार्ग को रोक सकता है। जिस से कि मूत्राशय फैल सकता है। इस के लिये एक बड़ी मूत्रशलाका से मूत्र निकाल लेना चाहिये। रक्त के जमे चक्के को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। और वस्ति के* द्वारा बार बार मूत्राशय को धो डालना चाहिये।

---

* [क] मेढ्रगेऽतिप्रवृत्ते तु बस्तिरुत्तरसंज्ञितः।
शृतं क्षीरं पिबेद्वापि पंचमूल्या तृणाह्वया॥
[ख] निषण्णां जानुसमे पीठे शुभे स्नानाभये समे।

सिस्टोस्कोप के द्वारा यथासम्भव रक्त का स्थान निश्चित करना चाहिये। अधिक रक्तस्राव की अवस्था में बिना सिस्टोस्कोप से देखे अन्धाधुन्धी अन्धेरे में तीर नहीं चलाना चाहिये—चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। तीव्र रक्तस्राव की अवस्था में $\frac{1}{5000}$ शक्ति के "एड्रेनलीन क्लोराईड" के घोल को १००° फारनाहिट तक गरम कर के उस में १० बूंद तारपीन की मिला कर गोंद में घोल कर मुख से देना* चाहिये।

वैरीकोज़ वेन्स (शिरा प्रतान) का फटना।

अधोभाग में कई बार भयानक रक्तस्राव उत्पन्न करता है। कपाटियों के क्रियारहित हो जाने से रक्त पूर्णधारा में बहता है। रोगी को घटना का पता नहीं होता, वह मूर्च्छित अवस्था में गिर पड़ता है। यदि चिकित्सा न की जाये तो अवस्था शीघ्र ही भयानक हो जाती है। व्रण के ऊपर तत्क्षण दिया गया दबाव रक्त को एकदम बन्द कर देता है। स्वस्थता के बाद भी अंग को सहारा दे कर कुछ समय तक ऊंचा उठाये रखना चाहिये।

गर्भवती स्त्रियों में कई बार भगोष्ठ की शिरा भी फट जाती है। इसके लिये शीत क्रिया, समान चित्तावस्था (उत्तानावस्था), पीठ के भार लेटना और दबाव उत्तम चिकित्सा है।

स्वभ्यक्तवास्तिमूर्द्धानं तैलेनोष्णेन मानवम् ॥
ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम् ।
पूर्वं शलाकयान्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम् ॥
शनैः शनैः घृताभ्यक्तं निदध्यादंगुलानि षट् ।
ततोऽवपीडयेद् वस्तिं शनैः नेत्रं च निर्हरेत् ॥
अनेन विधिना दद्यात् वस्तींस्त्रींश्चतुरोऽपि वा ।

* शतावरीगोक्षुरकैः श्रृतं वा श्रृतं पयो वाप्यथ पर्णिनीभिः।
रक्तं हिनस्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात्सरुजं प्रयाति ॥

शल्य कर्म के बाद का रक्तस्राव।

हीमोफिलिया या सांघातिक रोग के कारण उत्पन्न हुवे कामला के रोगियों में रक्तस्राव की आशंका करनी चाहिये। द्वितीयावस्था में भयानक रक्तस्राव हो सकता है। अतः आवश्यक है कि रक्तस्राव के सब स्थान बांध दिये जायें। एवं प्रथमावस्था शल्यकर्म के लिये विपरीत है चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो। अतः जब तक अनिवार्य एव अत्यावश्यक न हो, नहीं करना चाहिये।

हीमोफिलिया (रक्तस्राव की अभिरुचि)

रक्तस्राव किसी भी आघात से या अन्य प्रकार से हुआ हो तो यदि व्यक्ति में यह रोग हो अथवा वह इस रोग से सम्बान्धित घराने से सम्बन्ध रखता हो तो तुरन्त स्तम्भक* उपाय काम में लाने के साथ "सीरम" भी सूचीवेध द्वारा देना चाहिये। सीरम या तो ताज़ा घोड़े का अथवा "एन्टीडिफ्थिरिक" होना चाहिये। शिरावेध द्वारा इस की मात्रा १० से २० सी० सी० और त्वचा के नीचे २० से ३० सी. सी. होनी चाहिये। इस को प्रत्येक १० वें दिन देना चाहिये।

प्रतिक्रिया या अन्तर से होने वाला रक्तस्राव।

शल्यकर्म के पीछे मूर्च्छा के अच्छा होने पर होता है। वह रक्तस्राव, रक्त का दबाव बढ़ने से, बल पूर्वक उन तन्तुओं के खुलने से जो कि शल्यकर्म में काटे गये हैं, परन्तु सम्यक प्रकार बन्द नहीं किये गये, होता है। शल्यकर्म के पश्चात् रक्तस्राव के लिये समय समय पर पट्टी की परीक्षा करते रहना चाहिये। यदि स्राव हो तो स्राव के पृष्ठ को $\frac{1}{100}$ मर्करी लोशन से साफ़ कर के स्वच्छ कार्पास की कवलिका रख कर

---

* समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैः व्रणबन्धनद्रव्यैः गाढं बध्नीयात् ॥
व्रणं कषायः सन्धत्ते ॥

इस के ऊपर पट्टी बांध देनी चाहिये। जब तक रक्त बराबर सूखता जाता हो, और चूने न लगे तब तक ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि रक्त चूने लगे तो तुरन्त ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरण के लिये अंगच्छेद की अवस्था में भीगा हुआ ड्रैसिंग हटा कर नया ड्रैसिंग कर देना चाहिये। अंग को ऊंचा कर के कस कर पट्टी बांध देनी चाहिये। यदि यह उपाय सफल न हो तो टांकों को काट कर रक्तस्राव के स्थान को ढूंढ कर बांध देना चाहिये।

अंगच्छेद के अतिरिक्त शल्यकर्मों में लगातार रक्तस्राव कष्टसाध्य होता है। यथा जानुसन्धि के रिसैक्शन में रक्त चूने लगता है। परन्तु कोई बड़ी वाहिनी नहीं फटती। शल्यकर्म की सफलता के लिये विश्राम अत्यावश्यक है। आचारिक को चाहिये कि वह अस्थि को हटा कर सूक्ष्म वाहिनी को ढूंढने का प्रयत्न न करे।

शोथयुक्त भाग में छेदन के पश्चात रक्तस्राव।

शोथयुक्त भाग में कई बार आवश्यकता से अधिक रक्तस्राव होता है। प्रत्येक ड्रैसिंग में स्वच्छ पिचु पृष्ठ तक भर देना चाहिये। फिर ड्रैसिंग रख कर पट्टी शिथिल बांध देनी चाहिये। सम्भव हो तो अंग को ऊंचा रखना चाहिये। यदि इच्छा हो तो कुछ घन्टों के पश्चात् सेक से ड्रैसिंग को बदल देना चाहिये। सेक* प्रत्येक चार घन्टे के अन्तर से करना चाहिये। परन्तु गौज़ को २४ घन्टे से पूर्व नहीं बदलना चाहिये।

द्वितीय रक्तस्राव।

यह रक्तस्राव इस लिये होता है कि संक्रमण के कारण

---

* रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च।
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः॥

वाहिनी की भित्ति में व्रण हो जाता है। जहां पर संक्रमण का ध्यान रक्खा जाता है वहां यह रोग कम मिलता है। परन्तु गोली के व्रणों में प्रायः मिलता है, चूंकि ये जल्दी संक्रान्त हो जाते हैं। जहां बड़ी धमनी आक्रान्त होती है वहां रक्तस्राव बहुत थोड़ा भी हो सकता है। जिसे कि 'वारनिंग हीमरेज' कह कर शल्यशास्त्र में स्मरण किया है। संक्रान्त व्रण से रक्तस्राव का होना भयानक अवस्था है। अतः आवश्यक है कि शीघ्र ही संज्ञालोप कर के पता लगाया जाये।

जब तक सामान तैयार हो रहा हो तब तक रक्त को अस्थायी रूप से रोक देना चाहिये। यदि शाखा में व्रण हो तो शाखा की मुख्य धमनी को अंगुली के दबाव से दबा देना चाहिये। ड्रैसिंग हटा कर एक क्षण के लिये दबाव हटा लेना चाहिये, जिस से रक्तस्राव का निश्चय कर लेना चाहिये। अथवा 'आर्टरी फौरसेप्स' से रोका जा सकता है। यदि रक्त मुख्य वाहिनी से आ रहा हो तो 'टौर्नीकैट' (ऐंठन) लगाना चाहिये। और साथ में मौर्फिया का ($\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ ग्रेन में) इंजैक्शन देना चाहिये।

जिन अवस्थाओं में द्वितीय रक्तस्राव का भय है उन अवस्थाओं में जहां दबाव देना चाहिये वहां स्याही से निशान कर देना चाहिये। और चिकित्सक एवं धात्री को बता देना चाहिये कि यदि आवश्यकता पड़े तो किस प्रकार से दबाव डालना चाहिये। उस स्थान पर 'टौर्नीक्वैट' लगा देना चाहिये इन को ढीला छोड़ देना चाहिये। जिस से कि आवश्यकता पड़ने पर तत्क्षण कसा जा सके।

द्वितीय रक्तस्राव में दो बातें ध्यान में रखनी चाहियें। प्रथम—रक्तस्राव के स्थान को ढूढ कर चिकित्सा करनी चाहिये। द्वितीय—जिस अवस्था ने व्रण में रक्तस्राव उत्पन्न किया है उस को भली प्रकार धो कर बदल देना चाहिये।

शेष बातें उसी प्रकार दोहरा देनी चाहियें। रक्तस्राव के स्थान को ढूंढने में कठिनता अवश्य होती है। परन्तु इस के लिये व्रण के सब भाग सूक्ष्म रूप से देखने चाहियें। यदि मिल जाये तो स्नायु से बांध देना चाहिये। और यदि न मिले तो आवश्यक है कि शस्त्र और दस्ताने बदल कर व्रण से दूर शल्यकर्म कर के मुख्य वाहिनी को बांध देना चाहिये।

व्रण के प्रक्षालन के लिये यह स्मरण रखना चाहिये कि द्वितीय रक्तस्राव घातक हो सकता है। अतः मुख्य टांकों की भी (यथा मांसपेशी या नाड़ी के टांकों की भी) इस के आगे मुख्यता नहीं है। ये टांके यांत्रिक प्रक्षालन के लिये लगाये जाते हैं। कई बार इस अवस्था में अंगच्छेदन की भी आवश्यकता पड़ जाती है।

रक्तस्राव रोकने के पश्चात् 'इन्फ्युज़न' या 'ट्रांसफ्युज़न'* करना आवश्यक है।

दांत के निकालने के पश्चात् रक्तस्राव

कई बार यह दुःखदायक होता है, विशेषतः निर्बल रोगियों में। इस के लिये सब जमा रक्त निकाल कर गुहा को स्वच्छ पिचु से भर देना† चाहिये। उत्तम है कि पिचु को स्तम्भक

* (क) रक्तक्षयात् वेदनाभिः तथैवाहारयंत्रणात्।
व्रणितस्य भवेत् शोषः स चासाध्यतमो भवेत्॥
क्षतिनिःसृतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥

† (क) शोधयित्वा दहेच्चापि क्षारेण ज्वलनेन वा॥
(ख) उद्धृते तूत्तरे दन्ते शोणितं प्रस्रवेदति।
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि॥
.........तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापं आन्ध्यं अधिमन्थं धातुक्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं तृष्णादाहौ......
......पाण्डुरोगं मरणं चापादयति।

वस्तु में (यथा तारपीन का तेल, टिंक्चर फैराईपरक्लोराईड) भिगो लिया जाये।

शिशुवों-जिन में रक्तस्राव की प्रवृत्ति है (हीमरेजिक डाय थीसिस) उन में रक्तावरोध के समय बहुत बाधायें आती हैं। पिचु को १० प्रति शतक कैलसियम क्लोराईड के घोल में भिगो कर लगाना चाहिये। इस की असफलता में एड्रैनलीन क्लोराईड ($\frac{1}{1000}$) लगा कर देखना चाहिये। और इस की अकृतकार्यता में धातुजन्य स्तम्भक [लौह] काम में लाना चाहिये। 'प्लग' लगाने से पूर्व दांत की खोह में जमा रक्त सब बाहर कर देना चाहिये। रोगी को पूर्ण मात्रा में बार बार टिंक्चर फैराई परक्लोराईड और हलका उद्रहरिकाम्ल [डाइ-ल्यूट हाईड्रोक्लोरिक एसिड] देना चाहिये।

गलशुण्डी (टौंसिल) से रक्तस्राव।

यह या तो शोथयुक्त टौंसिल के वेधन से अथवा पुराने बढ़े हुवे टौंसिल को निकालने से होता है। रक्त केवल टौंसिल की धमनी से आता है। इन्टरनल कैरोटिड धमनी से कभी नहीं आता। यदि बर्फ के पानी के गण्डूष [गरारे] असफल हों तो कोई शक्तिशाली उपाय काम में लाना चाहिये। रक्तवाहिनी पकड़ कर बांध देनी चाहिये। यदि रोगी का संज्ञालोप किया गया हो तो यह कार्य सुगमता से हो सकता है। प्रायः इस अवस्था में रक्त किसी वाहिनी से नहीं आता अपितु कटे हुए स्थान पर बहुत से सिरों से रिसता रहता है। 'फौसस' के पिलर के बीच में शुष्क स्पञ्ज करना चाहिये। और इस के

....शोणिते प्रस्रुते भृशम्।
कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं भवेत्॥
गैरिकसर्जरसरसाञ्जन.... व्रणमुखमवचूर्णयेत्।

ऊपर दूसरा स्पञ्ज कुछ समय के लिये दबाये रखना चाहिये। शोथयुक्त टौंसिल में यदि वेधनव्रण से रक्त आ रहा है तो वह पिचु के 'प्लग' करने से रुक जायेगा। भयानक अवस्था वह है, जब कि शल्यकर्म के कुछ घन्टों बाद लगातार रक्त रिसता जाये, और कोई रक्तस्रावित करने वाली वाहिनी दिखाई न देवे। चिकित्सक को चाहिये कि वह इस की मुख्यता समझ कर स्तम्भक औषधियों का प्रयोग करे। रक्तस्राव को अधिक मात्रा में कभी भी नहीं होने देना* चाहिये। रोगी का संज्ञालोप कर के पिलर और "फौसिज़" के मध्य में से सब जमा रक्त साफ़ कर के पिचु से बना 'स्वैब' जो कि सम्पूर्ण गुहा को भर सके, रख कर, खुरदरे पृष्ठ की ओर दबाना चाहिये। 'स्वैब' के हटाने पर यद्यपि कोई भी रक्तस्राव की सिरा नहीं दिखाई देगी परन्तु यह स्पष्ट दिखाई देगा कि रक्त सम्पूर्ण पृष्ठ से नहीं रिस रहा। अपितु एक या अधिक स्थलों से निरन्तर पतली धारा में चू रहा होगा। ऐसी अवस्था में आवश्यक है कि 'एन्टीरियर पिलर' को उठाया जाये, जिस से कि इस के पीछे छिपे हुए स्थान को देखा जा सके। जिस निश्चित भाग से रक्त बहता दिखाई देवे उसे "वैल्स फौरसिप्स" से उठा कर बांध देना चाहिये। यदि केशिका से रक्त निकल रहा हो तो १० प्रति शतक कैलसियम क्लोराईड या $\frac{१}{१०००}$ शक्ति को एड्रैनलीन क्लोराईड पिचु के द्वारा लगाना चाहिये। लगाने के लिये पिचु को संदंश में पकड़ कर रक्त स्रावित करने वाली पृष्ठ पर कुछ समय तक दबाये† रहना चाहिये।

* (क) .... शोणिते प्रस्रुते भृशम्।
कार्यं यथोक्तं वैद्येन शोणितास्थापनं भवेत्॥

(ख) रक्तक्षयाद् वेदनाभिः तथैवाहारयंत्रणात्।
प्राणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो भवेत्॥
अष्टांगुलेन संदंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम्।

जिह्वा के शल्यकर्म के पश्चात् रक्तस्राव ।

जब यह होता है तब भयानक होता है। एक या दो जिह्वा-धमनी (लिंग्वल आर्टरी) फटती हैं । धमनी का रक्त 'एपिग्लौटिस' और हायोआइड बोन' के नीचे तर्जनी अंगुली को गुज़ारने से एवं आधार को ऊपर की ओर तथा चिबुक की ओर खींचने से रोका जा सकता है। इस प्रकार अस्थायी रूप में रक्त बन्द कर के मुख में जमा सब रक्त साफ़ कर देना चाहिये । इस को नियमित करने के लिये जिह्वा के पीछे से एक धागा गुज़ारना चाहिये । रक्त स्रवित करने वाली धमनी का ज्ञान होने पर उसे उठा सकते हैं। जिह्वा की 'वैस्क्युलर' पृष्ठ से यदि रक्त केवल रिस ही रहा हो तो पिचु के टुकड़े से रोका जा सकता है। इस के लिये पिचु को पृष्ठ पर अंगुलियों से कुछ समय तक* दबाये रखना चाहिये ।

जलौकादंश† ।

प्राय: कष्टदायक होता है। यदि रक्त शीतोपचार एवं दबाव से न रुके तो प्रत्येक व्रण को रजतनीत्रित की शलाका से स्पर्श करना चाहिये। अथवा व्रण के दोनों ओष्ठ समीप ला

छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ॥
नोत्कृष्टं नैव हीनं च त्रिभागं छेदयेद् भिषक् ।
अत्यादानात्स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च ॥

* अंगुल्यग्रेण वा पीडयेत् ।

† दंशतोदकण्डूप्रादुर्भावे. जानीयात् शुद्धमियमादत्त इति ।
शुद्धमाददानमपनयेत् । अथ शोणितगन्धेन न मुञ्चेद् मुख-
मस्या सैन्धवचूर्णेनावकिरेत् ।
शोणितस्य योगायोगानवेक्ष्य जलौकाव्रणान्मधुनाव-
घट्टयेत् । शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेत् बध्नीत वा व्रणं, कषाय-
मधुरस्निग्धैः शीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यात् ।

कर बाल से सी देने चाहियें।

गुदा के शल्यकर्म के पश्चात् रक्तस्राव* ।

शल्यकर्म के पश्चात् होने वाले रक्तस्रावों में यह बहुत भयानक है । कारण—रक्त आंतों में एकत्रित हो सकता है, एवं पता लगाने से पूर्व रोगी का पर्य्याप्त रक्त नष्ट हो चुकता है। अतः उत्तम है कि इस भाग के शल्यकर्म के पश्चात् प्रथम २४ घंटे के लिये गुदा में "ड्रेनिंग ट्यूब" लगा देनी चाहिये। ड्रेसिंग बहुत ही थोड़ा रखना चाहिये एवं साथ में बिस्तर को रक्त के लिये देखना चाहिये। यदि अब भी रक्तस्राव हो तो रोगी का संज्ञालोप कर के रक्तस्राव के स्थान को देखना चाहिये।

रक्तावरोध के उपाय ।

अंगुली से दबाव† ।

धमनी के रक्त की धारा को रोकने के लिये ठीक स्थान पर दबाव देना ही पर्य्याप्त होता है । यदि सम्भव हो तो दबाव मांसपेशी के विरुद्ध देते हुए अस्थि के विरुद्ध देना चाहिये। यथा "ब्रेकियल धमनी" के रक्तस्राव में प्रगण्डास्थि के विरुद्ध एवं ऊर्वस्थ धमनी (फ़ीमरल) को दोनों अंगूठों से 'प्यूबिस' के विरुद्ध दबाना चाहिये। 'सबक्लेवियन धमनी' को (अक्षकास्थि के नीचे की) अक्षकास्थि के ऊपर अंगूठे से प्रथम पसली के विरुद्ध दबाना चाहियें । 'कौमन कैरोटिड आर्टरी" को छठे ग्रीवा के कशेरु के बाहुप्रवर्धन (ट्रान्सवर्स प्रोसैस) के विरुद्ध पीछे एवं आगे की ओर उरःकर्णिका मांसपेशी के नीचे, क्रीकोइड कार्टिलेज' के पृष्ठ पर अंगूठे से दबाना चाहिये।

---

* प्रवृत्तरक्तेषु च पायुजेषु । कुर्याद् विधानं खलु रक्तपैत्तम् ।
शस्त्रकर्मणि रक्तं वा यस्यातीव प्रवर्त्तते ॥ सुश्रुत ।

† अंगुल्यग्रेण वावपीडयेत् ।

टौर्नीकैट* ।

यह कई प्रकार के हैं। परन्तु साधारणत: "पैटिट" का काम में आता है। कारण—यह कम फिसलता है। इस में आपत्ति केवल यह है कि शिरा के रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न करता है। अत लम्बे समय तक नहीं बरत सकते। इस यंत्र की कवलिका छोटी होती है अत: धमनी और यंत्र की पट्टी के बीच में दूसरी १½ इञ्च चौड़ी कवलिका बना कर रख देना चाहिये। उत्तम यह है कि 'स्क्रू' को अग के दूसरी ओर करें। परन्तु "पोप्लीटीयल" धमनी की अवस्था में सीधा घुटने के ऊपर लगाया जाता है। 'फ़ीमरल आर्टरी' पर इस को इतने ऊचे लगाना जहां पर अंगुली या अन्य 'टौर्नीकैट' लगाये जा सकते हैं, असम्भव है। और नाहीं उस अवयव में काम ला सकते हैं जहां दो मुख्य धमनी हों।

शिशुवों की अवस्था में "एलास्टिक बैएडेज" के कुछ चक्कर ही ऐसी अवस्था में पर्य्याप्त होते हैं। और युवाओं में चौड़े पट्टे वाले रबर के "यूनीवर्सिटी हौस्पिटल टौर्नीक्वैट" अन्य रबर की रस्सियों से उत्तम है।

एस्मार्क्स विधि ।

नीचे से ऊपर की ओर मज़बूत एलास्टिक पट्टी बांधने से तीव्र से तीव्र रक्तस्राव रोका जा सकता है। अंगुली या अंगूठे से ले कर शल्यकर्म के स्थान से कुछ ऊपर तक अंग को लपेट दिया जाता है। इस प्रकार अंग रक्तरहित एवं पीला हो जाता है। अंग या सन्धि में पूय के सञ्चित होने पर एला-

* यथोक्तै: व्रणबन्धन द्रव्यै: गाढं बध्नीयात् ।
अथ उर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः । क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्कल............
लताविदुलरज्जुतूल...... ...संतानिकालौहानि इति तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोग: ।

स्टिक पट्टी लगाना भयानक है। कारण—दबाव से विद्रधि की दीवार फट कर पूय तन्तुवों में फैल जायेगी। यही बात अर्बुद आदि की अवस्था में भी है। यदि टौर्नीकैट लगाने से पूर्व अंग को ऊंचा कर दिया जाये तो प्लास्टिक पट्टी लगाने की बहुत कम आवश्यकता होती है। कारण—इस से अंग में रक्त कम हो जाता है।

शल्यकर्म करने के लिये अंग में रक्तसंचार को रोका जाता है परन्तु वर्त्तमान काल में चिकित्सकों की सम्मति इस के पक्ष में नहीं है। कारण—लम्बे शल्यकर्म में रक्तस्राव को रोकने के लिये लगाये गये टौर्नीकैट जब हटाते हैं तो पैरेलाइज्ड रक्तवाहिनियों से रक्तस्राव एकदम स्वतन्त्र रूप में बहने लगता है। जिस से कि स्थानीय वाहिनियां व्रण में फैल जाती हैं और व्रण के रोहण में बाधक हो जाती हैं। अतः यह विधि छोटे शल्यकर्मों में यथा अंगच्छेद आदि में उत्तम है।

चित्र नं० १२
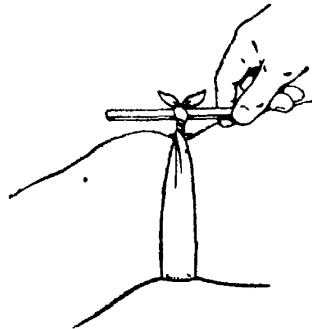
रूमाल और "स्टिक" का टौर्निक्वैट

इस में बिन्दुलाञ्छित रेखा पैड की निर्देशक है।

अंगच्छेद की अवस्था में मुख्य धमनी को प्रथम ही बांध

देना चाहिये। एवं सहायक को और धमनियों के बांधने को तय्यार रहना चाहिये। अंगुली आदि की अवस्था में 'इण्डिया रबर का छल्ला' अथवा छतरी में डालने का छल्ला काम में लाया जा सकता है। अंगुली को लपेट कर रक्त रहित किया जा सकता है।

तात्कालिक चिकित्सा के लिये रुमाल से भी 'टौर्निकैट' का काम लिया जा सकता है। इस के लिये रूमाल के अंग के चारों ओर खूब दृढ़ता से बांधकर पेंठ देना चाहिये। पेंठन के लिये लकड़ी भी काम में लाई जा सकती है (चित्र नं० १२)। इससे दबाव कम रहेगा। यदि लकड़ी न रखनी हो तो इस को व्रण के ऊपर और नीचे दोनों ओर बांध देना चाहिये।

नवां प्रकरण।

मूत्र एवं उत्पादक संस्थान सम्बन्धी विकार।

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्र मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ अथर्ववेद.

मूत्राघात* (रिटैन्शन औफ़ यूरिन)।

मूत्राशय का शनैः विस्तार प्रायः दर्द रहित होता है। परन्तु सहसा विस्तार का होना प्रायः दर्द युक्त होता है। ऐसी अवस्था में आवश्यक होता है कि यथासम्भव मूत्र शीघ्र निकाला जाये। कईयों में यह कार्य मूत्रशलाका के द्वारा सुगमता से किया जा सकता है। और कईयों में बाधा का स्वभाव इस कार्य को कठिन बना देता है। मूत्र को निकालने से पूर्व मूत्राघात के मुख्य कारणों का विचार करने के साथ रोगी का इतिवृत्त भी सुन लेना चाहिये। तीव्र दुःखदायी लक्षणों के शान्त होने पर रोगी की क्रमशः परीक्षा करनी चाहिये।

मूत्रमार्ग में कहीं भी रुकावट होने से मूत्राघात उत्पन्न हो सकता है। यथा—

[१] मूत्राशय की ग्रीवा में—जो कि 'इन्ट्रावैसिकलर अर्बुद' के कारण या मूत्राशय में रक्त भरने से अथवा गर्भाशय

---

* जायन्ते कुपितैः दोषैः मूत्राघातास्त्रयोदश।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैः.................. ॥
बस्तौ वाप्यथ नाले वा मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः॥
स्रवच्छनैः शनैरल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः मूत्रोत्संग इति स्मृतः॥

के भ्रंश से (विशेषत: गर्भावस्था में) या वस्ति के अर्बुद के कारण दबाव होने से—

(२) मूत्र मार्ग के अष्ठीला भाग में—अष्ठीला ग्रन्थि के बढ़ने से, वृद्धावस्था के परिवर्त्तनों से, घातक (मैलिग्नैन्ट) रोग से, अश्मरी या शर्करा अथवा विद्रधि के बनने से—

(३) मूत्र मार्ग के कला (मैम्ब्रेनस) भाग में—'स्ट्रिक्चर' बनने से (चाहे शोथजन्य हो या आघातजन्य), विद्रधि के बनने से—

(४) बाह्य छिद्र में—छिद्र के अन्दर उपदंश (शैंकर) होने से-

(५) मूत्र मार्ग के किसी भाग में—शुक्राश्मरी या अन्य शल्य के फंसने से।

मूत्राघात रुकावट न उत्पन्न करने वाले कारणों में से भी हो सकता है। यथा—'टेब्स' 'डौर्सौलिस', योषितापस्मार, 'कौडा इकिना' के कटाव से, 'रिफ्लैक्स इनहिबिशन' (तीव्र औपसर्गिकमेह, शल्य कर्म के पश्चात्)।

औपसर्गिक मेहजन्य (गोनोरिया) बाधा में (स्ट्रिक्चर) और वृद्धावस्था जन्य अष्ठीला ग्रन्थि की वृद्धि में यह रोग चिरकालीन एवं शनैः वृद्धि करता है। और जब उपद्रव जन्य शोथ या 'वैस्क्युलर इनगौर्जमैन्ट' (जो कि अति व्यायाम या काठी पर देर तक बैठने से होता है) तीव्र मूत्राघात को उत्पन्न कर सकती है।

अतः आवश्यक है कि रोगी का पूर्व इतिहास भली प्रकार जान लिया जाये। जिस से यह निश्चय किया जा सके कि मूत्र के प्रवाहण में किस प्रकार की बाधा है। मूत्र प्रवाहण होता ही नहीं या मूत्र की धारा घट गई है, (यथा बाधा की अवस्था में), अथवा प्रवाहण बहुत बार करना पड़ता है, विशेषतः रात्रि को (जो कि अष्ठीला की वृद्धि का सूचक है), या कोई स्राव एक दम या बड़ी मात्रा में होता है (जो कि मूत्रमार्ग

के तीव्र शोथ का सूचक है) । परन्तु यदि बाधा और म्युकॉयड अवस्था है तो यह चिरकालीन शोथ के कारण होता है। रोगी की आयु, उपदंश या औपसर्गिक मेह का इतिवृत्त, आघात का इतिहास अवश्य जानना चाहिये।

कोष्ठ की परीक्षा में भरा मूत्राशय अर्बुद का भ्रम करा सकता है। परन्तु मूत्राशय के ऊपर के किनारे को स्पर्श एवं टकोर (परकशन) से पहिचान सकते हैं। विटप में मूत्राशय की ऊंचाई पूर्ववर्त्ति चिरकालीन बाधा के विस्तार का ज्ञान करा सकती है। यदि बाधा कुछ महीनों से हो तो मूत्राशय की सञ्चय योग्यता (कैपेसिटी) बाधा के अनुसार बढ़ जायेगी। इस का ऊपर का किनारा नाभि तक आ सकता है। मूत्रमार्ग के बाह्य छिद्र से आनेवाले स्राव और रक्त की ओर भी ध्यान देना चाहिये। रक्त मूत्राशय की श्लेष्मकला के विदीर्ण होने से—जो कि प्रथम किसी शस्त्र के प्रवेश करने में विदीर्ण हो गई है--या अष्ठीला के 'वैस्क्युलर इनगौर्जमैन्ट' के कारण आ सकता है।

कई बार मूत्रमार्ग के नीचे की विद्रधि (पैरीयूरीथ्रल ऐबसिस) और 'स्ट्रिक्चर' जो कि 'फाइब्रोसिस' से मिला है, स्पर्श हो जाता है। अतः मूत्रमार्ग को बाहर से भी सीवन तक देखना चाहिये। अष्ठीला एवं मूत्राशय के आधार की परीक्षा भी भूलनी नहीं चाहिये। चिकनी एवं समानवृद्धि, वृद्धावस्था-जन्य या चिरकालीनशोथ-जन्य अष्ठीलावृद्धि का सूचक है। अनियमित एवं कठोर अष्ठीला-वृद्धि घातक रोग का (मैलिग्नैन्ट डिज़ीज़), और नर्म या बहुत अधिक कठोर शोथ विद्रधि के बनने का सूचक है। यह स्मरण रखना चाहिये कि ग्रन्थि के आकार में बढ़नेवाली मृदुता का अभाव "इन्ट्रावैसीकल इनलार्जमैन्ट" का असूचक नहीं हो सकता। सब अवस्थाओं में कृमियों के (टेस्ट) लक्षणों के लिये मध्यवर्त्ति

वातसंस्थान की परीक्षा करनी चाहिये।

रिटैन्शन विद् ओवरफ्लो*।

अवरोध की कई अवस्थाओं में जब मूत्र, मूत्राशय के फैल जाने से इस अवस्था में आ जाता है कि स्वतंत्र रूप से (इनवौलन्टरी) बहने लगे तो यह अवस्था उत्पन्न होती है। मूत्र या तो लगातार धारा के रूप में बहता है या थोड़ी २ मात्रा में ठहर२ कर आता है। विद्यार्थी कई बार इस को "ट्रू इन्कन्टीनैन्स" की अवस्था समझ लेता है विशेषत: जब मूत्राशय खाली हो। मूत्र यदि बूंद २ कर के आता हो तो कोष्ठ की परीक्षा करनी भूलना नहीं चाहिये।

मूत्राशय की शोथ मूत्रावरोध का पूववर्त्ति कारण हो सकता है। ऐसी अवस्था में सब उपकरण (औज़ार) बड़ी सावधानी से काम में लाने चाहियें। जिससे कि कोई कीटाणु प्रविष्ट न हो सके। और जब मूत्र के लिये शलाका लगाई जाये तो शिश्न और शलाका को चारों ओर से स्वच्छ ड्रैसिंग से घेर देना चाहिये। एवं मूत्र भी स्वच्छ शीशी में एकत्रित करना चाहिये।

शलाका को बांधना।

इस के लिये कई विधियां प्रचलित हैं। इस में "गम एलास्टिक कैथेटर" काम में लाना चाहिये। फीते को इस के साथ "क्लोव हिच*" के द्वारा जोड़ देना चाहिये।

प्रथम विधि।

एक कम चौड़ा फीता १२ इञ्च के लगभग लम्बा लेकर मूत्रशलाका के दोनों छल्लों में से गुज़ार लेना चाहिये। दोनों

---

* चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्त्तते।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीत: स उच्यते॥

† क्लोवहिच—के लिये देखिये सन्धिभ्रंश।

सिरों को शिश्न के पार्श्वों में नीचे की ओर लाना चाहिये। फिर अग्र चर्म को अच्छी प्रकार आगे करके $1\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी चिपकने वाली पट्टी के टुकड़े को (स्ट्रैपिंग) मणि (ग्लान्स) के

चित्र नं० १३
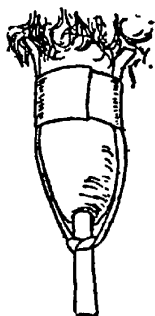
मूत्र शलाका को बांधने की विधि।

पीछे शिश्न पर तीन या चार वार घुमा देना चाहिये। इस विधि की सफलता त्वचा के आगे रखने पर ही निर्भर है। अन्यथा शलाका हिल जायेगी।

द्वितीय विधि।

अस्थि या रबर का चौड़ा छल्ला शिश्न पर चढ़ाकर जड़ तक पहुंचा देना चाहिये। और फिर इस को वहां वंक्षण की पट्टी के साथ बांध कर स्थिर कर देना चाहिये। और प्रथम विधि की भांति फीते के द्वारा उस छल्ले से शलाका के दोनों पार्श्ववर्त्ती छल्लों को बांध देना चाहिये (चित्र नं० १४)। बारह घण्टे के बाद यह शलाका निकाल कर इस से कुछ बड़ी शलाका डाल देनी चाहिये।

प्रायः दृढ़ अवरोध की अवस्था में शलाका डालने के प्रथम प्रयास में अशुद्ध मार्ग बन जाता है। यदि कोई भी छोटा

या बड़ा शस्त्र न जा सके तो 'फिलीफौर्मं बूजी' प्रविष्ट करनी चाहिये। जिस से अशुद्ध मार्ग रोका जा सकेगा। और फिर दूसरी ' फिलीफौर्म बूजी ' अवरोध में से गुजारनी चाहिये। इस को वहीं बांध देना चाहिये। और पहली को खींच लेना चाहिये। मूत्र इस के पार्श्व में से नहीं जायेगा। कुछ समय के पश्चात् इस को मूत्रशलाका * से बदल देना चाहिये।

चित्र नं० १४
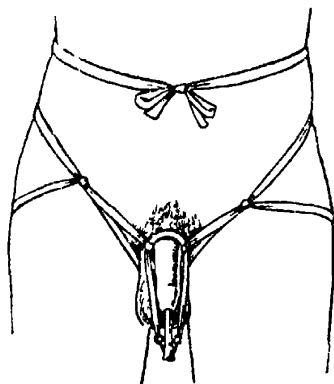
मूत्र शलाका को बांधने की विधि।

अश्मरी के कारण मूत्राघात।

प्रायः शिशुवों में होता † है। इस के लिये शिशु को पीठ के भार लेटाना चाहिये या प्रवाहण के समय में घुटने और भूमि पर टेककर कटि को ऊंचा रखना (नी-एलबो अवस्था)

* मूत्रशलाका—मूत्रमार्ग विशोधनार्थं एकं मालतीपुष्प वृन्ताग्रप्रमाण परिमण्डलमिति।

† (क) अश्मरीषु तु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहृतम्।

(ख) पूर्वरूपेऽश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः।

चाहिये। यदि इस से सफलता न मिले तो मूत्रमार्ग के अनु-सार शलाका प्रविष्ट करनी चाहिये। ऐसी अवस्था में अश्मरी की यथासम्भव शीघ्र परीक्षा करनी चाहिये।

एक छोटी पथरी (शर्करा) मूत्रमार्ग में फंस सकती है। जिस से सम्पूर्ण या अपूर्ण मूत्राघात उत्पन्न हो जाता है। प्रायः पथरी छिद्र के अन्दर रुकती है। और एक छोटे चम्मच * से खींची जा सकती है। यदि और अधिक नीचे हो तो मूत्र-मार्ग का संदंश काम में लाना चाहिये। यदि चिकित्सक को इस प्रकार सफलता न मिले तो पथरी को पीछे मूत्राशय में धकेल देना चाहिये। जहां से शल्यकर्म से निकाली जा सकती है। यदि पथरी मूत्रमार्ग में दृढ़ता से फंसी हो तो चिकित्सक को चाहिये कि वह बिना देर किये इस को तोड़ डाले। अन्यथा पथरी मूत्रमार्ग में व्रण करके अन्य मार्ग से मूत्रस्राव का कारण हो जाती है।

अश्मरी के शल्यकर्म के बाद यदि पथरी मूत्रमार्ग में अवरुद्ध हो जाये तो वहां भी यही विधि काम में लानी चाहिये। यदि अवरोध मूत्राशय के समीप हो तो इस को बड़ी ठोस शलाका (बूजी) से पीछे धकेलने का प्रयत्न करना चाहिये।

मूत्राघात की चिकित्सा में तीव्र मूत्रमार्ग के शोथ के भय से यह उत्तम है कि शस्त्रों का उपयोग सब से अन्त में किया जाये। रोगी को गरम स्नान देने के साथ मुख द्वारा टिंक्चर ओपियम की मात्रा देनी चाहिये। यदि यह विधि व्यर्थ सिद्ध हो तो मूत्रमार्ग को १/५००० में बने पोटासियम परमैनगनेट के घोल से धो देना चाहिये। इस के पीछे रबर का बना कैथेटर

* (१) यदृच्छया वा मूत्रमार्गप्रतिपन्नामन्तरासक्तां शुक्राश्मरीं शर्करां वा स्रोतसापहरेत्। एवं चाशक्ये नाडीशस्त्रेण बडिशेनाहरेत्।

(२) अश्मर्याहरणे सर्पफणावद् वक्त्रमग्रतः॥

मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करना चाहिये । और मूत्र निकाल लेना चाहिये । और फिर उपरोक्त शक्तिवाले घोल से मूत्राशय को धोकर कुछ द्रव मूत्राशय में छोड़ते हुए शलाका को निकाल लेना चाहिये । दर्द अधिक हो तो संज्ञालोप करना चाहिये ।

शल्यकर्म के पश्चात् विशेषतः सीवन के समीप की अवस्था में मूत्रप्रवाहण की कठिनता का ध्यान रखना चाहिये । इन अवस्थाओं में भी जब तक और उपायों से सफलता न मिले शलाका नहीं डालनी चाहिये । यदि कोई बाधा न हो तो मल-त्याग करते हुए मूत्राशयग्रीवा की कपाटी गुदवस्ति के द्वारा खोली जा सकती है । दूसरा उपाय-मूत्रमार्ग में 'स्टर लाईज्ड गरम ग्लैसरीन' (एक ड्राम) उत्तर * वस्ति द्वारा देनी उत्तम है। जिस को कि शनैः शनैः मर्दन से मूत्राशय की ओर विलापन करना चाहिये । यदि अवरोध 'इन्ट्रा वैसिकल ट्यूमर' के कारण अथवा बाधा (औब्स्ट्रक्शन†) उत्पन्न करने वाले कारण से न हो तो मूत्र शलाका से हटाया जा सकता है । परन्तु यदि मूत्राशय जमे हुए रक्त से भरा हो तो बड़े चिकित्सक को बुलाना चाहिये ।

---

* मूत्राघाते मूत्रदोषे शुक्रदोषेऽश्मरी व्रणे ।
...............वस्तिरप्युत्तरो हितः ॥
अभ्यंजनस्नेहनिरूहवस्तिस्वेदोपनाहोत्तरवस्तिसेकान् ।
सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहाः ... . ॥

† (१) मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्त्तहेतुकः ।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनाम् ।
तन्मूत्रजठरं विद्यात् गुदवस्तिनिरोधजम् ॥

(२) अन्तः वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत् ।
अश्मरी तुल्यरुग्ग्रन्थिः मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥

वृद्धावस्था-जन्य अष्ठीलाग्रन्थि के बढ़ने से या रचना के अथवा शिराओं के बढ़ने के कारण अनुरोध हो तो निम्न दो बातें ध्यान में रखनी चाहियें।

(१) मूत्र शलाका को प्रविष्ट करने में बड़ी कठिनता होती है

(२) यदि यह कठिनता जीत ली जाये तो भी मूत्र को थोड़ा २ निकालना चाहिये।

वृद्धावस्था में बढ़ी हुई अष्ठीला में मूत्रशलाका को प्रविष्ट करने की कठिनता मूत्रमार्ग की दिवार की विरुद्ध क्रिया के कारण ही नहीं. अपितु लम्बाई के बढ़ने के कारण भी होती है। इस लिये आवश्यक है कि एक विशेष प्रकार की लम्बी मूत्रशलाका काम में लाई जाये, जो आगे से मुडी हो अथवा किनारे पर दो मोड़ वाली हो। इन को क्रमशः एक वार मुड़ी (कूडे) और दो स्थान पर मुड़ी (बाई कूडे) कहा जाता है। इन में सब से लम्बी काम में लानी चाहिये जो कि मूत्रमार्ग में जा सके। थोड़े ही दबाव से प्रथम एक पार्श्व में घुमाकर और फिर दूसरे पार्श्व में घुमाने पर सुगमता से मूत्रशलाका मूत्राशय में प्रविष्ट कर सकते हैं। दबाव एवं अन्य लक्षणों को कम करने के लिये मूत्र की पर्याप्त मात्रा (२० औन्स) निकाल लेनी चाहिये। और फिर शलाका भी बाहर कर लेनी चाहिये। चार या छः घण्टे के पश्चात् यदि रोगी पुनः मूत्र की इच्छा करे एवं प्रवाहण न कर सके तो फिर शलाका से निकाल लेना चाहिये।

यदि अवरोध स्ट्रिक्चर के कारण हो और छोटे आकार की शलाका को सफलता से न गुजार सकें तो बड़ा 'गम एलास्टिक कैथेटर' (नं० ११ का फ्रांस का, नं० ८ का इंगलिश) सब से प्रथम प्रविष्ट करना चाहिये। चूंकि शस्त्र के द्वारा मांस पेशियों में आकुञ्चन होकर अवरोध [स्पास्मोडिक स्ट्रिक्चर] हो सकता है। चिकने लम्बे कैथेटर पर दिया गया

थोड़ा सा दबाव इन आंकुञ्चनों को जीत सकता है । इस से जब कैथेटर ' ऑर्गेनिक स्ट्रिक्चर ' पर पहुंचेगा तो मार्ग रुक जायेगा। इस से अवरोध का स्थान जाना जा सकता है। इस के पश्चात् उत्तरोत्तर घटते क्रम से * शलाका प्रविष्ट करते जाना चाहिये। जब तक कि कोई एक शलाका अवरोध के पार न कर जाये । परन्तु प्रत्येक समय अनुचित दबाव से बचाना चाहिये। यदि अवरोध बहुत ही छोटी शलाका से पार हुआ हो तो शलाका से बांध देना चाहिये । और मूत्र को टपकने देना चाहिये।

स्टरलाइज़ेशन ऑफ़ कैथेटर।

रबर या धातु के 'कैथेटर' और 'बूजी' सब उबालकर शुद्ध करने चाहियें। परन्तु ' गम एलास्टिक कैथेटर ' उबाले नहीं जा सकते। इसलिये उन को फौर्मेलिन' के वाष्प से शुद्ध करना चाहिये। 'फौर्मेलिन' के वाष्प कैथेटर को नष्ट नहीं करते परन्तु श्लेष्मकला के लिये विक्षोभक हैं । अतः कैथेटर या बूजी को प्रयोग करने से पूर्व गरम स्टरलाइज्ड पानी से अवश्य धो लेना चाहिये। 'गम एलास्टिक' शस्त्र कई बार $\frac{1}{5000}$ में बने मर्करी परक्लोराईड के घोल में रखने से शुद्ध किये जाते हैं। परन्तु यह विधि असंतोषजनक है। कारण—शस्त्र इस घोल में तैरते रहते हैं और द्रव छिद्र तक नहीं पहुंचता। यदि फौर्मेलीन के वाष्पों का प्रबन्ध न हो सके तो औज़ारों

* (१) निरुद्ध प्रकशे नाडीं लौहीमुभयतो मुखीम्।
दार्वी वा जतुकृतां घृताभ्यक्तां प्रवेशयेत् ॥
त्र्यहात्त्र्यहात्स्थूलतरां सम्यक् नाडीं प्रवेशयेत् ।
स्रोतो विवर्धयेदेवम्‌··· ····· · ·· · ॥

(२) मूत्रे विबद्धे कर्पूरचूर्णं लिंगे प्रवेशयेत् ।
कूष्माण्डकरसो वापि पेया सक्षीरशर्करा ।

को कम से कम एक मिनट तक उबालना चाहिये। और फिर परक्लोराईड औफ़ मर्करी के घोल में रखना चाहिये। यह घोल भी श्लेष्मकला के लिये विक्षोभक है। अतः यदि प्रयोग करने से पूर्व स्वच्छ पानी या 'बोरिक लोशन' से धोया न जाये तो मूत्रमार्ग की शोथ उत्पन्न हो सकती है। प्रयोग करने के पश्चात् उन को पानी से धो देना चाहिये। उन को टूटी (टैप) के नीचे पकड़ना चाहिये। जिस से यदि छिद्र अमे रक्त से बन्द होगा तो वह खुल जायेगा। उन को कोमल अंगोछे से साफ़ कर के पूर्ण रूप से परीक्षा करनी चाहिये। यदि किसी 'गम एलास्टिक' शस्त्र में चीर आ गई हो या खुरदरा पृष्ठ हो गया हो तो वह निष्फल है।

रबर या 'गमएलास्टिक' औज़ारों को सुरक्षित रखने के लिये उन को फौर्मेलीन के बाष्प में या उत्तम मिट्टी के तेल के बाष्प में रखना चाहिये।

यंत्रों का प्रविष्ट करना।

रोगी को पीठ के भार लेटाना चाहिये। उस की टांगें पृथक् २ खुली होनी चाहिये। सिर के नीचे सहारा देना चाहिये। अग्र चर्म को हटाकर मणि और छिद्र को पूर्णतः मर्करी परक्लोराईड के घोल से ($\frac{1}{1000}$ में) धो डालना चाहिये। एक शुद्ध स्वच्छ अंगोछा शिश्न के नीचे जंघाओं पर फैला देना चाहिये। लौह के बने डायलेटर (स्टील डायलेटर) को डालने के अतिरिक्त और सब अवस्थाओं में चिकित्सक को रोगी के दक्षिण पार्श्व में खड़ा होना चाहिये। परन्तु डायलेटर डालते समय वाम पार्श्व में खड़ा होना चाहिये। इस से औज़ारों को दक्षिण हाथ से खींचने में सुगमता रहती है। प्रत्येक यंत्र को प्रविष्ट करने से पूर्व स्निग्ध वस्तुओं से चिकना कर लेना चाहिये। इस के लिये सब से उत्तम संतोषजनक स्टरलाईज़्ड ग्लैसरीन या जैतून का तैल (ओलिव औयल)

अथवा घृत है। परन्तु जब 'सिस्टोस्कोप' चिकना करना हो तो ग्लैसरीन उत्तम है। मूत्रमार्ग में चिकनी औषध की एक ड्राम मात्रा प्रविष्ट कर देनी बहुत संतोषजनक विधि है। यदि बाह्य छिद्र यंत्र प्रविष्ट करने के लिये बहुत छोटा हो तो इस को 'फ्रीनम' की ओर छेदन कर के बढ़ाना चाहिये।

धातुनिर्मित बूजी को प्रविष्ट करना (लिस्टर्ससौन्ड)।

चिकित्सक को चाहिये कि पीठ के भार लेटे हुवे रोगी के वामपार्श्व में खड़ा हो कर, शिश्न को धीरे से सीधा कर के वाम वंक्षण की ओर बायें हाथ से खींचे। औज़ार को अपने दक्षिण हाथ में पकड़े जिस से यंत्र का सीधा भाग या हत्था "पौपर्ट्स लिगमैन्ट" के समानान्तर होता हुआ छिद्र के मुख में प्रविष्ट हो जायेगा। फिर बहुत मामूली दबाव से जो नहीं के बराबर है, औज़ार को अपने ही भार से मूत्रमार्ग में जहां तक फिसल सके फिसलने देना चाहिये। सिरे को मूत्रमार्ग

चित्र नं० १५।
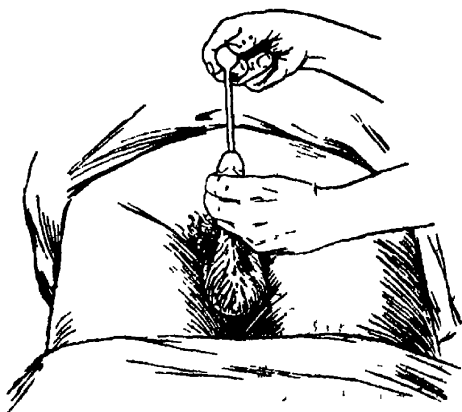
धातु निर्मित बूजी को प्रविष्ट करना (प्रथमावस्था)।

की पश्चिमीय दिवार की ओर रखना चाहिये। औज़ार का हत्था अपनी निजू रेखा में रखना चाहिये। शिश्न को मुड़ाव के ऊपर जितना खींचा जा सके खींचना चाहिये ॥ अब यंत्र को शनैः शनैः घुमाते हुए मध्यरेखा की ओर लाना चाहिये। और इतने ही शनैः २ लेटी हुई स्थिति (हॉरीज़ॉन्टल) से उठा कर सीधी (वर्टिकल) स्थिति में शिश्न को ले आना चाहिये। जब यह हो जाये तब यंत्र के सिरे को मूत्रमार्ग की छत के विरुद्ध रख कर यंत्र को अपने भार से नीचे फिसलने देना चाहिये। जिस से यह त्रिभुजाकार स्नायु तक आ जाये।

चित्र नं० १६।
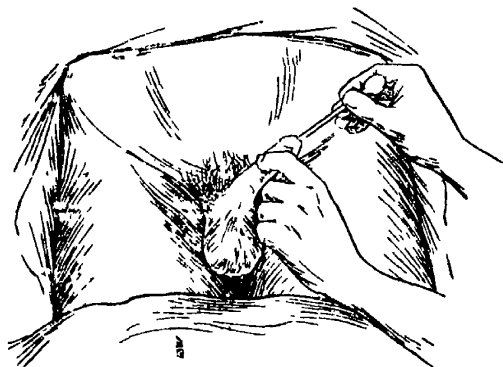
धातु निर्मित बूजी को प्रविष्ट करना [द्वितीयावस्था]।

अब हत्थे को धीरे से दबाना चाहिये। और यदि कोई बाधा नहीं होगी तो इस का सिरा श्लेष्मकला, एवं अष्ठीला भाग में से हो कर मूत्राशय में जा पहुंचेगा। यदि यंत्र सुगमता से मूत्रमार्ग में नहीं जा सका तो बल लगाना व्यर्थ है। यदि न कोई अवरोध हो और ना ही अष्ठीला बढ़ी हुई हो तो औज़ार

के अवरोध का कारण अशुद्ध प्रवेश है। इस के लिये इसे थोड़ा सा खींच कर फिर भिन्न दिशा में प्रविष्ट करना चाहिये। प्रविष्ट करने में भूल प्रायः यह होती है कि सिरे के मूत्रमार्ग में पर्य्याप्त प्रविष्ट हुए बिना हत्थे को दबा दिया जाता है*।

यूरिथ्रल शॉक।

इस की सम्भावना सदा ध्यान में रखनी आवश्यक है। यह युवाओं की अपेक्षा वृद्धों में अधिक होता है। एवं प्रथम शस्त्र की अवस्था में होता है विशेषतः यदि शस्त्र शीत है। यह शस्त्र के मार्ग में होने पर भी या एक दम पीछे हो सकता है। रोगी एक दम बेहोश हो जाता है, पुतली फैल जाती है, नाड़ी क्षीण एवं छूई नहीं जाती, श्वास में कठिनता आ जाती है। जो कि वायु के सहसा बाहर करने पर होता है। और अन्त में रोगी मर जाता है। इस के लिये कृत्रिम श्वास, उत्तेजना के अन्य सब उपाय एक दम कार्य में लाने प्रारम्भ कर देने चाहियें।

मूत्रमार्ग का या शलाकाजन्य ज्वर।

यह सदा संक्रमण के कारण होता है। इसकी तीव्रता या

---

* स्त्यानशोणितं चोत्तरवस्तिभिरुपाचरेत्।
चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरंगुलसम्मितम्। मालतीपुष्पवृन्ताग्रच्छिद्रं॥
क्षीरिवृक्षकषायं तु पुष्पनेत्रेण योजितम्।
निर्हरेदश्मरीं चूर्णं रक्तं वस्तिगतं च यत्॥
वस्तिरुत्तरसंज्ञस्य विधिं वक्ष्याम्यशेषतः।
निषण्णमाजानुसमे पीठे स्नानाश्रये समे॥
स्वभ्यक्तवस्तिमूर्द्धानं तैलेनोष्णेन मानवम्।
ततः समं स्थापयित्वा नालमस्य प्रहर्षितम्॥
पूर्वं शलाकयान्विष्य ततो नेत्रमनन्तरम्।
शनैः शनैः घृताभ्यक्तं निदध्यात् अंगुलानि षट्॥
ततोऽवपीडयेद् वस्तिं शनैः नेत्रं च निर्हरेत्॥

समय संक्रमण के विष पर निर्भर है। रोग का प्रारम्भ कुछ घन्टों से ले कर दो या तीन दिन तक हो सकता है। लक्षण बदलते रहते हैं परन्तु तापपरिमाण एक या दो अंश बढ़ा होता है। इस के अतिरिक्त सर्दी, कम्पकपी, ऊंचा तापपरिमाण आदि लक्षणों के साथ तीव्र संक्रामक विष के अन्य लक्षण भी होते हैं। और वृक्क से मूत्र बनना बन्द (सप्रैशन औफ़ यूरीन) हो जाता है।

एस्पायरेशन औफ़ ब्लैडर।

यदि मूत्रमार्ग के शस्त्रों से मूत्राघात को हटाना असम्भव हो तो चिकित्सक को चाहिये कि निम्न प्रकार से मूत्राशय का वेधन (टैप) करे। विटप प्रदेश को बिना गीला किये मूंडना चाहिये। कोष्ठ के निचले भाग पर आयोडीन लगा देनी चाहिये। फिर तुरन्त मध्यरेखा में विटप संधि के ऊपर (सिम्फिसिस प्यूबिस) एवं अन्य तन्तुओं में जो कि मूत्राशय के मध्य में है उन पर दो प्रति शतक नौवोकेन लगा कर ½ इञ्च के लगभग चाकू से त्वचा में और त्वचा के निचले तन्तुवों में छेदन कर के व्रीहिमुख* (ट्रोकार एण्ड कैन्युला)" को मूत्राशय में चुभो देना चाहिये।

ट्रोकार (व्रीहिमुख) के निकालने के साथ ही मूत्र एक दम बाहर आयेगा। इस लिये मूत्र प्रवाहण को वश में करने का यत्न करना चाहिये। अन्यथा दबाव के सहसा घटने के कारण श्लेष्मकला से रक्तस्राव हो सकता है। रोगी को एवं रोगी के विस्तर को मूत्र से बचाने के लिये उत्तम है कि

---

* मूत्रजं स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्।
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद् विध्येद्व्रीहिमुखेन तु॥
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्त्वा विस्रावयेद् भिषक्।
मूत्रनाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्॥
शुद्धायां रोपणं दद्यात्.............. ।

प्रविष्ट करने से पूर्व कैन्युला (द्विद्वारा नलिका*) के सिरे पर पतली रबर की नली चढ़ा दी जाये । और ट्रोकार को कैन्युला में इस नली के पार्श्व में से प्रविष्ट करना चाहिये । ट्रोकार को निकालने पर मूत्र को इस छिद्र में से "स्पैन्सर वैल्स" के द्वारा नियमित कर सकते हैं । और नली का दूसरा सिरा शुद्ध बोतल में रख देना चाहिये ।

पैरीयूरीथ्रल सप्युरेशन ।

अग्रिम या पश्चिम (एन्टीरियर या पोस्टीरियर) मूत्रमार्ग की शोथ के कारण पैरीयूरीथ्रल तन्तु में संक्रमण हो सकता है । यह या तो "कूपर्स ग्लैन्ड" से आरम्भ होता है या "लिटर ग्लैन्ड" से आरम्भ होता है । यह या तो स्थानीय कठोरता तक ही नियमित रहता है अथवा विद्रधि उत्पन्न करता है, (पैरी यूरीथ्रल एबसिस) । विद्रधि का मूत्रमार्ग में फटना 'एक्स्ट्रावेज़ेशन औफ़ यूरीन' की अवस्था उत्पन्न कर सकता है । यदि विद्रधि अन्तः और बाह्य दोनों ओर फटे तो भगन्दर (फिस्च्युला) उत्पन्न करती है । यदि सम्भव हो तो इन उपद्रवों को यथासम्भव शीघ्र छेदन कर के रोकना चाहिये । यदि रोग का स्थान शिश्नवर्त्ति भाग है तो मूत्रमार्ग के नीचे धातुनिर्मित ठोस शलाका डाल कर विद्रधि खोल सकते हैं । अथवा छोटी और चौड़ी 'यूरीथ्रल' नलिका में से छेदन कर सकते हैं। सीवन की विद्रधि पर सीवन पर छेदन कर के बाहर की ओर खोलना चाहिये । प्रायः शोथ बहुत तीव्र होती है, जो कि शीघ्रता से फैलती हुई कोष्ठ के निचले भाग, अण्डकोष, शिश्न, सीवन तक प्रभाव करती है । यह तन्तुवों में दूषित पूय उत्पन्न कर देती है, मूत्रमार्ग में व्रण बना देती है । और अन्त में मूत्र का दूसरा रास्ता बना देती है । इस की चिकित्सा वही है जो एक्स्ट्रावेज़ेशन औफ़ यूरीन की है ।

---

* "द्विद्वारा नलिका पिच्छनलिका वा स्यात् दकोदरे" ॥ वाग्भट्ट.

मूत्रमार्ग का विदीर्ण होना।

सीवन पर आघात लगने से या सीवन के भार गिरने से होता है। इस में मूत्रमार्ग का "बल्बस पोर्शन" फटता है। अथवा बस्तिगुहा के अस्थिभंग के कारण मूत्रमार्ग की श्लेष्मकला का भाग फटता है।

प्रथम अवस्था में मूत्रमार्ग से रक्त आता है एवं सीवन पर शोथ होती है। द्वितीयावस्था में उतना रक्त नहीं आता और शोथ गुदा द्वारा अनुभव की जा सकती है।

रोगी को कह देना चाहिये कि मूत्र प्रवाहण न करे। अन्यथा एक्स्ट्रावेज़ेशन ऑफ़ यूरीन (अन्य मार्ग से मूत्र का स्रवित होना) की अवस्था हो जायेगी। शलाका डालने से पूर्व बड़े चिकित्सक को अवस्था समझा देनी चाहिये।

एक्स्ट्रावेज़ेशन ऑफ़ यूरीन।

आघात से मूत्रमार्ग के फटने पर या शस्त्रक्रिया के क्षत से, विद्रधि के अन्तः फटने से, या पैरीयूरीथ्रल संक्रमण के कारण मूत्रमार्ग में व्रण होने से या स्ट्रिक्चर के पीछे मूत्रमार्ग में छेद होने से (बहुत कम) होता है। मूत्र "कौल्सफेशिया" के नीचे सीवन पर आता है। एवं अण्डकोष और शिश्न के 'एरीओलर' तन्तु पर से गुज़रता है। यह फैलता जाता है, और यदि चिकित्सा न की जावे तो विटप और वंक्षण में मार्ग बना लेता है। यदि जल्दी देख लिया जाये तो फैलाव साधारण शोथ की भांति दीखता है। परन्तु कुछ ही घंटों में यदि मूत्र संक्रमित है, तो त्वचा गहरी लाल होकर फिर भूरी (डस्की) हो जायेगी। काले रंग का दूषित पृष्ठ (सल्फ़) कई स्थानों पर दिखाई देंगे। और छोटे २ नीले दाने कोष्ठ की ओर कुछ दूरी तक फैले होंगे।

रोगी को पेट चाक (लिथोटॉमी) की स्थिति में रखकर

फैली हुई सीवन की मध्य रेखा में अण्डकोश और शिश्न के एक पार्श्व में जहां से मूत्र आता दिखाई देता हो, वहां अच्छा बड़ा छेदन करना चाहिये। यह छेदन बहुत गहरा नहीं होना चाहिये, अपितु मूत्र को 'इनफिल्ट्रेट' करने के लिये ही बनना चाहिये। जो कि मूत्र की विशेष गन्ध से पहिचाना जा सकता है। अनभ्यस्त चिकित्सक से चर्बी वाले व्यक्तियों के वंक्षण में पर्य्याप्त छेदन न होने का भय है। मूत्र 'सुपरफिशल फेशिया' की गहरी पृष्ठ के नीचे एकत्रित होता है। अतः इस को स्वतंत्र करने के लिये यह आवश्यक है कि सब चर्बी को हटाकर कोष्ठ पर नंगा कर दिया जाये।

कोई भी छोटी रक्तवाहिनी रक्तस्राव कर रही हो उसे या तो बांध देना चाहिये या मोड़ देना चाहिये। आवश्यक है कि रोगी का रक्तस्राव न होने दिया जाये। यदि इस से भी रक्तावरोध न हो तो छेदन को पिचु से भर देना चाहिये। सम्पूर्ण भाग को स्टरलाइज्ड बोरिक फोमन्टेशन से ढांप देना चाहिये इस को प्रत्येक तीन घंटे के अतर से बदलते रहना चाहिये।

यदि सीवन में मूत्र बहुत एकत्रित हो गया हो तो भली प्रकार खोल देना चाहिये। जिस से कि जब मूत्राशय संकुचित हो तो व्रण के द्वारा मूत्र भली प्रकार बाहर हो जाये। इस अवस्था में प्रथम अवस्था की भांति मूत्र शलाका डालने की कोई आवश्यक्ता नहीं। और जब तक भाग अधिक स्वस्थ न हो जाये शलाका नहीं डालनी चाहिये। और यदि मूत्र लगातार प्रवाहित होता ही रहे तो रबर या गम प्लास्टिक कैथेटर बड़ी सावधानी से प्रविष्ट कर देना चाहिये। इस कैथेटर के साथ रबर की नली बांध देनी चाहिये, जिस के द्वारा मूत्र जन्तुघ्न घोल में पहुंचाया जा सकेगा। नली को पानी के भार से दबाये रखना चाहिये।

यदि इस प्रकार सफलता न मिले तो सीवन पर छेदन

कर के कैथेटर मूत्राशय में प्रविष्ट करना चाहिये।

इस प्रकार का रोगी सदा गिरी अवस्था में रहता है, अतः चिकित्सा के पीछे बहुत सा पोषक भोजन*, कुछ उत्तेजना देनी चाहिये। दुर्गन्ध को दूर करने के लिये और शीघ्र रोहण के लिये रोगी को प्रतिदिन गरम बोरिक लोशन में नित्य स्नान १५ से २० मिनिट तक देना† चाहिये। दूषित पृष्ठ काटकर नया ड्रैसिंग रख देना चाहिये।

बच्चों में मूत्रमार्ग की अश्मरी एवं परीसिपेलिस के कारण इस अवस्था का नीले दानों एवं शोथ से भ्रम होजाता है।

मूत्रमार्ग का प्रक्षालन†।

एक संचायक जिस की योग्यता ४० औंस की है उस को एक रस्सी और पुली के साथ इस प्रकार बांध देना चाहिये कि इस को रोगी से ६ फीट की ऊंचाई तक ऊंचा कर सके। वस्ति के पुष्पनेत्र पर शीशे की एक ढाल होनी चाहिये। पोटासियम परमैनगनेट के $\frac{1}{5000}$ शक्तिवाले घोल‡ को १००° फारनाहिट पर गरम कर के संचायक से भर देना चाहिये। रोगी को एक प्याला अपने शिश्न के नीचे पकड़ कर खड़ा होना चाहिये। मूत्रमार्ग के अग्रिम भाग के छिद्र को पुष्पनेत्र में प्रविष्ट कर के अच्छी प्रकार धो देना चाहिये। और फिर इस को निकाल कर शीशे की ढाल के पीछे नली को दबाने से घोल को नियमित कर देना चाहिये। पुष्पनेत्र जब प्रविष्ट

---

* उष्णां सघृतां यवागूं पाययेत् उभयकालम्।
… …मांसानि भक्षयेद् विधिवन्नरः।
विशुद्धमनसस्तस्य मांस मांसेन वर्धते॥

† उद्धृत्य शल्यं तु उष्णोदकद्रोण्यामवतार्य स्वेदयेत्तथाहि वस्तिरसजा न पूर्यते। पूर्वोन वा क्षीरिवृक्षकषायं पुष्पनेत्रेण विदध्यात्॥

‡ क्षीरिवृक्षकषायं तु पुष्पनेत्रेण योजितम्।

किया जायेगा तब छिद्र इस के विरुद्ध दबाव डालेगा। और द्रव मूत्रमार्ग में जाते समय फैल जायेगा। नेत्र के निकालने पर द्रव ढाल में आ जायेगा। वहां से रोगी को पकड़े हुवे

चित्र नं० १७
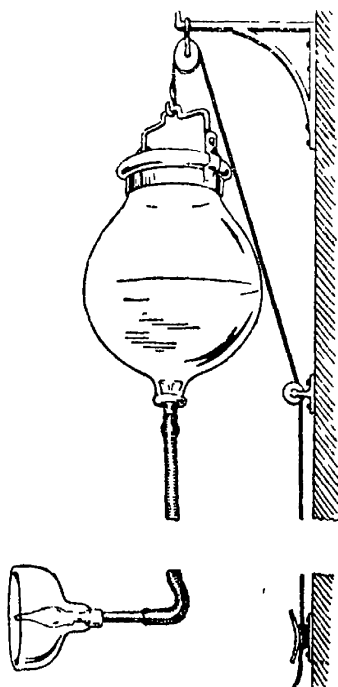
मूत्रमार्ग के धोने की बस्ति और नेत्र।

प्याले में आ जायेगा। पश्चिमीय मूत्रमार्ग को पुनः नेत्र में प्रविष्ट कर के दृढ़ता से दबाते हुवे धो सकते हैं। रोगी को

कह देना चाहिये कि प्रवाहण के लिये बल प्रयोग करे। इस से मूत्राशय का छिद्र खुल जायेगा। जिस से द्रव मूत्राशय से मूत्रमार्ग में पहुंच जायेगा। पानी की गति चिकित्सक मूत्रमार्ग के नीचे हाथ रखकर देख सकता है। इस के अतिरिक्त रोगी को चुभता हुआ अनुभव द्रव की गति को बता सकता है। जब रोगी अधिक विस्तार की शिकायत करे या १६ औंस पानी जा चुके तो नेत्र निकाल कर रोगी को मूत्र प्रवाहण के लिये कहना चाहिये।

यदि यह देखना हो कि स्राव किस भाग से आरहा है तो इसी उपकरण से कार्य ले सकते हैं। इस में परमैनगनेट के स्थान पर स्टरलाईज्ड बोरिक लोशन भर देना चाहिये। रोगी को कम से कम दो घंटे पूर्व मूत्र प्रवाहण नहीं करने देना चाहिये। मूत्रमार्ग का अग्रिम भाग पूर्व की भांति धोना चाहिये द्रव को एक 'कॉनिकल ग्लास' में एकत्रित करना चाहिये। इस द्रव में पहिले मूत्रमार्ग का स्राव और 'डेब्रिस' होगी। अब रोगी को कहना चाहिये कि दूसरी शीशी में मूत्र प्रवाहण करे। इस में पश्चिमीय मूत्रमार्ग का स्राव और 'डेब्रिस' होगी। यदि मूत्राशय संक्रान्त होगा तो यह द्रव भी अवश्य संक्रान्त होगा। पश्चिमीय मूत्रमार्ग को अब धोकर १० औंस टंकण घोल मूत्राशय में ही छोड़ देना चाहिये। रोगी को अब बिस्तर पर "नी-एल्बो" स्थिति में रखते हुवे दस्ताने पहन कर अंगुली को चिकना कर के गुदा में प्रविष्ट करना चाहिये। पश्चिमीय मूत्रमार्ग के पृष्ठ पर अष्ठीला ग्रन्थि को मलना चाहिये। मूत्राशय के आधार की ओर से गुदा की ओर चोट करनी चाहिये। रोगी को अब कह देना चाहिये कि तीसरी शीशी में मूत्र प्रवाहण करे। इस में अष्ठीला का स्राव होगा जो कि मलने से मिला है। इस स्राव की पूय और औपसर्गिक मेह के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

मूत्राशय का धोना* ।

मूत्राशय को ७ या ६ नम्बर के कैथेटर से यथासम्भव पूर्ण रूप से खाली कर लेना चाहिये । इस के लिये विटप प्रदेश पर धीरे से दबाव भी देना चाहिये । मूत्र का सहसा अवरोध मूत्राशय की भित्ति के कैथेटर की आंख के सम्पर्क में आने से हो जाता है । यदि ऐसा हो जाये तो कैथेटर को ½ इञ्च बाहर निकाल कर घुमा देना चाहिये । कैथेटर को शीशे और रबर की तीन फीट लम्बी नली के द्वारा पीक (फनल) से मिला देना चाहिये । इन को प्रथम ही उबाल कर शुद्ध कर लेना चाहिये । पीक को विस्तर से दो फीट ऊंचा उठाना चाहिये जिस से कि द्रव इस में से मूत्राशय में पहुंच जाये । मूत्राशय को खाली करने के लिये पीक बिस्तर से नीचे कर देनी चाहिये । वायु का प्रवेश रोगी के लिये कष्टदायक न हो अतः कैथेटर से सम्बन्ध करने से पूर्व नली और पीक को पानी से भर देना चाहिये । इस प्रक्षालन के लिये बोरिकएसिड का पूर्ण घोल, अथवा क्युनीन सल्फेट (२ से १० ग्रेन), गन्धकाम्ल हलका (दो बूंद) पानी (१ औन्स) काम में लाया जाता है ।

सिस्टोस्कोपी ।

सिस्टोस्कोप के दो भाग होते हैं । एक भाग खोखली नली

---

* (१) ऋजौ सुखोपवेष्टस्य पीठे जनुसमे मृ॒ृ॑ ।
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये ॥
सूक्ष्मां शलाकां प्रणयेत्तयोः शुद्धेऽनुसेवनीम् ।
आमेहनान्तं नेत्रं च निष्कम्पं गुदवत्ततः ॥
पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे................ ।
वस्तयोऽनेन विधिना दद्यात् त्रींश्चतुरोऽपि वा ॥

(२) क्षीरिवृक्षकषायं तु पुष्पनेत्रेण योजितम् ।
निर्हरेदश्मरीं चूर्णं रक्तं बस्तिगतं तथा ॥

से बना होता है, जिस के एक किनारे पर कपाटी होती है और दूसरे किनारे पर लैम्प। दूसरा मध्यवर्त्ती भाग—इस में ताल (लैन्स) होता है। सिस्टोस्कोप को शुद्ध करने के लिये सब से उत्तम वस्तु फॉर्मेलीन के बाष्प हैं। अन्यथा प्रत्येक भाग को पृथक् २ कार्बोलिक लोशन में ($\frac{1}{20}$ में) रखने से शुद्ध किया जा सकता है। आंख का सिरा द्रव से छूआ नहीं जाना

चित्र नं० १८।
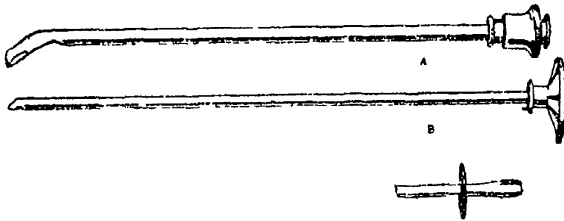
सिस्टोस्कोप।

चाहिये। उपयोग करने से पूर्व दोनों भागों को स्टरलाइज्ड पानी के मर्तबान में से गुज़ार लेना चाहिये। प्रकाश के लिये चार वोल्ट की विद्युत् धारा पर्य्याप्त है। प्रयोग करने से पूर्व विद्युत् धारा एवं लैम्प की परीक्षा कर लेनी चाहिये। रोगी को पीठ के भार लेटाकर टांगों को चौड़ा कर के वंक्षण और शिश्न को पूर्णतः साफ़ करना चाहिये। मूत्रमार्ग में चार प्रतिशतक नॉवोकेन की ३० बूंद प्रविष्ट करनी चाहिये। तद्-नन्तर सिस्टोस्कोप के खोखले भाग को स्टरलाइज्ड ग्लैसरीन से चिकना कर के मूत्राशय में प्रविष्ट करना चाहिये। सिस्टोस्कोप का मुड़ा हुआ भाग अष्ठीला एवं कलावाले मूत्र मार्ग में सुगमता से नहीं जायेगा। इसके लिये यदि सिस्टो-स्कोप को सीधे लम्ब अक्ष (वर्टीकल) में प्रविष्ट कर के, इस के बाह्य प्रान्त को टांगों के बीच में अधिक २ दबाते

जायें, जिस से कि यह लेटी हुई अवस्था (हौरीज़ॉन्टल) को भी पार कर जाये, तब यदि मूत्रमार्ग स्वस्थ होगा तो बहुत कम कठिनता होगी। रोगी के नितम्ब मेज़ पर उठा देने चाहियें और त्रिकप्रदेश के नीचे रेत की थैली रख देनी चाहिये। अब मूत्राशय को खाली करने के लिये कपाटी में से नली (C) को सिस्टोस्कोप में प्रविष्ट करना चाहिये। इस नली के बाह्य किनारे पर रबर की नली लगी होनी चाहिये। और फिर बार बार इस को स्टरलाइज्ड बोरिकलोशन से धो डालना चाहिये। इस घोल को ४ औन्स वाली धातुनिर्मित पिचकारी से प्रविष्ट करना चाहिये। धोना तब तक जारी रखना चाहिये, जब तक कि गिलास में वापिस आया हुआ द्रव प्रक्षिप्त प्रकाश से साफ़ दिखाई न देने लगे। फिर १० से १२ औन्स बोरिक लोशन मूत्राशय में प्रविष्ट कर के नली को (जो नली मूत्र निकालने के लिये डाली गई थी (C)) निकाल कर ताल वाली नली (B) डाल देनी चाहिये। ज्यूं ही विद्युत् धारा संयुक्त कर दी जायेगी धारा सिस्टोस्कोप में बहने लगेगी। और यंत्र काम के लिये तैय्यार हो जायेगा। सिस्टोस्कोप को निकालने से पूर्व मूत्राशय को खाली कर देना चाहिये। विशेषतः यदि रोगी का संज्ञालोप किया गया है।

मूत्रनालियों (गवीनियों) में कैथेटर डालने के लिये रोगी को ½ घन्टा पूर्व गरम चाय का प्याला पिला देना चाहिये। और वृक्क के कार्य की परीक्षा के लिये निम्न औषधियों में से कोई एक नितम्ब की मांसपेशी में सूचीवेध से देनी चाहिये। 'मैथिलिनब्ल्यू' की १५ बूंद [५ प्रतिशतक घोल में]; 'रोज़ैनिलीन' की १५ बूद (१% घोल की)। सिस्टोस्कोपी के समय 'इन्डिगोकारमीन' की ०.४% प्रतिशतक घोल की ५ सी. सी. मात्रा यदि शिरावेध द्वारा दे दी जाये तो स्वस्थ अवस्था में ३ से ५ मिनट में मूत्रमार्ग के छिद्र पर दिखाई दे

जाती है। जिन शुद्ध बोतलों में मूत्र एकत्रित किया जा रहा है उन पर दक्षिण और वाम वृक्क का निशान कर देना चाहिये। एवं प्रत्येक ½ घन्टे के बाद इन को बदल देना चाहिये। कई बार कैथेटर श्लेष्मकला को विक्षोभित कर के रक्तस्राव उत्पन्न कर देते हैं, जिस से परीक्षा कठिन हो जाती है। कैथेटर को दो घन्टे के बाद निकाल लेना चाहिये।

यूरिया की परीक्षा।

वृक्क की यूरिया निकालने की शक्ति देखने के लिये मूत्राशय को खाली कर के १०० सी० सी० पानी में १५ ग्राम यूरिया घोल कर मुख से देना चाहिये। और फिर प्रत्येक एक घन्टे से तीन घन्टे तक मूत्र को एकत्रित करना चाहिये।

पायलोग्राफी।

मूत्रशलाका यंत्र से २०% सोडियम आयोडाईड के घोल को प्रविष्ट कर के वृक्क की वस्ति का (पैलविस) रेडियोग्राम लेना चाहिये। इस घोल को दो सी० सी० वाली 'रिकॉर्ड सीरिञ्ज' से तब तक प्रविष्ट करना चाहिये जब तक रोगी दर्द अनुभव न करे। तब द्रव की मात्रा ध्यान में रख कर रेडियोग्राम लेना चाहिये।

कार्य होने के पश्चात् निकाल कर शलाका निकाल लेनी चाहिये।

बलात्कार।

युवतियां प्रायः औषधालय में माता पिता या पुलिस द्वारा बलात्कार के विषय में लाई जाती हैं। चूंकि यह विषय अदालत से सम्बन्ध रखता है अतः चिकित्सक को इस परीक्षा में विशेष ध्यान देना चाहिये। परीक्षा करने से पूर्व आने का समय लिख लेना चाहिये। कन्या के अन्दर के वस्त्रों को पृथक् कर के बाह्य अंगों को क्षत एवं आघात के लिये देख कर उत्पादक अंगों की परीक्षा आरम्भ करनी चाहिये। भगोष्ठ-

का आकार, क्षतविक्षत अवस्था, शोथ एवं रक्तिमा आदि बातें देखनी चाहियें। योनिच्छद की अवस्था, योनी एवं सीवन की स्थिति, और स्राव की उपस्थिति देखनी चाहिये। यदि बलात्कार तात्कालिक हो तो योनि की श्लेष्मकला की अणुवीक्षण यंत्र से परीक्षा करनी चाहिये। योनिच्छद में से "पिप्पट" के द्वारा कुछ थोड़ी राशी ले लेनी चाहिये। यदि कला फट गई है तो अणुवीक्षण यंत्र से शुक्राणु को ढूंढना चाहिये। जोकि सम्भवतः गति में होंगे।

यदि गवेषणा पुलिस के हाथ में है तो चिकित्सक को कोई प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। परन्तु यदि सम्बन्ध माता पिता से है तो चिकित्सक के लिये आवश्यक है कि वह सब कुछ विस्तार से जाने। रोगी एवं उस की माता का कथन पृथक् २ सुनना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि उस के आने की तिथि, उस का कथन, नोट करले। जो कि समय पर काम आ सकेंगे *।

* यह विषय न्यायवैद्यक (व्यवहारायुर्वेद) से सम्बन्ध रखता है अतः इस को विस्तार से देखने के लिये न्यायवैद्यक और विषतंत्र (मैडिकल जुरिसप्रुडेन्स) देखना उत्तम होगा।

दसवां प्रकरण।

व्यत्यासाद् वा सिरां विध्येदान्त्रवृद्धिनिवृत्तये। सुश्रुत.

कोष्ठ की अवस्थायें—आंत्र वृद्धि आदि।

कोष्ठ की तीव्र अवस्थाओं में रोगी का इतिहास सम्यक् प्रकार जानकर दर्द के स्वभाव एवं आक्रमण के विषय में जानना चाहिये। दर्द एकदम तीव्र रूप में आरम्भ होता है, यथा—आमाशय या ग्रहणी व्रण के परिस्रावी होने पर; अथवा धीरे २ या तेज़ी से दर्द बढ़ती है. यथा—उपांत्र शोथ में (एपेण्डिसाइटिस); या थोड़ी २ देर के बाद शूल (कॉलिक-पेन] होती है, यथा—आंत्रावरोध-बद्धोदर की अवस्था में। रोगी जिस स्थान पर दर्द बताता है उस का भी ध्यान रखना चाहिये। दर्द की स्थिति से यदि कुछ सम्बन्ध हो तो वह भी पता लगाना चाहिये।

इन रोगियों में वमन भी हो सकता है। वमन का प्रवृत्ति-समय एवं वमन के द्रव्य का स्वभाव जानना चाहिये। आंतों की अवस्था में मलावरोध, अतिसार, वायु (अपान वायु) आदि के निर्गमन के विषय में जानकारी करनी चाहिये।

रोगी का प्राथमिक इतिवृत्त, प्रथम आक्रमण का इतिहास अपचन—जो कि आमाशय या ग्रहणी केव्रण अथवा पित्ता-श्मरी का द्योतक है, जानना चाहिये। स्त्रियों की अवस्था में मूत्रसंस्थान से सम्बन्धित लक्षण, योनिस्राव और मासिक धर्म की अनियमितता जाननी चाहिये।

परीक्षा ।

रोगी की साधारणावस्था जाननी चाहिये । इस के लिये नाड़ी, आकृति, जिह्वा की शुष्कता या गीलापन, रक्तस्राव, ताप-परिमाण एवं श्वास की गति ध्यान में रखनी चाहिये ।

(१) कोष्ठ—विस्तृत है वा नहीं, यदि विस्तृत है तो सम्पूर्ण देशीय या एकदेशीय आध्मात कोयल्स उपस्थित है वा नहीं, यदि हैं तो तरंगगति दीखती है वा नहीं, यदि दीखती है तो किस दिशा में गति करती है । साथ में यह भी देखना आवश्यक है कि श्वास की गति में कोष्ठ की भित्ति भी भाग लेती है वा नहीं ।

कोष्ठ के ऊपर और नीचे प्रत्यावर्तित क्रियाओं की परीक्षा करनी चाहिये । फिर गरम हाथों से धीरे २ कोष्ठ को स्पर्श करना चाहिये । जिस स्थान पर रोगी दर्द नहीं बताता उस स्थान पर से स्पर्श प्रारम्भ करना चाहिये । हलका स्पर्श कोष्ठ की पेशियों की कठोरता का दिग्दर्शन करा देगा कि कठोरता व्यापक है या स्थानिक । एवं साथ में यह भी पता लग जायेगा कि कठोरता रोग के साथ सम्बन्धित है, स्पर्श के साथ नहीं । जब रोगी हाथ के स्पर्श को सहने लगे तो गहरा भी दबा सकते हैं ।

पर्य्यावरणशोथ में द्रव की परीक्षा के लिये टकोर (परकशन) करना * चाहिये । ठोस ध्वनि या वायु की ध्वनि (रैज़ोनैन्स) एवं यकृत् की ठोस ध्वनि की उपस्थित या अनुपस्थिति भी जाननी चाहिये ।

(२) वस्ति की परीक्षा—यह परीक्षा या तो गुदा से अथवा योनि से या दोनों से की जा सकती है । स्त्रियों की अवस्था में योनिस्राव की उपस्थिति या अनुपस्थिति जाननी

* द्रव की परीक्षा के लिये देखिये चरक चिकित्सास्थान में उदर रोग अध्याय ।

आवश्यक है। रोगी के वृत्त की अपेक्षा इस लक्षण का अधिक महत्त्व है।

गुदा की परीक्षा से मल की उपस्थिति या अनुपस्थिति जाननी चाहिये। गुदा का 'कारसीनोमा,' 'रैक्टो वैसीकल या रैक्टो यूट्राइन पौच' की परीक्षा करनी चाहिये। 'रैक्टो यूट्राइन पौच' वस्ति की विद्रधि के कारण गुदा में फूल सकता है। अथवा पर्य्यावरण में दूसरा 'कारसीनोमा' दिखाई देता है। शिशुओं की अवस्था में आन्त्रसम्मूर्च्छन अनुभव किया जा सकता है।

अंगुलियों के द्वारा योनिपरीक्षा करने पर गर्भाशय को देख सकते हैं।

(३) मूत्र—वृक्क के रोग की सम्भावना में मूत्र को रक्त एवं पूय के लिये देखना चाहिये। ऐसी अवस्था में सूक्ष्म दर्शक यन्त्र का भी उपयोग करना चाहिये। यहां पर विस्तार से सब परीक्षाओं का लिखना कठिन है, परन्तु इन रोगों के प्रारम्भ में दो प्रकार के स्वरूप मुख्य होते हैं। यथा—

(क) प्रथम रूप, जिन में कि पर्य्यावरण का शोथ या विक्षोभ दबाने से तीव्र दर्द (एक्यूट टैन्डरनैस) उत्पन्न करता है, जिस के साथ कोष्ठभित्ति की कठोरता भी मिली होती है। इस के उदाहरण-परिस्रावी आमाशय व्रण या तीव्र उपांत्र शोथ हैं।

(ख) जिस में कि आंत्र के छिद्र से सम्बन्धित लक्षण हों। यथा आन्त्रावरोध में।

यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बहुत से शारीरिक लक्षण जो कि तीव्र कोष्ठ की अवस्था से सम्बन्धित हैं, वे दर्द के प्रत्यावर्त्तित लक्षण होते हैं—जो कि रोग से उत्पन्न किये गये होते हैं। इन को औषध (मौर्फ़िया) इस प्रकार से नष्ट कर देती है कि पहिचाने भी न जा सकें। इस लिये रोगी को मौर्फ़िया तब तक नहीं देना चाहिये जब तक पूर्ण परीक्षा कर

के चिकित्सा का मार्ग स्थिर न कर लिया जाये।

आंत्रावरोध*।

यह अवस्था या तो बाह्यगलावरोध वाली आंत्र वृद्धि (एक्सटरनल स्ट्रैंग्युलेटिड हर्निया) के कारण होती है, या किसी बाधा का परिणाम होती है। जो कि पर्यावरणगुहा में आंतों को रोकती है। यथा-आंत्रसम्मूर्च्छन, शोथ जन्य या उत्पन्न हुवे बैन्ड्स। अतः आंत्रावरोध की परीक्षा में प्रथम बात आंत्रवृद्धि के छिद्र का परीक्षण है। जिस से कि रोगी को प्रथम या दूसरे समूह में रख सकते हैं। यदि आन्त्रवृद्धि 'स्ट्रैंग्युलेटिड' है तो नहीं हटाई जा सकती। खांसने पर तरंग का अनुभव नहीं होता। 'स्ट्रैंग्युलेशन' के प्रारम्भ में यह आवश्यक नहीं कि आन्त्रवृद्धि में दर्द हो। परन्तु साधारणतः रोगी नाभि पर दर्द की शिकायत करता है। प्रारम्भ वमन से भी हो सकता है। पूर्वरूप में मलबन्ध, अपानवायु का न आना निश्चित रूप में रहता है। प्रथम १२ या १४ घण्टों के अन्दर भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। इस के पीछे कोष्ठ का फैलाव आरम्भ होता है। वमन पित्त से आरम्भ होकर भयंकर होती जाती है। रोगी में शीतमूर्च्छा (कोलैप्स) के लक्षण दीखने लगते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि 'एक्सटरनल स्ट्रैंग्युलेटिड हर्निया' की प्रथमावस्था में 'हर्नियल सैक' के स्थानीय शारीरिक लक्षण कोष्ठ एवं आंत्रों के छिद्रावरोध के साधारण लक्षणों पर निर्भर होते हैं।

इस सिद्धान्त से यदि आन्त्र के किसी भाग का (लूप)

---

* "यस्यांत्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा, वालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्।
संचीयते तस्य मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धमेति बद्धोदरं विड्कसमानगन्धि॥

पर्यावरण गुहा में बन्धन (बैन्ड) के द्वारा गलावरोध (स्ट्रैंग्युलेशन) हो जाये तो फैलाव और लगातार वमन मुख्य लक्षण होते हैं। परन्तु इन का अभाव इस रोग के अभाव को सिद्ध नहीं करता। मुख्य लक्षण-पूर्ण मलबन्ध का होना, अपानवायु का न आना, और कोष्ठ में दर्द होना, हैं।

'एक्स्टरनल स्ट्रैंग्युलेटिड हर्निया' की भांति और भी अवस्थायें हैं जो कि ऐसे ही अवस्थायें उत्पन्न कर देती हैं। यथा आंत्र झिल्ली (ओमैन्टम) के भाग का गलावरोध, थैली में शोथयुक्त उपांत्र, अपूर्ण उतरे हुए अण्ड का विदीर्ण होना हैं। इस में अवरोध के लक्षणों का अभाव होता है परन्तु 'स्ट्रैंग्युलेटिड हर्निया' के साथ विशेष रूप से मिलता है। इन की परीक्षा करनी असम्भव सी हो जाती है।

वंक्षण की सूजी ग्रन्थियां कई बार पहिचान को कठिन बना देती हैं। विशेषतः यदि इन का "फ्रीमरल हर्निया" से सम्बन्ध हो। परन्तु स्थानीय शारीरिक लक्षणों की भिन्नता निर्णय करने में पर्य्याप्त है।

गलावरोधजन्य आंत्रवृद्धि की चिकित्सा।

(स्ट्रैंग्युलेटिड हर्निया)—आंत्रवृद्धि की किसी भी अवस्था में जो कि सहसा अप्रत्यावर्त्तनीय हो जाये अथवा जब रोगी निश्चित रूप में आंत्रावरोध से पीड़ित हो और उसे आंत्रवृद्धि की शोथ हो जाये तो एकदम शल्यकर्म करना चाहिये। इस नियम में केवल एक ही अपवाद है। वह यह है कि शिशु की अवस्था में इस को प्रत्यावर्त्तित करने का यत्न करना चाहिये। इस के लिये शिशु के पांव को ऊंचा कर के दो घन्टे तक रखना चाहिये*। यदि इस प्रकार से आंत्र-

* आंत्रवृद्धि के लिये "शीर्षासन" विशेष उत्तम है। देखिये "आसन" पुस्तक स्वाध्यायमण्डल से प्रकाशित, एवं "योग-

वृद्धि अच्छी न हो तो शल्यकर्म करना चाहिये।

संज्ञालोप कर के अथवा बिना संज्ञालोप के ही आकर्षण के द्वारा आंत्रवृद्धि को हटाने का प्रयत्न न करना चाहिये*। इस प्रक्रिया से फंसी हुई आंत को और भी अधिक हानि हो जाती है। जिस से कि शल्यकर्म की सफलता की सम्भावना कम हो जाती है। गलावरोधजन्य आंत्रवृद्धि के शल्यकर्म में भय कम है। और जो भय है वह भी देरी और टुकड़े (लूप) की क्षति के कारण है। इस लिये शल्यकर्म से पूर्व, भाग में अवयव में हुए परिवर्त्तनों को देख लेना चाहिये। यह शल्य-कर्म उपद्रव रहित प्रत्यावर्त्तनीय आंत्रवृद्धि से अधिक भयानक नहीं।

पर्यावरणकोप के अन्दर की अवस्था के कारण यदि तीव्र आंत्रावरोध हो तो आंत्रसम्मूर्च्छन (इन्टस्ससेप्शन) अवस्था को सब से सुविधापूर्वक पहिचान सकते हैं। शिशु को सहसा एवं लगातार उत्तरोत्तर बढ़ने वाली तीव्र कोष्ठ की दर्द के कारण चिकित्सक के पास लाया जाता है। इस अवस्था के साथ यदि गुदा से रक्त एवं श्लेष्मा का निर्गमन

मीमांसा" त्रैमासिक पत्र। इस का क्रियात्मक लाभ डाक्टर गट्टूमल प्राणशंकर पाठक जी ने वर्णन किया था। देखिये आरोग्यसिन्धु.

* "भारहरणबलवद्विग्रहवृक्षप्रपतनादिभिरायासविशेषैः वायुरतिप्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्यैकं देशं द्विगुणमादायाधो गत्वा वंक्षणसन्धिमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिकार्यमाणे च कालान्तरेण फलकोषं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति। आध्माततोयवस्तिरिवाततः प्रदीर्घशोफो भवति। विमुक्तश्च पुनराध्माति। तामान्त्रवृद्धिमसाध्यामाचक्षते॥ सुश्रुत.

होता हो तो आंत्र सम्मूर्च्छन* का निश्चय करना चाहिये। दर्द के आक्रमणों के समय कोष्ठ कठोर होता है और बीच में नर्म अनुभव होता है। इस अवस्था में अर्बुद की भी प्रतीति हो सकती है जो कि आमाशयिक प्रदेश (ऐपीगैस्ट्रियम) में या वाम कटिप्रदेश (लम्बर रीजिअन) पर होता है। कई बार अर्बुद पसलियों के नीचे 'हाईपोकौन्ड्रियम' में मिलता है। और कभी २ यह केवल गुदा के परीक्षण से ही देखा जा सकता है।

अवरोधजन्य अवस्था में अफ़ारा और बढ़ती हुई वमन रोग का निर्णय शीघ्र करा सकती है। बिना देरी किये संमूर्च्छनावस्था में शल्यकर्म की तैय्यारी कर देनी चाहिये। गुदा द्वारा दिये गये पानी का दबाव संमूर्च्छन को हटा सकता है। परन्तु यदि यह असफल हो तो (जैसा प्रायः होता है) केवल अमूल्य समय का नाश करने के सिवाय और कुछ हाथ नहीं आता। आंत्रसंमूर्च्छन के लिये केवल एक ही चिकित्सा है–वह यह कि पेटचाक† करना। जो कि यथासम्भव शीघ्र करना चाहिये।

---

* पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तै बद्धायने गुदे।
उदावर्तैस्तथार्शोभिः आंत्रसंमूर्च्छनेन वा॥

† इदन्तु शल्यकर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम्।
वामकुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधः चतुरंगुलम्॥
मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक्।
विपाट्यांत्रं ततः पश्चात् वीक्ष्य बद्धक्षतांत्रयोः॥
सर्पिषाभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत्।
मूर्च्छनाद्यच्च संमूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत्॥
छिद्राण्यंत्रस्य तु स्थूलैः दंशयित्वा पिपीलकैः।
बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्वा पिपीलकान्॥
प्रतियोगैः प्रवेश्यांत्रं·········सीव्येद् व्रणं ततः॥ चरक.

प्रत्यावर्त्तनीय आंत्रावरोध।

युवाओं में जब शल्यकर्म किसी कारण से न किया जा सके एवं शिशु तथा वृद्धों की अवस्था को छोड़ते हुए उत्तम लाभ के लिये सब अवस्थाओं में शल्यकर्म ही करना चाहिये। इन उपरोक्त रोगियों में अथवा जहां शल्यकर्म न करना हो वहां पट्टे (ट्रस) का उपयोग करना चाहिये। दोनों लिंगों के शिशुओं में "इङ्ग्विनल हर्निया" विशेष रूप से मिलता है। जब तक उचित पट्टा न मिले तब तक अन्य उपायों से सहारा देना चाहिये। आंत्रवृद्धि को वापिस कर के, भाग (लूप) को छिद्र पर रख कर, त्वचा को वस्ति से उठा कर रुग्ण पार्श्व में वंक्षण के साथ २ लाना चाहिये। जहां कि यह लूप में से गुज़र कर ऊरु के पीछे चारों ओर आ जायेगा। वहां पर इस को पिन द्वारा या बांध कर जोड़ देना चाहिये।

नाभिजन्य हर्निया।

शिशुओं की अवस्था में 'एडहैस्सिव प्लास्टर' द्वारा 'रैक्टाई-मसल्स' (कोष्ठपेशी) को समीप लाने से स्वस्थ किया जा सकता है। इस के लिये दो उत्तम चिपकने वाली -इञ्च चौड़ी एवं ६ से ७ इञ्च लम्बी पट्टी कोष्ठ के प्रत्येक पार्श्व में रख देनी चाहिये। प्रत्येक पट्टी का आधा भाग त्वचा पर चिपकाना चाहिये। 'ऐक्ज़ौम्फेलॉस' के कम हो जाने पर पट्टे को इस प्रकार (×) ज़ोर से खींचना चाहिये। इन के नीचे कवलिका रखनी या नहीं रखनी यह चिकित्सक की इच्छा पर निर्भर है। पट्टियों को विरुद्ध पार्श्व में चिपकाना चाहिये। इन पट्टीयों को फिर फलालैन की पट्टी से ढांप देना चाहिये।

यदि कवलिका काम में लानी हो तो यह इतनी बड़ी और चपटी होनी चाहिये कि आंत्रवृद्धि के किनारों तक आ जाये। इस के लिये एक पैनी (पैसा) या इसी आकार का टुकड़ा

लिन्ट में लपेट कर कवलिका के स्थान पर काम में ला सकते हैं।

ट्रस।

'मौकमेन ट्रस' और शिशुवों के लिये "हॉर्स शू" ट्रस को छोड़ कर शेष सब ट्रस में फौलाद की स्प्रिग कवलिका (पैड) को सहारा देती है। जो कवलिका कोष्ठभित्ति के निर्बल भाग के विरुद्ध दबाव देती है। स्प्रिग पर्य्याप्त नीचे हो कर विरुद्ध पार्श्व की जघनकपालास्थि की उपरि धारा (क्रैस्ट) और महाशिखर (ग्रेट ट्रोकैन्टर) के मध्य में से गुज़रती हुई वंक्षण में पहुंचती है। चक्कर को फीते (स्ट्रैप) की सहायता से पूरा कर लिया जाता है। जो फीता स्प्रिग के छेद से चल कर कवलिका तक आता है। स्प्रिग की शक्ति रोगी की मांस-पेशियों की उन्नतावस्था के एवं व्यवसाय के कारण भिन्न २ होती है। स्प्रिग की शक्ति एवं मुड़ाव ऐसा होना चाहिये जिस से कि अधिक दबाव या रोगी को पहनने से किसी प्रकार का कष्ट न हो। स्प्रिग को रबर, चर्म, या 'गमएलास्टिक' से ढांप सकते हैं। कवलिका प्रायः २$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बी और दो इञ्च चौड़ी होती है। यह प्रायः घोड़े के वालों से बनाई जाती है, जिस के ऊपर चमड़ा चढ़ा होता है। कवलिकापृष्ठ पर्य्याप्त चौड़ा होना चाहिये। कवलिका का स्प्रिग से सम्बन्ध रोगी के एवं आंत्रवृद्धि के स्वभाव के अनुसार होना चाहिये। कवलिका की उपरि पृष्ठ में दो स्थान बने होते हैं। एक तो स्प्रिग के दूसरे छोर से लगी चमड़े की पट्टी के लिये और दूसरा सीवन की पट्टी (पैरीनियल स्ट्रैप) के लिये होता है। 'पैरीनियल स्ट्रैप' के कारण कवलिका ऊपर नहीं चढ़ सकती। इंग्विनल ट्रस में कवलिका स्प्रिग के साथ चौड़े कोण पर सम्बन्धित होनी चाहिये। इस का मुख पीछे की ओर एवं थोड़ा ऊपर होना चाहिये। इस प्रकार की कवलिका कोष्ठ के

अन्तःछिद्र को एवं इंग्विनल कैनाल को ढांप लेगी। यह विटप तक आ जायेगी परन्तु इस भाग पर दबाव नहीं पड़ना

चित्र नं० १६
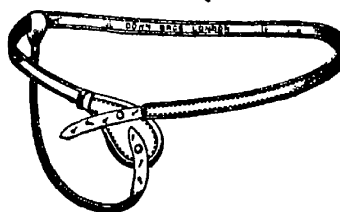
'इंग्विनल हर्निया' के लिये ट्रस।

चाहिये। स्क्रोटल ट्रस की कवलिका साधारण ट्रस की कवलिका से कुछ बड़ी होती है। "रैट टेल्ड" ट्रस में पैरीनियल बैन्ड गोल एवं रस्सी की भांति होता है। यह वहां काम आता है जहां 'हर्नियल रिंग' बड़ा हो। साधारण ट्रस और स्क्रोटल ट्रस को उभयतः आंत्रवृद्धि को रोकने के लिये

चित्र नं० २०।
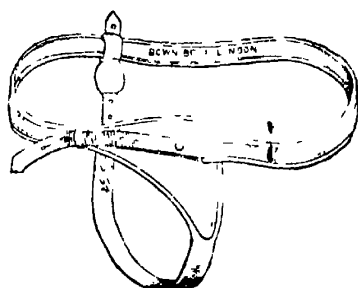
स्क्रोटल ट्रस।

दुहरी बना सकते हैं। ऐसी अवस्था में स्ट्रैप एक दूसरे के ऊपर नीचे हो कर गुज़रते हैं।

इंग्विनल हर्निया के लिये "सालमन एण्ड ओडीज़ ट्रस" उत्तम है। इस की स्प्रिंग के दोनों प्रान्तों पर कवलिका होती है जो कि "बॉल एण्ड सौकिट जौयन्ट" के द्वारा जुड़ी होती है। पश्चिमीय कवलिका त्रिक के आधार पर रहती है। और अग्रिम कवलिका साधारण रूप की भांति 'इंग्विनल कैनाल' पर रहती है। परन्तु स्प्रिंग शरीर के ठोस भाग पर से ही गुज़रती है। दुहरे रूप में दो कवलिकायें होती हैं। स्प्रिंग प्रत्येक पार्श्व में अर्धगोलाकार रूप से गुज़रती है।

'मौकमेन ट्रस' इकहरी या दुहेरी होती है। इस में स्प्रिंग के ऊपर चमड़ा होता है। कवलिका पर दबाव पैरीनियल बैन्ड के द्वारा स्प्रिंग लिवर से डाला जा सकता है। इस का उपयोग कम होता है।

शिशुवों के लिये "हॉर्सशू ट्रस" उत्तम है। इस में कवलिका का आकार घोड़े की सुम की भांति होता है। यह कवलिका अपने स्थान पर रबर की 'पैलविक और पैरीनियल बैन्ड' से रहती है।

साधारण "फीमरल ट्रस" साधारण इंग्विनल ट्रस से बहुत अधिक मिलती है। भेद इतना है कि इस में कवलिका नीचे की ओर लगी रहती है। स्प्रिंग एवं कवलिका का कोण न्यूनकोण होता है। इस में पैरीनियल स्ट्रैप जंघा के चारों ओर से जाता है।

"अम्बिलिकल ट्रस" में अग्रिम कवलिका बड़ी होती है। एवं पश्चिमीय छोटी होती है। यह दोनों एक स्प्रिंग से संयुक्त होता है, जो कि एक पार्श्व से गुज़र रही होती है। और दूसरे पार्श्व में से पश्चिमीय कवलिका से सम्बन्धित स्ट्रैप गुजरता है। जो कि अग्रिम कवलिका के दो बटनों (स्टड्ड) से बांध दिया जाता है।

चित्र नं० २१।
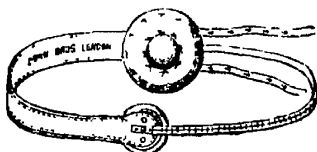
अम्बिलिकल ट्रस।

साधारण ट्रस का माप।

अम्बिलिकल हर्निया के लिये कोष्ठका माप नाभि पर से लेना चाहिये। इंग्विनल और फ़ीमरल हर्निया के लिये जघनास्थि की उपरिधारा के दो इञ्च नीचे से अर्थात् धारा और महाशिखर के मध्य में से वस्ति का माप लेना चाहिये। फीते के दोनों प्रान्त वंक्षण के प्रत्येक पार्श्व में तिरछे नीचे की ओर होते हुए शिश्न की जड़ में मिलने चाहियें।

'ट्रस' उत्तम प्रकार से कार्य करता है वा नहीं यह देखने के लिये रोगी को कुर्सी पर बैठा देना चाहिये। उस की टांगें चौड़ा कर उसे ज़ोर से खांसने को कहना चाहिये। इस समय चिकित्सक को देखना चाहिये कि कवलिका आंत्रवृद्धि को रोकती है या नहीं।

पटा धारण करने वाले को आदेश।

युवावस्था में जब यह निश्चय कर लिया जाये कि पट्टा लाभ नहीं कर सकता, तो रात्रि को सोते समय खोल देना चाहिये। रात्रि को उसे इस पट्टी को समीप में ही रखना चाहिये। जिस से कि प्रातः उठते ही लगाया जा सके। यदि रबर या गमएलास्टिक आदि वस्तु से बनी हो तो स्नान करने के समय 'वाटरप्रूफ़' वस्तु से ढांप देना चाहिये। यदि

रोगी को कास हो तो पट्टा दिन की भांति रात्रि को भी पहने रहना चाहिये। रोगी को चाहिये कि ट्रस पहनने से पूर्व वृद्धि को पूर्ण रूप में पीछे हटा ले। यदि उस को इस में सफलता न मिले तो चिकित्सक की सहायता अवश्य लेनी चाहिये।

शिशुवों की अवस्था में "ट्रस" केवल वृद्धि को ऊपर रखने के लिये ही नहीं होती अपितु रोग शान्ति के लिये भी होती है। अतः शिशु को रात दिन पहनाये रखना चाहिये। जब चिकित्सा आरम्भ की जाये तो इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि वृद्धि नीचे न आये। शिशु के लिये दो पट्टे होने चाहियें। पट्टी को जब साफ़ करने के लिये उतारा जाये तब इंग्विनल छिद्र को धात्री अंगुली से दबाये रक्खे। वंक्षण को जल्दी से साफ़ एवं शुष्क कर के चूर्ण छिड़क कर दूसरा ट्रस लगा देना चाहिये। और प्रथम को अवकाश के समय साफ़ कर देना चाहिये। युवाओं की भांति स्नान के समय शिशु को पट्टी पहनाये रहना चाहिये।

शिशु की आंत्रवृद्धि को एकदम रोकना* चाहिये। प्रथम बारह मासों में "हॉर्स शू" ट्रस उत्तम है। इस के पीछे रबर से ढंपी साधारण ट्रस काम में लानी चाहिये। "ट्रस" चिकित्सा के एक बार प्रारम्भ होने पर कभी भी वृद्धि को नीचे नहीं आने देना चाहिये। यदि इस पद्धति से कार्य किया गया तो शिशु दो साल में स्वस्थ हो जायेगा।

---

* (क) रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्।

(ख) शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद् वा सिरां विध्येदांत्रवृद्धिनिवृत्तये॥

(ग) अप्राप्तफलकोशायां वातवृद्धिक्रमो हितः।
तत्र या वंक्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया।
मरुन्मार्गावरोधार्थं—कोशप्राप्तं तु वर्जयेत्॥

(घ) त्वचं भित्वाऽङ्गुष्ठमध्ये दहेद्यांगविपर्ययात्॥

एक्यूट स्क्रोटल शोथ।

यदि अण्डकोष में सहसा वृद्धि हो जाये तो इस का कारण अण्डकोष के तन्तुवों में, या 'ट्युनिका वैजाइनैलिस' में, 'एपीडिडिमायटिस' में, अण्ड के शरीर के तन्तुवों अथवा रज्जु (कॉर्ड) की रचना मे परिवर्तन आता है।

अण्डकोष के तन्तु तीव्र शोथ के लिये भूमि है यथा 'ऐरिसिपेलस' की। यह तन्तु 'पैरीयूरीथराइटिस' 'एक्स्ट्रावेज़ेशन औफ़ यूरीन' एवं अन्त: पूय के कारण भी आक्रान्त हो सकते हैं। दीवारों की शोथ ब्राइट्स डिज़ीज़ (वृक्क रोग) के कारण व्यापक श्वयथु होने से प्रथम लक्षण के रूप में एक भाग या सम्पूर्ण रूप में हो सकती है।

आघात के कारण 'ट्युनिका वैजाइनैलिस के अन्त: या बाह्य स्थान से रक्तस्राव हो सकता है। यदि रक्त बाहर से आ कर एकत्रित हो तो "हीमेटोमा" और यदि अन्दर से एकत्रित हो तो "हीमेटोसील" कहा जाता है। साधारणत: इन दोनों अवस्थाओं में भेद करना कठिन है। परन्तु प्राय: "हीमेटोमा" नासपाती के आकार का होता है एवं कॉर्ड के साथ २ फैलता है। 'हीमैटोसील' गोल आकार का और उपरि किनारा स्पष्ट होता है। ट्युनिका वैजाइनैलिस के उपरि पृष्ठ से हुआ रक्तस्राव शीघ्रता से त्वचा का रंग बदल देता है। किसी भी अवस्था में अण्ड का अनुभव नहीं किया जा सकता। यदि किया गया तो यह शोथ के पश्चिमीय एवं निचले भाग में होगा जब कि रक्त ट्युनिका वैजाइनैलिस के अन्दर हो।

तीव्र हाइड्रोसील की अवस्था में भी शोथ "हीमैटोसील" के आकार की होती है। परन्तु यह पारदर्शक होती है। यह लक्षणों के रूप में यथा ब्राइट्स डिज़ीज़ आदि या शोथ के लक्षणों में हो सकती है।

एपिडिडिमायटिस ।

अण्ड के शरीर में वृद्धि—आघात के कारण होती है । पश्चिमीय मूत्रमार्ग में पूय के फैलाव के कारण या क्षय के कृमि के प्रवेश से होती है । जब कि आघात या पूय के फैलाव का कोई इतिहास न हो तो तीसरे का ही सन्देह करना चाहिये । शोथ—जो कि सम्पूर्ण कॉर्ड की रचना में हो वह दोनों प्रकार की शोथ और तीव्र क्षय जन्य 'एपिडिडिमो ऑरकायटिस (एपिडिडिमस एवं अण्ड की शोथ) से सम्बन्धित होती है । कॉर्ड की तीव्र शोथ, रक्तस्राव, विद्रधि या छेदन की हुई जलवृद्धि में पूयोत्पत्ति होने से हो सकती है । अन्त में तीव्र शोथ जो कि 'प्रोसैस्सस वैजाइनैलिस' के अपूर्ण रूप से उठे हुए भाग में हो वह या तो आंत्रवृद्धि के कारण होती है अथवा जलवृद्धि (हाईड्रोसील) के कारण होती है ।

ग्यारहवां प्रकरण ।

शल्यकर्म ।

शल्यविद्भिः कुशलैः चिकित्स्याः
शस्त्रेण संशोधन रोपणैश्च ॥ चरक.

ट्रैकिओटॉमी और लैरिंजोटॉमी ।

ये शल्यकर्म निम्न अवस्थाओं में वायु के मार्ग को खोलने में प्रयुक्त* होते हैं ।

[१] श्वासमार्ग के ऊपर के भाग में अवरोध होने से, रोग के परिणाम स्वरूप, आघात से, शल्य के फंसने के कारण ।

जिस समय आस्य को 'प्लग' करना हो, यथा मुख-नाक या आस्य के शल्यकर्म में, जब कि संक्रमण पूय या रक्त को अन्दर जाने से रोकना हो ।

शल्यकर्म सदा शान्ति से करना चाहिये । परन्तु कई बार एक दम उपस्थित शस्त्रों से ही शल्यकर्म करना पड़ता है । साधारण नियम के अनुसार जब स्थिर रूप से या देर के लिये श्वासमार्ग बनाना हो तो 'ट्रैकिओटॉमी' करनी चाहिये । परन्तु जब एक दम या कुछ थोड़े समय के लिये मार्ग बनाना हो तो "लैरिंजोटॉमी" करनी चाहिये ।

यदि गले की मध्यरेखा में 'सुप्रास्टरनल नौच' से ऊपर की

---

* बाहुरज्जुलतापाशशल्ये तु कण्ठपीडनाद् वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि । लालास्रावं फेनागमनं संज्ञानाशं चापादयति ।

ओर अंगुली फेरें तो सब से पहिला बढ़ा हुआ स्थान 'क्रिकॉयड कार्टिलेज' आता है। इस से थोड़े ही ऊपर 'थायरॉयड कार्टिलेज' का निचला किनारा है। इन दोनों रचनाओं के अग्रिम भाग में "क्रीकोथायरॉयड" मैम्ब्रेन है। इस के बीच में से ही "लैरिंजोटॉमी" की जायेगी। 'थायरॉयड ग्लैन्ड' का 'ईस्थमस' श्वासप्रणाली को क्रीकॉयड के आधे इञ्च नीचे से क्रॉस करता है। और यदि ग्रीवा को फैलाया जाये तो उरोऽस्थि के ऊपर के किनारे एवं इस्थमस के निचले किनारे के बीच में श्वासप्रणाली (ट्रेकिआ) के एक से तीन छल्ले नंगे हो जाते हैं। जब इस्थमस के ऊपर के भाग में श्वासप्रणाली में शल्यकर्म किया जाये तो इसे 'हाई ट्रेकिओटॉमी-उच्च श्वासप्रणाली छेदन" कहते हैं। और जब नीचे करें तो "लो ट्रेकिओटॉमी" कहते हैं। किसी भी अवस्था में इस्थमस ऊपर या नीचे हटेगा। "ट्रेकिओटॉमी" शब्द से साधारणत: अभिप्राय हाई ट्रेकिओटॉमी से होता है। कारण नीचे का शल्यकर्म विशेष अवस्थाओं में ही (थायरॉयड ट्यूमर के श्वासप्रणाली में फैलने पर) किया जाता है।

ट्रेकिओटॉमी लैरिंजोटॉमी ट्यूब।

यह दो प्रकार की नली होती है, एक रबर की दूसरी चांदी की। प्रथम नली नर्म, दबने योग्य, सुगमता से धारण करने योग्य, और श्वासप्रणाली में बहुत कम व्रण करने वाली होने से, चांदी की अपेक्षा देर तक प्रयोग में लाने के लिये पसन्द की जाती है। चांदी की नली शल्यकर्म के ठीक पश्चात् छिद्र बनाने में उत्तम है। कारण—यह लैरिंक्स और ट्रेकिआ के कठोर कार्टीलेज (तरुणास्थि) से दबती नहीं। चूंकि इन में अन्त: और बाह्य दो नलियां होती हैं, अत: आवश्यक्तानुसार अन्दर की नली निकाली जा सकती है। इस के छिद्र

को श्लेष्मा और रक्त से साफ़ कर के व्रण को बिना छेड़े फिर डाल सकते हैं।

'लैरिंजोटॉमी ट्यूब" "ट्रेकिओटॉमी ट्यूब" से अग्रिम पश्चिम व्यास (एन्टीरियो पोस्टीरीयरडायामीटर) के तंग होने से भिन्न होती है। कठोर नली श्वासप्रणाली की पश्चिम भित्ति पर व्रण उत्पन्न कर सकती है। व्रण वाली पृष्ठ का स्राव कई बार श्वासमार्ग द्वारा फेफड़ों में 'लोबर न्यूमोनिया' अथवा 'लोब्यूलर न्यूमोनिया' उत्पन्न कर सकता है। और देर तक अशुद्ध नली धारण करने से व्रण श्वासप्रणाली में से अन्न-प्रणाली या बड़ी रक्तवाहिनी में पहुंच जाते हैं। इन दोषों से बचाने के लिये बहुत सी नलियां* काम में आती हैं। "पार्केर्स ट्यूब में श्वासप्रणाली के अन्दर का भाग जितना छोटा होता है उतना ही सुरक्षित होता है। ट्यूब को प्रविष्ट करने के लिये अन्तः नली के स्थान पर 'ब्लन्ट पौयन्टेड पिलॉट ट्रोकार' काम में ला कर सुगमता से प्रविष्ट की जा सकती है।

ट्रेकिओटॉमी।

कई बार रोहिणी "डिप्थीरीया" रोग की अवस्था में तुरन्त शल्यकर्म करना पड़ता है। इस अवस्था में चिकित्सक को चाहिये कि मुख और नाक पर 'गौज़' की मोटी तहों से बना परदा (वेल) बान्ध लेवे। इसी प्रकार सहायकों को भी अपने नाक और मुख संक्रमण से बचाने चाहियें।

शान्तिपूर्वक शल्यकर्म में निम्न विधि काम में लाई जायें तो उत्तम है। रोगी का संज्ञालोप व्यापक रूप में ही करना उत्तम है। परन्तु जब तक शल्यचिकित्सक तैयार न हो जाये संज्ञालोप करना आरम्भ नहीं करना चाहिये। कारण—रोगी का श्वास बन्द हो जाने पर बिना एक मिनट की प्रतीक्षा के

* 'बाईवाल्व ट्रेकिओटॉमी ट्यूब' एवं 'डरहाम्स ट्रेकिओटॉमी ट्यूब' भी काम में आ सकती हैं।

एक दम 'ट्रेकिओटॉमी" करनी पड़ेगी। अथवा स्थानिक संज्ञालोप करने के लिये दो प्रति शतक "नौवोकेन" के घोल में कुछ बूंदे "एड्रैनेलीन क्लोराईड" की मिला कर सूचीवेध द्वारा देना चाहिये। रोगी को फलक पर लेटा कर उस के स्कन्धों और ग्रीवा के नीचे तकिये रख देने चाहियें। इस से श्वास में बिना बाधा आये ग्रीवा फैल जायेगी। इस कर्म में मण्डलाग्र (स्कैल्पैल) संदंश (डिसैक्टिंग फौरसैप्स), स्पैन्सर वैल्स, दो-छोटे-कुण्ठित बडिश (हुक) और एक तीक्ष्ण बडिश, एवं सूई धागा और बन्धन चाहियें।

चिकित्सक, सहायक और संज्ञालोप करने वाले व्यक्ति को निम्न प्रकार से खड़ा होना चाहिये। चिकित्सक को रोगी के दक्षिण पार्श्व में मुख्य सहायक को सामने न खड़ा हो कर रोगी के सिर की ओर जहां पर साधारणत: संज्ञालोप करने वाला व्यक्ति खड़ा होता है, खड़ा होना चाहिये। दूसरे सहायक को चिकित्सक के दक्षिण पार्श्व में, एवं संज्ञालोप करने वाले व्यक्ति को रोगी के वामपार्श्व में खड़ा होना चाहिये।

इस शल्यकर्म मे मुख्य सहायक का कर्त्तव्य अति मूल्यवान् है। अर्थात् उस को देखना चाहिये कि ग्रीवा और सिर बिल्कुल सीधे हों और व्रण के ओष्ठ दोनों पार्श्वों में समान उठे होने चाहियें। प्रत्येक हाथ में दुहरे कुण्ठित बडिश को पकड़ कर अपनी कलाई के दबाव से वह रोगी के सिर को सीधा रख सकता है। इस प्रकार शिर को स्थिर करने पर व्रण के ओष्ठ को अकेला ही उठा सकता है। चिकित्सक मध्यरेखा से निश्चय कर सकता है। द्वितीय सहायक का कर्त्तव्य है कि वह व्रण को स्पंज करे। और जब चिकित्सक खाली हो तो थायरौयड के इस्थमस को नीचे की ओर खींचे।

जब श्वासप्रणाली के ऊपर के भाग में छेद बनाना हो तो छेदन थायरॉयड कार्टिलेज के निचले किनारे के ऊपर से

नीच की ओर १½ इञ्च के लगभग करना चाहिये । परन्तु 'लो ट्रेकिओटॉमी' में छेदन 'सुप्रास्टरनल नौच' के ठीक नीचे दो इञ्च लम्बा करना चाहिये। इस से 'इन्फ्रा-हायोइड मसल्स' अपने लम्बे व्यास मे श्वासप्रणाली के नीचे मध्यरेखा में विभक्त हो जायेगा। इस को बडिश से उठा लेना चाहिये। फिर थायरॉयड ग्लैन्ड के इस्थमस को शल्यकर्म के अनुसार ऊपर या नीचे अवश्य स्थानभ्रंश करना चाहिये।

इस्थमस को नीचे की ओर करने के लिये आवश्यक है कि, 'थायरॉयड कार्टिलेज' की 'क्रीकॉयड कार्टिलेज' से मिलाने वाले बन्धन को (सस्पैन्सरी लिगमैन्ट) तिरछा (ट्रान्सवर्स) विभक्त कर दिया जाये । शिरायें जो श्वासप्रणाली के अग्रिम भाग में हैं, उन को एक पार्श्व में हटा लेना चाहिये। यदि ग्रन्थि की पिरामिडल प्रॉसैस' या थायरोयाडिया-ईमा धमनी रचना से मिली हो तो उसे भी एक पार्श्व में खेंच लेना चाहिये श्वासप्रणाली को खोलने से पूर्व सब रक्तस्राव बन्द कर देना चाहिये। सब वाहिनियां-जो कटी हैं उन को बांध देना चाहिये और दबाव देने वाले सब संदंश हटा लेने चाहियें। श्वास-प्रणाली को ऊपर खींच कर ऊपर के भाग में तीक्ष्ण बडिश फंसा कर स्थिर कर देनी चाहिये । फिर नीचे की ओर से चाकू प्रविष्ट कर के ऊपर की ओर छेदन करना चाहिये । छेदन दो तरुणास्थियों के छल्लों के बीच में से हो कर पीछे नीचे की ओर और ऊपर आगे की ओर जाना चाहिये। इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि चाकू की नोक श्वासप्रणाली या अन्नप्रणाली की पश्चिमीय भित्ति में न चुभ जाये। यह प्रायः वृद्धों की अवस्था में होना सम्भव है, जिन में कि तरुणास्थि अस्थि के रूप में बदल गई हो। और यदि चाकू सिरे से ½ इञ्च की दूरी पर नहीं पकड़ा हुआ हो तो अस्थि के धक्के के कारण पीछे चला जाता है।

व्रण को "ट्रैकियल डायलेटर" से खोल कर नली को प्रविष्ट कर के स्थिर कर देना चाहिये। नली के ऊपर और नीचे के छेदन "टांकों" के द्वारा समीप में खींच लेना चाहिये। गौज़ की चौकोर कवलिका ले कर उस को एक पार्श्व में मध्य में से काट कर केन्द्र में लाना चाहिये। इस को ट्रैकिओटॉमी शील्ड के नीचे की ओर खींच लाना चाहिये। अन्त में नली को एक फीते के द्वारा जो ग्रीवा के चारों ओर दो बार जो सके, शील्ड के एक पार्श्व में बांध कर स्थिर कर देना चाहिये। फीते की गांठ नली के ऊपर नहीं बांधनी चाहिये। कारण—इस से वायु के प्रवेश में बाधा आ जायेगी।

इस शल्यकर्म में रक्तस्राव का पर्य्याप्त भय है। यदि चिकित्सक ठीक मध्यरेखा में रहता है तो युवाओं में उसे कोई मुख्य वाहिनी नहीं मिलती। परन्तु शिशुवों की अवस्था में यदि चाकू बताए हुए रास्ते में गहरा चला जाये तो कभी २ 'इननौमीनेट वेन' मिल जाती है।

जब कि रोगी नीलिमायुक्त (सायनोज़्ड) हो या शल्यकर्म में हो जाये तो तत्क्षण श्वासप्रणाली खोल देनी चाहिये। रक्तस्राव की ओर आवश्यक ध्यान देना चाहिये। ज्यूं ही श्वासप्रणाली खुले उसे वाम हाथ की अंगुली और अंगूठे के बीच में पकड़ कर स्थिर करना चाहिये। व्रण को स्पंज कर के सुखा देना चाहिये। और चाकू को श्वासप्रणाली में घुसेड़ देना चाहिये। व्रण की प्लोत से फिर साफ़ करना चाहिये। श्वासप्रणाली का मुख डायलेटर से खुला रख कर ट्रैकिओटॉमी ट्यूब प्रविष्ट कर देनी चाहिये। यदि नली ठीक प्रकार से कसकर आ गई तो रक्त को अन्दर जाने से रोकेगी। और ज्यूं ही श्वासावरोध हटेगा तो वाहिनियों में बढ़ा रक्त भी घट जायेगा। और बहुत सी अवस्थाओं में रक्तस्राव भी रुक जायेगा। इन अवस्थाओं में जब नली ज्यूं ही अपनी अवस्था

में आ जाये तो रोगी का शिर नीचे कर देना चाहिये।

यदि श्वासावरोध चिरकालीन अथवा भयंकर रूप में है तो श्वास का बन्द होना भी सम्भव है। ऐसी अवस्था में कृत्रिम श्वास देना उत्तम है। ट्रेकिओटॉमी ट्यूब के छिद्र द्वारा एक दम ओषजन की धारा देनी आरम्भ कर देनी चाहिये। डिफ्थीरीया के रोगियों में श्वासप्रणाली के अन्दर आधी लगी मैम्ब्रेन (झिल्ली) मिलती है। ऐसी अवस्था में श्वासप्रणाली के छेदन को डायलेटर से तबतक खोले रखना चाहिये जब तक कि संदंश से झिल्ली हटा नहीं ली जाये। कोई भी चिकित्सक झिल्ली को आचूषण के द्वारा निकालने में अपने प्राणों को संशय में नहीं डालना पसन्द करेगा।

लैरिंजोटॉमी।

यह शल्यकर्म श्वासप्रणाली के ऊपर के भाग में निम्न प्रकार से किया जाता है। क्रीकोथायरॉयड मैम्ब्रेन के ऊपर लम्बे अक्ष (लौंगचियुडनल) में $\frac{3}{8}$ इञ्च छेदन करते हैं। छेदन के किनारे उठे होते हैं। मैम्ब्रेन में एक छोटा तिरछा छेदन किया जाता है। फिर इस छिद्र में "लैरिंजोटॉमी ट्यूब" या "बाईवाल्व ट्यूब" (जिस के दोनों किनारे इकट्ठे पकड़े जा सकते हैं) प्रविष्ट कर देते हैं।

बहुत कम अवस्थाओं में जब कि यह शल्यकर्म बिना एक क्षण की तैयारी में करना पड़ता है, और जब कोई भी शस्त्र न मिल सके तब जेब के चाकू के छोटे फलके को क्रीकॉयड और थायरॉयड कार्टिलेज (त्वचा और क्रीकॉयड थायरॉयड मैम्ब्रेन में से) के मध्य में चुभो कर बना सकते हैं। चाकू को वृत्त के $\frac{1}{4}$ भाग तक घुमाना चाहिये। जिस से छेदन खुल जायेगा।

ट्रेकिओटॉमी और लैरिंजोटॉमी के शल्यकर्म के पश्चात् मुख्य बात यह है कि अन्तः नली को बराबर साफ़ करते

रहना चाहिये। जिस से कि अन्तः पृष्ठ में शुष्क हुए स्रावों के कारण या प्रक्षेपों से रुक न जाये। अन्तः नली को निकाल कर उसे पूर्णतः साफ़ कर के कुछ मिनटों तक उबालना चाहिये। कुछ पानी रहा हो तो शुष्क कर देना चाहिये। शीत होने पर फिर लगा देनी चाहिये। पर जब तक पहिले उबाल न लिये गये हों, नली के नीचे प्रविष्ट नहीं करना चाहिये।

पैरासिन्टैसिस ऐब्डोमिनस।

यह सब से उत्तम रूप में 'लीनिया एल्बा" पर विटप और नाभी के मध्य में किया जाता है। चिकित्सक को निश्चय कर लेना चाहिये कि यह रोगी श्वयथु का ही है। मूत्राशय खाली होना चाहिये। रोगी को बिस्तर के किनारे पर ला कर उस के कन्धों को ऊंचा कर के उस की पीठ को ऊंचा कर देना चाहिये। मोमजामे का टुकड़ा बिस्तर पर इस प्रकार बिछा देना चाहिये जिस से बिस्तर गीला न हो। द्रव को एकत्रित करने के लिये आवश्यक प्याले भी तैय्यार रखने चाहियें। त्वचा एवं अन्दर के तन्तुओं को दो प्रतिशतक 'नौवोकेन' के घोल से स्पर्श करना चाहिये। त्वचा और त्वचा के निचले तन्तुवों में $\frac{1}{3}$ इञ्च लम्बा छेदन करना चाहिये। फिर इस छेदन में से 'ट्रोकार एण्ड कैन्युला' (व्रीहिमुख एवं छिद्वारा नलिका) को पर्य्यावरण कोष में चुभो देना चाहिये। जब सब पानी बाहर निकल जाये तब त्वचा के व्रण को घोड़े के बाल से सी कर 'स्टरलाइज्ड ड्रैसिंग' से ढांप देना चाहिये। एक फ़लालैन का पट्टा कोष्ठ के चारों ओर लपेट देना चाहिये। *शल्यकर्म पूर्ण हो गया।

---

* (क) ततः जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद् भिषक्।
वामपार्श्वे त्वधो नाभेः नाडीं दत्त्वा च गालयेत्।
निःस्राव्य च विमृज्यैतत् वेष्टयेद् वाससोदरम्॥

(ख) छिद्द्वारा नलिका पिच्छनलिका वा दकोदरे॥

पूर्ण आकार का ट्रोकार एकदम काम में लाना आवश्यक नहीं। कारण—इस के द्वारा पानी का बहाव एक दम अधिक होने के कारण जहां रोगी मूर्च्छित हो जायेगा वहां बड़ा वेधन छोटे वेधन की भांति शीघ्र रोहण नहीं करता। इस वेधन में हाइड्रोसील (जलवृद्धि) का व्रीहिमुख काम में लाना चाहिये। अथवा एसपाइरेटर की सब से बड़ी सूई में इण्डिया रबर की नली लगा कर काम ले सकते हैं।

पैरासिन्टैसिस थोरैसिस।

छाती में द्रव की उपस्थिति जानने के लिये अथवा फुप्फुसावरण (प्लूरल) के द्रव का स्वभाव जानने के लिये एसपायरेटर नीडल से वेधन किया जाता है। जब द्रव उपस्थित हो तो आवश्यक है कि इस को कैन्युला के द्वारा या बड़े छिद्र वाली सूई के द्वारा विद्ध किया जाये। सूई या व्रीहिमुख किसी भी प्रकार के क्यों न हों सब अवस्थाओं में सावधानी बरतनी चाहिये। जिस से कि रोगी संक्रमण, मूर्च्छा आदि उपद्रवों से बच जाये। यह सावधानियां चाकू से त्वचा का छेदन करने की एवं सूई के मार्ग को संज्ञाशून्य करने की है।

सूई के मार्ग को संज्ञाशून्य बनाने के लिये एक रिकार्ड सिरींज की ज़रूरत है। जिस में हाईपोडरमिक सूई जो कि

(ग) उदकोदरिणस्तु······सुपरिगृहीतस्य कक्षाद् परिवेष्टितस्याधो नाभेर्वामतः चतुरंगुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत्। तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत्। ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणबन्धेनोपाचरेत्। नैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत्। निःस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौशेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेद् उदरम्। तथा नाध्मापयति वायुः॥ सुश्रुत.

कम से कम १½ इञ्च लम्बी है लगी होनी चाहिये। दो प्रति शतक में बने स्टरलाइज्ड नोवोकेन घोल की एक ड्राम मात्रा चाहिये। त्वचा के कुछ भाग को जिस पर प्रथम आयोडीन लगा दिया गया है अंगुली और अंगूठे से ऊंचा उठा कर सूई की नोक को त्वचा में चुभो देना चाहिये। नौवोकेन को धीरे २ प्रविष्ट करते जाना चाहिये, जब तक तीन पैनी के बराबर की त्वचा श्वेत और उन्नत न हो जाये। फिर सूई को पीछे हटा कर "एनस्थैटिक सरकल" में प्रविष्ट करना चाहिये। और फिर धीरे २ पर्शुकाओं के मध्यवर्त्ती तन्तुओं में से गुज़ारते जायें जब तक प्लूरा तक न पहुंच जाये। ऐसी अवस्था में पिचकारी को नीचे की ओर धकेलते जाना चाहिये। जिस से कि नोवोकेन की पतली धारा सूई के बढ़ने के साथ आगे पहुंचती जाये। जब प्लूरा आ जायेगा तो रोगी को थोड़ी दर्द होगी। फिर सूई को बहुत थोड़ा पीछे खींच लेना चाहिये। नौवोकेन का इंजैक्शन देना चाहिये। फिर सूई को प्लूरा की स्पर्श शक्ति देखने के लिये चुभोना चाहिये। जो कि अब नष्ट हो गई होगी।

त्वचा में छेदन बारीक चाकू से करना चाहिये। अथवा दुहरे किनारे वाले "टैनोटोम" से करना चाहिये। छेदन पर्य्याप्त बड़ा होना चाहिये जिस में कि सुई या कैन्युला [छिद्रारा नलिका] सुगमता से जा सके।

यदि यह सावधानियां न बरती जायें तो सुई या ग्रीहिमुख के फुप्फुस में चुभने से रोगी को दर्द हो जायेगा। जो कि त्वचा के विरुद्ध बल करने के कारण होना सम्भव है। शस्त्रों के द्वारा त्वचा का संक्रमण फुप्फुसावरण गुहा में पहुंच सकता है। अथवा प्लूरा का सहसा आघात प्रत्यावर्त्तित क्रिया के रूप में कोलैप्स उत्पन्न कर के मृत्यु का कारण बन सकता है।

वेधन का स्थान।

जितने भी शस्त्र पसलियों के मध्यवर्त्ति स्थान में चुभाये जायें उन सब को निचली पसली के ऊपर के किनारे से गुज़ारना चाहिये। इस से पर्शुका मध्यवर्त्ति वाहिनियां बच जायेंगी। 'एक्सप्लोरिंग सूई' को मन्द ध्वनि के क्षेत्र के मध्य में प्रविष्ट करना चाहिये। परन्तु जब द्रव निकलने लगे तो "ट्रोकार एण्ड कैन्युला" को पानी की निचली सतह के समीप से समीप चुभोना चाहिये। फुफ्फुसावरण में द्रव की मात्रा अधिक हो तो स्कन्धास्थि [अंसफलक] के कोन के नीचे नवीं पसली के मध्यवर्त्ति स्थान में द्रव की सतह होती है। अथवा द्रव स्कन्धास्थि रेखा में आठवें पर्शुका मध्यवर्त्ति स्थान में होगा। इस में द्वितीय स्थिति उत्तम है। कारण— कटिप्रच्छदा (लैटिसिमस डौर्साई) पेशी पूर्वीय किनारे के सामने है। इस से पर्शुकामध्यवर्त्ती स्थान सुगमता से जाना जा सकता है। यदि सम्भव हो तो रोगी को बिठा देना चाहिये रुग्ण पार्श्व की ओर थोड़ा सा झुका होना चाहिये। सहारे के लिये तकिये लगा देने चाहियें।

ड्रैसिंग।

कैन्युला (छिद्वारा नलिका) को निकालने के पश्चात् केवल ड्रैसिंग की ज़रूरत पड़ती है। इस के लिये व्रण पर एक इञ्च चौड़ी ज़िंक औक्साईड प्लास्टर की चिपकने वाली स्ट्रिप लगा देनी चाहिये। इस पट्टी को प्रत्येक दूसरे दिन बदल देना चाहिये।

ऐक्सप्लोरेटरी नीडल और पिचकारी।

सब से उत्तम पिचकारी शीशे की रिकॉर्ड सिरिंज है। इस की योग्यता २० सी. सी. की होनी चाहिये। कम से कम दो सूई प्राप्त करनी चाहियें। जिन में से एक $1\frac{1}{2}$ इञ्च और

दूसरी २ इञ्च लम्बी होनी चाहिये। सूई को छाती में चुभोते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पिस्टन सिलं-

चित्र नं० २२।
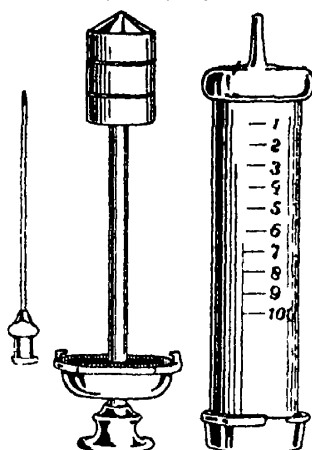
रिकॉर्ड सिरिंज और सूई।

न्डर के तले पर हो। ज्यूं ही सूई एक इञ्च के लगभग चली आये तो पिस्टन को शनैः शनैः बाहर निकाल लेना चाहिये। यदि कुछ द्रव नहीं आयेगा तो पिस्टन के नीचे पिचकारी में थोड़ी सी खाली जगह (वैक्कम) आ जायेगी। सूई को थोड़ा और गहरा चुभोना चाहिये। जब तक पिचकारी में द्रव या रक्त न आ जाये। रक्त का आना इस बात का साक्षी है कि फेफड़ा विद्ध हुआ है। इस लिये सूई को बाहर खींच कर रक्त निकाल देना चाहिये। और फिर सूई को दूसरी दिशा में चुभो कर इसी क्रिया को दोहराना चाहिये।

प्लूरल द्रव का निकालना।

साधारणावस्था में फुप्फुसावरण की बीच की शक्ति का

ऋणात्मक दबाव पारद के सात मिलिमीटर के दबाव के बराबर है। अत: फुफ्फुसावरण का द्रव इस ऋणात्मक दबाव को धनात्मक दबाव में बदल देता है। अत: फुफ्फुसावरण से द्रव निकालने के लिये आवश्यक है कि कैन्युला का 'पार्शल वैकम' के साथ सम्बन्ध कर दिया जाये। अथवा कैन्युला को ऐसी पिचकारी से जोड़ दिया जाये जिस की नौज़ल में दो टैप (टूटियां) लगी हों। ज्यूं ही पिस्टन को पीछे खींचेंगे द्रव फुफ्फुलावरण गुहा से चूसा जायेगा और ज्यूं ही पिस्टन को फिर पीछे दबायेंगे तो यह प्याले में निकल जायेगा। यह विधि उतनी उत्तम नहीं जितनी निचली।

पोटेन्स एसपायरेटर (Potain's Aspirator)

इस उपकरण का चित्र अगले पृष्ठ पर दिया गया है। इस में एक बोतल होती है-जिस में कि तीन से चार पाइन्ट* तक द्रव आ सकता है। इस में एक डाट (चित्र में A) होता है-जो कि धातु का बना होता है और इसके ऊपर रबर लगा होता है। इस में से दो नलिकायें गुज़रती है-अर्थात् इस के साथ दो नलिकाओं का सम्बन्ध होता है। इन दोनों नलिकाओं पर टूटियां लगी होती हैं। चित्र में इन टूटीयों को T^1 और T^2 इस प्रकार से दिखाया है। T^2 वाली टूटी का सम्बन्ध लम्बी नली से है। इस नली के दूसरे सिरे पर 'कैन्युला' लगा हुवा है। 'कैन्युला' के समीप में इस नली के दो भाग बना दिये गये हैं-और इन दोनों भागों को एक शीशे की नली से जोड़ा गया है। इस का लाभ यह है कि जाते हुवे द्रव भाग को हम शीशे की नली में से देख सकते हैं। यदि नली रबर की होती तो हम को द्रव जाता हुवा नहीं दीख सकता था। 'कैन्युला' कई प्रकार के-भिन्न २ आकार के आते हैं। ये

* एक पाइन्ट बीस औन्स का होता है।

एवं 'कैन्युला' धातु से बने सन्धि स्थान (B) में प्रयुक्त हो

चित्र नं० २३।
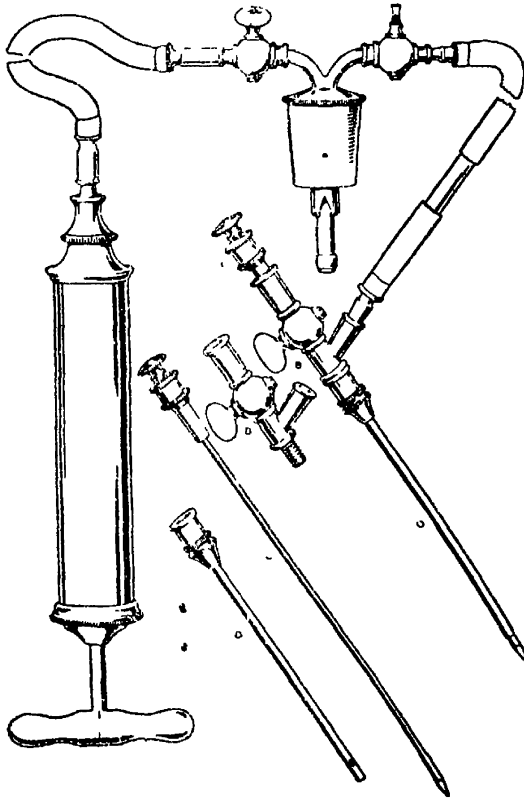
पोटेन्स एस्पाइरेटर।

सकते हैं। यह सन्धि स्थान रबर की नली के मुख से जुड़ता

है। यह सन्धिस्थान इस प्रकार का बना होता है कि यदि हम 'कैन्युला' को बदलना चाहें अर्थात् दूसरा 'कैन्युला' लगाना चाहें तो इस सन्धिस्थान को बिना निकाले बदल सकते हैं। और साथ ही इस में टूटी लगे होने के कारण इस का मुख बन्द किया जा सकता है। मुख के बन्द कर देने से फेफड़ों की झिल्ली में वायु पहुंचने का भी भय नहीं रहता। काम में लाने से पूर्व इस उपकरण का प्रत्येक भाग (पम्प और T^1 तक के भाग को छोड़कर) स्वच्छ (उबाल कर) कर लेना चाहिये। साथ ही उरोभित्ति में कैन्युला-सूई चुभोने से पेश्तर इस उपकरण की परीक्षा भी कर लेनी चाहिये। कहीं इस से समय पर धोखा न हो जाये। परीक्षा के लिये T^1 को खोलकर T^2 को बन्द कर देना चाहिये। और पम्प कर के बोतल को खाली (वायुरहित कर लेना चाहिये। अब T^1 को बन्द कर के-सूई-कैन्युला को पानी से भरे प्याले में डुबो देना चाहिये और T^2 को खोल देना चाहिये। यदि उपकरण ठीक होगा तो पानी सूई-कैन्युला के रास्ते से बोतल में चढ़ने लगेगा। अब इस उपकरण को काम में लाने के लिये फिर नये सिरे से (पहिले की भांति) बोतल को वायु से रिक्त बनाना चाहिये, और दोनों टूटियों को बन्द कर देना चाहिये। ऐसा करने से उपकरण एकदम तैयार हो जायेगा।

उरोभित्ति में 'ट्रोकार एन्ड कैन्युला' प्रविष्ट कर के द्रव भाग तक पहुंचाना चाहिये। कैन्युला के बाह्य सिरे की टूटी को बन्द रखना चाहिये (अर्थात् B पर लगी हुई टूटी को बन्द रखना चाहिये) अब T^2 को धीरे २ खोलना आरम्भ करना चाहिये। इस के खोलने से द्रव बोतल में भरने लगेगा जब द्रव का चढ़ना बन्द होने लगे त्यूं ही T^2 को बन्द कर देना चाहिये—और T^1 को खोल देना चाहिये। इस प्रकार

करने से फिर नये सिरे से वायु से रिक्त स्थान (Vacuum) उत्पन्न हो जायेगा * ।

इस उपकरण के विषय में निम्न बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये । डाट में लगी किसी भी टूटी को खोलने से पेश्तर—दोनों (T^1—T^2) टूटियों का बन्द होना आवश्यक है । फुस्फुस झिल्ली से द्रव का निष्कासन तब तक चालू रखना चाहिये जब तक रोगी दर्द की शिकायत न करे, अथवा खांसने न लगे या श्वास छोटा न होने लगे। इन लक्षणों में से किसी भी एक लक्षण के प्रगट हो जाने पर द्रव का अधिक निकालना खतरे से खाली नहीं है ।

यदि यह खतरा उपस्थित होने लगे, रोगी बेचैनी अनुभव करने लगे और आधे से अधिक द्रव निकल चुका हो, तब इस अवस्था में रोगी के शरीर के अन्दर ओषजन-प्राणवायु पहुंचाई जाती है। इस प्राणवायु के पहुंचाने के लिये एक उपकरण (मोरिस्टन डैविस का बनाया हुआ) काम में लाया जाता है । इस उपकरण का चित्र आगे दिया जाता है।

इस उपकरण में एक सूई होती है—जो कि बहुत बारीक छेद की होती है । इस सूई का सम्बन्ध रास्ते में एक छनने (Filter) से होता है । और आगे चलकर इसी सूई का सम्बन्ध 'मौनोमीटर' से तथा 'संग्राहक' (Container) से हो जाता है । छनने और संग्राहक के बीच में एक टूटी लगी

* जिस प्रकार की एक नली को पानी के बर्तन में डाल दें और दूसरे सिरे पर मुख लगाकर चूसें तो पानी नली में चढ़ आता है । यदि चूसा न जाये तो पानी नहीं चढ़ता । चूसने से नली की वायु निकल जाती है— जिस से कि पानी को खाली जगह मिल जाती है और पानी के ऊपर दबाव नहीं रहता – और पानी नली में चढ़ने लगता है । नली की वायु पानी के पृष्ठ पर दबाव दे रही थी। जिस से वह चढ़ नहीं सकता था – चूसने से वायु निकल गई ।

रहती है। यह संग्राहक एक सिलिण्डर (Cylinder) से बना होता है। इस सिलिण्डर के ऊपर के तथा निचले सिरे पर छेद होते हैं—और एक तीसरा छेद निचले सिरे के

चित्र नं० २४
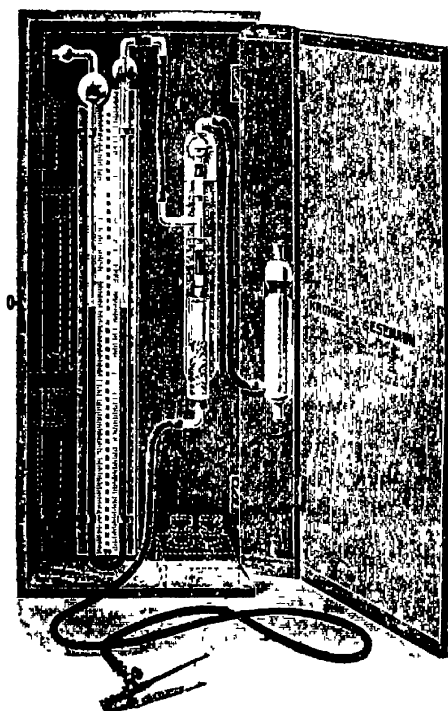
ओषजन प्रवेशक यन्त्र (मौरिस्टन डेवीज़)।

समीप में होता है। इस तीसरे छेद में लगी रबर की नलिका

द्वारा संग्राहक का सम्बन्ध टूटी के साथ होता है। और सब से निचले छेद का सम्बन्ध 'औक्सिजन सिलेण्डर' से निकलने वाली नली के साथ रहता है। यह संग्राहक औक्सीजन से भरा रखना चाहिये। इस को भरने के लिये निचले सिरे से ओषजन आने देनी चाहिये। और ऊपर के सिरे से वायु को बाहर निकलने देना चाहिये।

फुप्फुसभित्ति में दो सुइयां चुभोनी चाहियें। एक सूई का सम्बन्ध तो 'पोटेन्स एसपाइरेटर' के कैन्युला के साथ और दूसरी सूई का सम्बन्ध ओषजन के उपकरण के साथ होना चाहिये। द्रव का निष्कासन पहिले लिखी विधि से करना चाहिये। फुप्फुस के झिल्ली में लगातार बदलते हुए दबाव को हम मौनोमीटर में देख सकते हैं। इस लिये निष्कासन से जब दबाव ऋण हो जाये अर्थात् पारा पांच मिलिमिटर के लगभग आ जाये; तब इस टूटी को बन्द कर के औक्सीजन संग्राहक की टूटी को खोल देना चाहिये। ओपजन की टूटी के खुलने से औक्सीजन अपने आप ही फेफड़ों की झिल्ली में जाने लगेगी। (दोनों सुइयों को फेफड़ों में चुभोते समय ओषजन वाली सूई को ऊपर रखना चाहिये और पोटेन्स एसपायरेटर की सूई नीचे रखनी चाहिये)। द्रव के निष्कासन को और ओषजन के प्रवेश को नियमित रखना चाहिये, जिस से कि ऋण दबाव उत्पन्न न हो और कोई भयानक स्थिति पैदा न हो जाये। जब सब द्रव निकल चुके तब फुप्फुस की झिल्ली में इतना दबाव छोड़ देना चाहिये, जितना कि रोगी बिना किसी तकलीफ़ के सहन कर सके।

उरोभित्ति में उत्पन्न पूय के लिये शल्यकर्म।

(Operation for Empyema Thracis)

शल्यकर्म करने से पेश्तर उरोभित्ति में पूय की उपस्थिति का पूर्ण निश्चय कर लेना चाहिये। यदि उरोभित्ति में पूय की

बहुत अधिक अधिकता हो जिस के कारण हृदय और फेफड़े भिंच रहे हों—उन पर दबाव हो–तब ऐसी अवस्था में 'एस्पायरेशन' द्वारा थोड़ी पूय बाहर निकाल कर फिर रोगी को शल्यक्रियाभवन में ले जाना चाहिये। यह कार्य उस अवस्था में तो विशेष आवश्यक हो जाता है जब रोगी को बेहोश किया जाना हो। साधारणतः यथासम्भव रोगी को बेहोश करने से बचाना चाहिये। क्योंकि स्थानिक संज्ञानाश करने से काम सुगमता पूर्वक चल सकता है। इस के लिये नौवोकेन का दो प्रतिशतक घोल रुग्ण स्थान पर प्रविष्ट करना चाहिये। रोगी को मेज़ पर कभी भी स्वस्थ पार्श्व के भार नहीं लेटाना चाहिये. उस को या तो रुग्ण पार्श्व के भार लेटाना चाहिये अथवा पीठ के भार इस प्रकार से लेटाना चाहिये जिस से कि रुग्ण स्थान मेज़ के किनारे पर आ जाये। अब एक खड़ा हुआ चीरा (Vertical । इस प्रकार का) दो इंच के लगभग देना चाहिये। इस चीरे का मध्य विन्दु आठवीं पसली पर आना चाहिये और इस का स्थान अंसफलक अस्थि के कोन और कक्षा की मध्यरेखा के बीच में होना चाहिये। आठवीं पसली को नंगा करना चाहिये, फिर इसके ऊपर के आवरण (Periosteum) को ऊपर दो दो इंच को दूरी तक हटा देना चाहिये। अस्थि के इस नग्न भाग को दोनों प्रान्तों से अस्थि-संदंश द्वारा काट कर बाहर निकाल देना चाहिये। नीचे की अस्थि आवरण झिल्ली को एवं फुप्फुस झिल्ली को पसली के साथ साथ चीर देना चाहिये। ऐसा करने से पूय बाहर निकलने लगेगी। पूय सहसा एकदम ज़ोर से बाहर न आ जाये इसलिये इस छेद में अंगुली डाल देनी चाहिये। ऐसा करने से उरोभित्ति का दबाव भी सहसा परिवर्तित नहीं होने पायेगा। अंगुली द्वारा इस बात को भी देख लेना चाहिये कि 'ड्रेनिंग ट्यूब'—निष्कासन नलिका' के लगाने पर फेफड़ों

को तो किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती । अर्थात् वह भली प्रकार फैल सकता है या नहीं, और लसीका ग्रन्थि आदि तो रुकावट नहीं करती । निष्कासन नलिका की लंबाई लगभग १½ इञ्च और इस का व्यास ½ इञ्च (कम से कम) होना चाहिये । इस नलिका को ज़ख्म में रख देना चाहिये । नलिका के ऊपरले सिरे में एक सेफ्टीपिन व्रण के समकोन पर लगा देना चाहिये । जिस से कि नलिका व्रण के अन्दर खिसक न सके । व्रण के ऊपर अधिक मात्रा में कवलिका-रूई आदि रखना चाहिये, क्योंकि स्राव का ध्यान रखना सदा आवश्यक होता है ।

इस शल्यकर्म में इस बात का बहुत अधिक भय रहता है, कि त्वचा के द्वारा इस व्रण में पुन संक्रमण न फैल जाये । इस बात से बचने के लिये आवश्यक है कि व्रण के या नलिका के चारों ओर जो ड्रैसिंग रक्खा जाये उस को किसी जन्तुघ्न घोल में भली प्रकार भिगो लिया जाये । प्राणायाम-या फेफड़ों की व्यायाम यथा सम्भव शीघ्र आरम्भ करवा देनी चाहिये और निष्कासन नलिका को तब निकालना चाहिये-जब कि पूय स्राव का होना बन्द हो जाये ।

ट्यूबरक्यूलस एबासिसका एसपायरशन (यक्ष्माजन्य विद्रधि का वेधन)।

यह शल्यकर्म क्षय के उन व्रणों में उत्तम है जो कि अस्थि-विकार के कारण उत्पन्न हों । यथा से वास एबासिस के साथ पृष्ठवंश की केरीज़, नितम्बसन्धि के क्षय रोग में । इस के साथ साधारण चिकित्सा मिला देने से उत्तम लाभ होता है ।

यह कार्य पोटेन्स एसपायरेटर से भली प्रकार किया जा सकता है । इस में ट्रोकार बड़े आकार का काम में लाना चाहिये । दो प्रतिशतक नॉवोकेन के इंजैक्शन के पश्चात् त्वचा में छोटे चाकू से वेधन करना चाहिये । यह वेधन विद्रधि गुहा से थोड़ी दूरी पर होना चाहिये । जिस से त्वचा के वेधन

और विद्रधि गुहा में लम्बा मार्ग बन जाये। इस से क्षय के विष से नाड़ीव्रण (साईनस) बनने की सम्भावना कम हो जाती है*। इस कार्य में कई बाधायें आ सकती हैं। यथा विद्रधि का स्राव गाढ़ा हो जाये, जो कैन्युला में से गुज़र न सके। ऐसी अवस्था में कर्पूर दो भाग और थाईमोल एक भाग को सूचीवेध द्वारा घोल के रूप में देना चाहिये। और फिर तीसरे दिन प्रयत्न करना चाहिये। जब कि विद्रधि का पदार्थ पतला हो जायेगा।

कई बार ठीक प्रकार से स्राव के कुछ समय तक बहने के पश्चात् विद्रधि की डेब्रिस कैन्युला को रोक देती है। प्रायः इस को ट्रोकार को कैन्युला में डालने से हटा सकते हैं।

जब विद्रधि खाली हो जाये तो कैन्युला खींच लेना चाहिये। फिर यदि इस में कोई ट्युबरकल पदार्थ हो तो वह चूस लेना चाहिये। सिकुड़ी हुई विद्रधि की गुहा की भित्ति को रुई और एलास्टिक पट्टी के द्वारा दबाये रखना चाहिये। जिस से कि वह फिर न भरे। यह नितम्बविद्रधि में सुगम है परन्तु 'सोवास विद्रधि' में कठिन है।

सफलता पूर्वक शल्यकर्मों में एसपायरेशन कई बार करना पड़ता है। द्रव की राशि घटने के साथ द्रव पतला हो जाता है। अन्त में अवस्था ऐसी आ जाती है कि विद्रधि इतनी छोटी हो जाती है कि द्रव इस में प्रवेश नहीं कर सकता। जिस के बाद सब छिप जाता है। असफल कर्मों में मार्ग से

---

* शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ॥
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य।
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥
तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरिष्यतश्च।
नाडीव यद् वहति तेन मता तु नाडी ॥

संक्रान्त स्राव होता रहता है। ऐसी अवस्था में ऐन्टीसैप्टिक ड्रैसिंग करना चाहिये। यदि ड्रैसिंग उचित प्रकार से किया जायेगा तो नाड़ीव्रण दो तीन मास में भर जायेगा*।

लम्बर या स्पाईनल पंक्चर।

यह रोग की परीक्षा चिकित्सा एवं संज्ञालोपक औषध प्रविष्ट करने के लिये किया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि मेरुदण्ड (स्पाईनल कॉर्ड) या तो प्रथम कटिकसेरु के निचले किनारे पर या दूसरे कटिकसेरु के ऊपर के किनारे पर समाप्त होता है, इसलिये बिना किसी भय के दूसरे तीसरे और चौथे कटिमध्यवर्त्ति भाग में वेधन कर सकते हैं। जघनास्थि के किनारे के सब से ऊंचे शिखर को मिलाने वाली रेखा चौथे कटिप्रवर्धन को काटती जाती है और तीसरा मध्यवर्त्ति स्थान जो कि साधारणत: कटिवेधन (लंबर पंक्चर) का स्थान है, इस रेखा के थोड़े ही ऊपर रह जाता है। युवाओं में "सबएरकनॉयड स्पेस" तीसरे और चौथे कटिप्रवर्धन के बीच में त्वचा से २॥—३ इञ्च दूर रह जाता है। इसलिये इस से पहिले कि 'सैरीब्रोस्पाईनल' द्रव (मस्तिष्क-मेरुदण्डवर्त्ती द्रव) बहे ट्रोकार कैन्युला इतनी दूरी से चुभाना चाहिये। कटिप्रदेश में स्पाईन प्रोसिस लगभग लेटी हुई अवस्था में नीचे की ओर थोड़ी तिरछी है।

इस लिये यदि ट्रोकार को बीच की रेखा में चुभोया है तो आगे की ओर धकेलते हुए ऊपर की ओर चढ़ाते जाना चाहिये।

इस कार्य के लिये एक पिचकारी चाहिये। जिसमें ट्रोकार और कैन्युला लगा होना चाहिये। संज्ञालोप के लिये नम्बर लगी हुई पिचकारी एवं 'वार्करस इन्जैक्टिंग कैन्युला'

---

* कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः॥

होना चाहिये । यह कैन्युला आगे से कुण्ठित और पर्य्याप्त लम्बा होता है ।

रोगी को पार्श्व के भार लेटा कर शिर ऊंचा कर देना चाहिये और घुटने मोड़ देने चाहियें । पीठ को मोड़ कर कटि के कशेरुओं को पूर्णरूप से फैला कर पृथक् कर लेना चाहिये । चुने हुए मध्यवर्त्ती स्थान पर वाम तर्जनी का अगला भाग रख देना चाहिये । यहां पर मध्यरेखा में ट्रौकार कैन्युला को चुभो कर आगे एवं ऊपर की ओर धकेलते जाना चाहिये । यदि ट्रौकार अस्थि को छुवे तो पीछे खींच लेना चाहिये । फिर आगे को कुछ अधिक ऊपर की ओर चढ़ाते हुए धकेलना चाहिये । 'लिगमैन्टा सबफ्लेवा' और 'ड्यरामैटर' के ट्रौकार द्वारा विद्ध होने का पता चिकित्सक को लग जायेगा । जो बाधा उसे पहिले अनुभव हो रही होती है वह वेधन से घट जायेगी । ट्रौकार के निकालने पर द्रव कैन्युला से बहने लगेगा । यदि द्रव न आये तो ट्रौकार डाल कर थोड़ा और आगे चलाना चाहिये । यदि रुकावट के कम होने पर ट्रौकार २½ इञ्च तक चला जाये तो चिकित्सक को यह देखने के लिये कि कहीं 'सबएरकनौयड स्पेस' में तो नहीं चुभा, ट्रौकार को खींच लेना चाहिये । इस सावधानी के अभाव में "थीसा" की अग्रिम भित्ति में छेद होना एवं "एन्टीरियर इन्ट्रास्पाईनल वीनस प्लैक्सस" की वाहिनियों में व्रण होना सम्भव है । 'सबएरकनौयड स्पेस' में चुभने से द्रव की इच्छित मात्रा निकलने पर कैन्युला को खींच लेना चाहिये । व्रण का मुख ज़िङ्क औक्साईड प्लास्टर के टुकड़े से ढांप देना चाहिये ।

यदि कोई दर्दशामक (एनैलजैटिक) औषध प्रविष्ट करनी हो तो "वार्करस इंजैक्टिंग कैन्युला" को पिचकारी में लगा कर प्रविष्ट कर सकते हैं ।

हाईड्रोसील का द्रव निकालना।

शल्यकर्म से पूर्व चिकित्सक को चाहिये कि अन्तः द्रव की पारदर्शिता की परीक्षा प्रकाश द्वारा कर ले एवं अण्ड की स्थिति को जान ले। प्रकाश को जंघाओं के बीच में रख कर (शिश्न से दूर रख कर) एक हाथ से अण्डकोष को दृढ़ता से पकड़ कर दूसरे हाथ पर परछांई लेनी चाहिये। अर्बुद को अंगुलियों से पकड़ लिया जाता है और अंगूठा शिश्न को थाम्भे होता है, जिस से शिश्न बच जाता है। दक्षिण पार्श्व के हाइड्रोसील की अवस्था में अर्बुद को दक्षिण हाथ में और वाम को परछांई के लिये काम में लाना चाहिये। यही प्रकिया वाम जलवृद्धि में विपरीत रूप में होगी।

वेधन के लिये रोगी को खड़ा कर के चिकित्सक को चाहिये कि उस के सामने बैठे। अण्डकोष को वाम हाथ में पकड़ कर, जलवृद्धि पर त्वचा को ताने हुए, द्रव को अग्रिम भाग में दबा कर कठोर बना लेना चाहिये। एक तीक्ष्ण व्रीहि-मुख जिस पर कैन्युला भली प्रकार आ जाये उसे ऊपर एवं पीछे की दिशा में शिराओं रहित प्रदेश में चुभो देना* चाहिये। जब पानी निकल चुके तो थोड़ी सी रुई और कोलोडियम वेधन के स्थान पर लगा देनी चाहिये।

द्रव को पुनः एकत्रित होने से बचाने के लिये आजकल किसी विक्षोभक घोल को सूचीवेध द्वारा जलवृद्धि में दिया जाता है।

---

* मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद् विध्येत व्रीहिमुखेन तु॥
अथात्र द्विमुखीं नाड़ीं दत्वा विस्रावयेद् भिषक्।
मूत्रनाड़ीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्॥
शुद्धायां रोपणं दद्यात् .. ..॥

ट्रांसफ्यूझन एण्ड इन्फ्यूझन ।

'ट्रांसफ्युझन' शब्द से अभिप्राय रक्त का एक व्यक्ति (दानी-डोनर) से दूसरे व्यक्ति में (रैसीपीएन्ट-ऋणी) पहुंचाने से है। और ' इन्फ्युझन का अर्थ व्यक्ति की शिरा में त्वचा के या नीचे के तन्तु में विशेष द्रव यथा–नौर्मल सैलाइन या ग्लुकोज़ सैलाईन" प्रविष्ट करने से है।

रक्त का ट्रांसफ्युझन ।

इस के लिये बहुत सी विधियां काम में लाई गई हैं। परन्तु सब से संतोष जनक वही विधि है जिस में 'सोडियम साईट्रेट' मिलाया जाता है। जिस से कि रक्त जमकर गाढ़ा होना रुक जाता है। यह आवश्यक है कि दानी व्यक्ति के रक्त की परीक्षा कर ली जाये । जिस से पता लग जाये कि रक्तकण ऋणी के रक्तसीरम से न तो टूटेंगे और न 'एग्ल्युटीनेट' होंगे* ।

रौबर्टसन के उपकरण में ट्रान्सफ्युझन के लिये एक लिटर की योग्यता वाली शीशी लगी रहती है। जिस पर १६० सी. सी. ६६० सी. सी. ७६० सी सी. ८६० सी. सी. के निशान साईट्रेट सौल्युशन की राशी के लिये लगे होते हैं। इस में रबर का कार्क होता है। जिस में से तीन नली जाती हैं। इन में से दो बोतल के तले तक पहुंचती हैं । जिन में से एक रक्त को पहुंचाती है और दूसरी निकालती है। तीसरी नली बोतल की ग्रीवा तक ही रहती है, इस का सम्बन्ध हिग्गिनसन्स सिरिञ्ज से होता है। इस से रक्त खींचते समय शीशी में से वायु निकाल लेते हैं। एवं रक्त देते समय दबाव उत्पन्न कर लिया जाता है।

सारे उपकरण को स्टरलाइज्डकर के ३.५ प्रतिशतक में बने सोडियम सायट्रेट के घोल से (१६० सी. सी.) भर

* यह कार्य 'पैथोलोजिस्ट' से करवा लेना चाहिये ।

देना चाहिये। खींचने वाली नली को एवं इस के साथ लगी सूई को इस घोल से भर देना चाहिये। यह कार्य बोतल में थोड़ा दबाव डालने से हो जायेगा। यह आवश्यक नहीं कि रक्त खींचने के लिये ऋणात्मक दबाव उत्पन्न किया जाये। रक्त खींचने वाली सूई के साथ रबर की छोटी नली लगा देनी चाहिये। सूई के अन्दर की पृष्ठ को 'पैराफीन लिक्विड" से चिकना रखना चाहिये। रक्त को साइट्रेट घोल में से बोतल में भरने देना चाहिये। दानी व्यक्ति की कोहनी में सामने की शिरा में से रक्त ले सकते हैं। उत्तम यह है कि यह कार्य वेधन से किया जाये, शिरा को चीरकर नंगा करने की आवश्यकता बहुत कम होती है। ऊपर की भुजा (प्रगण्ड) में "टौर्नीकेट" लगाकर शिरा को फुला लेना चाहिये। फिर त्वचा को स्टरलाईज्ड कर के तीक्ष्ण ट्रान्सफ्यूजन सूई को चुभो देना चाहिये। यह चुभोना दो प्रकार से हो सकता है। एक वाहिनी की दीवार में से और दूसरी त्वचा में से। और फिर रक्त को साईट्रेट सौल्युशन में से बोतल में भरने देना चाहिये। या ऋणात्मक दबाव से खींचना चाहिये। शीशी को गरम पानी में रखकर हिलाते रहना चाहिये, जिस से रक्त साइट्रेट घोल में मिल जाये। जब इच्छित मात्रा निकाल ली जाये तो शीशी को गरम पानी में रखकर ऋणी व्यक्ति की शिरा को वेधन या नंगी कर के देनेवाली सूई चुभो देनी चाहिये। बोतल के अन्दर दबाव बढ़ा देना एव रक्त को धीरे २ प्रविष्ट करना चाहिये। रोगी की अवस्था गिरती हुई दिखाई देवे तो प्रवेश एक दम बन्द कर देना चाहिये। छोटे शिशुवों में शिरा को ढूंढना कठिन होता है, ऐसी अवस्था में सूई को पूर्वविवर में से 'सुपीरियर लौंगीच्युडनल साइनस' में प्रविष्ट किया जाना चाहिये। यदि शीशी में रक्त के चक्के का कुछ भी सन्देह हो तो द्रव को गौज़

के छनने में से पीक द्वारा छान लेना चाहिये। जिस प्रकार की सैलाइन इन्जैक्शन को शिरावेध में छानते हैं।

इन्फ्युजन—इस में प्रायः निम्न घोल काम में आते हैं। यथा-

नौर्मल सैलाईन सोल्युशन—इस के लिये ३१८ ग्रेन सोडियम क्लोराइड (सैन्धव नमक) का तिर्यक् पातित पानी के चार पाइन्ट में घोलना चाहिये। इस को काचकुप्पी में उबाल लेना चाहिये। कुप्पी की ग्रीवा में रुई लगा देनी चाहिये। वाष्प के द्वारा पानी की जितनी मात्रा कम हो उस को स्टरलाइज्ड पानी की मात्रा से पूरा कर लेनी चाहिये। कुप्पी के मुख पर 'स्टरलाइज्ड ऑयल सिल्क' रख कर गले के चारों ओर चिपकने वाली पट्टी से बांध देना चाहिये। जब आवश्यकता हो तो कुप्पी को गरम पानी में रख कर आवश्यक तापपरिमाण तक (१०५ फारनाहिट) गरम करना चाहिये। इस घोल में नमक ०.६१ प्रतिशतक होगा।

(२) ग्लुकोज़ सैलाइन सोल्युशन-इस में १५६ ग्रेन सैन्धव और दो औन्स (पयरडोपॉइज़) ग्लुकोज़, चार औन्स तिर्यक् पातित पानी में घुली होती है। इस को ऊपर की भांति स्टरलाइज्ड करना चाहिये। इस में नमक ०.४५ प्रतिशतक और ग्लुकोज़ २.५ प्रति शतक होती है।

(३) गम सौल्युशन—'नौर्मल सैलाइन' में ६ प्रतिशतक गमएरेबिक का घोल मिला कर शिरावेध द्वारा व्रण की मूर्च्छा में दिया जाता है।

इन में से किसी भी द्रव को प्रविष्ट करने के लिये लम्बूतराकार पीक होता है। इस में पर्य्याप्त लम्बी रबर की नली लगी होती है। नली में शिरावेध द्वारा द्रव देने के लिये शीशे का कैन्युला लगा होता है। त्वचा के नीचे द्रव देने के लिये दो खोखली सूई होती हैं। सब अवस्थाओं में उपकरण को सारा स्टरलाईज़ करना चाहिये। सूई या कैन्युला प्रविष्ट

करने से पूर्व सारे उपकरण को द्रव से भर देना चाहिये। जिस से कि वायु प्रविष्ट न हो।

शिरावेध द्वारा द्रव देना।

रोगी की भुजा को कन्धे तक नंगा करना चाहिये। व्रण के उपर की भुजा में एक पट्टी कस कर बांध देनी चाहिये। जिस से पृष्ठ की सब शिरायें दब जायें। रोगी की कोहनी और प्रकोष्ठ को फैला कर विस्तर या मेज पर सहारा देना चाहिये। प्रायः इस कार्य के लिये मध्य बैसिलिक वेन चुनी जाती है। स्थान पर आयोडीन लगा कर शिरा के ऊपर एवं चारों ओर की त्वचा को नौवोकेन के दो प्रतिशतक घोल से संज्ञाशून्य कर लेना चाहिये। यह कार्यहाइपोडर मिक पिचकारी और सूई से भली प्रकार हो सकता है। प्रायः वेधन के द्वारा शिरा में 'ट्रांसफ्युझन नीडल' प्रविष्ट कर ली जाती है। परन्तु कभी२ छेदन द्वारा शिरा को नंगी करने की आवश्यकता पड़ती है। छेदन के लिये एक इञ्च चौड़ा छेदन त्वचा और नीचे के तन्तुओं में तिरछे रूप में बनाना चाहिये। इस से शिरा पृथक् होने के साथ नंगी भी हो जायेगी। शिरा के नीचे से तीन बन्धन गुज़ारने चाहियें। सब से छोटे बन्धन को तुरन्त बांध देना चाहिये। शिरा को संदंश से उठा कर इस की सामने की भित्ति में "वी" (v) के आकार का कटाव काटना* चाहिये।

---

* तत्र शस्त्रविस्रावणं द्विविधं प्रच्छानं शिराव्यधनं च। तत्र ऋजु असंकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढं अनुत्तान माशु च शस्त्रं पातयेन्मर्म-

१ शिरास्नायुसन्धीनां चानुपघाति॥

शिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत्परिवर्त्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥
अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः।
नायंत्रितां शिरां विध्येत् न तिर्यङ् नाप्यनुत्थिताम्॥

इस के लिये तीक्ष्ण नौक वाली कैंची काम में लानी चाहिये। इस कटाव में द्रव से भरे कैन्युला को प्रविष्ट करके मध्यवर्ती बन्ध को शिरा और कैन्युला के चारों ओर बांध देना चाहिये। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पीक सर्वथा खाली न हो*। पानी की प्रविष्ट मात्रा दो पाइन्ट से अधिक नहीं होनी चाहिये। और एक पाइन्ट पानी ५ मिनट में जाना चाहिये। ज्यूं ही द्रव की इच्छित मात्रा चली जाये तो तीसरा एवं मुख्य बन्धन शिरा के चारों ओर बांध देना चाहिये। शिरा का वह भाग जिस में कैन्युला बांधा गया है, काट डालना चाहिये। व्रण को कुछ टांकों से बन्द कर के स्टरलाइज्ड ड्रेसिंग और पट्टी से ढांप देना चाहिये।

त्वचा के निचले तन्तुओं में द्रव देने से बहुत संतोषजनक फल नहीं देखा गया। कारण—द्रव बहुत धीरे २ विलीन होता है। यह उपाय १२ से १८ वर्ष की आयु वाले, जहां पर जल्दी प्रभाव नहीं चाहते वहां उत्तम है। अथवा जिन में शिरा का ढूंढना सरल नहीं। खोखली सूई को त्वचा के निचले तन्तु में प्रविष्ट कर के द्रव की मात्रा शनैः २ प्रविष्ट होने देनी चाहिये। यदि जल्दी प्रविष्ट करना हो तो दो भिन्न २ स्थानों पर सूइयां चुभो देनी चाहिये। द्रव के एकत्रित होने से उत्पन्न हुई शोथ को विम्लापन के द्वारा फैला देना चाहिये। परन्तु जब सूई के ऊपर की त्वचा कठोर हो जाये (द्रव फैल न सके) तो सूई निकाल लेनी चाहिये। इस कार्य के लिये सब से उत्तम स्थान स्तन के नीचे और कक्षा की अन्तः भित्ति है।

गुदवस्ति।

प्यास या मूर्च्छा को शान्त करने के लिये तीन या चार घन्टे के अन्तर से छः से आठ औन्स मात्रा में नौर्मल सैलाइन बस्ति के द्वारा देना चाहिये।

---

* सावशेषं प्रकुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति॥ वाग्भट्ट.

अमेरीकन सर्जन 'मर्फी" विस्तृत विषजन्य पर्यावरण शोथ में पर्यावरण गुहा को धोने के साथ२ लगातार रूप से नौर्मल सैलाईन को वस्ति के द्वारा रोगी को आधा या सम्पूर्ण विठाकर (फ़ाउलर पोज़ीशन) देने का आदेश देता है। इस के लिये पाइन्ट के निशानों से चिह्नित शीशे की एक कुप्पी चाहिये। जिस में साइफन नली लगी होनी चाहिये। इस के साथ थर्मामीटर, और स्प्रिट लैम्प भी चाहिये। रबर की नली जिस के द्वारा गुदा में द्रव आयेगा उस में एक क्लिप लगा होना चाहिये। इस के द्वारा द्रव नियमित किया जा सकता है। द्रव को नली में इस प्रकार बहने देना चाहिये कि एक पाइन्ट पानी एक या १½ घन्टे में निकले। गुदा से द्रव बिलकुल चूना नहीं चाहिये। यदि चूता है तो इस का अर्थ यह है कि पानी का प्रवाह तेज़ है। यह आवश्यक है कि गुदा में पहुंचते समय द्रव का ताप परिमाण शरीर के समान होना चाहिये। इस लिये आवश्यक है कि यह निश्चय कर लें कि शीशी में किस तापपरिमाण का द्रव रखना चाहिये। इस में पानी की गति और नली की लम्बाई के कारण भेद आ सकता है। जब द्रव कुप्पी से नली की छोर तक १½ घंटे में एक पाइन्ट जा रहा हो तो कुप्पी के पानी का तापपरिमाण १४०° फारनाहिट के लगभग रखना चाहिये। जिस से गुदा तक पहुंचने में ६८° फारनाहिट हो जायेगा।

शिरामोक्षण* ।

यह शल्यकर्म मध्यवर्त्ती वेसिलिक शिरा पर 'इन्ट्रावीनस

---

* १ प्रत्यादित्यमुखं स्विन्नो जानूच्चासनसंस्थितः ।
मदुपहास्तकेशान्तो जानूस्थापितकूर्परः ॥
अंगुष्ठगर्भमुष्टिभ्यां मन्ये गाढं निपीडयेत् ।
पृष्ठतो यंत्रयेच्चैनं वस्त्रमावेष्टयेन्नरः ॥

इन्फ्युझन की विधि से किया जाता है। बड़े बन्धन को शिरा के नीचे ले जा कर बांध दिया जाता है। शिरा को पूर्ण रूप से विभक्त कर देते हैं। पश्चात् व्रण को टांकों से बन्द कर के ड्रेसिंग लगा देना चाहिये।

बीर की चिकित्साविधि।

यह विधि तीव्र या चिरकालीन शोथ में, यक्ष्मा के विकार में, तीव्र पैसिव हाईपरीमिया में प्रायः काम आती है। तीव्र हाई-परीमिया उष्णिमा से उत्पन्न किया जा सकता है। यह विशेष

कन्धरायां परिक्षिप्य न्यस्यान्तर्वामतर्जनीम्।
एवमुत्थाप्य विधिना शिरां विध्येत् शिरोगताम्॥
विध्येत् हस्तशिरां बाहू अनाकुञ्चितकूर्परे।
बद्ध्वा सुखोपविष्टस्य मुष्टिं अंगुष्ठगर्भिणीम्॥
ऊर्ध्वं वेध्यप्रदेशाच्च पट्टिकां चतुरंगुले।
ततो व्रीहिमुखं व्यध्यप्रदेशे न्यस्य पीडयेत्॥
अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु तलप्रच्छादितं भिषक्।
मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकम्॥
या बहिरस्थ्नामुपरि ····· ··· ···· ·· ॥
तामेव वा शिरां विध्येद् व्यधात्तस्मादनन्तरम्।
शिरामुखं वा त्वरितं दहेत्तप्तशलाकया॥
स्रुते रक्ते शनैर्यन्त्रमपनीय हिमाम्बुना।
प्रक्षाल्य तैलप्रोताक्तं वर्धनीयं शिरामुखम्।

२ ततो वैद्यो ब्रूयाद् दक्षिणहस्तेन शिरोत्थापनार्थम्। नात्यायत शिथिलं यंत्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थम्···। नायंत्रितां नाप्यनुत्थितां शिरां विध्येत्॥

३ विध्येद् हस्तशिरां बाहू अनाकुञ्चितकूर्परे।
यंत्रं विमुच्य मूर्छायां वीजेत व्यजनैः पुनः॥
स्रावयेन्मूर्छितं पुनस्त्वपरेद्युः त्र्यहेऽपि वा॥ वाग्भट.

रूप से चिरकालीन शोथ की चिकित्सा में या शोथजन्य पदार्थ की विलीनता की शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयुक्त होती है। रुग्ण भाग पर उष्णिमा 'गरम एयर(वायु) स्नान' से पहुंचाते* हैं। तीव्र (एक्यूट) शोथ में यक्ष्माजन्य विकारों में विशेषतः सन्धि की अवस्था में 'पैसिव हाईपरीमिया' काम में आता है। शिराओं को पट्टी द्वारा संकुचित कर लेना चाहिये। अथवा कपिंग ग्लास-शृंग-घटीयंत्र के द्वारा 'वैकम' उत्पन्न कर लेना चाहिये।

यक्ष्मारोग की अवस्था में जानु पर जंघा के निचले $\frac{1}{3}$ भाग पर एलास्टिक पट्टी के कुछ चक्कर दे देने चाहियें। संकुचन बहुत थोड़ा होना चाहिये। जिस से कि धमनी के रक्त सञ्चार में कुछ भी बाधा न हो। परन्तु शिरा के रक्त में कुछ ही रुकावट पड़े। घुटने के नीचे फ़लालैन की एक पट्टी बांध देनी चाहिये, जिस से कि जिस भाग को शोथयुक्त नहीं करना चाहते उस को सहारा रहे। बन्धन इतना कठोर नहीं होना चाहिये, जिस से अंगशून्यता, शीत या दर्द अनुभव होने के साथ अवयव रक्तशून्य एवं सूज † जाये। यक्ष्मा रोगी को दिन में दो या तीन घंटे के अन्तर से नहीं लगाना चाहिये। पूय की चिकित्सा में एक दिन में दस घण्टे तक लगातार लगाना चाहिये।

पिटिका या विद्रधि (यक्ष्माजन्य) अथवा अन्य ऐसी अवस्थाओं में कपिंग ग्लास का काम पड़ता है। जो कि भिन्न २ आकार एवं रूप के बनाये जाते हैं। वैकम विधि दिन

* (क) रुजावतां दारुणानां कठिनानां तथैव च।
शोफानां स्वेदनं कार्यं ये चाप्येवंविधा व्रणाः॥
(ख) स्वेदयेत्सततं चापि ···· ·· ··· ·।
(ग) देखिये चरक सूत्रस्थान में स्वेदविधि-नाड़ीस्वेद के लिये।

† गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक् पाक एव च॥ सुश्रुत.

में एक घन्टे से अधिक काम में नहीं लानी चाहिये। इस बीच में प्रत्येक कप तीन मिनिट तक लगाना चाहिये। और फिर पांच मिनिट तक छोड़ देना चाहिये।

सबक्युटेनियस इंजैक्शन।

उत्तेजक या दर्दशामक औषध देने के लिये कई बार यह विधि बहुत लाभदायक है। औषध पिचकारी में लगी खोखली सूई से दी जाती है। इस के लिये रिकौर्ड या संपूर्ण शीशे की पिचकारी काम में आती है। सूई तीक्ष्ण-साफ़, चमकती होनी चाहिये। जब यह काम में न हो चांदी की तार सूई में डाले रहना चाहिये। सूई इस धातु की बनी होनी चाहिये जिस से स्प्रिट लैम्प पर गरम हो सके। इस प्रकार से दी जानेवाली औषधियां कई बार सान्द्र एवं तीक्ष्ण बनाई जाती हैं जिस से पांच या दस बूंद ही देनी पड़ती है। त्वचा

चित्र नं० २५।
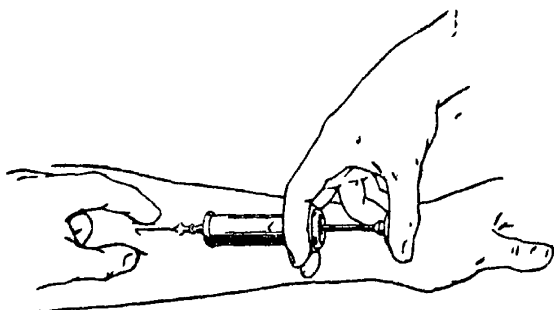
इंजैक्शन देने की विधि।

को अंगुली और अंगूठे से उठाकर सूई को त्वचा के नीचे के तन्तुओं में चुभो देना चाहिये। पिचकारी को त्वचा की तह

के समानान्तर रखना चाहिये* । उपकरण ऐसा होना चाहिये जिस से द्रव बाहर न जाये । साधारणतः इस प्रक्रिया में कुछ दर्द नहीं होता । पिचकारी को ठण्डे पानी में धोकर फिर अलकोहल में धोना चाहिये । तदन्तर कुछ वायु प्रविष्ट होने देनी चाहिये जिस से शुष्क हो जाये । फिर इस को रखने से पूर्व सूई में तार डाल देना चाहिये ।

न्युसालवरसन इंजैक्शन ।

इस में १५ सी. सी. की योग्यता वाली रिकार्ड सीरिञ्ज पर्याप्त है । ०·६ ग्राम (या इस से भी कम कही गई) मात्रा को कमरे की उष्णिमा पर दो बार तिर्यक् पातित दस सी. सी. पानी में घोल लेना चाहिये । फिर पिचकारी में सूई लगाकर दस सी. सी. द्रव खींच लेना चाहिये जिससे वायु निकल आये । प्रकोष्ठ की त्वचा पर आयोडीन लगाकर, भुजा पर दबाव देने से शिराओं को उन्नत† कर लेना चाहिये । और फिर त्वचा में जो शिरा सब से अधिक उन्नत हो उस में सूई चुभो देनी चाहिये । और पिस्टन को थोड़ा पीछे हटाना चाहिये । यदि पिचकारी में रक्त आने लगे तो समझना चाहिये कि सूई शिरा के छेद में है । और पिचकारी के द्रव को शिरा में खाली कर देना चाहिये । सूई निकाल कर सूई के स्थान पर अंगुली से कुछ मिन्टों तक दबाव देना चाहिये । बस शल्य-कर्म समाप्त हो गया, किसी पट्टी की ज़रूरत नहीं ।

स्टमक ट्यूब ।

आमाशय के प्रक्षालन के लिये; विष की अवस्था में; रोगी की इच्छा के न होने पर-भोजन देने में काम आती है । पिछली

---

* इस कार्य के लिये पार्श्व में लगी हुई सूई वाली पिचकारी उत्तम है ।

† (क) नाप्युत्थितां शिरां विध्येत् ।

(ख) नातंत्रितां शिरां विध्येत् नातिर्यक् नाप्यनुत्थिताम् ॥ चक्रदत्त ॥

दोनों अवस्थाओं में बल पूर्वक मुंह खोलना पड़ता है। इस में "स्क्रू गैग" काम में लाया जाता है। इस की भुजा एक बार दांतों में आने पर फिर कोई मांसपेशी रुकावट नहीं डाल सकती। जबाड़ों के खुल जाने पर लकड़ी का साधारण गैग जिस के बीच में छेद होता है, अन्दर बांध सकते हैं।

सब से उत्तम उपकरण रबर की ३० इञ्च लम्बी नली है। जिस की एक भुजा नोकपर-बन्द (अन्धी) होती है। अंतिम सिरे से एक इञ्च की दूरी पर पहला और दो इञ्च की दूरी पर दूसरा छेद होता है। दूसरे सिरे का सम्बन्ध पीक से कर देना चाहिये। नली को ग्लिसरीन से चिकना करके गले के पीछले भाग में से प्रविष्ट करना चाहिये। इस अवस्था में रोगी का सिर साधारणतः पीछे धकेल दिया जाता है। परंतु जब नली का प्रान्त आस्य के पीछे पहुंच जाये तो रोगी को आगे की ओर झुका देना चाहिये। थोड़ा सा दबाव नली को आस्य से नीचे 'लैरिङ्क्स' के पीछे तक पहुंचा देगा—जहां कि एक क्षणिक बाधा आयेगी। जिस के जीतने पर नली अन्न-प्रणाली में से होकर सीधी आमाशय में आ जायेगी। आस्य में प्रविष्ट होने पर रोगी के निगरण क्रिया करने से प्रवेश क्रिया सुगम हो जाती है। उपकरण के सिरे पर यदि उचित मुडाव दिया हुआ है तो इस को ठीक रीति से मध्य रेखा में रखने पर कोई कठिनता नहीं होती।

साधारण आकार की नली श्वास यंत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकती। यदि चिकित्सक देखने के लियें उत्सुक ही हो तो वह अपनी अंगुली नीचे प्रविष्ट कर के देख सकता है। इस की सत्यता एकदम श्वास काठिन्य के लक्षण से जानी जा सकती है। कई बार नली को 'एपिग्लौटिस' के नीचे उतारने में कठिनता होती है। यदि वाम तर्जनी अंगुली को नली के साथ प्रविष्ट करें तो एपिग्लौटिस को ऊपर रोककर नली को

इस के पीछे से गुज़ार सकते हैं। नली के प्रविष्ट हो चुकने पर पीक में पानी भरकर इस को आमाशय से नीचे लाकर दबाना चाहिये । बस एकदम 'साईफन' क्रिया आरम्भ हो जायेगी और आमाशयवर्त्ती पदार्थ नली से बाहर होने लगेगा यदि आमाशय को केवल धोना ही अभीष्ट हो (खाली करना अभीष्ट न हो) तो पीक को रोगी के सिरे से ऊंचा उठाकर एक पाइन्ट गरम बोरिकलोशन या पोटासियम परमैनगनेट का घोल नली में जाने देना चाहिये। फिर भरी हुई पीक को रोगी के पृष्ठ से नीचे एक प्याले में उल्टा करना चाहिये, जिस से आमाशय खाली हो जायेगा। जब तक वापिस द्रव पूर्ण रूप से साफ़ न हो तो इस प्रक्रिया को जितनी बार आवश्यक हो दोहरा सकते हैं।

कई बार नली का छिद्र न पचे हुवे भोजन से रुक जाता है। यदि ऐसा हो जाये तो पानी अधिक मात्रा में डालना चाहिये। जिस से धारा के तेज़ होने से पदार्थ बह जायेगा। यदि इस से साफ़ न हो तो नली निकाल कर के, साफ़ कर के फिर डाल देनी चाहिये। विष की अवस्था में—जहां पर अमूल्य समय के नष्ट होने का भय हो, ऐसी अवस्था होने पर नली द्वारा वामक पदार्थ देना चाहिये और उस को साधारण रीति से क्रिया करने देना चाहिये । यदि रोगी अचेत हो तो इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वामक पदार्थ से श्वास न घुटने लगे। छोटे शिशुवों में लम्बा कैथेटर नली का काम दे सकता है । इस का पीक के साथ-शीशे की नली से चौड़े छिद्र वाली रबर की नली द्वारा सम्बन्ध कर सकते हैं।

शोथयुक्त भाग में छेदन ।

पिटिका, प्रमेह पिटिका, मांसपेशी शोथ, विद्रधि आदि में छेदन आवश्यक होता है। पिटिका (बॉयल) से अभिप्राय

त्वचा की तीव्र स्थानिक शोथ से है, जिस के साथ त्वचा के नीचे का वसा तन्तु भी मिला होता* है। यह स्टैफाइलोकोकस पायोजिनस' का संक्रमण होता है जो कि रोमच्छिद्र के द्वारा प्रविष्ट होते हैं। अथवा 'सिबेशियस ग्लैंड' (स्नेह ग्रन्थि) के द्वारा पहुंचते हैं स्टैफाइलोकोकस जो विष उत्पन्न करते हैं उन के कारण तीव्र शोथ एवं इनफ़िल्ट्रेशन होने से दर्द होता है। इस शोथ के कारण रोमच्छिद्र और समीप के तन्तु मर जाते (निक्रोसिस) हैं। मल भाग के पृथक् एवं स्रावित होने पर तथा चारों ओर की पूय के हटने पर रोहण और पिटिका बनने लगती है। कई बार बाल को हटाकर द्रवीभूत कार्बोलिक एसिड पिटिका में लगाने से अच्छे हो जाते† हैं। यदि यह फेल हो तो पैसिव हाइपरीमिया अर्थात् रुग्ण भाग में दिन में कई बार कुछ समय के लिये कपिंग‡ करना चाहिये।

---

* त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते। शोफ समुत्थाना हि विद्रधि ग्रन्थि अलजी प्रभृतयः प्रायेणाभिधास्यन्ते।

† शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्—त्रिदोषघ्नत्वात् सौम्यत्वाच्च॥
उत्सन्नमांसान्कठिनान्कण्डूयुक्तान् चिरोत्थितान्।
तथैव खलु दुःसाध्यान्साधयेत् क्षारकर्मणा॥

‡ (१) ततः प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृंगेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्। सान्तर्दीपयाऽलाब्वा वा।
(२) जलौकापातनं सर्वेषामेव विद्रधौ।
मधुमेहिनामधः काये पिडिकाः प्रादुर्भवन्ति। अपक्वानां पिडिकानां शोफवत् प्रतिकारः। पक्वानां व्रणवदिति। तैलं तु व्रणरोपणार्थं कुर्वीत। आरग्वधादिकषाय मुत्सादनार्थे। ताभिः शराविकाद्याभिर्नैव पिडिकाभिः। उपद्रुतं प्रमेहिणमुपचरेत्। एवमकुर्वतस्तस्य दोषः प्रवृद्धः मांसशोणितं प्रदूष्य शोफं जनयति। एवमकुर्वतस्तस्य शोफो वृद्धोऽतिमात्ररुजो विदाहमापद्यते। तत्र शस्त्र-

इस चिकित्सा से यदि रोग शान्त न हो—निक्रोसिस हो आये शोथ में पूय हो जाये तो पिटिका का अवश्य छेदन कर देना चाहिये। कपिंग फिर करना चाहिये-और फिर एन्टीसैप्टिक ड्रैसिंग लगाते रहना चाहिये। जिस से विष आगे न फैल सके। रोहण दोनों ओर से आरम्भ होता है। कान के बाह्य छिद्र की या नाक की पिटिका विशेष दुःखदायी होती है। एक छोटा छेदन आराम कर देता है। स्टाई-छोटी पिटिका है जो कि पलकों के बाल की जड़ के संक्रमित होने से होती है। बाल को उखाड़ कर जब तक वह पके नहीं सेक करना चाहिये। प्रमेहपिटिका से साधारण पिटिका संक्रमण की गम्भीरता एवं फैलाव तथा शोथ की परिणाम विधि के कारण भिन्न है। यह त्वचा के निचले तन्तुओं की तीव्र शोथ है, जो कि सल्फ़ और पूय उत्पन्न करने के साथ त्वचा को बहुत से स्थानों पर विद्ध कर देती है। यह प्रायः ग्रीवा पर होता है, जहां से यह शिर के ऊपर पीठ के नीचे फैलता है और चारों ओर कई इञ्च त्वचा को घेर लेता है।

छोटी प्रमेह पिटिका को त्वचा में छेदन कर के कपिंग करने से (घटीयंत्र) ठीक कर सकते हैं। बड़ी पिटिका में गहरा छेदन इतना करना चाहिये कि स्वस्थ तन्तु तक पहुंच जाये। त्वचा को चारों ओर काट देना चाहिये। जिस से मृत भाग नंगा हो जायेगा। जब तक सल्फ न हटजाये गीले गौज़

प्रणिधानमुक्तं मथाक्रियोपसेवा च । एवमकुर्वतस्तस्य पूयोऽभ्यन्तरमवदीर्योत्संगं महान्तमवकाशं कृत्वा प्रवृद्धो भवत्यसाध्यः।

एवं संशोधनालेपसेकशोणितमोक्षणैः।
प्रतिकुर्यात् क्रियायोगैः · ·········· ॥
नायाति यथापाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
सुरसारग्वधाद्याभ्यां कषायाभ्यां परिषेचयेत् ॥

का ड्रेसिंग लगाते जाना* चाहिये। पिटिका एवं प्रमेह पिटिका में भेद रोगी के मूत्र से करना चाहिये। जिस से भोजन एवं इन्स्युलीन की चिकित्सा भी साथ में कर सकें।

मांसपेशी आदि में छेदन अंग की लम्बाई के अनुसार करना चाहिये। काटता हुआ नहीं। सम्पूर्ण मोटाई को काट देना चाहिये, अन्यथा दर्द को किसी भी प्रकार का आराम नहीं होगा। छेदन की लम्बाई के लिये कोई नियम बनाना असम्भव है। परन्तु एक लम्बे छेदन की अपेक्षा कई छोटे छेदन उत्तम† हैं। यदि व्रण गहरा हो तो उसे हल्के रूप में गीले पिचु से भर देना चाहिये। ऊपर से ड्रेसिंग‡ कर देना चाहिये। ड्रेसिंग की सब से गहरी पृष्ठ को जन्तुघ्न घोल में में तर कर देना चाहिये। व्रण के रक्त को पट्टी से वश में कर सकते हैं। सब अवस्थाओं में शल्यकर्म के पश्चात् अंग को उठा कर रखना चाहिये।

विद्रधि।

शोथ में पूय की परीक्षा के लिये सब से उत्तम साधन फलक्च्युपशन है। जो कि अंगुलियों द्वारा पृष्ठवर्ती मांसपेशी में

---

* (१) गम्भीरान्मेदसा जुष्टान्दुर्गन्धान् चूर्णशोधनैः।
उपाचरेद् भिषक् प्राज्ञः श्लक्ष्णैः शोधनवर्त्तिजैः॥

(२) आमतैलपरिषेकं त्रिरात्रमवचारयेत्।
ततस्तैलेन संसृष्टं त्र्यहादपनयेत् पिचुम्॥
न च विकेशिकौषधे अतिस्निग्धे अतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत॥

† महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यंगुलं त्र्यंगुलं वा शस्त्रपदमुक्तम्।
आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते॥

‡ तिलसर्पिर्मधुप्रगाढां वर्त्तिं प्रणिदध्यात्। तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्॥

सुगमता से हो सकता* है । गहरी अवस्था में 'ट्रोकार एण्ड कैन्युला' या 'एक्सप्लोरेटिंग नीडल' से पूय की परीक्षा की जा सकती है । यदि पूय बहुत गाढ़ी है-जो सुगमता से वह नहीं सकती वह कैन्युला में लग जायेगी ।

सब विद्रधियों के खोलने में यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि छेदन मुख्य रचनाओं के समानान्तर जाये, उन को (×) काटता हुआ जाना नहीं चाहिये । शाखाओं में छेदन लम्बे अक्ष में छाती में चूचक के समान, और कक्षा में कक्षा की तह (फोल्ड) के मध्य में समानान्तर† देना चाहिये । यदि कभी मुख्य रचनाओं में (यथा कक्षा में छेदन करना हो तो) "हिल्टन" की विधि काम में लानी चाहिये। त्वचा में छोटा छेदन कर के 'साइनस फौरसिप्स' को तन्तुओं में से विद्रधि में पहुंचा देना चाहिये। वहां पहुंचा कर संदंश को खोल देना चाहिये जिस से कि पूय बह जायेगी।

रोगी के वस्त्रों को पूय से बचाने के लिये "किडनीशेप ट्रे" या 'त्रिकोण ट्रे" काम में लानी चाहिये। प्याले और अन्य सामान को पीछे उबाल लेना चाहिये ।

पूय निकालने पर गुहा को साफ़ कर देना चाहिये। प्रक्षालन नली लगा कर जो ड्रैसिंग करना हो वह कर देना

---

* (क) आध्मातवस्तिरिवाततश्च शोफो भवति ।

(ख) निम्नदर्शनमंगुल्यावपीडिते प्रत्युन्नमनं वस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य ।

† (क) तत्र भ्रूगण्डशंखललाटाक्षिपुटोष्ठदन्तवेष्टकक्षाकुक्षिवंक्षणेषु तिर्यक्छेद उक्तः ।

(ख) चन्द्रमण्डलवच्छेदान्पाणिपादेषु कारयेत् ।
अर्द्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान् ॥

(ग) अन्यथा शिरास्नायुच्छेदनादतिमात्रं वेदना, चिराद् व्रणसंरोहः मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति ॥

चाहिये। विद्रधि को खोलने के पश्चात् अपूर्ण प्रक्षालन के कारण नाड़ीव्रण हो जाता है। जितना सम्भव हो नाड़ीव्रण को पूरा खोल देना* चाहिये। शल्य को निकाल कर व्रण को रोहण क्रिया से भरने† देना चाहिये।

यहां पर कुछ थोड़ी एवं मुख्य विद्रधियों का विचार करना उत्तम होगा।

एल्विओलरएब्सिस या गम बॉयल।

दन्तगुहा के संक्रमण होने से अस्थिधरा कला की शोथ और 'पैरीओडॉन्टाइटिस' हो जाता है। पूय या तो दांत के पार्श्व से आती है या एल्विओलस में छेद कर के आती है। दोनों अवस्थाओं में 'म्यूकोपैरीओस्टियम' के नीचे एकत्रित हो कर शोथ उत्पन्न कर देती है। पूय को बिना दर्द के निकालने के लिये श्लेष्मकला में नौवोकेन दो प्रतिशतक का इंजैक्शन कर देना चाहिये। कई अवस्थाओं में संक्रान्त तन्तु अच्छे हो जाते हैं, और कईयों में नाड़ीव्रण बन जाता है। तब दांत उखाड़ना आवश्यक होता है। कई बार पूय अधोहनु की पृष्ठवर्त्ति दन्तगुहा तक पहुंच जाती है। इस में व्रण त्वचा के नीचे बनता है इस को मुख में से खोलना पड़ता है। पूय हनु के अन्त: भाग में आती है, जिस से अधोहन्वस्थि में व्रण बनता है। त्वचा में से विद्रधि खोली जाये तो एक स्रावित करने वाला नाड़ीव्रण (डिस्चारजिंग साइनस) छूट सकता है। जिसे रुग्ण दांत को निकाल कर रोहण कर देना चाहिये। यदि

---

* (क) तत्रानिलोत्थामुपनाह्य पूर्वमशेषत: पूयगतिं विदार्य।
तिलैरपमार्ग ·· पिष्टै: ससैन्धवैर्बन्धनमत्र कुर्यात् ॥

(ख) निपात्यशस्त्रं खलु नागदन्ति ··।

(ग) निपातयेच्छस्त्रमशेषकारी।

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ता: क्लेदवर्जिता:।

† स्थिराश्च पिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ॥

नाड़ीव्रण रुग्ण दांत से सम्बन्धित हो तो एषणी से ढूंढा जा सकता है। यह नाडी में से जा कर दन्तगुहा में रुकेगा।

जब दांत की जड़ टूट कर वहां रह जाती है उस अवस्था में नाड़ी दांत की जड़ से सम्बन्धित होसकती है। इस मूल का उपरिपृष्ठ "ग्रैन्युलेशन" तन्तु से ढंप जाता है। इस तन्तु के ऊपर पीछे से एपीथीलियम आ जाती है। जिस से मुख के अन्तः परीक्षण पर कुछ भी विकृति नहीं दीखती। इस लिये नाड़ी का स्रोत सन्देह रहित रह जाता है। ऐसा कई सालों तक रह सकता है। जिस से नाड़ी बन्द किये जाने से बच जाती है। इस लिये जब कभी अधोहन्वस्थि के निचले किनारे पर नाड़ी दिखाई देवे तो यह निश्चय समझना चाहिये कि यह अवश्य कृमिदन्त* से जुड़ी हुई है। इस में यदि कोई सन्देह है तो उसे 'एक्स रे' से दूर कर लेना चाहिये। यदि परीक्षा सत्य हो तो दबे हुए भाग को (स्टम्प) एक दम हटा कर कृमिजग्ध अस्थि भाग को खुरच देना चाहिये। नाड़ी सभवतः स्वयं भर जायेगी। कभी२ ऊपर के दांत के 'फैंग' से सम्बन्धित विद्राधि भी मिलती है।

---

* (१) सामान्यं कर्म नाडीनां विशेषं चात्र मे शृणु।
यं दन्तमधिजायेत नाडीं तं दन्तमुद्धरेत्॥
छित्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत्।
शोधयित्वा दहेद्वापि क्षारेण ज्वलनेन वा॥
भिन्नस्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थिगतिर्ध्रुवम्।
समूलं दशनं तस्माद् उद्धरेद् भग्नमस्थि च॥
उद्धृते तूत्तरे दन्ते शोणितं प्रस्रवेदति।
काणः संजायते जन्तुरर्दितं तस्य जायते॥

(२) तैलसंशोधनं तद्धि हन्याद्दन्तगतां गतिम्।

(३) चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेच्छुषिरस्य च।

(४) जयेद् विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्॥

यह प्रायः दूसरे चर्वक (बाईसिप्ड) या प्रथम खनक (मोलर) में होती है, जो कि 'हाईमोर के एन्ट्रम' (गुहा) तक पहुंच सकती है।

लुडविग्स एनजाइना।

यह ' स्ट्रैप्टोकॉकल" का तीव्र संक्रमण होता है। जो कि मुख के फर्श के तन्तुओं में होता है। एवं संक्रमण हन्वस्थि के निचले गम्भीर तन्तुओं में होता है। यह मुख के फर्श की सूजन के फैलने से या मसूड़े के विष के फैलने से होता है। मुख के फर्श एवं हनु के नीचे भूरे रंग की शोथ उत्पन्न हो जाती है। जिह्वा ऊपर की ओर तालु पर आ लगती है। सन्धि, निगरण एव कभी २ श्वास में भी विषमता आ जाती है। इस के लिये उचित रूप में हन्वस्थि के अधो-क्षेत्र में स्वतंत्र एवं गहरा छेदन करना चाहिये। एन्टीस्ट्रैप्टो-कॉकाई सीरम को सूचीवेध द्वारा देना चाहिये। और यदि सम्भव हो तो ट्रेकिओटॉमी करनी चाहिये।

एक्यूट रीट्रोफैरिंजीयल एबसिस।

प्रायः यह शिशुओं में मिलता है। इस का कारण एतद्देशीय ग्रन्थियों का संक्रमण है। यह संक्रमण कान से या नासा गुहा के पश्चिमीय भाग से अथवा रीट्रोफैरिंजीयल तन्तु में सीधा संक्रमण होने से (जो कि व्रण से—यथा मछली की अस्थि से) होता है। यह प्रायः पश्चिमीय रीट्रोफैरिंजीयल शोथ से आरम्भ होता है। यह टौंसिल की सतह के अग्रभाग में में होती है। यदि यह फैले तो ऊपर और नीचे फैल कर मध्यरेखा को पार कर के श्वास एवं निगरण में काठिनता उत्पन्न कर देता है। श्लेष्मकला में छेदन कर के विद्रधि को खोल देना चाहिये। शिशु का शल्यकर्म सिर को फलक से लटकाते हुए करना चाहिये। जिस से पूय का अन्तः श्वास न हो। छेदन विद्रधि की लम्बाई तक होना चाहिये, जिस को पूर्ण खोल देना चाहिये।

स्तन्यविद्रधि* ।

यह स्त्रियों में दूध पिलाने के समय होती है। परन्तु बचपन में या यौवनारम्भ के समय दोनों लिंगों में भी मिलती है। यह या तो स्तन के ऊपर त्वचा के निचले तन्तु में बनती है (सुप्रामैमरी) या स्तन के अन्दर (इन्फ्रामैमरी) अथवा स्तन के निचले एरीओलर तन्तु में (सब मैमरी) बनती है।

यह सब संक्रमण जन्य है। विष या तो शोथ से जाता है अथवा फटी चूचियों से लसीकावाहिनियों में या प्रणाली में पहुंचता है। इन सब में "सबमैमरी" विद्रधि मुख्य है। कारण—इस विद्रधि का प्राकृतिक स्वभाव क्षय है, एवं यह खोखली पसलियों (केरिअस) से संयुक्त होता है। इन्ट्रामैमरी स्तन के निचले तन्तुओं में खुलता है। सुप्रामैमरी एबसिस का कोई विशेष आकार नहीं होता-इस को जल्दी पहिचान कर छेदन से अच्छा कर सकते हैं। इस में ड्रेनिंग लगवा देना चाहिये। सब मैमरी विद्रधि स्तन्य को बहुत कम आगे की ओर धकेलता है। इस के लिये सब से उत्तम मार्ग स्तन्य के नीचे छेदन करना है। इन्ट्रामैमरी विद्रधि भी कम मुख्य नहीं। यह या तो एक होती है अथवा बहुत सी मिल कर एक बड़ी विद्रधि का रूप बना लेती हैं। इन को स्तन की शोथ, रक्तिमा, त्वचा के भूरेपन से पहिचान सकते हैं। "फ्लक्च्युएशन" प्रायः कठिन होता है अतः उस की प्रतीक्षा करने के लिये रुकना उचित नहीं। पूय का सन्देह होते ही चूचक की दिशा में गोल छेदन कर के पूय निकाल देनी

---

* महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवायतम्। तामाहुः विद्रधिं धीराः।
शोफसमुत्थाना हि ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः॥

† (क) धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः।
दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः॥

चाहिये। अंगुली डाल कर व्रणों की मध्य की भित्ति तोड़ देनी चाहिये। इस से संतोषजनक प्रक्षालन हो सकेगा। यदि आवश्यक हो तो एक बड़ा छेदन कर के ड्रेनिंग ट्यूब लगा देनी चाहिये। यदि बहुत से भिन्न २ व्रण हों तो पृथक् २ छेदन करना चाहिये। विद्रधि का लेखन एवं इस को स्वच्छ कर के बोरिक फोमन्टेशन अथवा गौज़ ड्रैसिंग लगाना चाहिये।

एक्ज़िलरी एबसिस।

यह या तो पृष्ठवर्त्ती होते हैं या गम्भीर। पृष्ठवर्त्ती विद्रधि पिटिका से बहुत मिलती है। यह रोमकूप के संक्रमण से होते हैं। यह बहुत जल्दी स्वस्थ होते हैं। कक्षा में नीचे की तन्तु विदीर्ण ही रहता है। इस में पूय गुहा होती हैं। पूय बहुत से छोटे २ छिद्रों वाली (पिनहोल) नाड़ी से बहती रहती है। इस के लिये चिरकालीन सब नाड़ियों को भली प्रकार खोल कर लेखन कर देना चाहिये। पतली नीचे की त्वचा को काट देना चाहिये। और व्रण को भर देना चाहिये जिस से रोहण तले से हो।

कक्षा की गम्भीर विद्रधियों का स्रोत प्रायः लसीकाजन्य होता है। संक्रमण का स्रोत प्रायः अंगुली होती है। परन्तु भुजा के ऊपर के भाग (प्रगण्ड) और छाती से भी विष

तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां तु ताः पुनः।
स्वभावादेव विवृत्ता जायन्ते सम्भवन्त्यतः॥

(ख) रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग् विदध्यात् यद् विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम्॥
पक्वे च दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः कृष्णं च चूचुकयुगं निदधीत शस्त्रम्॥

(ग) धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत।

पहुंच सकता है। विष कक्षा की ग्रन्थि से बच कर चारों ओर के सैल्युलर तन्तु में पहुंच कर गम्भीर फेशियां के नीचे एक बड़ी विद्रधि उत्पन्न कर देता है, जिस में कि शीघ्र ही स्थानिक एवं व्यापक रूप में पूय के चिह्न आ जाते हैं। कक्षा की विद्रधि को खोलने के लिये मुख्य वाहिनी एवं नाड़ियों का ध्यान रखना चाहिये। छेदन के लिये सब से अच्छा स्थान कक्षा की तहों के मध्य में है। वसा और त्वचा में छेदन पर्याप्त करना चाहिये। विद्रधि को हिल्टन की विधि से खोलना चाहिये।

शोथयुक्त वंक्षणग्रन्थि।

प्रायः यह शिश्न की नर्म चांदी (सौफ्ट शैंकर) में मिलते हैं। विष ग्रन्थि की पैरिफ़्री में पहुंच कर बहुत से भिन्न२ स्थानों में शोथ उत्पन्न कर 'पैरिएडिनायटिस' उत्पन्न करता है। कई रोगियों में व्यापक तीव्र लक्षण यथा-उग्रज्वर भी होता है और कइयों में पूय बनने तक व्यापक लक्षण बहुत कम होते हैं। प्रारम्भ होते ही आराम, वंक्षण में गरम सेक आरम्भ कर देना चाहिये। पूय बनने पर पूय निकालने का यत्न करें। सुई को विद्रधि के केन्द्र में न चुभो कर स्वस्थ त्वचा में चुभोना चाहिये। अन्यथा नाड़ीव्रण बन जायेगा, जिस से पूय बहती रहेगी। दूसरे दिन फिर स्राव करना चाहिये, और जब तक पूय बनना बन्द न हो करते रहना चाहिये*। कई अवस्थाओं में छेदन आवश्यक हो जाता है।

---

* (१) जलौकापातनं शस्तं सर्वास्मिन्नेव विद्रधौ।
स्वेदयेत्सततं चापि निर्हरेच्चापि शोणितम्।
स चेदेवमुपक्रान्तः पाकाभिमुखो भवेत्॥
तं पाचयित्वा शस्त्रेण भिन्द्याच्छिन्नं च शोधयेत्।
पञ्चमूलकषायेण.................. ॥

हाथ और अंगुलिका विषजन्य संक्रमण ।

इस रोग की चिकित्सा में जहां व्यापक संक्रमण होने का भय है वहां हाथ की स्थाई अयोग्यता का भी भय है। बहुत से संक्रमण व्रण की साधारण चिकित्सा से ही रोके जा सकते हैं। परन्तु कई जिन को छोटा समझ कर उपेक्षा कर दी जाती है, वे भयानक रूप धारण कर लेते हैं।

सब से साधारण संक्रमण त्वचा के नीचे का है। इस में पूय त्वचा के नीचे, सच्ची त्वचा में बन निक्रोसिस क्षेत्र में, अथवा संयोजक तन्तु में, छोटी विद्रधि के रूप में एकत्रित हो जाती है। चिकित्सा के लिये त्वचा को काट देना चाहिये। आवश्यक हो तो त्वचा के नीचे की विद्रधि को खोल देना चाहिये।

इस समूह में मुख्य भेद नाखून का है, जब कि नाखून के स्वतन्त्र किनारे पर नख को काट डालना चाहिये। परन्तु जब नख के आधार की अवस्था हो तब संज्ञालोप करके नख निकाल देना चाहिये। नख निकालते समय नख के बिस्तर को क्षति नहीं पहुंचानी चाहिये। इस के लिये नख के आधार पर आई हुई त्वचा को एक पार्श्व में काट कर ऊपर को उठा देना चाहिये। नख को हटा कर पैराफ़ीन में भिगो कर एक वर्त्ती रख देनी चाहिये। इस से त्वचा नीचे नख पर नहीं गिरेगी। यदि यह सब उत्तमता से हो गया तो प्रक्षालन भी उत्तमता से होगा।

मांसपेशी के शोथ के नाम से कहे जाने वाला भेद यदि अंगुलियों के बीच के क्षेत्र में हो तो पर्वों को भी रुग्ण कर देता है। और कई बार (परन्तु बहुत कम) सिरे की सन्धियां भी आक्रान्त हो जाती हैं। यह प्रायः शल्यकर्म की लापरवाही से होता है। प्रारम्भ में इस की चिकित्सा गरम पानी में देर तक हाथ रखने से ही की जा सकती है। गरम

पानी की डेगची रोगी के पार्श्व में रख कर उसमें नवीन पानी मिलाते रहना चाहिये। कई बार अन्तर में लगाई हुई "बीर्स बैण्डेज (पट्टी) शोथ को कम कर देती है । विशेषतः यदि अंगुलि को विश्राम दिया जा रहा है।

पर्वों तक संक्रमण के फैलने का निश्चय करना कठिन है। और जब तक अंगुलिच्छेदन न किया जावे इसका निर्णय नहीं हो सकता। छेदन गुहा के एक या दूसरे पार्श्व में कर के विद्रधि को पूर्ण खोल देना चाहिये। इसको साफ़ करके पैराफ़ीन से तर पिचु से भर देना चाहिये। यदि पूय अस्थि-धरा के नीचे हो तो अस्थि को नंगा करना चाहिये।

अंगुलियों की मध्यवर्त्ती सन्धियां प्रायः आक्रान्त नहीं होतीं और जब संक्रान्त होती हैं तो लगातार पूय उत्पन्न हो जाती है। सन्धि विकृत हो जाती है। पार्श्विक गति असाधारण होती है। रोहण चिरकाल में होता है और जब होता है तब अस्थि-जन्य "एङ्कलोसिस" बनता है । इसकी उत्तम चिकित्सा अंगच्छेद है।

कटी हुई अंगुली को रोहण द्वारा संक्रमण से बचाना कठिन है। व्रण को अस्थायी रूप में पिचु से भर देना चाहिये। और यदि दूसरे दिन स्वच्छ रहे तो टांकों के द्वारा सी देना चाहिये।

छोटे विद्ध व्रण से प्रायः कण्डरा आवरण में संक्रमण हो जाता है। पर्वों का मिश्रित भंग (कम्पाऊन्ड फ्रैक्चर) या त्वचा के सूक्ष्म क्षत से लसीकाजन्य फैलाव और शल्यकर्म की लापरवाही। प्रायः अंगुली में मांसपेशी शोथ को उत्पन्न नहीं करती। प्रायः कर के यह संक्रमण "स्ट्रैप्टोकौकल" होता है। आवरण की शरीररचना अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये। अर्थात् तर्जनी एवं अनामिका और मध्य अंगुली के आवरण का कलाई के फ्लैक्सर टन्डन के सर्वसाधारण आवरण से

कोई सम्बन्ध नहीं है । यह केवल करांगुलीमूलशलाका के सिरों तक ही जाता है । अतः संक्रमण बहुत कम हथेली में फैलता है । दूसरी तरफ़ कनिष्ठिका और अंगूठे का आवरण सर्वसामान्य हथेली के आवरण के साथ २ सीधा चला गया है अथवा इस से मिल गया है । इस लिये परिणामस्वरूप एक या दोनों आवरण अर्थात् साधारण हथेली का आवरण या 'फ्लैक्सर लौंगस पौलिसिस' का आवरण संक्रान्त हो सकता है ।

जब अंगुली का आवरण आक्रान्त हो जाता है तो रोगी तीव्र दर्द की शिकायत करता है । साधारणतः इस अवस्था में कुछ ज्वर, एवं अंगुली कुछ थोड़ी मुड़ी, आवरण पर दबाने से दर्द, कठोरता, करांगुलीमूलशलाका के सिर पर (जहां पर यह पहुंचता है) उस स्थान पर विशेष रूप में लक्षण होते हैं । अन्तिम पर्व को मोड़ने की शक्ति नष्ट हो जाती है । अंगुली को सीधा करने में दर्द होती है । जब हथेली का सर्व सामान्य आवरण आक्रान्त हो जाता है तो लक्षण विशेष रूप में स्पष्ट होते हैं । ऐन्युलर लिगामैण्ट' के ऊपर कम्पाउन्ड शीथ को दबाने से दर्द होती है । जिससे अंगुलियों एवं अँगूठे में भी दर्द की प्रतीति होती है ।

कण्डरा के आवरण से अथवा ''लम्ब्रीकल मसल्स'' से जाने वाली कुल्या में से संकमण अंगुली से हथेली में पहुंच जाता है । और जब हथेली मध्य, अनामिका या कनिष्ठिका अंगुली से संक्रांत हो तो पूय हथेली के मध्य भाग में (कैने- वल) मिलती है । इस के सामने की ओर 'फ्लैक्सर टन्डन शीथ' है और पीछे करांगुलीमूलशलाका एवं 'इन्टैरोसी' है । यह बाहर के पार्श्व में मध्यमांगुली की करांगुलीमूलशलाका को पार नहीं कर सकता । जब इस भाग में पूय भर जाता है तो सारी हथेली कठोर, दर्द युक्त हो जाती है । हथेली के

आवरण (फेशिया) के कारण कोई रक्तिमा नहीं होती परन्तु थोड़ा श्वयथु होता है, जब लक्षण हथेली के पृष्ठवर्त्ती भाग पर भी पहुंच जायें तो विद्यार्थी यह समझने लगता है कि पूय करांगुलीमूलशलाका के बीच में है।

तर्जनी और अंगुष्ठ की अवस्था में पतला भाग आक्रान्त होता है। इस के सामने पतली मांसपेशियां हैं और पीछे मिलाने वाले ट्रान्सवर्स और ओबलीक पेशियां हैं। इस की सीमा अन्तःपार्श्व में मध्यांगुली की करांगुलीमूलशलाका तक ही रहती है।

चिकित्सा—(हथेली के मध्यक्षेत्र की विद्रधि की)—इन का प्रक्षालन उत्तम रूप में आक्रान्त ल्युम्बिकल कैनाल' के ऊपर से आरम्भ कर के 'फ्लैक्सर टैन्डन' के बीच में एक इञ्च छेदन * करने से कर सकते हैं। कुछ दिनों के लिये पैराफ़ीन में तर पिचु रखना उत्तम है। पृष्ठ पर छेदन बहुत कम आवश्यक होता है।

पतले स्थान की अवस्था में छेदन पृष्ठ पर अंगुष्ठ की तह में एवं सामने द्वितीय करांगुलीमूलशलाका की ओर गहरा होना चाहिये।

जब संक्रमण कनिष्ठिका अंगुली के कण्डरा-आवरण में हो तो यह 'एन्युलर' स्नायु के नीचे "फ्लैक्सर टैन्डन के कम्पाऊन्ड शीथ' तक पहुंच जाता है। "फ्लैक्सर लौंगस पॉलिसिस" (करांविवर्त्तनी दीर्घा) के आवरण की अवस्था में यह कई बार एन्युलर लिगमैन्ट (स्नायु) के नीचे ही रह जाता है। एवं कम्पाऊन्ड शीथ को संक्रान्त नहीं करता; परन्तु कई अवस्थाओं में दोनों संक्रान्त हो जाते हैं।

पूययुक्त "टीनो सायनोवायटिस" की चिकित्सा में रोगी का व्यापक रूप में संज्ञालोप करना चाहिये। स्थान को टौर्नी-

---

* यन्द्रमवडलवच्छेदान्पाणिपादेषु कारयेत् ॥

क्लैट द्वारा रक्त रहित कर लेना चाहिये। अंगुली की अवस्था में आवरण को सम्पूर्ण लम्बाई में छेदन कर देना चाहिये। यदि हथेली के मध्य में, मध्यमांगुली के पार्श्व में विष कुछ फैला दिखाई देवे तो विशेषतः खोल देना चाहिये। व्रण को पैराफ़ीन के पिचु से भर कर फलक बांध देना चाहिये; जिस से अंगुली सीधी रहे।

जब कनिष्ठिका का आवरण आक्रान्त हो जाये (जिस के साथ कम्पाउन्ड शीथ भी संक्रान्त हो) तो कम्पाऊन्ड शीथ को खोल देना चाहिये। प्रायः यह आवश्यक होता है कि एन्युलर स्नायु काटा जाये। इस के लिये छेदन अन्तःपार्श्व में करना चाहिये। जिस से मीडियन नर्व (मध्य नाडी) को क्षति नहीं पहुंचेगी।

छेदन एन्युलर स्नायु से एक इञ्च की दूरी तक होना चाहिये। "कम्पाउन्ड शीथ" के ऊपर के भाग को धोने के लिये सब से उत्तम छेदन अन्तःप्रकोष्ठास्थि के सामने के भाग का है। 'फ्लैक्सर कार्पी अलनेरिस" का अस्थि के साथ सम्बन्ध काट देना चाहिये। 'अलनर आर्टरी' और नर्व के पीछे से आवरण तक पहुंचा जा सकता है।

"फ्लैक्सर लौंगस पौलिसिस" के संक्रमण की अवस्था में इसे सम्पूर्ण लम्बाई में नंगा नहीं करना चाहिये। चूँकि इस को काटते हुए 'मीडियन नर्व" की शाखा कट जायेगी। इस लिये दो छेदन करने चाहियें। एक अँगूठे पर और दूसरा मीडियन नर्व के पृष्ठ से ऊपर।

प्रकोष्ठ की पेशियों तक संक्रमण-यह एन्युलर स्नायु के निचले आवरण के संक्रान्त होने से होता है। प्रथम पूय 'फ्लैक्सर प्रोफ़न्डस डिजिटोरम" के सामने की ओर' 'प्रोनेटर क्वाड्रेटस" एवं "इन्टर ऑसियस मैम्ब्रेन" के पीछे और ऊपर की ओर अलनर नर्व या मीडियन नर्व के आगे की ओर

प्रकोष्ठ तक पहुंचती है।

इतने फैलाव में व्यापक लक्षण—ज्वर, प्रकोष्ठ का शोथ आदि लक्षण हो जाते हैं। परन्तु पूय के गहरा होने से प्रथम आक्रमण परिवर्त्तनों को स्पष्ट नहीं कर सकता। अतः प्रथमावस्था में रोग छिपा रहता है।

ऐसी अवस्था में छेदन प्रकोष्ठ में "फ्लैक्सर कार्पी अलनेरिस" और 'फ्लैक्सर सबलिमिस डिजिटोरम"के मध्य में करना चाहिये। छेदन का स्वरूप ऐसा रखना चाहिये कि प्रक्षालन-नली के बिना ही विद्रधि की सम्पूर्ण लम्बाई से प्रक्षालन हो सके।

जल्दी रोहण के लिये उष्णिमा(रैडियन्ट कार्बन इलैक्ट्रिक बल्ब) बहुत उत्तम है। विशेषतः प्रथम कुछ दिनों के लिये उत्तम है। रोगी को अंगुलियों की गति करने के लिए उत्साहित करते रहना चाहिये।

कण्डरा शीथ के संक्रमण पर क्रियाओं के विषय में पूर्व कथन करना अच्छा नहीं। बहुत कम अवस्थाओं में (मृदु-विष की अवस्था में ही) कण्डरा अपने आवरण से जुड़ती हैं। प्रायः चिरकाल तक कण्डरा निर्बल एवं दूषित पृष्ठ वाली रहती है।

एक्यूट सप्युरेटिव बर्साइटिस

प्रायः 'प्रीपेटैलर' और 'ओलीक्रैनन बर्सी (कोष) आक्रान्त होते हैं। रुग्ण भाग दर्द युक्त होता है, गति से दर्द और भी बढ़ जाती है। ऊपर की त्वचा लाल, शोथयुक्त एवं कभीर उष्ण भी होती है। कई बार 'फ्लैक्च्युएशन" भी प्रतीत होता है। इन लक्षणों के साथ व्यापक विष के भी लक्षण होते हैं। यथा—ज्वर, नाड़ी की गति बढ़ी, भूख नष्ट, मलबन्ध होता है। यदि कोष को खोला न जाय तो पूय चारों ओर के तन्तुवों में फूट जाती है। प्रायः बहुत कम अवस्थाओं में पूयजन्य

सन्धिशोथ (सप्युरेटिव आर्थरायटिस) उत्पन्न करती है। इस के कारण या तो शुष्क शोथ उत्पन्न होती है अथवा सन्धि में सीरस द्रव उत्पन्न होता है। जो कि देखने में 'ऐरीसिपैलस" से मिलती होती है। किनारे का निश्चित न होना, तुलना की दृष्टि से व्यापक लक्षणों में मन्दता, ऐरीसिपैलस को पृथक् कर देते हैं। जब पूय कोष से चारों ओर के तन्तुवों में चली आवे तो पृष्ठ के तन्तु में भूरी शोथ उत्पन्न कर के (कई बार पूय के फैलने से पूर्व भी) 'सैल्युलायटिस' (मांसपेशी शोथ) का भ्रम करा देती है।

कोष की चिकित्सा विद्रधि की भांति करनी चाहिये। भली प्रकार खोल कर साफ़ कर देना चाहिये। यदि गुहा फैली हो तो एक से अधिक छेदन करना आवश्यक है।

ऐरीसिपैलस।

यह विशेष रूप में पृष्ठवर्त्ती लसीकावाहिनियों का संक्रमण है। रुग्ण प्रदेश की त्वचा चमकती लाल, और रोग के किनारे बढ़ने के स्वभाव वाले होते हैं। किनारे निश्चित होते हैं। पिछली अवस्था में पृष्ठ पर छाले आ जाते हैं। अण्डकोष और पलकों को छोड़ कर शोथ कम होती है। विष के कारण तीव्र विष के लक्षण—यथा-ऊंचा तापपरिमाण, बेचैनी, मलबन्ध आदि लक्षण होते हैं। प्रायः बहुत कर के गम्भीर रचना आक्रान्त होती है। जिस से निक्रोसिस और पूय उत्पन्न हो जाती है। चिकित्सा का उद्देश रोगी की दर्द कम करना, नींद लाना, आंतों को स्वच्छ रखना और रोगी की ताक़त बनाये रखना है। इस में क्युनीन को प्रायः मैगनेशियम सल्फेट के साथ देते हैं। एन्टीस्ट्रैप्टोकोकाई सीरम उत्तम है। जब कोई भाग आक्रान्त हो जाये तब रोगी को जिस से आराम मिले वैसा शीत या उष्ण परिषेक करना चाहिये। इस रोग की वृद्धि को रोकना सन्देहयुक्त होता है। वृद्धि को रोकने

फ्लैक्साइल कोलोडियन या लैनोलीन में बना कार्बोलिक एसिड का प्रलेप*(१/१००) काम में लाना चाहिये । पूय के उत्पन्न होने पर रचना के गम्भीरतम तन्तुओं में छेदन करना चाहिये।

इस रोग की चिकित्सा में रक्तोघ्न उपाय अवश्य काम में लाने चाहियें ।

चिरकालीन विद्रधि (क्रौनिक एबसिस)

यह प्रायः यक्ष्मा§ की होती हैं। साधारणतः इनकी उत्पत्ति किसी अस्थि या लसीकाग्रन्थि के रोग से होती है। यदि विद्रधि ग्रन्थि से (प्रायः ग्रीवा की) सम्बन्धित हो, एवं त्वचा में फूट आये तो इसकी चिकित्सा आचारिक को करनी पड़ती है । यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि ग्रन्थि गम्भीर आवरण के नीचे स्थित है । विद्रधि, इस ग्रन्थि और त्वचा के बीच में होती है । एक गम्भीर छिद्र द्वारा-जो कि गम्भीर आवरण में से होकर जाता है—यह ग्रन्थि से मिलजाती है । इसलिये ग्रन्थि को सम्पूर्ण रूप में बिना† निकाले विद्रधि को खोल कर

* क्रियां कुर्याद् भिषक् प्राज्ञः त्वक्पाकस्य विसर्पवत् ।

१ प्रपौण्डरीकं मधुकं पयस्या मञ्जिष्ठिका पद्मकचन्दने च ।
सुगन्धिका चेति सुखाय लेपाः पैत्ते विसर्पे भिषजा प्रयोज्याः ।

२ न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसशेलुभिः ।
चन्दनद्वयमञ्जिष्ठायष्टीशूरणगैरिकैः ।
शतधौतघृतोन्मिश्रैः लेपो रक्तप्रसादनः ॥

§ कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ॥

† ग्रन्थिष्वथामेषु भिषग् विदध्यात् ।
शोफक्रियां विस्तरशो विधिज्ञः ॥

विदार्य वा पक्वमपोह्य पूयं ।
प्रक्षालयेत् कषायेण वनस्पतीनाम् ॥

प्रक्षालन करना व्यर्थ है । यह कभी नहीं रोहण कर सकता। विद्रधि में छेदन करके गुहा को स्लोत से साफ़ करना चाहिये । छिद्र को ग्रन्थि में से पूय आने के कारण सुगमता से पहिचान सकते हैं । छेद को बढ़ा कर ग्रन्थि का लेखन कर देना चाहिये । अब प्रक्षालननलिका लगा देनी चाहिये और व्रण का कुछ भाग बन्द कर देना चाहिये। जहां पर विद्रधि के सब रुग्ण तन्तु पूर्ण रूप से साफ़ कर दिये गये हों वहां व्रण को पूर्ण रूप में बन्द कर सकते हैं । गुहा पुनः न भरे इसके लिये दबाव काम में लाना चाहिये ।

एक्यूट इन्फैक्शन औफ़ दी एण्ट्रम औफ़ हाईमोर

यह अवस्था प्रायः इन्फ्लुएंज़ा (दूषित प्रतिश्याय) के कारण होती है । इसकी पहिचान गाल में चुभती हुई वेदना, आंख के चारों ओर और रुग्ण पार्श्व के ऊपर के ज़बड़े के दांतों में तीव्र दर्द होने से कर सकते हैं ।

दर्द प्रातःकाल बड़े तीव्र रूप में होती है । दो घण्टे के पश्चात् कम होने लगती है । गण्डास्थि (मोलर बोन) या 'कैनाईन फोसा' पर दबाव देने से दर्द बढ़ जाती है । प्रायः नाक की श्लेष्मकला और गाल में शोथ एवं श्वयथु होता है । गुहा (एण्ट्रम) की पश्चिम भित्ति फूल कर नाक में आजाती है । इसमें ज्वर तथा संक्रामक विष के अन्य व्यापक लक्षण हो जाते हैं । साधारणावस्था में प्रकाश को गुज़ारने से तत्क्षण आंख के ठीक नीचे अर्धचन्द्राकार प्रकाश दिखाई देता है परन्तु इस अवस्था में प्रकाश या तो पार ही नहीं जाता या धुन्धला जाता है या कम जाता है; यही इसके पहिचान की परीक्षा है । दबाने से उत्पन्न होने वाली दर्द एवं अन्य व्यापक लक्षण स्रावयुक्त एण्ट्रम के फूलने से भी हो सकते हैं ।

दस प्रतिशतक कोकीन के घोल में भीगा पिचु कुछ

मिनटों के लिये दिन में एक या दो बार मध्यच्छिद्र के नीचे प्रविष्ट करना चाहिये। यदि लक्षण इन्फ्लुएन्ज़ा के पीछे हों और श्लेष्मा के रुकने से पैदा हुए हों तो कोकीन के प्रयोग से श्लेष्मकला सिकुड़ जाती है तथा एण्ट्रम में स्थायी छिद्र हो जाता है, जिससे रुका हुआ स्राव बहता रहता है। यदि इस चिकित्सा से लाभ न हो और पूय मध्यछिद्र के नीचे से बहती हो तो नाक की बाह्य दीवार में से शुक्तिकास्थि (इन्फीरियर टर्बीनेट बोन) के नीचे से ट्रोकार कैन्युला को गुहा (एण्ट्रम) में प्रविष्ट करना चाहिये। गुहा को सैलाइन घोल से धोना चाहिये। यदि इससे भी आराम न हो तो शल्यकर्म करना चाहिये।

पैरीटौंसिलर एबसिस

इसे कई बार टौंसिल की ही विद्रधि समझा जाता है। इस में "सुप्राटौंसिलर रिसैस" में पूय एकत्रित हो जाती है, जिससे टौंसिल नीचे, अन्दर की ओर एवं फॉसिज़ का एन्टीरियर पिलर आगे की ओर च्युत हो जाता है। इस में दर्द, निगरण में काठिन्य तथा अन्य व्यापक लक्षण होते हैं। एन्टीरियर पिलर में से छेदन कर के विद्रधि को खोलना चाहिये। इस में तीक्ष्ण वृद्धिपत्र (बिस्ट्री) काम में लाना चाहिये। चाकू का पिछला भाग नीचे एव बाहर की ओर रखना चाहिये। छेदन ऊपर एवं अन्दर की ओर बनाना चाहिये। चाकू को निकालते समय ओष्ठ को कटने से बचाना चाहिये। यदि इस विधि से छेदन किया जाये तो 'इन्टर्नल कैरोटिड आर्टरी' के छेदन का कुछ भी भय नहीं होता।

पूय बह जायेगा, कुछ रक्तस्राव भी होगा, जो शीघ्र रुक जायेगा। रोगी को चाहिये कि वह अपने मुख को दिन में कई बार "स्वच्छ करने वाले घोल" से धोये।

टौंसिल का काटना।

टौंसिल बढ़ कर फॉसिज़ के एन्टीरियर पिलर से बाहर आ जाते हैं। कई बार ये उपरोक्त रचना के स्तर के अन्दर ही सर्वथा छिपे रहते हैं। प्रथमावस्था में हनुकोण के ठीक नीचे से दबाव देने पर और भी अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। परन्तु दूसरी अवस्था में एएटीरियर पिलर भी अन्दर की ओर च्युत हो जाता है और टौंसिल का मुख्य भाग भी पूर्ववत् सर्वथा छिपा रहता है।

जब टौंसिल बड़े होते हैं तो आवश्यक होता है कि चाकू के एक ही छेदन से काट दिये जायें। परन्तु जब बहुत सा भाग छिपा हो तो सम्पूर्ण रूप से निकालना कठिन होता है। इस में एक से अधिक बार काटना पड़ता है। साथ में एन्टीरयर पिलर का भी कुछ भाग काटना आवश्यक होता है। यही बात मुख के अन्दर की ओर से "वलसैलम फौरसिप्स" द्वारा आकर्षण करने में भी होती है।

कोई भी विधि काम में लाई जाय-रोगी को सब अवस्थाओं में पीठ के भार लेटा कर तकिये से स्कन्धों को ऊंचा कर देना चाहिये। इससे ग्रीवा और शिर का प्रसार हो जायगा। जब पूर्ण रूप से संज्ञालोप हो तो सुरक्षित रूप में मुख को खोलना चाहिये और जिह्वा के पीछे धागे को गुज़ार कर जिह्वा को बाहिर की ओर खींचे रखना चाहिये। ग्रीवा के पिछले भाग में पूर्ण प्रकाश पहुंचना चाहिये। बहुत से लम्बे संदशों में पिचु रख कर तय्यार रखने चाहियें। इन पिचुओं को जन्तुघ्न बनाये रखना चाहिये। संज्ञालोप करने वाले एवं अशुद्ध हाथ वाले व्यक्ति को गले में पोंछने के लिये कपड़ा वा पिचु नहीं लगाने देना चाहिये।

टौंसिलोटोम का उपयोग

यह कई प्रमाण का बना होता है। चाकू-जो कि रेखा में काम करता है—इस प्रकार से सुरक्षित रहता है कि वह छल्ले में से (छिद्र में से) बढ़े हुए तन्तु को ही काट सकता है। हत्थे को हथेली और अंगुलियों से पकड़ कर अंगूठे द्वारा गिलोटीन को वापिस घर में ले आना चाहिये। सहायक को चाहिये कि रोगी के शिर को स्थिर रक्खे और इसी समय हनुकोण के नीचे दबाव डाल कर टौंसिल को अन्दर की ओर च्युत करके उसी अवस्था में स्थिर रक्खे।

यदि "वलसैलम" काम में लाया गया है तो दांतों वाले सिरों को टौंसिलोटोम के छल्ले में से गुज़ार कर टौंसिल को पकड़ लेना चाहिये। वाम टौंसिल को काटते समय वलसैलम बायें हाथ में और टौंसिलोटोम दक्षिण हाथ में पकड़े। इसका हत्था बाहर की ओर उठा रहना चाहिये। "गिलोटीन" के छल्ले को अब टौंसिल के ऊपर गुज़ारा जाता है और छल्ले के निचले किनारे को जितना सम्भव होता है उतना बाहर की ओर धकेल दिया जाता है। यह क्रिया हत्थे को ऊपर और अन्दर की ओर दबाने से हो जायेगी। गिलोटीन को अब घर में ले आना चाहिये। यदि सब कार्य ठीक हो गया तो सम्पूर्ण टौंसिल कट* जायेगा। एक पिचु तत्क्षण टौंसिल के

---

* अंगुष्ठांगुलिसन्दंशेनाकृष्य गलशुण्डिकाम् ।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम् ॥
नोत्कृष्टां नैव हीनं च त्रिभागं छेदयेत् भिषक् ।
आत्यादानात्स्रवेद् रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च ॥
हीनच्छेदात् भवेच्छोथो······ ··· ···
तस्माद् वैद्यो·········दृष्टकर्मा विशारदः ।
गलशुण्डीं तु संछिद्य कुर्यात्माशामिमां क्रियाम् ॥

फोसा में रख कर वहां कुछ मिनटों के लिये पकड़े रहना चाहिये, जिससे रक्त रुक जाये । इतने ही समय में यदि गले के पिछले भाग में रक्त कुछ चू गया हो तो उसे उसी समय दूसरे पिचु से साफ़ कर देना चाहिये । पिचु को हटाने के बाद फोसा में अंगुली डाल कर देख लेना चाहिये कि टौंसिल बचा तो नहीं है। दक्षिण टौंसिल को काटते समय वाम हाथ से टौंसिलोटोम द्वारा कर्म करना चाहिये ।

टौंसिलोटोम के प्रयोग की एक अन्य सरल एवं अपेक्षया संतोषजनक विधि है । इस में टौंसिलोटोम को विपरीत दिशा में पकड़ते हैं । जिससे हत्थे का मुख विरुद्ध दिशा में रहता है । छल्ले से दूर का सिरा टौंसिल के पीछे गुज़ारा जाता है, जोकि हत्थे की भुजा को उठाने से आगे की ओर लाया जा सकता है। तर्जनी द्वारा एन्टीरियर पिलर पर दबाव देने से टौंसिल छल्ले में से पीछे और अन्दर की ओर चला जाता है। अब ग्विलोटीन को नीचे की ओर तब तक दबाना चाहिये, जब तक वह टौंसिल को न पकड़ ले और उसे चाकू की धार और छल्ले के बीच में न स्थिर कर ले । ग्विलोटीन के हत्थे को बाहर की ओर घुमाने से टौंसिल अपनी जगह से अन्दर और आगे की ओर खिंच आयगा और ग्विलोटीन-घर में आजायेगी।

एन्युक्लीएशन ऑफ़ दी टौंसिल्स

सम्पूर्ण रीति से टौंसिल को निकालने की यही एक संतोषजनक विधि है । यह छोटे बड़े दोनों पर समान रीति से लागू हो सकती है। एक तीक्ष्ण पतली धार के चाकू से (कुशपत्र) फॉसिस के एन्टीरियर पिलर के किनारे के अन्तिमतम भाग पर छेदन करना चाहिये । जिस से कि इसका टौंसिल

के साथ जुड़ाव टूट जाये। टौंसिल को "वलसैलम" संदंश से पकड़ कर इसको अन्दर की ओर खींच लेना चाहिये। इस समय फॉशियल पिलर को संदंश के (डिसैक्टिङ्ग फॉरासिप्स) द्वारा धीरे से उतार डालना चाहिये। इस प्रकार करने से टौंसिल अपनी जगह से पूर्णरूप से पृथक् हो जायेगा। यह अब केवल जिह्वा के पिछले भाग पर "लिङ्ग्वल एक्सटैन्शन" से जुड़ा रहेगा। इस एक्सटैन्शन को कैंची से काटने पर शल्यकर्म पूरा हो जायेगा। रक्तस्राव बहुत थोड़ा होगा और इसे तत्क्षण पिचु के दबाव से रोक सकते हैं।

एडीनौयड वैजीटेशन्स।

ये अकसर बढ़े हुओं टौन्सिलों के साथ २ 'नेज़ोफैरिंक्स' में होते हैं और ये श्वासकाठिन्य, यूस्टेशियन नली की रुकावट करके बाधिर्य एवं प्रायः मध्यकर्ण से पूयस्राव उत्पन्न कर देते हैं।

रोगी का क्लोरोफार्म से संज्ञानाश करके अतिवृद्धियुक्त (हाईपरट्रोफीड) लसीकातन्तुओं का "गोट्स्टैन्स कर्व्ड क्युरेट" से लेखन करना चाहिये। एडिनॉयड ग्रन्थि को बडिश से पकड़ कर चाकू से काट देना चाहिये। यूस्टेशियन नली के ठीक पीछे फोसा में से नर्म अंकुरों के लेखन का विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि इनके कारण ही अधिकतर रुकावट हुआ करती है। शिशु को फलक पर इस प्रकार लेटाना चाहिए कि शिर सिरे पर लटकता रहे। शिर को सहायक सहारा दिये रखे। संज्ञालोपक औषध मृदुतम होनी चाहिए अर्थात् खांसने और निगरण की प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं को नष्ट नहीं होने देना चाहिए। ज्यूं ही एडीनॉयड कटे शिर को एक पार्श्व में घुमा कर मुख को प्याले के ऊपर कर देना चाहिए। और चेहरे पर हिमशीत
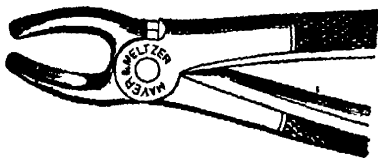
चित्र नं० २६ — ऊपर के छेदक, कर्तक, रदनक के लिये सन्दंश
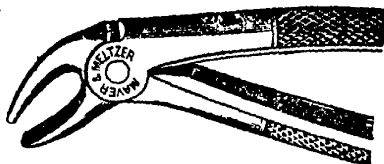
चित्र नं० २७ — नीचे के छेदक तथा कर्तक के लिये सन्दंश
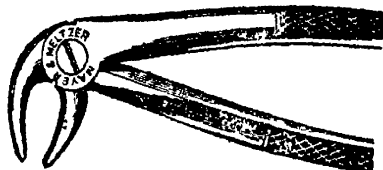
चित्र नं० २८ — नीचे के रदनक के लिये हॉकसबिल सन्दंश

चित्र नं० २९ — नीचे के चर्वणक के लिये संन्दश
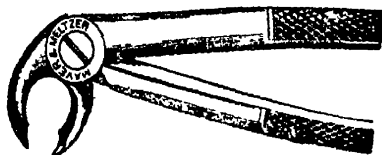
पानी द्वारा पूर्ण रीति से स्पञ्ज करना चाहिए।

दांत निकालना

ऊपर और नीचे के हनुसे भिन्न भिन्न प्रकार के दांतों को निकालने के लिये भिन्न २ प्रकार के दन्तसन्दंश आवश्यक होते हैं। ऊपर के छेदक, कर्त्तक, रदनक के लिये सीधे संन्दंश (चित्र नं० २६) सावधानी से दन्तगुहा में प्रविष्ट करें, जबतक दांत ढीला न हो जाये और फिर थोड़े से घुमाव से ही बाहिर खींचा जा सकता है। नीचे के छेदक और कर्त्तक के लिये उपरोक्त प्रकार का परन्तु थोड़े मोड़ वाला संदंश (चित्र नं० २७) होना चाहिये। अथवा 'हॉक्स बिल" सन्दंश (चित्र नं० २८) उत्तम है। जो कि नीचे के रदनक दांत के लिये विशेषतः उपयोग में आता है। नीचे के चर्वणक दांतों के लिये हॉक्सबिल' या विभक्त (द्विधार) धार वाला सन्दंश (चित्र नं० २९) चाहिये। ऊपर के चर्वणक में चूंकि तीन फैंग (दो बाहर, एक अन्दर) होते हैं अतः दक्षिण और वाम भेद से विशेष सन्दंश § चाहियें। चर्वणक की अवस्था में सन्दंश को भली प्रकार गुहा में पहुंचा कर दांत को ढीला करने के लिये दायें बायें धीरे २ हिलाना चाहिये। यदि गुहा में सन्दंश न जाये तो "गम लैन्सट" से मसूड़ों को चीर लेना चाहिये। कई बार "एलविओलस" के बाह्य किनारे का थोड़ा भंग अनिवार्य होता है।

---

§ शरपंखमुखं दन्तपातनं चतुरंगुलम्।

बारहवां प्रकरण

इदन्तु शल्यहर्तृणां कर्म स्याद् इष्टकर्मणाम् ॥

शल्यकर्म

अंगुष्ठ और अंगुलियों का छेदन

अंगलियों के कुचले जाने पर, बन्दूक की गोली से क्षत होने पर कई बार आचारिक को अंगच्छेद की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यदि विशेष सावधानी वा ध्यान से बचाव हो सकता हो तो अंगच्छेद न करना चाहिये। अंगच्छेद सन्धियों पर प्रायः आवश्यक होता है। और पर्व की लम्बाई की अपेक्षा वहां छेद सुगमता पूर्वक किया जासकता है।

यहां पर उन्हीं छेदन की रेखाओं एवं फ्लैप्स का वर्णन है जो सुगमता से चुने जा सकते हैं। छेदन में साधारणतः यह नियम रखना चाहिये कि छोटे से छोटा टुकड़ा कटे। अविकृत त्वचा और बचे खुचे त्वचा के निचले तन्तुओं के फ्लैप्स काट देने चाहियें।

अंगुली के द्वितीय वा तृतीय पर्व का छेदन।

दोनों में से किसी भी अवस्था में निम्न विधि काम में आसकती है, हथेली और करपृष्ठ के मध्य में हथेली के फ्लैप के लिये छेदन पर्व के आधार से विरुद्ध किसी भी दिशा में आरम्भ और समाप्त होता है। फ्लैप्स पर्व के सिरे की ओर नीचे फैलता है, जिसके साथ त्वचा के निचले सब तन्तु लगे होते हैं। पृष्ठ पर छेदन करने के लिये अंगुली को पूर्ण सङ्कुचित कर दिया जाता है और छेदन अंगुली की पृष्ठ की सतह के साथ २ पर्व के आधार पर हथेली के फ्लैप के दोनों सिरों को मिलाता हुआ करना चाहिये। नर्म तन्तुओं को खींच कर

सन्धि खोल दी जाती है, पार्श्ववर्ती स्नायु काट दिये जाते हैं और अन्त में 'फ्लैक्सर टएडन' काटी जाती है। किसी रक्तवाहिनी को बांधने की आवश्यकता नहीं होगी। दोनों फ्लैप्स को चार पांच बारीक टांकों से जोड़ दिया जाता है और व्रण को गॉज़ से ढक दिया जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि प्रथम पर्व ही अकेला छोड़ दिया जाय तो मोड़ने के लिये कण्डरा (टैण्डन) के न होने से सदा भद्दा प्रतीत होगा। इस लिये यदि सम्भव हो तो दूसरे पर्व का कुछ हिस्सा पृष्ठवर्ती फ्लैप के छोटा और तलवर्ती फ्लैप के अपेक्षया बड़ा पर्व के लगभग मध्य तक निर्माण द्वारा और यहां से अस्थिसन्दंश द्वारा काट कर छोड़ देना चाहिये। यदि यह न हो सकता हो तो कण्डराओं को फ्लैप्स के साथ एक टांके से सी देना चाहिये अथवा अस्थि के सिरे पर सङ्कोचनी और प्रसारिका कण्डराओं को इकट्ठा सी देना चाहिये जिस से कि यदि सम्भव हो तो पर्व को गति दे सके।

प्रथम पर्व का छेदन।

जहां पर शक्ति की अत्यन्त मुख्यता न हो वहां करांगुलीमूलशलाकास्थि का शिर अंगुली से हटा देना चाहिये। इस प्रकार हाथ की आकृति बहुत कुछ सुधर जायगी। सामान्य तौर पर अण्डाकृति छेदन सब से उत्तम होता है। करांगुलीमूलशलाकास्थि पर उसके मध्यस्थल के पास चाकू की नोक को रख कर सन्धि की ओर लम्बाई के रुख काटना चाहिये और सन्धि के नीचे इसे अण्डाकार रूप में घुमा देना चाहिये। जिससे पर्याप्त फ्लैप आजायगा। सन्धि को बिना खोले फ्लैप्स को पीछे की ओर चीर देना चाहिये। फिर करांगुलीमूलशालाकास्थि एवं नलक

भाग के नर्म तन्तु को साफ़ कर देना चाहिये । फिर कटिंग फौरसिप्स अंगुली पर रख कर अंगुली को काट लेना चाहिये । यदि छेदन उत्तमता से हुआ होगा तो किनारों को मिलाने से एक रेखा बन जायगी ।

बहुत सी अंगुलियों में छेदन का स्थान थोड़ा बदलता है । यथा—तर्जनी की अवस्था में करांगुलीमूलशलाका * के बाहर की ओर यथासम्भव रखना चाहिये जिससे स्कार छिपा रहेगा और इसी कारण से कनिष्ठिका के अन्दर की ओर रहना चाहिये । मध्यमा और अनामिका की अवस्था में छेदन हाथ के पीछे अनिवार्य होता है ।

अंगूठे का प्रथम पर्व निकालते समय करांगुलीमूलशलाका का सिर अवश्य ही छोड़ना चाहिये । यदि सम्भव हो तो प्रथम पर्व का आधार भी छोड़ देना चाहिये । अंगूठा सर्वथा न हो इस से कुछ हो यही अच्छा है । इसी दृष्टि से पर्व के मध्य में आगे की ओर छेदन करना चाहिये । इसको चारों ओर गोल ले जाना चाहिये । जिससे कि करांगुली-मूलशलाका के सिर को जो कि बहुत बड़ा होता है ढांपने के लिये पर्य्याप्त फ्लैप रह जाये ।

यही विधि अंगुली की अवस्था में भी काम आ सकती है । जब कि करांगुलीमूलशाका के सिर को बचाना हो, छेदन को वेब तक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं ।

पांव की अंगुलियों का काटना

यह अत्यन्त आवश्यक है कि अंगुलीमूलशलाका को न काटा जाये और यदि बचा जा सके तो, ना ही अंगुलीमू-लशलाका और अंगुलियों की सन्धि को खोलना चाहिये । अन्यथा पांव निर्बल हो जायेगा । यह उत्तम है कि प्रथम पर्व

* करांगुलीमूलशाका-मैटाकार्पल बोन्स ।

को अस्थिसंदंश से काट दिया जाये। यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि अंगुलीमूलशलाका † और अंगुलियों की सन्धि यदि खोलनी पड़ी तो यह उस स्थान से बहुत ऊंची होगी जहां प्रायशः समझी जाती है ।

पैर के अंगूठे को पादांगुलीमूलशलाका और अंगुलियों की सन्धि पर काटते समय पादांगुलीमूलशलाका के शिर के बड़े आकार को एवं आवरण की अधिकता की आवश्यकता को ध्यान में रखना चाहिये। "फैराब्यूफ़" का छेदन पादपीठ एवं अन्तःपीठ के मिलने के स्थान की सन्धि के ऊपर से आरम्भ होता है। और दूर तक चल कर प्रथम पर्व के सिरे के लगभग आजाता है और वहां से गोलाई में नीचे अन्त. एवं तलुवे की पृष्ठ की सन्धि की ओर आता है। जहां से यह तिरछा होकर अंगूठे और समीपवर्ती अंगुली के जोड़ से गुज़र कर बाह्य और पाद पीठ की सतह को सीधी रेखा में लौटा कर अपने प्रारम्भ के सिरे पर आ जाती है। 'ग्लीनौयड लिगमैण्ट' और 'सिसमौयड बोन्स' (चणकास्थि) अवशिष्ट न कटे हुए में रह जाती हैं। अण्डाकार अवयव के अन्तः और तलुवे का भाग त्वचा के सीधे किनारे के साथ अंगूठे के बाह्यतल और पादपीठ के अनुप्रस्थभाव में सी देना चाहिये।

इन ग्रोइङ्ग टो-नेल

यह प्रायः बहुत कसकर परन्तु ठीक प्रकार न आने वाले जूते को पहिनने से होता है। इससे प्रायः अंगूठे का बाह्य भाग आक्रान्त होता है। इस अवस्था को अंगूठे पर सर्वदा ध्यान से और ठीक बूट पहनने से स्वस्थ कर सकते हैं। नख के मध्यभाग के अतिरिक्त नख को छोटा नहीं करना चाहिये। नख के पार्श्व बढ़ने देने चाहियें जिससे अपनी जगह से ऊंचे आजायें। यदि नख बहुत मोटा है तो नाखून की दिखाई देने वाली सारी पृष्ठ को 'प्यूमिस'

† पादांगुलीमूलशाका-मैटाटार्सल बोन्स ।

पत्थर से रगड़ना चाहिये या टूटे हुए शीशे के टुकड़े से मन्द२ खुरचना चाहिये । प्रतिदिन थोड़ी सी रुई नख के किनारे के नीचे रख देनी चाहिये, जिससे नर्म तन्तुओं पर दबाव न पड़ सके ।

यदि यह उपाय सफल न हो तो नख और किनारी की त्वचा के बीच में दृढ़ एवं नोकदार कम चौड़े फने वाली कैंची के फले को घुसेड़ कर पार्श्व में लगा नख जड़ तक काट डालना चाहिये । इस पार्श्ववर्ती कटे हुए भाग को संदंश से पकड़ कर बाहर खींच लेना चाहिये । इस प्रकार नवीन विकृति हट जाती है । परन्तु चिरकालीन अवस्था या हट कर पुनः हुई २ अत्यधिक विकृति में एक वैज के आकार का क्षेत्र (▽) जिसमें नख की जड़, पार्श्व और समीप के तन्तु हों काट डालना चाहिये । व्रण को अङ्कुरों से भरने देना चाहिये । यदि नख के दोनों पार्श्व विकृत हों, तो सारा नख निकाल डालना चाहिये । शेष खुरदरा पृष्ठ जल्दी भर जायेगा यदि नख अपने विस्तर से सन्दंश द्वारा फाड़ कर हटाने की अपेक्षा छिधार टैनोटोम द्वारा अलग किया गया होगा ।

सबएंग्वल एक्सोस्टोसिस ।

कई बार यह अंगूठे के नख के नीचे उगता है । इस में नाखून ऊंचा उठ कर विपरीत पार्श्व की ओर पीछे और ऊपर दबाव डालता है । इसके कारण बड़ी बेचैनी होती है, अतः हटाना पड़ता है । नख को निकाल देना चाहिये । और 'मैट्रिक्स' में से एक्सोस्टोसिस के चारों ओर छेदन कर के इसे 'स्कूप' द्वारा बाहिर निकाल लेना चाहिये । इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिस तरुणास्थि से यह जुड़ा है वह सब निकल जाये ।

हैमर टो ।

प्रायः अंगूठे के पास अंगुली में होता है । इसमें प्रथम

पर्व की सन्धि मुड़ जाती है और सीधी नहीं हो सकती। यह विकार तंग पंजे वाले बूट के पहनने से होता है। लेटरल और ग्लीनॉयड स्नायु के संकुचित होने से यह अवस्था बनी रहती है एवं बढ़ती जाती है। पादतल की त्वचा भी संकुचित हो जाती है; जिससे फैली हुई अंगुली को ढांपने के लिये पर्याप्त नहीं होती। अत एव वह अंगुली मुड़ी रहती है। उठी हुई सान्धि पर एक कोष (बर्सा) बन जाता है। और प्राय: सतह पर कदर हुआ करता है। कई बार उपरोक्त तन्तुओं के जन्म से ही संकुचित होने के कारण यह अवस्था हो जाती है। आचारिक को चाहिये कि वह इस अवस्था में अंगच्छेद न करे। इस अवस्था में निम्न शल्यकर्म करना चाहिये।

बढ़े हुये पर्वसन्धि की उपरिस्थ त्वचा के अण्डाकार टुकड़े को कदर के साथ लेते हुये छेदन करना चाहिये। फिर वैज की आकृति का आधार को ऊपर रखते हुये जिसमें सन्धि भी आजाय इतना काटना चाहिये, जिससे अंगुली सीधी हो सके। टैनो-टोमी से फ्लैक्सर टण्डन को विभक्त कर देना चाहिये। त्वचा के छेदन को इस प्रकार सी देना चाहिये जिससे पीछे तिरछा निशान रह जाये। अंगुली को फलक के साथ बांध देना चाहिये। रोगी को फलक लगाये हुए बूट पहन कर तब तक चलना चाहिये, जब तक पुन: विकृति न होकर ठोस एकीलोसिस के बनने का निश्चय न हो जाये।

सिबेशियस सिस्ट

यह स्नेहप्रणाली (सिबेशियस डक्ट) के अवरोध एवं स्नेहग्रन्थि में स्राव के रुकने का अथवा एकत्रित होने का परिणाम है। प्राय: यह सिर, ग्रीवा और पीठ पर होती है। ये गोल अर्बुद होते हैं और यहां तक आकार में बढ़ जाते हैं कि एक इञ्च या इससे भी अधिक व्यास वाले होजाते हैं। सिस्ट को खोलने के लिये

इनके केन्द्र में छेदन करना चाहिये। जिसको पीछे से कुछ एक टांकों द्वारा बन्द कर देना चाहिये। यह शल्यकर्म स्थानिक-संज्ञालोप से किया जा सकता है। परन्तु जब यह खोपड़ी पर हो तो तन्तुओं की दृढ़ता के कारण इसका छेदन बहुत कठिन हो जाता है। इसके लिये सार्वाङ्गिक संज्ञालोप होना चाहिये।

सिबेशियससिस्ट में पूयोत्पत्ति हो सकती है। ऐसी अवस्था में इसको खोल कर नीचे की सम्पूर्ण भित्ति को निकाल देना चाहिये। और गुहा को अंकुरों से भरने देना चाहिये। जब सिस्ट की भित्ति पूरी नष्ट न हो तो या पूरी न निकाली जाये तो पूय बहुत देर तक बहती रहती है और गुहा की किनारी को पर्य्याप्त मोटा बना देती है। मोटा हुआ किनारा 'मैलिग्नैएट' (घातक) हो जाता है।

नाभि

पतली, छोटी (तारे के आकार की) नाभी की सब से उत्तम चिकित्सा केन्द्र का अग्नि या विद्युत् धारा से दाह करना है। विद्युत धारा की अवस्था में एक पतली फ़ौलाद की सूई (नं० १२ सीने की सूई) को ऋण ध्रुव पर लगा कर नाभी में प्रविष्ट करना चाहिये। और धन ध्रुव को धातु की प्लेट के द्वारा रोगी की पीठ या भुजा पर लगाना चाहिये। परीक्षा के लिये दोनों ध्रुवों को पानी के गहरे प्याले में पकड़ना चाहिये। ऋण ध्रुव से उदजन के बुलबुले उठेंगे। यदि ध्रुवपरीक्षक-कागज़ काम में लाये गये हों तो वह ऋण ध्रुव से लाल हो जायगा। धारा बहुत मृदु रखनी चाहिये। यह $\frac{1}{2}$ से एक मिलिएम्पीयर से तेज़ न होनी चाहिये। कैपिलरी या कैवरनस (खोखली-जिस में गुहा हो) नाभि को कार्बन-डायौक्साईड की बर्फ के द्वारा नष्ट कर सकते हैं। कार्बनडा-यौक्साईड के बर्फ की वर्ती कम्प्रैस्ड कार्बनडाइऔक्साईड को

सिलिण्डर में से "चैमोइस" चमड़े के बैग में गुज़ारने से बना सकते हैं। सिलिण्डर को उल्टा रखना चाहिये जिससे कि जब कपाटी खोली जाये तो द्रव कार्बनडाइऑक्साइड ही जाय, गैस रूप नहीं। इस बर्फ को धातु के चम्मच से एकत्रित करके कान के स्पैक्युलम में भर कर शलाका से दबा कर जमा सकते हैं और स्पैक्युलम के बाहर के पृष्ठ को अंगुली से गरम करके निकाल सकते हैं। स्टिक (वर्त्ती) के चारों ओर एक लिएट लपेट देना चाहिये, जिससे अंगुली बची रहे। वर्त्ती को आवश्यक्तानुसार विशेष आकार का बना लेना चाहिये। बर्फ को नीव्ही पर ज़ोर से दबाना चाहिये। वहां पर तीस सैकण्ड के लगभग रखनी चाहिये। चालीस सैकण्ड से अधिक नहीं रखनी चाहिये। लगाते समय कुछ दर्द होगी और एक घण्टे बाद छाला उत्पन्न होगा। यदि पास ही ढीले-सैल्युलर तन्तु हैं (यथा पलक में) तो वहां का भाग फूला हुआ होगा। पीछे छाले की—आघात से रक्षा करना—यही एक चिकित्सा है। जब फूट जाये तब संक्रमण से बचाना होता है।

मस्से-मशक (वार्ट्स और मोल्स) को कार्बनडायोक्साईड की बर्फ से नष्ट कर सकते हैं। इस स्थान पर तन्तुओं की मोटाई अधिक होती है। अतः वर्त्ति को ४०-५०-६० सैकण्ड तक लगाना चाहिये। और कई बार यह प्रक्रिया दोहरानी भी पड़ती है।

गैंगलिऑन

प्रायः यह कलई के पृष्ठ पर मिलती है और एक अर्बुद उत्पन्न करती है जो कि "एक्सटैन्सर लौंगस पोलिसिस" के अन्तः या बाह्य की ओर और यहां तक कि "एक्सटैन्सर कौम्यूनस डिजिटोरम" के अन्दर की ओर भी होता है। चाहे

कहीं भी हो परन्तु इसका आदि प्रभव कलई का 'एक्सटैन्सर टण्डनों की सन्धियों का क्षेत्र है। इन कण्डराओं के आवरण के चारों ओर के तन्तुओं में "सैल्युलर प्रोलिफरेशन" होने का यह परिणाम होता है। सैलसमूहों में 'कोलैजीनस डिजनरेशन' होती है और छोटे २ बहुत से अर्बुद बन सकते हैं। पीछे से 'इण्टरवीनिंग सैल्स' में क्षीणता (डिजनरेशन) हो कर परस्पर मिल जाते हैं और अन्त में पतली दिवार वाली एक 'सिस्ट' उत्पन्न कर देते हैं। इस में अर्धपारदर्शक गोंद जैसा द्रव भर जाता है। छोटी अवस्था में आराम और आयोडीन का बाह्य प्रयोग उत्तम है। परन्तु बड़ा होने पर भली प्रकार ऊपर से नीचे आदि प्रभव तक रेखाकृति खोल देना चाहिये। शल्यकर्म स्थानिक संज्ञाशून्यता से किया जा सकता है।

अंगुली द्वारा गुदा की परीक्षा

रोगी को वाम पार्श्व के भार इस प्रकार लेटाना चाहिये कि जिससे उसके नितम्ब विस्तर के किनारे पर ही रहें। धड़ तिरछा होना चाहिये और नितम्ब भली प्रकार मुड़े होने चाहियें। अंगुली को पतली रबर की अंगुली से ढांप कर चिकनी करके धीरे से गुदा में प्रविष्ट करना चाहिये। कपाटी (Sphincters) के संकोच और प्रसार का अनुभव करना चाहिये। गुदा से पीछे नर्म, चिकनी एवं ढीली श्लेष्मकला स्पर्श होगी। यदि बहुत व्यक्त होगी तो गुदा की दो तिर्यक् तहों का सुगमता से अनुभव होगा। सबसे निचली तह गुदा से १½ इञ्च ऊपर वाम पार्श्व में होगी। और दूसरी गुदा से तीन इञ्च दक्षिण† पार्श्व में होगी। जो कि

† तत्र स्थूलान्त्र प्रतिबद्धमर्द्धपंचांगुलं गुदमाहुः। तास्मिन्वलयस्तिस्रो अध्यर्द्धांगुलान्तरभूताः प्रवाहिणी विसर्जनी संवाहिनी चेति। चतुरंगुला-

पर्यावरण के रेक्टो वैसिकल पौच के निचले सिरे के बराबर में होता है। गुदा के सामने अष्ठीला को सुगमता से अनुभव कर सकते हैं। और जब बढ़ी हुई हो तो अष्ठीला के पश्चिम किनारे से ऊपर एवं बाहर की ओर दोनों पार्श्वों में वीर्याशय का अनुभव होगा। यह भूलना नहीं चाहिये कि स्त्रियों में गुदा की अग्रिम भित्ति में से गर्भाशय की ग्रीवा का अनुभव होता है। कई बार यह "कारसीनोमा रैक्टाई" का धोखा कर देता है।

गुदा का परीक्षण निम्न अवस्थाओं में करना चाहिये। (१) आन्तों की विकृत अनुभूतियों में, (२) किसी प्रकार के विकृत स्राव में (३) मलप्रवाह की कठिनता में। प्रतिदिन की और कर्तव्य परीक्षा में बेपरवाही करने से गुदा का कारसीनोमा महीनों तक छिपा रहजाता है और जब पता लगता है तब समूलोच्छेद के लिये शल्य-कर्म कठिन हो जाता है। अन्य अवस्थाओं में, यथा परिशिष्ट-शोथ में गुदा का परीक्षण अधिक मूल्यवान् हो सकता है। ज्वर की स्थिरता और दूसरे लक्षण विद्रधि का बनना बता सकते हैं। परन्तु कोष्ठ में किसी प्रकार की गांठ का स्पर्श नहीं होता। विद्रधि का स्थान केवल-गुदा-परीक्षण से ही जाना जा सकता है। उस समय 'रैक्टोवैसिकल पौच' 'फैला और गुदा की अग्रिम भित्ति की ओर फूला होता है।

पर्यावरण के अन्तः अवयवों में कारसीनोमा की

यताः सर्वाः तिर्यक् अंगुलोच्छ्रिताः ॥
शंखावर्त्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः।
गजतालुनिभश्चापि वर्णतः परिकीर्तितः ॥
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्द्धो गुदौष्ठः परिकीर्त्तितः।
प्रथमस्तु या गुदौष्ठादगुंलमात्रे········ ॥

प्राथमिक उन्नति से 'सैकराड्री डिपोज़िट' (निक्षेप) की 'रैक्टोवैसिकल' अथवा रैक्टोयूटराइन पौच में चिकित्सा करनी पड़ती है । ये गुदा की अग्रिम भित्ति में नीचे की ओर बढ़े हुए कठोर ऊंचे किनारे बनाने की रुचि रखते हैं । इनकी उपस्थिति कोष्ठ में कारसीनोमा की पहिचान को पुष्ट कर देती है ।

गुदशलाका (Bougie)का और गुदनाड़ी(Rectal tube)का प्रवेश*

साधारण वस्ति प्रायः धात्री ही दे दिया करती है । परन्तु स्ट्रिक्चर या अवरोध के समय चिकित्सक को ही यन्त्र प्रवेश करना होता है । रोगी के पीछे खड़ा होकर लम्बी रबर या गम एलास्टिक ट्यूब डालनी चाहिये

---

* तत्र बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपाग्नग्धं परिस्विन्नमनिल-वेदनाभि······द्रवप्रायं भुक्तवन्तं उपवेश्य सम्भृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काले समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्संगे निषण्ण-पूर्वकायमुत्तानं किंचिदुन्नतकटिकं वस्त्रकम्बलकोपविष्ट यन्त्रणाशाटकेन परिक्षिप्तग्रीवासक्थं परिकर्मिभिः सुपरिगृहीतमस्पन्दनशरीरं कृत्वा ततोऽस्य घृताभ्यक्तं यन्त्रमृज्वणुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य शलाकयोत्पीड्य पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य क्षारं पातयेत् ।

तत्र यंत्रं लौहं दान्तं शाङ्गं वार्क्षं वा गोस्तनाकारं चतुरंगुलायतं पञ्चांगुल-परिणाहं पुंसां षडंगुलं परिणाहं नारीणां तलायतं तद् द्विछिद्रं दर्शनार्थमेकं छिद्रं एकं छिद्रं तु कर्मणि । छिद्रप्रमाणं तु त्र्यंगुलायतं अगुष्ठोदरपरिणाहं यदं-गुलमवशिष्टं तस्याधांगुलमधस्ताद् अर्धांगुलोच्छ्रितोपरिवृत्तकर्णिकमेष यंत्राकृतिसमासः ॥

"·······नाडीं द्विमुखीं कनकादिजाम् । क्षिप्त्वाभ्यक्त्वा चुक्रकादि-स्नेहेन परिषेचयेत् ॥ पुनः स्थूलतरा नाडी देया स्रोतोविशुद्धये । शस्त्रेण सेवनीं त्यक्त्वा भित्त्वा व्रणवदाचरेत् । संनिरुद्धगुदेऽप्येष······ समचरेत् ॥" चक्रदत्त ।

रोगी को वामपार्श्व पर लेटाना चाहिये। वैजलीन लगी हुई दक्षिण तर्जनी को पथदर्शक बना कर नली को मलद्वार में प्रविष्ट करना चाहिये। पश्चात् बहुत सी अवस्थाओं में थोड़ा सा दबाव नली को आन्तों में प्रविष्ट करने के लिये पर्य्याप्त होता है। कई बार नली गुदा की श्लेष्मकला की तिर्यक् तह में फंस जाती है और अपने ऊपर झुक जाती है, ऐसी अवस्था में वापिस करके पुनः सीधी करके डालना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि पहले वह आंत के एक पार्श्व के साथ२ और फिर दूसरे पार्श्व के साथ २ डालने का यत्न करे जिससे वह तहों से बच जाय।

स्ट्रिक्चर की अवस्था में यदि सम्भव हो तो प्रथम तर्जनी अंगुली को स्ट्रिक्चर तक पहुँचाना चाहिये। इससे बूर्जी या ट्यूब को बाधा में से मार्ग मिल जायेगा। यदि यह सन्देह हो कि लम्बी नली अवरोध में से गुजर गई है या नहीं, तो गरम पानी की वस्ति देनी चाहिये। एवं कोलन (बृहदान्त्र) के ऊपर कान रखना चाहिये। आन्तों में जाते पानी का शब्द सुनाई देगा। जब आन्तों को धीरे एवं स्थिरता से अन्तिम सीमा तक फैलाने की आवश्यकता हो तो पीक और नली का उपयोग सब प्रकार की वस्तियों से उत्तम एवं सुरक्षित है।

सिगमॉयडोस्कोप

बस्तिदेश के कोलन और गुदा के ऊपर के भाग को देखने के लिये यह उत्तम उपाय है। यह लम्बा नली के आकार का स्पैक्युलम (वीक्षणयन्त्र) होता है। इसमें एक इण्ट्रोड्यूसर, विद्युत्प्रकाश और शीशे का ऑबच्युरेटर एवं बैलोज़ (धौंकनी) होता है, जिसके द्वारा गुदा फुलाई जा सकती है। परीक्षा के लिये रोगी की गुदा को वस्ति के द्वारा पूर्ण रूप से साफ़ कर देना चाहिये। रोगी को या तो वामपार्श्व पर लेटाना चाहिये

अथवा अश्मरी के पेटचाक की अवस्था में । पीठ के भार लेटा कर छाती की सतह से बस्तिदेश को ऊँचा रखना चाहिये । नली को इंट्रोड्यूसर के साथ लगा कर ग्लैसरीन से चिकनी करके गुदा में-यदि कुछ बाधा न हो तो-कुछ दूरी तक प्रविष्ट करना चाहिये । अब इएट्रोड्यूसर को निकाल लेना चाहिये । इसके स्थान पर यंत्र का वह भाग जहां विद्युत् लैम्प और ऑबच्युरेटर लगा हुआ है, स्पैक्युलम में लगा देना चाहिये । बैलो (फूंक मारने वाले पम्प) से गुदा में वायु भर कर इसको फुला सकते हैं । ताल (Lens) पर आंख करके बटन को दबाकर प्रकाश करलेना चाहिये । यंत्र के सिरे के ऊपर गुदा की श्लेष्मकला लटकती दिखाई देगी । आन्तों में थोड़ी और वायु पहुँचानी चाहिये जिससे तहें एक पार्श्व में धकेली जायेंगी और मार्ग के खुल जाने से यंत्र को अभीष्ट दिशा में लेजा सकेंगे । जब गुदा फूल जाती है तब हस्टन की लेटी हुई तहें (हॉरीज़न्टल फोल्ड्स ऑफ़ हस्टन) स्पष्ट दिखाई देगा तब इससे सुगमता से बचा जा सकता है ।

गुदभ्रंश*

शिशु तथा कभी २ युवा चिकित्सालय में एकदेशीय या पूर्ण गुदभ्रंश के लिए लाये जाते हैं । एकदेशीय गुदभ्रंश में केवल श्लेष्मकला बाहर आती है । पूर्ण भ्रंश में गुदा की भित्ति की सम्पूर्ण मुटाई बाहर आजाती है । नवीन रोगियों में अंगु-

* गुदभ्रंशे गुदां स्विन्नां स्नेहाभ्यक्तां प्रवेशयेत् ।
कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ॥
विनिर्गमार्थं वायोश्च स्वेदयेच्च मुहुर्मुहुः ।
क्षीरे महत्पञ्चमूलं मूषिकां चांत्रवर्जिताम् ॥
पक्त्वा तस्मिन्पचेत्तैलं वातघ्नौषधसाधितम् ।
गुदभ्रंशमिदं कृच्छ्रं पानाभ्यंगाध्रसाधयेत् ॥

लियों के दबाव से गुदा में प्रविष्ट कर सकते हैं। आन्त को गॉज़ के टुकड़े के साथ पकड़ कर आन्तों के साथ इसे भी गुदा में प्रविष्ट करना चाहिये। इसको अन्दर ही छोड़ देना चाहिये। यह भ्रंश को रोक रखेगा और मल के समय उसके साथ बाहर आजायेगा। पुराने रोगियों में जहां कि श्लेष्म-कला को वस्त्रों से रगड़ लगती है और सम्भवतः व्रण भी हो गये हों; वहां प्रवेश करने से पूर्व शीत पानी द्वारा भली प्रकार स्पंज करना चाहिये। यदि कठिनता अधिक प्रतीत हो तो एकदम ईथर का उपयोग करना चाहिये। जिससे कि गुद-कपाटियों का आक्षेपजन्य आकुञ्चन एवं कोष्ठपेशियों की लगातार कुन्थन रुक जायेगा। दोनों नितम्बों को दृढ़ता से बांध देना चाहिये। अथवा लिन्ट की एक कवलिका रख कर टी (T) पट्टी बान्ध देनी चाहिये। इससे दुबारा तुरन्त ही गुद-भ्रंश नहीं होगा।

भ्रंश चूंकि कुन्थन के कारण होता है अतः शिशुओं में प्रायः कृमि, निरुद्धप्रकश या शुक्राश्मरी अथवा शर्करा कारण होते हैं। इन कारणों की परीक्षा करके इनकी चिकित्सा करनी चाहिये। जिन शिशुओं में ये रोग हों उन्हें उत्कटुक आसन से बैठ कर मलत्याग नहीं करने देना चाहिये। पहिले तो एक पार्श्व पर लेटे हुए शिशु को मलत्याग करवाना चाहिये और इस अवस्था में मलत्याग के समय दोनों नितम्ब इकट्ठे मिलाकर पकड़ने चाहियें। पीछे से शिशु को स्केटिंग अवस्था में बैठना चाहिये। इससे गुदा का निचला भाग अधिक लेटी हुई अवस्था में आजायेगा।

अर्श वाले भाग का बाहर निकलना*

साधारणतः निकले हुए अर्शों को रोगी स्वयं अन्दर कर

---

* निर्गतानि चात्यर्थं दोषपूर्णानि यंत्राद् बिना स्वेदाभ्यंगस्नेहावगाहोपनाह.........आलेपक्षाराग्निः शस्त्रैरुपाचरेत् ॥

सकता है। परन्तु यदि भ्रंश को देरी हो जाये तो वे पीछे से दब जाने के कारण सूज जाते हैं । इनको तेल लगा कर कपाटी के अन्दर दबाना चाहिये । परन्तु जब अर्श अन्तः और बाह्य दोनों हों तो यह कार्य असम्भव हो जाता है। ऐसी अवस्था में गरम बोरिक सेक करना चाहिये और जब तक शोथ शान्त न हो तब तक रोगी को बिस्तर पर ही लेटाये रखना चाहिये। जब कि शल्यकर्म द्वारा समूलोच्छेद कर सकते हैं। आन्तों को विरेचन द्वारा शुद्ध रखना चाहिये।

शिशुओं में गुदा से 'रैक्टल पौलीपाई' बाहिर निकल सकता है। यह अकेला, चमकीला लाल, डण्डीदार पिण्ड के रूप में दिखाई देता है। पौलीपस को भली प्रकार नीचे खींच कर इसके उभार को बान्ध कर काट देना चाहिये। यह प्रायः अकेला एक ही होता है पर बहुत से भी हो सकते हैं। इसके निश्चय के लिये गुदा की परीक्षा करनी चाहिये।

शोथयुक्त अर्श प्रायः सदा अन्तःअर्श होते हैं। जब ये बाहर निकलते हैं तब उसी अवस्था में गुदकपाटी के आकुञ्च-नों से बाहर ही रह जाते हैं। इन की चिकित्सा के लिये 'गुद-भ्रंश' को देखना चाहिये।

कई बार नवजवानों में कुन्थन द्वारा बल प्रयोग से गुदा की केशिकायें फट जाती हैं । एक मटर के बराबर या कुछ बड़ा 'हैमेटोमा' उत्पन्न हो जाता है। इसमें स्पर्शासह दर्द होती है। इस अवस्था को ग़लती से प्रायः शोथयुक्त अर्श कह दिया जाता है। यदि हैमेटोमा छोटा हो तो उपेक्षा करनी चाहिये। यह कुछ दिनों में वहीं शान्त हो जायगा पर पूय की सम्भावना मन में सदा रखनी चाहिये। जब फूलने से अधिक कष्ट देवे तो त्वचा का छेदन करना चाहिये। जमे रक्त को बाहर निष्पीडन करके निकाल देना चाहिये और जन्तुघ्न पट्टी बान्ध देनी चाहिये।

बवासीर का इंजैक्शन

जब अर्श अन्दर के हों तो यह उपाय अति सन्तोषजनक है । आन्तों को विरेचन और बस्ति से साफ़ कर लेना चाहिये। गुदप्रणाली को मर्करी परक्लोराइड के घोल से ($\frac{१}{१०००}$) साफ़ करना चाहिये ।

अर्श यन्त्र (स्पैक्युलम) से अर्श को देख करके, ग्लैसरीन और पानी के समान भाग में बने कार्बोलिक एसिड के १० से २० प्रतिशतक घोल को पतली सूई से अर्श की जड़ में प्रविष्ट† करना चाहिये । एक अर्शोंकुर के लिये लग-भग पांच बून्द काम में लाना चाहिये । फिर श्लेष्मकला पर वैज़लीन चुपड़ देनी चाहिये । जब तक सन्तोषजनक लाभ दिखाई न देवे दो या तीन वार तक इंजैक्शन देने चाहियें।

एनल फिशर (गुदचीर)

एक छोटा सा व्रण लम्बे अक्ष में गुदा के किनारे ऊपरी सतह पर हो जाता है । इसके कारण बहुत दर्द होती है । जो कि या तो मलप्रवाह के समय होती है अथवा ठीक इसके बाद । एक घण्टे से लेकर कई घण्टों तक रहती है । 'सेन्टिनल पाइल' को उलटाने में चीर का निचला प्रान्त साधारणतः सुगमता से च्युत हो जाता है । अर्श को काटने से और व्रण को आधार पर भेदन कर देने से जब तक कपाटी के कुछ तन्तु न कट जांय अथवा कपाटी को बल पूर्वक खोलने से दर्द को एक दम अच्छा कर सकते हैं । छिन्न मिल न जाये इस लिए व्रण को पिचु से भर देना चाहिये । जब अंकुर आरम्भ हो जायें तो पिचु का ड्रैसिंग बन्द कर देना चाहिये ।

---

† (१) अदृष्टगुदस्य तु बिना यंत्रेण क्षारादि कर्म प्रयुञ्जीत ॥

(२) क्षारं पातयेत् ॥

भगन्दर*

गुदप्रणाली के क्षेत्र में विद्रधि होकर दोनों ओर-आंत्र और बाह्यत्वक् पृष्ठ में-खुले (पूर्ण भगन्दर, नाड़ी) या आंत में-एक ही ओर (ब्लाइन्ड इन्टर्नल फिस्च्युला, गति) अथवा केवल बाहर त्वचा के पृष्ठ पर एक ओर (ब्लाइन्ड एक्सटरनल) खुले उसे भगन्दर कहते हैं ।

जब भगन्दर गुदा के किनारे की विद्रधि से उत्पन्न होता है तो यह गुद- कपाटी की मांसपेशी की ओर ऊपरी तह पर होगा। परन्तु जब 'इश्चियो रैक्टल' विद्रधि के कारण होती है तो नाडी वा गतिकपाटी के अंत: और बाह्य मांसपेशी के बीच में से होकर आन्तों में पहुंचती है। कभी भगन्दर बाह्यकपाटी की दो तहों के बीच में होता है। अन्तःछिद्र प्राय: बाह्यकपाटी के ठीक ऊपर होता है ।

---

* गुदस्य द्वयंगुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडिकाऽऽर्त्तिकृत् ।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः सच पंचविधो मतः ।

ते तु भगवद् गुदवस्तिप्रदेशदारणात् भगन्दरा इत्युच्यन्ते । अपक्वाः पिडकाः, पक्वास्तु भगन्दराः ।

तत्र अपथ्यसेविनां वायु: प्रकुपितः संनिवृत्तः स्थिरीभूतो गुदमभितो ऽङ्गुले द्वयंगुले वा मांसशोणिते प्रदूष्यारुणवर्णां पिटिकां जनयति । सास्य तोदादीन्वेदनाविशेषाञ्जनयति । अप्रतिक्रियमाणे च पाकमुपैति ॥

तत्र भगन्दरपिडिकोपद्रुतमातुरमपतर्पणादिविरेचनान्तेनैकादश विधेनोपक्रमेणोपक्रमेतापक्वपिडिकम् ॥ पक्वेषु चोपस्निग्धमवगाह स्विन्नं शय्यायां वा संनिवेश्यार्शसामिव यंत्रयित्वा भगन्दरं समीक्ष्य पराचीनमवाचीनं वा बहिर्मुखमन्तर्मुखं वा ततः प्रणिधाय एषणीमुन्नम्य साशयमुद्धरेत् शस्त्रेण । अन्तर्मुखे चैवं सम्यग् यंत्रं प्रवेश्य प्रवाहमाणस्य भगन्दरमुखमासन्नैषणीं दत्वा शस्त्रं पातयेत् । आसाद्य वाग्नि-क्षारं चैतत्सामान्यं सर्वेषु ।

पूर्ण भगन्दर की अवस्था में श्लेष्मकला और त्वचा की पृष्ठ पर दोनों छिद्रों को मिलाते हुए भली प्रकार छेदन करना चाहिये । एक नोकदार एषणी को बाह्य छिद्र से प्रविष्ट करके आंतों में ले जाना चाहिये । वहां एषणी के सिरे को नीचे की ओर अंगुली से दबा कर गुदा से निकाल देना चाहिये । अब भगन्दर को काटने के लिये यन्त्र का सीता वाला (ग्रव्ड) भाग प्रविष्ट करना चाहिये । फिर एषणी के साथ तीक्ष्ण वृद्धिपत्र को लेजा कर सब तहों को अन्दर से बाहर की ओर भली प्रकार काट देना चाहिये। ऊपर लटकते किनारे कैंची से छांट देने चाहियें । और व्रण में पिचु की पट्टी रख देनी चाहिये ।जिससे रोहण नीचे से हो । साधारणत: बाह्य 'ब्लाइन्ड फिस्च्युला' का गहरा प्रान्त श्लेष्म-कला तक पहुंच जाता है । यदि सावधानी से की गई परीक्षा यह निश्चय करा देवे कि यह अन्धा है तो श्लेष्मकला में से एषणी को घुसेड़ कर पूर्ण भगन्दर की भान्ति शल्यकर्म कर लेना चाहिये ।

अन्धा अन्त: भगन्दर तब समझना चाहिये जब कि गुदा से दुर्गन्धि युक्त स्राव होता हो । साथ में गुदा के एक पार्श्व में शोथ भी हो । ये स्राव और शोथ परिव-र्तन से होते हैं । जब स्राव होता है तो शोथ नहीं होती । फिर शोथ हो जाता है स्राव नहीं होता । इस प्रकार ये एक दूसरे

गतिमन्विष्य शस्त्रेण छिन्द्यात्खर्जूरपत्रकम् ।
चन्द्रार्धं चन्द्रचक्रं च सूचीमुखमवाङ्मुखम् ॥
छित्वाग्निना दहेत्सम्यग् एवं क्षारेण वा पुनः ।
आगन्तुजो भिषक् नाडीं शस्त्रेणोत्कृत्य यत्नत: ।
जाम्बवोष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया ।
दहेद्यथोक्तं मतिमान्··· ············ ॥
कृमिघ्नं च विधिं कुर्यात्··· ········· ॥

के बाद परस्पर परिवर्त्तन से होते रहते हैं। अन्तः छिद्र या तो अंगुली से स्पर्श द्वारा देखा जा सकता है अथवा भगन्दर* यंत्र से नंगा करके देख सकते हैं। एक मुड़े हुए 'प्रोब' के किनारे को इस में गुज़ार करके नीचे की ओर खींच लेना चाहिये। जिससे यह त्वचा के नीचे उभर जायगा। प्रोब के किनारे की ओर बाहर से काटकर भगन्दर को पूर्ण कर देना चाहिये। शेष चिकित्सा पूर्ण भगन्दर की भांति ही है।

अन्दर की कपाटी को किसी भी अवस्था में क्षति नहीं पहुंचानी चाहिये। और बाह्य कपाटी में से एक से अधिक छेदन नहीं करना चाहिये।

मारजिनल-इस्चियो रैक्टल एबसिस † (पिटिका)।

विद्रधि चाहे गुदा के किनारे पृष्ठवर्ती हो अथवा ईस्चियो रैक्टल फोसा (खोल) के तन्तुओं में हो; पता लगते ही खोल देना चाहिये। उत्तम छेदन टी (T) के आकार का है। एक छेदन गुदा के किनारे के समानान्तर करले, दूसरा इससे दूर समकोण पर करना चाहिये। छेदन, विद्रधिगुहा तक शोथ युक्त तन्तुओं में से होकर आना चाहिये। पूय साफ़

---

* अर्शसां गोस्तनाकारं यंत्रकं चतुरंगुलम्।
नाहे पंचागुंलं पुंसां प्रमदानां षडंगुलम्॥
द्विच्छिद्रं दर्शनं व्याधेरेकच्छिद्रं तु कर्मणि।
मध्येऽथ त्र्यंगुलं छिद्रं अंगुष्ठोदरविस्तृतम्॥
अर्द्धांगुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकां तु तदूर्ध्वतः।
शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यंत्रमर्शःप्रपीडनम्।
सर्वथापनयेद्दोषं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे।

† उत्पद्यतेऽल्परुक् शोफः क्षिप्रं चाप्युपशाम्यति।
पाद्वन्तदेशे पिडिका सा ज्ञेयाऽन्या भगन्दरात्।
अपानमार्गपिटिकां दहेत्स्वर्णशलाकया॥

करके-भित्तियों को तोड़ करके व्रण को जन्तुघ्न घोल में तर पिचु से भर देना चाहिये। पट्टी और पिचु रोज़ बदलने चाहियें। व्रण को तले से अंकुरों द्वारा भरने देना चाहिये।

फाईमोसिस (निरुद्ध प्रकश*)

यह प्रायः मिलता है। अग्रचर्म का छिद्र इतना तंग होता है कि अग्रचर्म को पीछे नहीं कर सकते। इस विकृति की सब अवस्थायें मिलती हैं। और इसके साथ २ ही कभी २ मणि और अग्रचर्म परस्पर जुड़े हुए होते हैं। हलकी अवस्था में चर्म को बलपूर्वक फैलाकर पीछे करना चाहिये। साथ ही जमाव को हटा कर प्रतिदिन साफ करके घृत या वैजलीन लगानी चाहिये। परन्तु बढ़ी अवस्था में "सरकमसीज़न" आवश्यक होता है।

निरुद्धप्रकश 'सोर' अग्र चर्म के छिद्र पर व्रण के साइ-कैट्रिज़ेशन से हो जाता है। यह विना किसी वीनरल रोग वाले वृद्ध पुरुषों में भी हो सकता है। अग्रचर्म की एलास्टी-सिटी (लचक) घटती जाती है जिससे उसका छिद्र संकुचित हो जाता है। यह अवस्था शर्करामेह (ग्लाईकोज़यूरीया) को बताती है। इस की परीक्षा करनी चाहिये।

सरकमसीज़न।

यह शल्यकर्म कई प्रकार से होता है। उद्देश्य यही है कि आवश्यकता से अधिक त्वचा को न काटा जाये। इस में सङ्कोच या रुग्ण तन्तुओं को हटाना पड़ता है। सबसे प्रथम अग्रचर्म को पीछे हटाना चाहिये, जिससे छिद्र दिखाई दे।

---

* वातोपसृष्टे मेढ्रे वै चर्म संश्रयते मणिम्।
मणिश्चर्मावनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च॥
निरुद्धप्रकशे तस्मिन्मन्दधारमवेदनम्।
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च॥

फिर छिद्र के किनारों को पार्श्वों में आमने सामने 'क्लैम्प' संदंश से पकड़ना चाहिये और आगे की ओर खींचना चाहिये। जिससे अग्रचर्म विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार अग्रचर्म को पकड़ने से अधिक चर्म कटने का भय जाता रहता है। अग्रचर्म को साईनस या पोलीपस के संदंश के फलकों में—जो कि मणि के ठीक सामने, ऊपर से नीचे और आगे की ओर तिरछे रूप में लगाये जाते हैं—पकड़ें जिससे फ्रेनम में बाधा न पड़े। अब संदंश के फलकों के सामने तुरन्त तीक्ष्ण चाकू से अनावश्यक त्वचा के टुकड़े को काट देना चाहिये। कटी हुई त्वचा पीछे को सरकती है। अग्रचर्म की मणि को ढांपने वाली निचली कला अभी भी वहीं रहती है। इस कला को कैंची से 'कॉरोना ग्लैण्डिस' तक उपरिपृष्ठ के साथ २ विभक्त कर देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि फलक मूत्रमार्ग में न फिसल जाये। अब मणि और अग्रचर्म में विशेषतः 'कॉरोना' के पास हो सकने वाले जमावों को हटा कर मणि को नंगा कर देना चाहिये। जिससे एकत्रित हुई २ गूथ हटाई जा सके। अग्रचर्म की अनावश्यक अन्तःकला को कैंची से छांट देना चाहिये, जिससे चारों ओर लगभग चौथाई इञ्च चौड़ा टुकड़ा बच जाये। त्वचा और कला के किनारे रेशम या स्नायु से पृथक् २ टांकों में सी देने चाहियें। स्नायु के टांके घुल जाते हैं। रेशम के टांकों को काटने में कठिनता होती है। उत्तम प्रलेप औक्सीकार्बोनेट ऑफ़ बिस्मथ एक भाग और वैजलीन तीन भाग है। प्रलेप को स्टरलाइज्ड करके स्टरलाइज्ड कौलेप्सीबल ट्यूब में रखना चाहिये। इस को लिण्ट या गौज़ पर गाढ़ा ‡ फैलाकर शिश्न के चारों ओर लपेट देना चाहिये।

छोटे शिशुओं में या जब शल्यकर्म कुछ समय के लिये

---

‡ तस्य प्रमाणमार्द्रमहिषचर्मोत्सेधमुपादिशन्ति।

स्थगित करना हो तो अस्थायी चिकित्सा के लिये संदंश के सिरों को अग्रचर्म के नीचे डालकर, फलकों को पृथक् करते हुए उसे फैला कर आराम दे सकते हैं।

पैराफाईमोसिस *(परिवर्त्तिका)—

कई बार शिशु इस लिये लाये जाते हैं कि अग्रचर्म मणि के पीछे गया होता है और फिर वापिस आगे नहीं आता। यह अवस्था पुरुषों में औपसर्गिकमेह के कारण भी मिलती है। यदि रोग का जल्दी पता लग गया है तो चिकित्सा भी शीघ्र हो जायगी। परन्तु शोथ (अडीमा) और व्रण की अवस्था में कृच्छ्रसाध्य होता है। इस की चिकित्सा में निम्न विधि से काम लेना चाहिये।

रोगी को कौच पर लेटा कर चिकित्सक दोनों हाथों की अंगुलियों से अग्रचर्म को पकड़ कर (गौज़ का टुकड़ा बीच में रख कर) भींचते हुए रक्त और द्रव को यथासम्भव निकाल देवे। फिर मणि को भी इसी प्रकार अंगूठों से दबावे। तदनन्तर त्वचा को आगे लाने का यत्न करते हुए अंगूठों से मणि को पीछे धकेलना चाहिये। यदि अग्रचर्म पर व्रण नहीं होंगे या इन के पृष्ठ आपस में नहीं जुड़े होंगे तो कुछ मिनटों के स्थिर खिचाव से वे भाग स्वस्थ अवस्था में आजायंगे। इस के पीछे शिश्न के चारों ओर बोरिक ड्रैसिंग लगा कर पट्टी

---

* (क) परिवृत्तां घृताभ्यक्तां सुस्विन्नामुपनाहयेत्।
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा वातघ्नैः शाल्वणादिभिः॥
ततोऽभ्यज्य शनैः चर्म चानयेत्पीडयेन्मणिम्।
प्रविष्टे च मणौ चर्म स्वेदयेदुपनाहनैः॥

(ख) स्वेदोपनाहौ परिवर्त्तिकायां कृत्वा समभ्यज्य घृतेन पश्चात्।
प्रवेशयेच्चर्म शनैः प्रविष्टं मांसैः सुखोष्णैरुपनाहयेच्च॥

(ग) परिवर्त्तिका का लक्षण देखिये सुश्रुत—क्षुद्ररोगाधिकार में।

बांध देनी चाहिये।

सूजन को हटाने के लिये एड्रैनैलीन ($\frac{1}{1000}$) में भीगे हुए पिचु से शिश्न को ढांप देना चाहिये। या सूजे अग्रचर्म में कुछ एक विद्ध व्रण बनाने चाहियें। जहां ऑडीमा की अपेक्षा रक्त संचय कमी न होने देने में कारण हो १५ मिनिट तक आइसबैग या लीटर्स ट्यूब से शीत परिषेक करना चाहिये।

यदि रक्त को अधिक निचोड़ने के बिना सूजन को कम न किया जा सके तो पृष्ठ पर सङ्कोच को चाकू से विभक्त करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि संकोच अग्रचर्म के छिद्र के छोटा होने से है।

शिश्न के चारों ओर कसकर धागा बांधना*

खेल में या रात्रि को शय्या पर मूत्र करने के अपराध में दण्डस्वरूप शिश्न के चारों ओर कस कर मूर्ख धागा बांध देते हैं। इस की आकृति परिवर्तिका के सदृश दीखती है। ऐसी अवस्था में धागा सूजे हुए तन्तुओं में छिप जाता है। जिसे ढूंढ कर विभक्त करने में विशेष सावधानी रखनी पड़ती है।

एधैरेन्ट लेबिया

छोटी कन्यायें कभी २ कठिन या दर्द युक्त मूत्रस्राव की शिकायत से लाई जाती हैं। परन्तु वास्तव में माता को बाह्य उत्पादक अंगों की असाधारणावस्था दिखाई देना लाने में कारण होता है। कईयों में यह अवस्था पैतृक होती है और कईयों में भग (वल्वा) की शोथ के कारण होती है। आम तौर पर जुड़ाव पूर्ण नहीं होते और मूत्र के प्रवाह में भी कोई बाधा नहीं होती। यदि उपेक्षा की जाये तो जमाव कठोर हो जाते हैं और पीछे बहुत कष्ट होता है। अतः इस को तोड़ने

---

* शिश्न के चारों ओर छल्ला भी फंस जाता है। उसे काटकर निकालना चाहिये।

के लिये दबाव डालकर भगोष्ठों को पृथक् करना चाहिये। पिचु पर टंकण प्रलेप लगा कर कुछ दिनों के लिए भगोष्ठ में रख देना चाहिये।

हाइड्रोसील

अण्डकोषों के स्वच्छ और व्रण के दोनों ओष्ठों को ठीक स्थिति में न रखे जासकने के कारण, यदि बचा जा सके तो अण्डकोष के नीचे के भाग में से चीरा न देना चाहिये। जब हाईड्रोसील या वैरीकोसील पर छेदन करना हो तो वाह्य छल्ले के ऊपर से आरम्भ करके नीचे की ओर आवश्यकतानुसार (डेढ़ से दो इञ्च के लगभग) चीरा देवें और यथाशक्य हाईड्रोसील के ऊपर के सिरे पर तन्तुओं को इतना काटें कि कॉर्ड दीखने लग जाये। मन्द मन्द खींचने के साथ २ अण्डकोष के निचले भाग पर थोड़ा सा दबाव देने से हाईड्रोसील अण्ड के साथ व्रण से बाहर आजायेगा। इस समय यदि अण्डकोष की गहरी रचनायें बाहर निकलने में बाधक हों तो उन्हें भी काट देना चाहिये। चाकू से "ट्युनिका वैजाइनैलिस" का वेधन कर देना चाहिये। इस समय द्रव के निःसरण को नियमित रखना आवश्यक है। पश्चात् एक सिरे से दूसरे सिरे तक ट्युनिका वैजाइनैलिस को खोल देना चाहिये। अण्ड पर 'ट्युनिका' के प्रतिक्षिप्त प्रकाश की रेखा सुगमता से देखी जा सकती है। इस रेखा को पर्याप्त बाहर की ओर रखते हुए हाईड्रोसील की दीवार के अनावश्यक भागों का छेदन करना चाहिये। रक्तस्राव को पूर्णतः बंद कर देना चाहिये। यदि अण्ड के बहुत समीप की ट्युनिका कट जाय तो रक्तस्राव रोकना कठिन हो सकता है। ऐसी अवस्थाओं में

कभी कभी रक्तस्रुति को बन्द करने के लिये अग्निदाह की आवश्यकता पड़ती है। दूसरा सुगम उपाय यह है कि ठ्युनिका वैजाइनैलिस को बाहर अन्दर की ओर मोड़ दिया जाय और अण्ड के पीछे कटे हुए ओष्ठों को आपस में सी दिया जाय। यह रक्तस्रुति की आशङ्का को कम करता है और पहिले की अपेक्षा शीघ्र हो जाता है। अण्ड को अण्डकोष के अन्दर वापिस कर के कटे हुए किनारों को ठीक स्थान पर रख कर घोड़े के बाल से एक तह में सी देना चाहिये। व्रण को स्टरलाइज़्ड गॉज़ और सैल्युलोज़† से ढांप देना चाहिये। अण्डकोष ऊंचे उठे रहें इसके लिये इन के नीचे सैल्युलोज़ की मोटी गद्दी की भारी तह रख देनी चाहिये। ड्रैसिंग को पट्टी से स्थिर कर देना चाहिये।

ऑपरेशन के लिये अण्डकोष के क्षेत्र की त्वचा को तैय्यार करने में आयोडीन अव्यवहार्य है*।

वैरीकोसील

इसकी चिकित्सा हाईड्रोसील की भांति है। कार्ड के नंगा होते ही यह चारों ओर के तन्तुओं से स्वतन्त्र कर दिया जाता है। स्पर्श के द्वारा हम शुक्रवाहिनी की अवस्था को जान सकते हैं। संयोजक तन्तुओं के साथ इसके चारों ओर

---

† पत्र—कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च।
व्रणप्रच्छादने विद्वान्पत्राण्यर्कस्य चादिशेत्॥
स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम्। पत्रदानं भवेत्कार्यम्।

* मूत्रजां स्वेदयित्वा तु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद् विध्येद् व्रीहिमुखेन तु।
अथात्र द्विमुखां नाडीं दत्वा विस्रावयेद् भिषक्।
मूत्रं नाडीमथोद्धृत्य स्थगिकाबन्धमाचरेत्॥

की रचना-जिसमें शुक्रवाहिनी धमनी और शुक्रवाहिनी शिरा है, शिराओं के मुख्य समूह से स्वतंत्र होजायगी। एक दूसरे से १ से लेकर $1\frac{1}{2}$ इञ्च तक की दूरी पर दो बन्धन बांधकर इनके प्रान्त लम्बे छोड़ देने चाहियें। यदि शिराओं का समूह बड़ा हो तो दो तीन समूहों में विभक्त करके पृथक् पृथक् बांधना चाहिये। फिर शिराओं के मध्यवर्त्ती भाग को चीरना चाहिये। दो कटे हुए छोरों को बन्धन के छोरों से बांधकर समीप में लाना चाहिये।

वैरीकोज़ वेन्स

रुग्ण शिरा के भाग को निकालने के साथ साथ छेदन ठीक 'सैफिनस' छिद्र के नीचे और सैफिनस शिरा के बन्धनों के मध्य में किया जाता है। यह छेदन 'प्यूबिक स्पाइन' से $1\frac{1}{2}$ इञ्च नीचे और $1\frac{1}{2}$ इञ्च बाहर की ओर होता है। और शिरा का मार्ग 'एडुक्टर ट्युबरकल' से इस निशान तक खींची हुई रेखा के साथ साथ होता है। इस रेखा को काटता हुआ तिर्यक् छेदन प्यूबिक स्पाईन से लगभग चार इंच नीचे बनाना चाहिये। छेदन की लम्बाई दो से तीन इंच होनी चाहिये। रोगी में चर्बी के अनुसार लम्बाई में न्यूनाधिकता होती है। गम्भीर आवरण कला को नहीं चीरना चाहिये। ज्यों शिरा पकड़ी जाय उसे जितनी दूरी तक व्रण के सिकुड़े सिरे में बाधा न आवे उतनी दूरी तक दूसरे तन्तुओं से स्वतन्त्र करके बन्धन बांध देना चाहिये। बीच के भाग का छेदन करके व्रण को घोड़े के बाल से सी देना चाहिये।

अब टांग के निचले भाग की वेरीकोज़ वेन्स को उपरोक्त विधि से काटा जा सकेगा। शिरा की लम्बाई को लम्बाकार या तिरछा छेदन करना चाहिये। सब छोटे छोटे शिराजालों

को बांधने में उसीप्रकार ध्यान रखना चाहिये जिस प्रकार कि बड़ी शिरा के बांधने में रखते हैं। सब व्रणों के सीये जाने पर सब से साधारण ड्रैसिंग यही है कि स्टर-लाइज्ड गॉज़ बांध दिया जाय। रोगी को बिस्तर पर लेटा-कर टांग के नीचे सहारा रख देना चाहिये।

इङ्ग्वाइनल हर्निया के समूलनाश के लिये बैसिनी का ऑपरेशन

'इङ्ग्वाइनल कैनाल' पौपर्ट के स्नायु के आध इञ्च ऊपर है। यह 'पोपर्ट्स स्नायु' के मध्यबिन्दु के ठीक सामने स्थित अन्तःछिद्र से लेकर बाह्यछिद्र तक [जो ठीक प्यूबिक स्पाईन के ऊपर स्थित है] व्याप्त है। छेदन अन्तःछिद्र से आरम्भ करके रेखा के साथ साथ बाह्य छिद्र तक लाना चाहिये। त्वचा और त्वचा के निचले तन्तुवों को "एक्सटरनल ऑब्लीक एपोन्युरोसिस" के नीचे की ओर खोल देना चाहिये। बाह्य छिद्र को स्पष्ट बना लेना चाहिये। 'डिसैक्टिंग फौरसिप्स' की नोकों को एपोन्युरोसिस के नीचे बाह्य छिद्र में प्रविष्ट करने के पश्चात् उस एपोन्यूरोसिस को अन्तःछेद्र पर लाकर खोल देना चाहिये। इससे छेदन को ऊपर की ओर थोड़ा उन्नतोदर रखना अच्छा होगा। एपोन्युरोसिस के किनारे खींच कर कॉर्ड और मिली हुई कण्डरा को अलग कर लेना चाहिये। कॉर्ड को ऊपर को उठाकर इसके नीचे गॉज़ की पट्टी गुज़ार देनी चाहिये जिससे यह नियमित रहे। इससे शुक्रवाहिनी का पता चल जाता है। शुक्रवाहिनी कॉर्ड की भान्ति होने से पहिचानी जाती है। परन्तु वृद्ध पुरुषों में 'एथ्रोमेटस' धमनी इसका भ्रम करा देती है। कॉर्ड की रचना को ग्लोब पहनी अंगुली पर गौज़ रख कर फैला दिया जाता है। 'हर्नियल सैक' अपने अपारदर्शक श्वेतरूप से पहिचाना जा सकेगा। इसको 'आर्टरी फौरसिप्स' से पकड़ कर यथा–

सम्भव अन्य रचनाओं से अन्तःछिद्र तक अलग कर लेना चाहिये। यह कार्य साथ लगी कण्डरा को वापिस करने से होजाता है। सैक को खोल देना चाहिये और ग्रीवा की ओर आध इंच तक काट देना चाहिये। यदि सैक में आंतों की झिल्ली (ओमैन्टम) चिपटी हो तो उसको अलग करके कोष्ठ में वापिस कर देना चाहिये। छिद्र के चारों ओर आर्टरी फौरसिप्स के मृदु आकर्षण से सैक की ग्रीवा को भलीप्रकार नंगी करके सूई और धागे से सी देना चाहिये। प्रथम बन्धन ग्रीवा के आध में बांधना चाहिये। फिर किनारों को घुमाकर बांध देना चाहिये। यदि रोगी कुन्थन करता हो और आंतों की झिल्ली व आंतें छिद्र में दिखाई देवें तो सूई और धागे से स्थिर करने के पीछे सैक को मरोड़ देना चाहिये। जिससे कि बन्धन बांधते समय कोष्ठ के अवयव सुरक्षित रहें। सैक को बन्धन तक पूर्ण रूप में विभक्त करना चाहिये। बन्धन के प्रान्त काट देने चाहियें। यदि सैक का भाग चिपका हो या बहुत दूरतक बढ़ा हो तो इसको काट देना चाहिये। शल्यकर्म में दूसरी बात 'इंग्वाइनल-कैनाल' के फर्श की रचनाओं को पुनः बनाना है। इसके लिये 'कनजौयण्ड टण्डन' के स्वतंत्र किनारों को पोपर्ट्स स्नायु के नीचे तक सी देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि अन्तः छिद्र पर कोई कसी न जाये। टांकों को (मैट्रस स्यूचर) लगाने के लिये 'एक्सटरनल ओब्लीक एपोन्यूरोसिस के निचले सिरे को उलट देना चाहिये। साथ ही पोपर्ट्स स्नायु को पूर्ण रूप से नंगा कर लेना चाहिये। जितना भी सम्भव हो कॉर्ड को मार्ग से बाहर खींच लेना चाहिये। इसको खींचने के लिये गॉज का लूप (झूला) बना कर काम में लाना चाहिये। टांके पोपर्ट्स स्नायु में से आगे से पीछे की ओर एवं फिर 'कनजौयण्ड टण्डन' में से पीछेसे आगे की ओर; और पश्चात्

कनजौयएड टएडन और पोपर्टस् लिगमैएट के पीछे की ओर से इससे विपरीत भाव में सीना चाहिये। यदि सैक अएड-कोष के तन्तुवों के नीचे फैल गया हो तो अएडकोष को पट्टी से सहारा देना चाहिये।

बारहवां प्रकरण

पतनादभिघाताद्वा शूनमङ्गं यदक्षतम्।
शीतान्प्रदेहान् सेकांश्च भिषक् तस्यावचारयेत्॥ सुश्रुत

प्रक्षालन, प्रलेप, स्वेद, उपनाह और चिपकने वाली पट्टियां-

एवैपरेटिंग ड्रैसिंग—

इन पट्टियों का अभिप्राय यह है कि रुग्ण स्थान का ताप-परिमाण लगातार कम रहे। इसके लिये रुग्ण स्थान पर लिएट की दोहरी तह बनाकर रखनी चाहिये। इस पट्टी को पानी अथवा अन्य किसी उड़नशील घोल से लगातार तर रखना चाहिये। यह क्रिया भलीप्रकार से हो इसके लिये कवलिका को वायु में खुला रखना चाहिये। विस्तर के वस्त्र या अन्य वस्तुओं से इसे ढांपना नहीं चाहिये। रोगी के विस्तर अथवा अन्य वस्त्रों को गीला होने से बचाने के लिये मोमजामा नीचे रख देना चाहिये।

प्रक्षालन (ईरीगेशन)—

क्षत तन्तुओं के तापपरिमाण को कम करने के लिये यह एक उत्तम विधि[१] है। यह विधि शोथ की क्रिया को प्रत्यक्ष रूप में रोकती है विशेषतः यदि इसको देर तक चालू रखा जाये। यदि कुछ ही समय के बाद प्रक्षालन क्रिया बन्द कर दी जाय तो प्रतिक्रिया के बढ़ने से तीव्र शोथ उत्पन्न हो जाती है। इसलिये प्रक्षालन विधि का प्रयोग तब तक चालू रखना चाहिये जब तक

---

१. रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत्। यथोक्तैः शीतलैः द्रव्यैः...

कि शोथ का समय व्यतीत न हो जाय। इस क्रिया के लिये रोगी के विस्तर से थोड़ी ऊंचाई पर प्याले में बर्फ का पानी रख देना चाहिये। उसमें रूई इसप्रकार से डालना चाहिये कि उससे पानी वक्रनली (साइफन) के सदृश क्षत भाग पर गिरता रहे। क्षत भाग को लिन्ट के टुकड़े से ढांपा होना चाहिये जिसमें पानी चूसा जा सके। मोमजामे के द्वारा रोगी के वस्त्र और विस्तर को बचाना चाहिये। नीचे चिलमची रखनी चाहिये।

तापपरिमाण को घटाने के लिये रबर की बनी थैली का भी प्रयोग कर सकते हैं। इस थैली में बर्फ का पानी भर देना चाहिये।

प्रलेप[1]

वस्त्र पर लगाने से पूर्व प्रलेप को छुरी या चाकू से भली प्रकार मिला लेना चाहिये। जिससे कि वस्त्रखण्ड पर प्रलेप साफ़ और एक समान आये। स्निग्ध ड्रैसिंग व्रण के साथ चिपकता नहीं। इसलिये उतारते समय रोगी को दर्द कम होता है, साथ ही रक्तस्राव की सम्भावना भी कम रहती है।

जहां पर प्रलेपों में उपरोक्त लाभ हैं वहां पर यह भी आपत्ति है कि प्रलेप बहुत कम अवस्थाओं में पूर्ण जन्तुघ्न रहते हैं। अतः खुले भागों में इनका प्रयोग रुग्ण भाग का रोहण नहीं करता और प्रायः पूय उत्पन्न कर देता है, इसलिये जो प्रलेप विक्षोभक हों और कृमिनाशक शक्ति न रखते हों खुले मुखवाले व्रणों पर नहीं लगाने चाहियें। पानी के ड्रैसिंग और सेक यदि भलीप्रकार से गीले हों तो शोथ युक्त अवस्था में अपेक्षया अधिक उत्तम हैं। ये जल्दी से उतारे भी जा सकते हैं।

---

१. आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च।

आर्द्र ड्रैसिंग

खुले व्रणों के लिये यह साधारण एवं अति उत्तम विधि है। इसके लिये स्टरलाईज़्ड (उबले हुए) पानी या जन्तुघ्न घोल में पिचु को तर करके रखना चाहिये। ड्रैसिंग को ऑयल सिल्क द्वारा चारों ओर से ढांप देना चाहिये जिससे कि नमी उड़ न सके।

स्राव करने वाले व्रणों पर यदि सूखा गॉज़ रख दिया जाय तो कुछ ही घंटों में व्रण के किनारों से चिपक जायगा। स्राव गॉज़ पर शुष्क होकर एक तह बना देता है जिससे कि उसकी स्राव को और अधिक चूसने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अब पूय इस तह के नीचे जमा होने लगती है। और जब ड्रैसिंग को हटाते हैं, तो बहुत दर्द भी होता है।

यदि गॉज़ को गीला करके लगाया जाय और साथ ही इसकी नमी को सुरक्षित रखने के लिये मोमजामे से ढांप दें तो ये सब कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं और स्राव को चूसने के कारण ड्रैसिंग का वास्तविक उद्देश्य भी पूरा हो जाता है।

फोमन्टेशन (उष्ण सेक)

त्वचा पर यदि व्रण न हो तो नर्म फ़लालैन के टुकड़ों

ततो बन्धःप्रधानम् ... तत्र प्रतिलोममालिम्पेत् नानुलोमम्। प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति च रोमकूपान् स्वेदवाहिभिः शिरामुखैश्च वीर्यं प्राप्नोति। तस्य प्रमाणमार्द्रमहिषचर्मोत्सेधमुपदिशन्ति। न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत। माभूच्छैत्यपिहितोष्मणस्तदनिर्गमात् विकारप्रवृत्तिः।

न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्।
उष्माणं वेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत्स हि॥
उपर्युपरि लेपं तु न कदाचित्प्रदापयेत्।
न च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत्पुनः॥
शुष्कभावात्स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः॥

को उबलते पानी में भिगो कर निचोड़ लें। इसे रुग्णस्थान पर रख कर ऊपर से मोमजामा और कम्बल के टुकड़े से ढांप देना चाहिये। इससे आर्द्रता और उष्णिमा सुरक्षित बनी रहेगी। यह उत्तम स्वेदन है। चूंकि इस सेक में उष्णिमा एक मुख्य वस्तु है इसलिये दूसरे या तीसरे घंटे इसको फिर उबलते पानी में निचोड़ कर रख देना चाहिये। इस प्रकार के स्वेदन को अन्य औषधियों से भी काम में ला सकते हैं। यथा—दर्दशामक क्रिया के उद्देश्य से त्वचा के स्वेद्यभाग पर सोते समय और प्रातः ग्लिसरीन और एट्रोपीन लगा देते हैं। यदि छाले उत्पन्न करने हों अथवा विक्षोभक प्रभाव उत्पन्न करना हो तो फ़लालैन पर तारपीन के तेल की २०–३० बूंदें डाल देनी चाहियें।

व्रण के ऊपर स्वेदन करने के लिये आमतौर पर बोरिक लिंट का प्रयोग किया जाता है। परन्तु सादा लिंट भी इस कार्य में आ सकता है। इस लिंट को बर्तने से पूर्व किसी जन्तुनाशक घोल में [यथा—कार्बोलिक लोशन में) निचोड़ कर काम में लाना चाहिये। इस स्वेदन को मोमजामा और कम्बल के टुकड़े से ढांप देना चाहिये।

बहुधा स्वेदन को व्रण के चारों ओर पट्टी के द्वारा लपेट कर नहीं बांधना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक बार नया स्वेदन देने में कठिनाई होती है। यदि बांधना हो तो पञ्चांगी अथवा लम्बी लम्बी टुकड़ों की श्रेणियों को अंग के नीचे रखकर पृथक् पृथक् बांध देना चाहिये।

इसप्रकार के स्वेदन से दो लाभ हैं, एक तो व्रण को लगातार उष्णिमा पहुँचती है, दूसरा व्रण को बिना शुष्क किये स्राव को हटा देता है। इसलिये स्वेदन जितना गरम होसके उतना अच्छा है। स्वेदन को प्रत्येक तीन घंटे के अन्तर से बदल देना चाहिये।

स्वेदन के लिये लिन्ट को स्टरलाईज्ड 'रिंगर' में रखना चाहिये। एक तौलिया लेकर उसके दोनों सिरों पर शलाकायें बांध देनी चाहियें। इसको पात्र में रखकर ऊपर से उबलता पानी डालें। फिर शलाकाओं को परस्पर विरुद्ध दिशाओं में ऐंठन देकर स्वेदन को शुष्क कर लेना चाहिये। त्वचा शुष्क उष्णिमा को, तर उष्णिमा की अपेक्षा अधिक सहन कर सकती है; इसलिये पानी को भलीप्रकार से निकाल देना चाहिये। रिंगर के स्थान पर साधारण तौलिया भी काम दे सकता है। स्वेदन को एक दम लगा देना चाहिये। इसको ठण्डा नहीं होने देना चाहिये! लिण्ट की चिकनी पृष्ठ त्वचा पर सीधी रखनी चाहिये[1]।

उपनाह[2]—

इसमें प्रायः अलसी का आटा काम में आता है।

---

१ स्वेद—१–वातघ्नौषधसंपूर्णां स्थालीं छिद्रशराविकाम्।
स्नेहाभ्यक्तगुदस्तस्यामध्यासीत सवाष्पिकम्॥
२–स्वेदयेत्सततं चापि.
३–स्वेदविधि के लिये देखिये चरक सूत्रस्थान और सुश्रुत चिकित्सास्थान।

२ उपनाह–१–वातघ्नवर्गेऽम्लगणे काकोल्यादिगणे तथा।
स्नैहिकेषु च बीजेषु पचेदुत्कारिकां शुभाम्॥
तेषां च स्वेदनं कार्यं स्थिराणां वेदनावताम्।
यथोक्तैः पीडनैः द्रव्यैः समन्तात्परिपीडयेत्॥
पूयगर्भानणुद्वारान्व्रणान्मर्मगतानपि॥
निवर्त्तते न यः शोफो विरेकान्तैरुपक्रमैः।
तस्य सम्पाचनं कुर्यात्······ ॥
२–दधितक्रसुराशुक्तधान्याम्लैर्योजितानि तु।
स्निग्धानि लवणीकृत्य पचेदुत्कारिकां शुभाम्॥

अलसी को इतना दलना चाहिये कि इस में से तेल बाहर न आये। जितने स्थान पर पुलटिस बांधनी हो, उससे दुगुने आकार का वस्त्र का टुकड़ा रहना चाहिये। इस टुकड़े को तख्ते या मेज पर फैला दें। जितना आटा आवश्यक हो, इसमें उबलता हुआ पानी थोड़ा थोड़ा डालकर हिलाते जाना चाहिये। कुछ अधिक लेकर कटोरी में डाल दें। यह क्रिया तब तक बरतनी चाहिये जबतक कि घोल गाढ़ा एवं एकसा न बन जाये। इसको कटोरी में से निकाल कर टुकड़े के आधे भाग पर छुरी या चाकु से यथेष्ट मोटी तह में [रोग के अनुसार ¼ से ¾ इञ्च तक मोटाई में] फैला देना चाहिये। अब सफाई से किनारों को चौकोर बना देना चाहिये। बढ़े हुए भाग को छुरी से काट देना चाहिये। कपड़े के शेष आधे भाग से पुलटिस को ढांप देना चाहिये। इसप्रकार से पुलटिस ढंप भी जायेगी और गिरती भी नहीं।

यदि पानी उबल रहा हो और विधिपूर्वक क्रिया की जाय तो पुलटिस इतनी गरम रहती है, जितनी कि रोगी सुगमता से सह सकता है। यदि यह ठण्डी होगई हो तो इसको आग पर रख कर गरम कर लें।

भैरण्डपत्रया शोफं नाहयेदुष्णया तथा ॥

३–सुखोष्णैरुपनाहैश्च सुस्निग्धैरुपनाहयेत् ॥

४–तैलेन सर्पिषा वापि ताभ्यां वा शक्तुपिण्डिका ।
सुखोष्णा शोथपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥

५–सतिला सातसीबीजा दध्यम्ला शक्तुपिण्डिका ।
सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने ॥

६–स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत् ।
तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥

रुग्ण एवं शोथयुक्त पृष्ठ पर पुलटिस को एकदम से थोप नहीं देना चाहिये। अपितु एक किनारे के उपर धीरे से रख कर शेष भाग को धीरे धीरे त्वक्पृष्ठ पर आने देना चाहिये। उतारते समय में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिये। उष्णिमा और आर्द्रता को सुरक्षित रखने के लिये ऊपर से औयलसिल्क वा गट्टा परचा और कम्बल के टुकड़े से ढांप देना चाहिये। इन सब वस्तुओं को स्थिर रखने के लिये ऊपर से पट्टी बांध देनी चाहिये।

पुलटिस त्वक्पृष्ठ के साथ चिपक न जाय इसके लिये पूर्व जैतून का तेल अथवा तिलका तेल लगा देना चाहिये। परन्तु जहां पुलटिस में तेल बरता जाये वहां तेल लगाने की ज़रूरत नहीं होती।

चिकित्सकों को पूयोत्पत्ति के कारणों के ज्ञात होने से पूर्व चिकित्सा में व्रण के ड्रैसिंग के लिये सामान्यतः अलसी की पुलटिस काम में लाई जाती थी। परन्तु आज कल-सिर्फ विना फटी त्वचा पर फ़लालैन के सेक की भान्ति इसे लगाया जाता है। इससे देरतक उष्णिमा रहती है। परन्तु इसका भार हानिकारक होता है; यही एक दोष है।

एन्टीफ्लोजिस्टीन—

यह प्रायः करके उपनाह के स्थान पर काम आती है। खास कर फफड़ों की रुग्णावस्था में इसका व्यवहार होता है। यथा-निमानिया अथवा कास रोग में। इसको बटरमसलिन या लिन्ट पर फैला कर रुग्ण प्रदेश पर लगाते हैं। चौबीस घन्टे के पीछे बटर मसलिन को हटाकर त्वचा को साफ़ कर देना चाहिये। यदि पूर्णलाभ न हुवा हो तो नई तह लगानी चाहिये। यह महंगी है, इसलिये आमतौर पर

सुगमता से नहीं बरती जा सकती। यदि अलसी की पुलि-टिस को अच्छी प्रकार से बनाया जाये और बार-बार बदलते रहें तो पूर्णलाभ देती है।

एएटीफ्लोजिस्टीन को व्यवहार में लाने के लिये डब्बे को उबलते पानी में पांच मिनिट तक रख कर छुरे द्वारा लिन्टके टुकड़े पर [जो कि मेज़ पर फैलाया हो] फैला देना चाहिये। इसमें कोई सिलवट नहीं आने देना चाहिये। तह को बहुत मोटा नहीं रखना चाहिये।

थरमोजीन वूल—

यह भी त्वचा को लाल करती है। लगाने से पूर्व वूल को गीला कर लेना चाहिये।

मस्टर्ड लीव्स (राई के पत्ते)—

ये पत्ते त्वचा के लिये विक्षोभक हैं। इनको सदा ताज़ा बरतना चाहिये। इनके व्यवहार से त्वचा में विवर्णता आ-जाती है। इनका चिन्ह महीनों में मिटता है।

राई के पत्ते की भान्ति तमाखू के पत्ते का भी अण्डकोष आदि के शोथ में व्यवहार होता है। इसीप्रकार से पान का पत्ता भी शोथ को कम करने के लिये बरता जाता है।

स्ट्रैपिंग (चिपकने वाली पट्टियां)—

इस काम के लिये साधारणतः एडहैसिव प्लास्टर बरता जाता है। परन्तु यदि यह रोगी की त्वचा के लिये विक्षोभक हो तो सोप प्लास्टर काम में लाना चाहिये। ये प्लास्टर साधा-रण चिपकने वाली पट्टियों से अधिक मज़बूत होते हैं। जहां पर दर्दशामक प्रभाव अभीष्ट हो वहां पर एड्हैसिव प्लास्टर के स्थान पर बैलाडोना प्लास्टर काम में लाना चाहिये। जब विक्षोभक प्रभाव अभीष्ट हो तो पिच प्लास्टर या कैन्थरैडीन प्लास्टर बरतना चाहिये।

इण्डिया रबर के प्लास्टर अधिक उत्तम हैं। क्योंकि इन में तरी नहीं आती। इसलिये ये ढीले नहीं होते। प्लास्टर आपस में चिपक न जायें इसके लिये बीच में 'मसलिन' रख देते हैं। लगाते समय इनको उतार लेना चाहिये। यदि मसलिन चिपक गया हो तो गीला करके उतार लेना चाहिये।

स्ट्रैपिंग प्रायः तन्तुवों को सहारा देने के लिये किया जाता है। यदि व्रण के दोनों ओष्ठों को मिलाना अभीष्ट हो तो स्ट्रैपिंग इतना लम्बा होना चाहिये कि प्रत्येक पार्श्व में कुछ दूर तक पहुंच सके, जिससे तन्तु दृढ़ता से पकड़े जा सकें। कई व्रणों की अवस्था में स्ट्रैपिंग व्रण के चारों ओर चिपकाया जाता है। प्लास्टर लगाते समय व्रण के ओष्ठों को साथ में मिलाकर पकड़ना चाहिये। साधारणतः प्लास्टर को ऊपर की ओर खींचना चाहिये। अर्थात् प्रथम व्रण के निचले ओष्ठ पर चिपकाना चाहिये। व्रण से प्लास्टर को उतारते समय इसको खींचना नहीं चाहिये। इसके लिये प्लास्टर के प्रान्तों को उठाकर शनैः शनैः केन्द्र की ओर लाकर धीरे से उतार लेना चाहिये। जहां खिचाव की आवश्यक्ता हो वहां उत्तम है कि प्लास्टर की भिन्न भिन्न चौड़ाई की दो पट्टियां काम में लायी जायें। तंग को चौड़ी पट्टी में से तिरछे छिद्र द्वारा गुज़ारना चाहिये। जिससे दोनों भाग ज़ोर से खींचे जा सकेंगे।

साधारण स्ट्रैपिंग व्रण के स्राव से सड़ जाता है। इसका रंग काला हो जाता है। इसीप्रकार जिस भाग पर यह लगा रहता है वह भी स्थान काला हो जाता है। इस रंग को तुरन्त उतारना चाहिये। इसके लिये स्थान पर जैतून का तेल या सिरका अथवा साबुन और पानी को धीरे धीरे घिसना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि उसकी अंगुलि जो कि उतारते समय मैली और चिपचिपी हो गई है, उसको

इसी विधि से [अथवा तारपीन का तेल लगा कर] साफ करले। प्लास्टर की साफ़ पृष्ठ को उबलते पानी की डेगची के बाहर पकड़ कर या पट्टी को दो या तीन मिनिट के लिये गरम पानी में भिगो कर गरम कर लेना चाहिये। इस प्रकार से प्लास्टर चिकना होकर जल्दी से ऊंची नीची सतह को पकड़ लेगा। प्लास्टर को शुष्क करने के लिये तथा अवयव पर प्लास्टर को दबाने के लिये वस्त्र का उपयोग करना चाहिये। बालों के स्थान पर प्रथम उस्तरे से त्वचा को साफ़ कर लेना चाहिये। अन्यथा बालों से चिपक कर रोगी को कष्ट होगा।

अंग पर स्ट्रैपिंग—

वैरीकोज़ व्रण के लिये टांगों पर प्रायः स्ट्रैपिंग [चिपकने वाली पट्टियों का लगाना] करना होता है। बाहु पर भी यदि पट्टी बांधनी हो तो इसी विधि से बांधनी चाहिये। एक इंच चौड़ी और बीस इञ्च लम्बी पट्टी को व्रण से दो इंच नीचे से आरम्भ कर के ऊपर तक ले जाना चाहिये। जहां पर शिरायें बढ़ीं हों वहां पर इससे भी ऊंचे तक ले जाना चाहिये। एड़ी को स्टूल पर रख कर ऊंचा उठा लेना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि रोगी के सामने खड़ा होकर प्लास्टर को भली प्रकार गरम करके, अंग के नीचे से गुज़ारे। प्लास्टर का मध्यभाग टांग के पीछे आना चाहिये। फिर दोनों प्रान्तों को अवयव के पार्श्वों में लाकर, सामने में परस्पर काटते हुए पकड़ना चाहिये। प्लास्टर के छोरों को ऊपर की ओर रखना चाहिये। इससे किनारों को बिना काटे सफाई के साथ पूर्णरूप में पट्टी लग जाती है। दूसरा चक्कर भी इसी प्रकार बनाना चाहिये। परन्तु इस दूसरे चक्कर से प्रथम चक्कर का तिहाई भाग ढंप जाना आवश्यक है। पट्टी के

किनारों को आगे की ओर खींचते समय बल लगाना चाहिये। बल बहुत न लगावें चूंकि रोगी दबाव को सहन नहीं कर सकता, साथ ही सारा ड्रैसिंग खोलना पड़ेगा पट्टी के प्रान्त पर्य्याप्त लम्बे होने चाहियें, जिससे कि व्रण के किनारों के पार चले जायें।

सन्धि या अंग पर से पट्टी को उतारने के लिये एषणी को पट्टी के नीचे से गुजारना चाहिये। इसप्रकार करने से समय और कष्ट दोनों से रोगी बच जाता है। फिर इसको कैंची से काट देना चाहिये। इस प्रकार करने से सब एकदम उतर जायेगा।

सन्धि की पट्टी—

प्रायः घुटने या गुल्फ सन्धि पर चिपकने वाली पट्टियां बांधनी पड़ती है। गुल्फ सन्धि की पट्टी को अंगुलियों के जड़ की सन्धि के पास से आरम्भ करके गुल्फ सन्धि से कुछ ऊपर लेजाना चाहिये। फिर पांव पर लाकर पांव के तलुवे के महराव के उपरिपृष्ठ पर पट्टी के दोनों छोरों को परस्पर काटते हुए गुजारना चाहिये और एक दूसरी पट्टियों का सैट 'टैण्डो एकीलिस, [एड़ी की पिछली कण्डरा] के पीछे से आरम्भ करके गुल्फ पर लाते हुए प्रथम स्थान पर ही परस्पर काटना चाहिये। इसप्रकार करने से सन्धि सम्पूर्ण ढंप जायेगी और एड़ी खाली रहेगी। सन्धि के विषम होने से प्लास्टर को सफाई के साथ लगाने के लिये यह आवश्यक है कि किनारों को बहुत से स्थानों पर से काट दिया जाये। प्रत्येक चक्कर देते समय पट्टी को हाथ से साफ़ कर लेना चाहिये।

घुटने की सन्धि की पट्टी—

घुटने या कोहनी के लिये नरम चमड़े पर [जिस चमड़े

से मशीन आदि साफ की जाती है-श्वेत रंग का] लगा हुवा सोप प्लास्टर या दिवल्ड कैलिको प्लास्टर बहुत उत्तम है। पट्टी टांग की भान्ति बांधनी चाहिये। पट्टी इतनी बड़ी होनी चाहिये जो कि सन्धि के चारों ओर आने के साथ सामने की ओर कटाव में आसके [परस्पर काटती रहे]।

स्कॉट का ड्रैसिंग—

यह ड्रैसिंग शोथजनित वस्तु को विलीन करने के लिये किया जाता है। इसके लिये मोटी गाढ़ी बुनी हुई ज़ीन के ऊपर पारद की मरहम(मरक्यूरियल औयन्टमैन्ट) लगा कर पट्टी बनाते हैं। इस पट्टी के ऊपर चिपकने वाली पट्टी बांध दी जाती है। जिससे अंग पर दबाव रहता है। प्लास्टर को लिन्ट से कुछ दूरी तक ऊपर तथा नीचे लेजाना चाहिये जिससे कि अंग पकड़ा रहे।

स्तन पर पट्टी—

शोथयुक्त या बढ़े हुए स्तनों को सहारा देने के लिये चिपकने वाली पट्टी एक उत्तम साधन है। यह साधारण पट्टी की भान्ति सहसा ढीली नहीं होता। इस में १½ इंच से दो इंच चौड़ी और ३० इंच लम्बी पट्टी काम में लानी चाहिये। सहायक को चाहिये कि पट्टी बांधते समय स्तन को ऊंचा पकड़े। पट्टी के एक प्रान्त को दूसरे पार्श्व के अंसफलक की धार के ठीक ऊपर दृढ़ता से चिपकाना चाहिये। फिर अक्षकास्थि के ऊपर से गुज़ारते हुए रुग्ण स्तन के ठीक नीचे लाकर-कक्षा को पार करके फिर पीछे लेजाना चाहिये। प्रथम पट्टी ठीक स्तन के नीचे से गुज़ारनी चाहिये। और दूसरा चक्कर प्रथम को थोड़ा सा ढांपते हुए (⅓ भाग) थोड़ी ऊंचाई से जाना चाहिये। इस प्रकार धीरे धीरे चूचुक की ओर बढ़ते जाना चाहिये। जब तक कि स्तन को पूरा सहारा न आजाये। यदि आश्रय के

साथ साथ दबाव भी देना अभीष्ट हो तो रुग्ण पार्श्व के चूचुक के ऊपर कक्षा के ऊपर के भाग से विरुद्ध दिशा की भुजा के नीचे वाले प्रदेश में जाते हुए—स्ट्रैप लगाना चाहिये।

स्तन पर प्लास्टर—

चिरकालीन शोथ आदि में जब स्तन पर 'बैलाडोना प्लास्टर' लगाना हो तो प्लास्टर को ऐसा काटना चाहिये कि स्तन पर ठीक बैठ जाये। चूचुक पर दबाव या सिलवट नहीं पड़ने देना चाहिये। इसके लिये ४ से ५ इञ्च का चकोर प्लास्टर का टुकड़ा बनाकर बीच में चूचुक के व्यास से दुगना बड़ा गोल छेद बनाना चाहिये। प्लास्टर के एक कोने से तिरछा काट कर इस कटाव को केन्द्र से मिला देना चाहिये। जब लगाना हो तो चूचक को इस छेद में से निकालकर प्लास्टर को इस तिरछे कटाव की सहायता से-विना सिलवट पड़े-सुगमता से स्तन पर चिपका सकते हैं।

अस्थिभङ्ग में चिपकने वाली पट्टी—

विकृतावस्था एवं टूटने में प्रायः इस पट्टी की आवश्यकता पड़ती है। इसके द्वारा साधारण पट्टी की अपेक्षा फलक आदि अन्य उपकरण अधिक स्थिर रह सकते हैं। साथ ही अंग पर विना दबाव दिये अंग को खींचा जासकता है। खिंचाव प्रायः आवश्यक होता है।

उन्नाज़ ट्रीटमिन्ट ऑफ क्रोनिक अल्सर (पुराने व्रणों के लिये उन्ना द्वारा निर्दिष्ट चिकित्सा)—

इसके लिये गरम लेई बनानी चाहिये। इस लेई को बनाने के लिये १० भाग ज़िंकऑक्साईड, १५ भाग जैलेटिन, ३० भाग ग्लिसरीन और ४५ भाग पानी मिलाकर गरम करना चाहिये। लगाते समय लेई को साधारण चीनी के बर्तन में गरमी से पिघला लेते हैं। लेई को व्रण पर तथा इसके आस

पास के भागों पर ब्रुश से लगा दिया जाता है। इस पर मज़बूती से गौज़ की पट्टी की तह लाकर फिर दुबारा लगाते हैं। सहारा देने के लिये जितनी भी तहों की आवश्यक्ता हो उतने चक्कर पांव से आरम्भ करके घुटने तक ले जाने चाहियें। यह ड्रेसिंग दूषित अशुद्ध व्रणों पर अथवा जिनसे अधिक मात्रा में स्राव हो रहा हो उन पर, नहीं लगाना चाहिये। व्रण को यथासम्भव स्वच्छ करना चाहिये। दुबारा ड्रेसिंग करने से पूर्व कई वार बोरिक फौमन्टेशन करना चाहिये। ड्रेसिंग को तीन चार या पांच दिन में बदल डालना चाहिये।

तेरहवां प्रकरण।

पट्टी या बैण्डेज

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणो याति च मार्दवम्।
रोहत्यपि च निःशंकस्तस्माद् बन्धो विधीयते॥

शस्त्र चिकित्सा में बहुधा पट्टी बांधने का काम पड़ता है। इसलिये चिकित्सक को इन पट्टियों का अभ्यास पूर्णरूप से होना चाहिये। पट्टी के बांधने से व्रण-चिकित्सा सुरक्षित रहती है[1] और रोगी को आराम

---

[1] चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमति पातितम्।
अस्थिस्नायुशिरश्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः॥

अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिरसृक्प्रसादो मार्दवं च। अबध्यमानो दंशमशकतृणकाष्ठोपलपांशुशीतवातातपप्रभृतिभिः विशेषैरभिहन्यते॥

रहता है। पट्टी[1] या बैण्डेज न तो इतनी कसकर बांधना चाहिये जिससे रोगी को पीड़ा हो या रक्तप्रवाह में वाधा आये और न इतनी ढीला हो कि वह खिसक जाये। ठीक प्रकार से बंधी पट्टी से रोगी को आराम मिलता है। पट्टी का अभ्यास परस्पर मिलकर करना चाहिये।

पट्टी बांधने के लिये कई प्रकार की वस्तुयें काम में लाई जाती हैं। बहुधा वस्त्र का उपयोग किया जाता है। सूती कपड़े की खुली बुनी पट्टियां प्रायः शोषक या चूसने वाली होती हैं। साथ ही ये पट्टियां ठण्डी और अधिक स्थितिस्थापक होती हैं। इसके अतिरिक्त गाढ़ा, गज़ी, मलमल, लट्ठा, गौज़ फलालैन, रबर आदि की पट्टियां बरती जाती हैं[2]। भिन्न भिन्न स्थान के लिये भिन्न भिन्न चौड़ाई और लम्बाई की पट्टियां काम में आती हैं। साधारणतः २½ से ३ इञ्च चौड़ी पट्टियां व्यवहार में आती हैं। इसके अतिरिक्त—६ इंच चौड़ी ८ गज़ लम्बी पट्टियां भी छाती पर लपेटने के काम आती हैं। २½

१ तत्र व्रणायतनविशेषाद् बन्धविशेषः त्रिविधः। गाढः समः शिथिल इति। तत्र स्फिक्कुक्षिकक्षावंक्षणउरःशिरःसु गाढम्। शाखावदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्कवृक्कपार्श्वोदरःसु समम्। अक्ष्णोः संधिषु च शिथिलः॥

पीडयन्नरुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः।
नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः॥
स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान्।
दोषं देशं च विज्ञाय व्रणं च व्रणकोविदः।
ऋतूंश्च परिसंख्याय ततो बन्धान्निवेशयेत्॥

२ अत उर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः। क्षौमकार्पासाविक-दुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्टचर्म.........लौहानि इति तेषां व्याधिकालं चावेक्ष्योपयोगः॥

इंच चौड़ी और ४ गज़ लम्बी पट्टियां अमूमन काम में आती हैं। इनकी सहायता से अस्थि टूटने पर फलक आदि बांधे जाते हैं। इसी प्रकार १½ इंच चौड़ी और ८ फीट लम्बी पट्टियां भी प्रायः काम में आती रहती हैं। अंगूठे या अंगुली पर बांधने के लिये ¾ इंच और ½ इंच चौड़ी तथा ४ फुट लम्बी पट्टियां बरती जाती हैं। इसलिये भिन्न भिन्न आकार की पट्टियां सदा तय्यार रखनी चाहियें।

पट्टियों को भलीप्रकार से लपेट कर रखना चाहिये। यह काम मशीन की सहायता से अथवा हाथों से ही करना चाहिये। लपेटते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पट्टी एक समान गोल, कसी हुई लपेटी जाये। न तो यह ढीली हो और न किनारों से धागे आदि निकले हों। पट्टी के दो प्रान्त या छोर होते हैं। जो छोर पहिले बांधा या अंग पर स्थिर किया जाता है उसको शिर कहते हैं, और जो सबसे पीछे आता है, उसको पुच्छ कहते हैं। इसीप्रकार से पट्टी के दो पृष्ठ होते हैं। एक वह पृष्ठ जो कि बांधने वाले की ओर रहता है, इस को पूर्वीय पृष्ठ कहते हैं, और जो रोगी के अंग पर रहता है, वह पश्चिमीय पृष्ठ कहाता है। बांयें अंग पर पट्टी बांधते समय लिपटी पट्टी के बेलन को दक्षिण हाथ में थाम कर पट्टी के शिरोभाग को वाम हाथ में पकड़ कर रोगी के अंग पर स्थिर रखते हुए अन्दर से बाहर की ओर बेलन को घुमाना चाहिये। अर्थात् रोगी के अंग पर से घुमाते हुए, अंग के नीचे से लाकर फिर वहीं पर जहां से आरम्भ किया वहीं पर ले आना चाहिये। इसप्रकार से पट्टी अंग के सामने की ओर भीतर से बाहर और अंग के पीछे की ओर में बाहर से भीतर आती है। पट्टी बांधते समय बेलन अंग के साथ साथ घूमता है। बेलन को अधिक नहीं खोलना

चाहिये, जितनी आवश्यक्ता हो उतना ही उसे खोलें।

किस स्थान पर कैसी पट्टी बांधनी चाहिये इसका विचार चिकित्सक को स्वयं करना चाहिये। जो पट्टी जिस अंग पर ठीक प्रकार से बैठे वही वहां पर बांधनी होती है। आवश्यक्तानुसार भिन्न २ पट्टियां बांधी जाती हैं। यहां पर मुख्य मुख्य पट्टियों का वर्णन करते हैं।

चित्र नं० ३०. चित्र नं० ३१
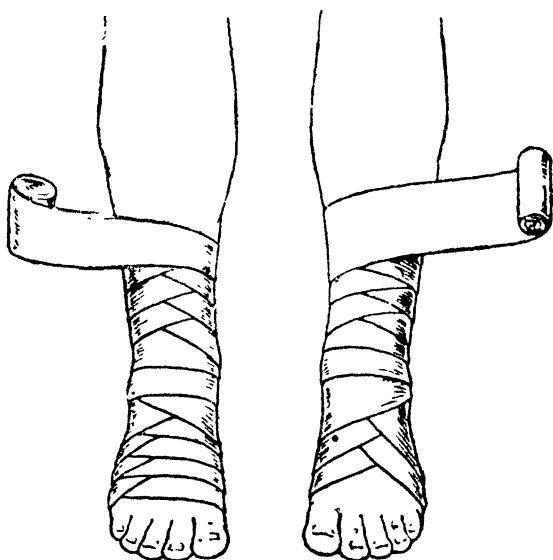
अनुवेल्लित पट्टी। स्वस्तिक पट्टी।

अनुवेल्लितपट्टी—

यह पट्टी लता के समान चक्कर-वलेटे खाती हुई ऊपर को चढ़ती जाती है। इस पट्टी का आरम्भ अंग के नीचे से किया जाता है। यह पट्टी प्रायः हाथ पांव की शाखाओं पर बांधी

१ तत्र कोशदामस्वस्तिकानुवेल्लितप्रतोलीमण्डलस्थगिकायमकखट्वा-

जाती है। प्रथम चक्कर को स्थिर करने के लिये एक ही स्थान पर दो चक्कर दिये जाते हैं, जिससे पट्टी स्थिर हो जाती है। इसके बाद अगले लपेट ऊपर की ओर चढ़ते जाते हैं। प्रत्येक ऊपर का लपेट अपने से निचले लपेट का ⅓ भाग ढांप लेता है। ऊपर को बढ़ते हुए अंग की मोटाई भी क्रमशः बढ़ती जाती है। इसलिये पट्टी के लपेट ठीक नहीं बैठते। पट्टी के लपेट ठीक बैठें और साफ़-देखने में सुन्दर लगें इसलिये पट्टी के लपेटों को मोड़ देना चाहिये। मोड़ सदा अंग के बाहर आना चाहिये। मोड़ देने के लिये हथेली को ही घुमा देना पर्य्याप्त है, अर्थात् अन्दर से बाहर आजाये। इसप्रकार करने से पट्टी स्वयं घूम जायेगी। यह घुमाव अस्थि के उभार पर नहीं आने देना चाहिये। घुमाव में पट्टी

चीनविबन्धवितानगोफणाः पंचाङ्गी चेति चतुर्दश। तेषां नामभिरेवाकृतयः व्याख्याताः॥

तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वामहस्तपरिक्षेपमृजुमनाविद्धमसं कुचितं मृदुपट्टं निवेश्य बध्नीयात्। न च व्रणस्योपरि कुर्याद् ग्रन्थिं बाधकरं वा।

> राङ्कोऽथबादरश्चैव पट्टो व्रणहितः स्मृतः।
> बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः॥

तत्रकोशमंगुष्ठांगुलिपर्वसु विदध्यात्। दाम सम्बाधेऽङ्गे। सन्धिकूर्चभ्रूस्तनान्तरतलकर्णेषु स्वस्तिकम्। अनुवेल्लितं शाखासु। ग्रीवामेढ्रयोः प्रतोलीम्। वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्। अंगुष्ठांगुलिमेढ्राग्रेषु स्थगिकामूयमलव्रणयोर्यमकम्। हनुशङ्खगण्डेषु खट्वाम्। अपांगयोश्चीनम्। पृष्ठोदरःसु विबन्धम्। मूर्धनि वितानम्। चिबुकनासौष्ठांसबस्तिषु गोफणाम्। जत्रुण उर्ध्वं पञ्चाङ्गीम्। यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन् विदध्यात्। यन्त्रणमत उर्ध्वमधस्तिर्यक् च॥

का नीचे का किनारा ऊपर और ऊपर का नीचे आ जाता है। इस घुमाव से पट्टी अंग पर भली प्रकार बैठ जाती है। पट्टी में ढीलापन भी नहीं आता। कई बार मोड़ देने के लिये अंगुली की सहायता ली जाती है। परन्तु यदि पट्टी को पर्य्याप्त ढीला रखा जाये तो विना अंगुली के भी पट्टी घूम जाती है। मोड़ लगाने के पश्चात् पट्टी को फिर से खींच लेना चाहिये। इसप्रकार लपेट देते हुए एक सिरे से दूसरे सिरे तक पट्टी बांधी जा सकती है।

स्वस्तिक पट्टी—

इस पट्टी का रूप हिन्दी के चार या अंग्रेजी के आठ के समान होता है। यह बण्डेज सन्धि के लिये बहुत उपयुक्त है। इन स्थानों पर अनुवेल्लित पट्टी नहीं बंध सकती। जिस सन्धि पर पट्टी बांधनी हो उसके नीचे से आरम्भ करनी चाहिये। इसको बांधने के लिये पट्टी के शिरोभाग को स्थिर रखकर पट्टी को सन्धि के ऊपर से एक ओर से दूसरी ओर लाकर पट्टी को अंग के नीचे से गुज़ार कर, अब पट्टी को ऊपर से नीचे की ओर पट्टी के ऊपर से गुज़ारते हुए लाना चाहिये। इसप्रकार से अब पट्टी का सिरा वहीं आ पहुंचेगा जहां से पट्टी आरम्भ की थी। इसप्रकार कई लपेट लगाकर सन्धि को ढांप देना चाहिये।

परन्तु यदि सन्धि से ऊपर भी पट्टी बांधनी हो तो अनुवेल्लित पट्टी बांधनी चाहिये। इस प्रकार से एक ही पट्टी से दोनों प्रकार की पट्टियां बांधी जा सकती हैं।

पांव के अंगूठे की पट्टी—

बायें हाथ से पट्टी के एक सिरे को अन्तर्गुल्फ के पास थामना चाहिये। वलन को टांग के नीचे से गुज़ार कर पांव के ऊपर से लाते हुए पांव के तलुवे में ला कर अंगूठे के नीचे

के उभार के पास ले आना चाहिये। वहां से पट्टी को पांव के अन्तःपार्श्व तथा ऊपर से गुज़ारते हुए अंगूठे और अंगुली के बीच में से निकालना चाहिये। फिर अंगूठे के सिरे पर लाकर अनुवेल्लित रूप से पट्टी बांध देनी चाहिये। यहां से पट्टी ऊपर को चढ़ती हुई अंगूठे के मूल तक पहुंच जाती है। फिर पट्टी को पांव के ऊपर से लेजाकर बाहर की ओर ले आना चाहिये। यहां से पांव के तलुवे पर ले जाते हुए अन्तर्गुल्फ पर लाकर पट्टी के प्रथम छोर से बांध देना चाहिये।

जंघा की पट्टी—

पट्टी को स्थिर करके कुछ लपेट स्वस्तिक पट्टी के बांधने चाहियें। अब पट्टी को जंघा के निचले भाग पर ले आना चाहिये। प्रथम दो चार लपेट साधारण अनुवेल्लित ढंग पर ही देने चाहियें। जंघा चूंकि ऊपर की ओर मोटी होती है इस लिये अब मरोड़ देना चाहिये। ये मरोड़ जंघा के बाहर की ओर तथा एक रेखा में आने चाहियें। जिस से सुन्दर दिखाई देवे। इसप्रकार से जहां तक आवश्यक हो वहां तक पहुंचा देना चाहिये।

जंघा के साथ साथ यदि पांव पर भी पट्टी बांधनी हो तो प्रथम अंगुलियों के मूल से आरम्भ करके पांव पर अनुवेल्लित पट्टी बांधनी चाहिये। गुल्फ पर पहुंच कर स्वस्तिक पट्टी लगाकर आगे जंघा की पट्टी बांध देनी चाहिये।

गुल्फ की पट्टी—

(१)—पट्टी का आरम्भ एड़ी के नीचे से करना चाहिये। बांये हाथ से पट्टी के एक छोर को वहां पर थाम कर दूसरे हाथ से पट्टी के बेलन को गुल्फ के सामने की ओर लेजाकर चारों ओर एक लपेट देना चाहिये। दूसरा लपेट

भी इसके ऊपर ही देना चाहिये। यह लपेट प्रथम लपेट के आधे भाग को ढांप ले ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। तीसरा लपेट लगाकर प्रथम लपेट के बचे शेष भाग को भी ढांप देना चाहिये। अब बेलन को एड़ी से पांव के भीतर की ओर ले जाते हुए-ऊपर से निकाल कर अंगुलियों के मूल पर पहुंचा देना चाहिये। यहां से अनुवेल्लित पट्टी बांधनी चाहिये। प्रथम अंगुलियों पर लपेट देना चाहिये—फिर ऊपर की ओर बढ़ना चाहिये। जहां ज़रूरत प्रतीत हो वहां पर मोड़ दे देना चाहिये। इसके पीछे एड़ी पर पहुंचकर गुल्फ के चारों ओर स्वस्तिक लपेट देना चाहिये। आगे गुल्फ के ऊपर जंघा के नीचे के सिरे पर पट्टी समाप्त कर देनी चाहिये।

गुल्फ की पट्टी

(२)-[एड़ी को छोड़कर]—एड़ी को बचाते हुए गुल्फ पर स्वस्तिक पट्टी बांधनी चाहिये। एक ओर का लपेट पांव पर और दूसरे ओर का लपेट जंघा के निम्न भाग पर रहेगा। एड़ी बिल्कुल बच जायेगी। इस स्थान के लिये स्वस्तिक पट्टी उत्तम है।

गुल्फ और एड़ी की स्वस्तिक पट्टी

पूर्व विधि से स्वस्तिक पट्टी बांधनी चाहिये। भीतर से बाहर की ओर पट्टी बांधते हुए एड़ी और गुल्फ पर लपेट लगाना चाहिये। दूसरा लपेट इससे ज़रा ऊपर ऐसा आना चाहिये जिससे कि प्रथम लपेट का ऊपर का आधा भाग ढंप जाये। तीसरा लपेट प्रथम लपेट के नीचे की ओर ऐसा बनाना चाहिये जिससे कि प्रथम लपेट का बचा भाग भी ढंप जाये। चौथा लपेट तीसरे लपेट से ज़रा ऊपर रहेगा और पांचवां तीसरे से फिर नीचे रहेगा। यह पांचवां लपेट पांव के तले पर से गुज़रता हुआ एड़ी के पास में भीतर से बाहर

चित्र नं० ३२
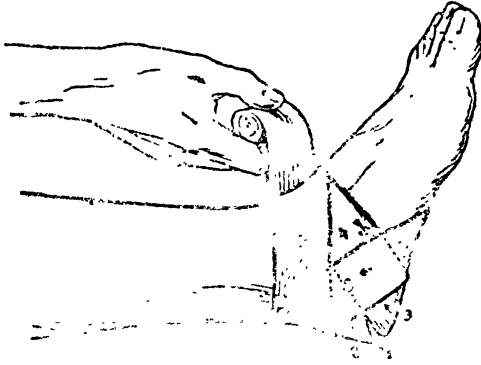
गुल्फ और एड़ी पर स्वस्तिक पट्टी।

आयेगा। वहां से गुल्फ के ऊपर से गुजरता हुआ पार्ष्णि कण्डरा की ओर चला जायगा। यहां से अगला लपेट गुल्फ के सामने की ओर पादपृष्ठ पर से होता हुआ पांव के तल

चित्र नं ३३
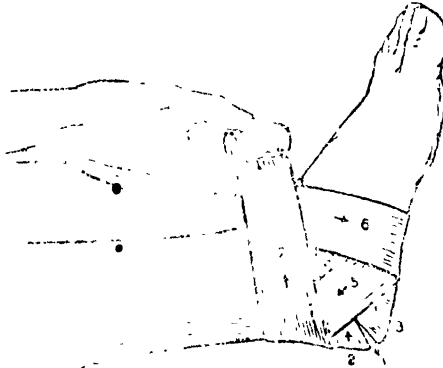
गुल्फ और एड़ी पर स्वस्तिक पट्टी।

पर से गुज़रता हुआ एड़ी के बाहर की ओर आ पहुंचेगा।

यहां से लपेट एड़ी के बाह्य पार्श्वभाग पर से गुज़र कर जंघा के पीछे की ओर आजाता है। यहां से सातवां लपेट गुल्फ के सामने की ओर लगाया जाता है। आवश्यकतानु-सार दो या तीन और अधिक लपेट लगाकर पट्टी को समाप्त कर देना चाहिये।

जानुसन्धि की पट्टी—

पट्टी के सिर को स्थिर करने के लिये जान्वस्थि के नीचे पट्टी के छोर को थामकर जंघा के नीचे एक लपेट देना चाहिये और फिर वेलन को आगे चलाकर सन्धि के पीछे लाकर जान्वस्थि के ऊपरी किनारे पर निकालना चाहिये। इस लपेट को फिर पीछे की ओर ले जाना चाहिये। चौथा लपेट भी इसके ऊपर ही आना चाहिये। परन्तु यह तीसरे लपेट से ज़रा ऊपर रहना चाहिये। पांचवां लपेट चौथे को ढांपता हुआ नीचे उतरता है। सन्धि के पीछे जाकर दूसरी ओर को निकलकर फिर ऊपर चढ़ना आरम्भ करता है। परन्तु यह नीचे उतरने वाले लपेट को थोड़ा सा ढांप लेगा। सन्धि के ऊपर आकर फिर उसके ऊपर की ओर जायगा और दूसरी ओर से नीचे उतरेगा। उतरते समय प्रथम चढ़ने वाले लपेट को ढांप लेगा। इस प्रकार से उतरता हुआ लपेट प्रत्येक चढ़ने वाले लपेट को ढांपता चला जाय-गा। इसप्रकार से लपेटते जाओ जब तक कि अंग की सन्धि पूरी न ढंप जाये।

ऊरूसन्धि की सुपाशा (spica) पट्टी—

यह पट्टी ऊरूसन्धि के पास के व्रण को ढांपने में काम आती है।

पट्टी का आरम्भ वंक्षण सन्धि के नीचे ऊरू और अण्डकोश की मध्यवर्ती सीता से होता है। सिरे को यहां

पर पकड़कर बेलन को बाहर की ओर चलाते हुए नितम्ब के ऊपर से ले जाकर कटि पर से गुज़ारते हुए दूसरे पार्श्व के नितम्ब के ऊपरी भाग पर लाकर पेडू पर से गुज़ार कर जहां से आरम्भ किया था वहीं पर ले आना चाहिये। यहां से दूसरा लपेट प्रारंभ होता है। यह लपेट प्रथम लपेट के ऊपर से होता हुआ ऊरू के पीछे चला जाता है, फिर भीतर से बाहर की ओर निकल कर पहले लपेट के ऊपरी आधे भाग को ढांप लेता है। यहां से नितम्बास्थि की ओर जाता है। अन्य लपेट भी इसी प्रकार बांधने चाहियें।

यह पट्टी उस समय भलीप्रकार से बंध सकती है, जब रोगी खड़ा हो, अथवा ऐसे स्थान पर लेटा हो जहां से कि हाथ कमर के नीचे आ जा सके।

दोनों वङ्क्षणों की सुपाशा पट्टी (Double spica)—

चित्र नं ३३ चित्र नं० ३४
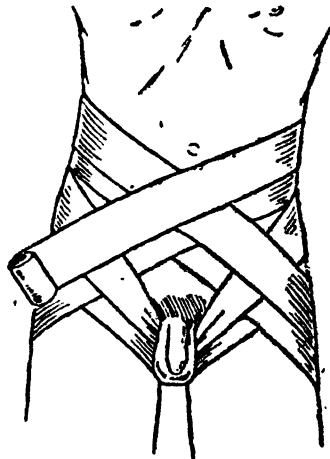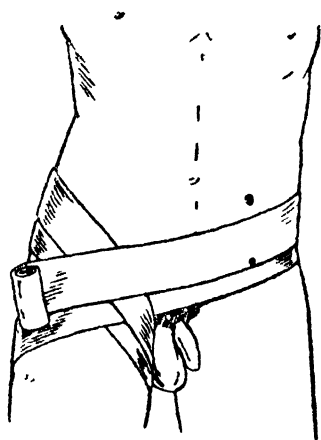
एक ऊरुसन्धि(वङ्क्षण)की पट्टी। दोनों ऊरुसन्धियों की पट्टी।

इस का प्रारम्भ पूर्व की भान्ति किया जाता है। अर्थात् पट्टी को दक्षिण पार्श्व की ऊरू की सीता से आरम्भ किया जाता है। पट्टी दक्षिण नितम्ब पर से हो कर कटि पर से होती हुई वाम नितम्बास्थि पर आ जाती है। यहां से वेलन को दक्षिण की ओर न लेजा कर वाम ऊरू की सीता में लाना चाहिये। यहां से पट्टी को पीछे की ओर लेजाकर ऊरू के बाहर से फिर सामने की ओर ले आना चाहिये। यहां से उदर के ऊपर से होती हुई दक्षिण नितम्बास्थि के ऊपर पहुंचती है, जहां से कटि के पीछे को जाती हुई वामनितम्बास्थि के ऊपर होती हुई दक्षिण ऊरू के ऊपर आजाती है। इस से पट्टी का प्रथम सिर ढंप जाता है। यहां से पट्टी फिर ऊरू के पीछे जाकर सीता में से गुज़र कर वामनितम्बास्थि के ऊपर से होकर वाम ऊरू के ऊपर एक स्वस्तिकाकृति होजाती है। वहां से पट्टी फिर पहिले की भान्ति कटि के चारों ओर होकर दक्षिण पार्श्व में पहुंचजाती है, जहां पर स्वास्तिक पट्टी लगती है। इस प्रकार से दोनों पार्श्वों में एक एक स्वास्तिक पट्टी लगती है।

नितम्बाश्रय—

ऊरू या पेडू पर जब पट्टी बांधनी हो तो उस समय रोगी की कटि को ऊंचा उठा कर रखना होता है। इस के लिये दो परिचारक रोगी के पार्श्वों में खड़े हो कर अपने हाथों से कटि भाग को ऊंचा उठाते हैं, जिससे कि चिकित्सक पट्टी को बाहर-अन्दर लेजासकता है। परन्तु देर तक रोगी को हाथों पर उठा रखना सम्भव नहीं है। इसलिये लकड़ी के बने नितम्बाश्रय का प्रयोग किया जाता है। इन नितम्बाश्रयों पर ऊपर गद्दी लगी रहती है। इसे रोगी के नितम्ब के नीचे रख देते हैं जिससे पट्टी बांधने में कोई कठिनाई नहीं होती।

अण्डकोष और सीवन की पट्टी—

शस्त्रकर्म के पश्चात उपचार को सुरक्षित रखने के लिए पट्टी बांधनी पड़ती है। पट्टी में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मल और मूत्र के लिए स्थान खुला रहे। इस पट्टी को 'सेंट एण्ड्रूज़ क्रौस' कहते हैं।

दक्षिण ओर नाभि के नीचे से इस पट्टी का प्रारम्भ किया जाता है। दक्षिण नितम्ब के ऊपर पट्टी के सिरे को रख कर दूसरे हाथ में वेलन को पकड़ कर उदर के ऊपर से लेजा कर दूसरे पार्श्व की नितम्बास्थि के ऊपर से गुज़ारते हुए पट्टी को फिर दक्षिण की ओर ले जाते हैं। पट्टी का सिरा इस लपेट के नीचे आजाता है। अब पट्टी सामने की ओर से निकलकर दक्षिण ऊरू पर हो कर वाम ओर पहुंच जाती है। वहां पट्टी बायें ऊरू के ऊपर होती हुई पीछे को जाकर बायें नितम्ब के नीचे की घाइ पर होकर अण्डकोष के नीचे के स्थान पर से निकल कर जिसको ढांपना अभीष्ट है, दक्षिण ऊरू के भीतर से दक्षिण नितम्बास्थि के उपरि किनारे की ओर लाई जाती है। यहां से वाम ऊरू की ओर उतरना आरम्भ करना चाहिये। यहां से इसको अण्डकोष के नीचे ले आना चाहिये। यहां पर व्रण के ऊपर किया हुवा ड्रेसिंग तथा पट्टी का पहिला सिरा है। यह लपेट पहिले लपेट पर होकर दक्षिण नितम्ब के नीचे की सीता के नीचे लाया जाता है। वहां से फिर उसको दक्षिण ऊरू के ऊपर लाकर उदर के निचले भाग पर गुज़ारते हुए वामपार्श्व की नितम्बास्थि के किनारे पर ले जाते हैं। इसके आगे पट्टी कटि पर होती हुई दक्षिण ओर आती है और पहिले की भान्ति लिपट जाती है। इसप्रकार से दोनों ऊरूस्थलों पर गुज़रती हुई अण्डकोष के नीचे अंग्रेजी के एक्स(x) अक्षर के समान आकार बनाती

है। इस स्थान पर जो वस्त्र होते हैं उनमें छेद बनाकर इसमें से शिश्न को बाहर कर देते हैं। जिससे रोगी मूत्रत्याग कर सकता है। मल-द्वार खुला बच जाता है।

अण्डकोष के शस्त्रकर्म के पश्चात् पट्टी—

शस्त्रकर्म के पश्चात् इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि व्रण पर लगाया ड्रेसिंग मल के कारण दूषित न हो जाय। इसलिये व्रण पर गौज़ रखकर पर्याप्त रूई रख देनी चाहिये। रूई के रखने से जहां पर अण्डकोषों को सहारा मिलता है वहां पर वे खराब होने से भी बच जाते हैं। इन सब के ऊपर बरसाती का टुकड़ा लगा देना चाहिये। इस से मल-मूत्र अन्दर तक नहीं आ सकते।

व्रण पर लगाया उपचार सुरक्षित बना रहे इसलिये दुहरी सुपाशा लगानी चाहिये। जिससे दोनों ओर के ऊरू-उपचार को यथास्थान रखेंगे। पट्टी को स्थिर रखने के लिये यदि सेफ्टीपिन लगा दिये जांय तो बहुत उत्तम है।

किन्हीं अवस्थाओं में कोष में ऊरू की ओर शस्त्रकर्म करना होता है (यथा—हर्निया या मूत्रवृद्धि अथवा वेरीकोसील में), ऐसे समय केवल एक तरफ़ा सुपाशा बांधनी चाहिये।

हाथ की अंगुलि की पट्टी—

इसके लिये ३/४ इञ्च चौड़ी पट्टी लेकर इसको कलई पर स्थिर करना चाहिये। स्थिर करते समय पट्टी के शिरो-भाग में ३ या ४ इञ्च का भाग बचा रखना चाहिये। इस भाग के साथ गांठ बांधी जायगी।

पट्टी को स्थिर करके हाथ के ऊपर से गुज़ारते हुए अंगुलि के सिरे पर लाकर वहां से ऊपर की ओर अनुवेल्लित पट्टी बांधते हुए अंगुलि के मूल तक आजाना चाहिये। यहां

चित्र नं० ३५

से पट्टी के दूसरे सिरे को कलई तक ले आते हैं। और फिर एक या दो चक्कर लगाकर प्रथम छोर के साथ बांध देते हैं।

हाथ के अंगूठे की सुपाशा पट्टी—

इसके लिये भी $\frac{1}{4}$ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त है। अंगुलि की भान्ति पट्टी को कलई पर स्थिर रखकर पट्टी को हाथ के ऊपर से अंगूठ की करभास्थि तक ले आते हैं। अंगूठे के मूल पर एक लपेट लगाया जाता है। अब पट्टी को अंगूठे और तर्जनी के बीच से निकाल कर कलई के भीतर की ओर [बाह्यप्रकोष्ठास्थि से अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर] लाया जाता है। यहां से पट्टी फिर बाहर की ओर जाकर हाथ के ऊपर से होती हुई अंगूठे के नीचे होकर प्रथम लपेट की भान्ति तर्जनी और अंगूठे के बीच से निकलती है। दूसरा लपेट प्रथम लपेट के $\frac{1}{4}$ भाग को हमेशा ढांपता रहता है। इसप्रकार अपने निचले लपेट का $\frac{1}{4}$ भाग ढांपते हुए नीचे की ओर उतरता आता है। इसप्रकार से अंगूठा ढंप जाता है। अन्त में कलई पर एक या दो लपेट लगाकर पट्टी को समाप्त कर देते हैं।

हाथ और अग्रबाहु की पट्टी—

इस पट्टी का प्रारम्भ हाथ पर से होता है। हथेली और कलई पर स्वास्तिक पट्टियों की श्रेणी बनानी चाहिये। यह

लपेट हाथ के पृष्ठ पर एक दूसरे के ऊपर होकर गुज़रते हैं। यह लपेट एक ओर तो हाथ के ऊपर से जाते हैं और फिर कलई के नीचे होकर दूसरी तरफ़ अंगूठे के मूल पर आजाते हैं। जब इन लपेटों से हाथ का पृष्ठ और कलई पूर्ण ढंप जाय तब अग्रबाहु पर कुछ साधारण अनुवेल्लित लपेट लगा दिये जाते हैं। यदि ऊपर का भाग भी ढांपना आवश्यक हो तो पट्टी को मोड़ देकर अनुवेल्लित पट्टी बांध देनी चाहिये।

कूर्पर सन्धि की पट्टी—

यह पट्टी जानुसन्धि के समान है। इसमें स्वस्तिक पट्टी बांधनी चाहिये। पट्टी का प्रारम्भ कोहनी को समकोण पर मोड़ कर उसके नीचे से करना चाहिये। इसके लपेट जानुसन्धि के समान हैं।

बाहु की पट्टी—

बाहु पर अनुवेल्लित पट्टी बांधनी चाहिये। यदि कोहनी और बाहु दोनों पर पट्टी बांधनी हो तो कोहनी पर स्वस्तिक और बाहु पर अनुवेल्लित पट्टी बांधनी चाहिये। जहां पर मोड़ देना आवश्यक हो वहां पर मोड़ देना चाहिये।

कक्षा की पट्टी—

पट्टी को पीछे की ओर से बग़ल में निकालना चाहिये। यहां से पट्टी उरच्छदा बृहती पेशी पर से गुज़रती हुई कन्धे पर जाती है। यहां से गर्दन के पीछे की ओर होती हुई आगे की ओर फिर कन्धे पर आजाती है। इसप्रकार से यह पट्टी ग्रीवा के चारों ओर लिपट जाती है। पट्टी फिर कन्धे में से होती हुई कक्षा में पीछे की ओर प्रवेश करके आगे पहुँचकर वक्ष पर होकर पुनः गर्दन में पहुँच जाती है। पहले की भांति फिर कक्षा में पीछे की ओर पहुँचती है। इसप्रकार से कक्षा और गर्दन में स्वस्तिक लपेट लग जाता

है। इसप्रकार से आवश्यक लपेटों द्वारा कत्ता को ढांप सकते हैं।

कुछ व्यक्ति कक्षा की पट्टी बांधने में ग्रीवा को बचा देते हैं। वे इस पट्टी में दूसरी कक्षा का उपयोग करते हैं। रुग्ण

चित्र नं० ३६
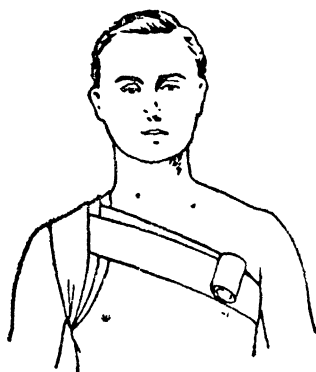
कक्षा की पट्टी

कक्षा में से पट्टी को लेकर दूसरी ओर के कन्धे के ऊपर होकर पट्टी को उस ओर के कक्ष से निकालते हैं। फिर कन्धे के ऊपर से लेजाकर-पीठ पर होकर क्षत-कक्ष के पीछे पहुंचते हैं। जहां से पट्टी को पूर्व की भांति निकाल कर दूसरे कंधे पर ले जाते हैं। इसप्रकार से पट्टी को आवश्यकतानुसार बांधा जा सकता है।

स्कन्ध की सुपाशा पट्टी—

इस पट्टी का प्रारम्भ बाहु के मध्य (डैल्टोयड मसल्स) से किया जाता है। पट्टी को भुजा के मध्य में स्थिर करके बाहु के पीछे से निकाल कर कमर पर से गुज़ारते हुए दूसरी ओर की बग़ल में से निकाल कर सामने छाती पर से होते

हुए पट्टी के प्रारम्भ स्थान पर आजाते हैं। यहां से पट्टी को ज़रा ऊपर की ओर रखते हुए बाहु के ऊपर से ऊपर होकर पीछे की ओर लेजाकर बाहु और कक्षा के बीच में से सामने की ओर ले आना चाहिये। फिर इसीप्रकार करना चाहिये। पट्टी को बाहु के ऊपर से लेजाकर पीठ पर होते हुए दूसरी कक्षा में निकाल कर सामने की ओर क्षतबाहु पर लेआना चाहिये। इसप्रकार पट्टी के लपेट बाहु पर ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं। जिससे सारा कन्धा और ग्रीवा ढंप जाती है।

ग्रीवा की सुपाशा पट्टी—

इसका प्रारम्भ कन्धे पर से किया जाता है। पट्टी के शिरोभाग को कन्धे पर रखकर दूसरे सिरे को बगल में से निकाल कर उसी सिरे पर ले जाते हैं। इसके आगे पट्टी का वेलन ग्रीवा की ओर से जाता है, जहां ग्रीवा के चारों

चित्र नं० ३७
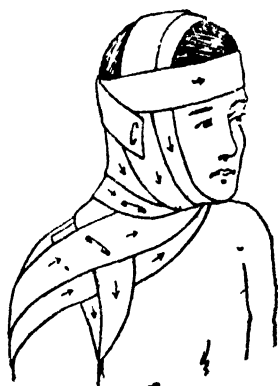
ग्रीवा की सुपाशा पट्टी

ओर घूम कर फिर कक्षा में पहुँच जाता है। इसप्रकार कक्षा और ग्रीवा में एक या दो अनुवेल्लित लपेट लगा दिये जाते हैं। इसके पश्चात् पट्टी चिबुक के नीचे होकर क्षत के दूसरी ओर के कर्ण के पीछे होती हुई शिर के ऊपर आ जाती है। वहां से क्षत पार्श्व के कर्ण के सामने नीचे की ओर आती है। यहां से फिर ग्रीवा में उस का लपेट देकर फिर चिबुक के नीचे से निकाल कर शिर पर ले आते हैं। परन्तु इस बार पट्टी अक्षत कर्ण के सामने की ओर और क्षत पार्श्व के ऊपर वा पीछे की ओर रहती है। तीसरी बार पट्टी को फिर जबड़े के नीचे से जहां वह गर्दन के साथ मिलता है निकालकर पुनः शिर पर ले जाया जाता है। परन्तु शिर पर पहुंचा कर इस को पीछे की ओर घूमा दिया जाता है। यहां से इस को माथे की ओर ला कर एक दो या तीन लपेट बना दिये जाते हैं। इस से पहिले लपेट रुक जाते हैं। यदि व्रण ग्रीवा में दूर तक फैला हो तो स्कन्ध पर सुपाशा पट्टी बांधनी चाहिए। सब लपेट यथा स्थान रह जायें इस के लिए सेफ्टीपिन स्थान स्थान पर लगा देने चाहियें।

आंख की पट्टी—

पट्टी के शिरोभाग को रोगग्रस्त आंख के ऊपर माथे पर थामना चाहिये। यहां से पट्टी के वेलन को दूसरी आंख की ओर माथे पर ही लेजाकर शिर के चारों ओर घुमाते हुए उसको फिर दूसरी बार रुग्ण नेत्र से विपरीत दिशा के कान के ऊपर ले जाना चाहिये। वहां से पट्टी को गुद्दी पर लेजाकर दूसरी ओर के कान के निचले भाग की ओर उतारना चाहिये। जब पट्टी कान के पास पहुंच जाये तो इस को कान के नीचे निकाल कर रोगी के नेत्र की ओर लाना

चित्र नं० ३८

आंख की पट्टी

चाहिये। यह पट्टी नेत्र पर रखे हुए उपचार को दबा लेगी। जब पट्टी माथे पर लिपटे भाग पर आ जाये तो इसको वहीं पर पिन लगा देना चाहिये।

कर्ण और शंखास्थि की विद्रधि की पट्टी—

कान के ऊपर या उसके मूलपिण्ड पर उपचार कर देना चाहिये। पट्टी के एक सिरे को इस पर रख कर पट्टी के वेलन को शिर के चारों ओर ले जा कर एक लपेट लगाना चाहिये। इस लपेट से उपचार स्थिर हो जायेगा। यह लपेट कान के पीछे से होता हुआ माथे की ओर आ जायेगा। वहां से दूसरे कान पर होता हुआ रोगग्रस्त कान पर आ जायेगा। यह दूसरा लपेट कान के नीचे होते हुए उपचार के निचले भाग को ढांपता हुआ सामने की ओर शिर पर आ जाता है। तीसरा लपेट फिर शिर के चारों ओर लगता है। चौथा लपेट दूसरे लपेट की भान्ति रहेगा, परन्तु यह उस से ऊंचा रहता है, जिस से कि उपचार का अधिक भाग ढंपा रहे। इसप्रकार एक लपेट माथे के चारों

ओर लगाया जाता है। दूसरा लपेट टेढ़ा चलता है, जो व्रण तथा इस के ऊपर के उपचार को दबाता है, इसप्रकार से यह पट्टी पूर्ण हो जाती है।

ठूंठ की पट्टी

अंग के काटने पर जो ठूंठ रह जाता है, उस की पट्टी ज़रा कठिनाई से बंधती है। ठूंठ पर वस्त्रों को भी यथास्थान रखना सरल नहीं होता। ये अपने स्थान से खिसक जाते हैं। इस से अंगच्छेदन से उत्पन्न व्रण को भी हानि पहुंचती है। पट्टी को केवल ठूंठ पर ही नहीं बांधना चाहिये, अपितु इससे पर्याप्त ऊंचाई तक लेजाना चाहिये। यदि छेदन अस्थि के नलक के बीच में हो तो पट्टी को ऊपर की सन्धि तक पहुंचा देना चाहिये। और यदि छेदन सन्धि पर हो तो पट्टी सन्धि से कुछ ऊपर तक आनी चाहिये।

ठूंठ पर पट्टी बांधने के लिये कटे हुए ठूंठ को ५ या ६ इंच ऊपर बायें हाथ के अंगूठे और अंगुली के बीच में पकड़ कर इस स्थान पर अंग के चारों ओर दो या तीन लपेट बांध दिये जाते हैं। इसके आगे पट्टी को अंग के आगे की ओर अंगूठे से दबा कर उस को उलट कर नीचे की ओर ले आते हैं। यहां से ठूंठ पर होती हुई पट्टी पीछे की ओर जाती है, अब उसको अंगुलियों से दवा लिया जाता है। इसप्रकार से पट्टी का यह लपेट आगे की ओर अंगूठ से और पीछे की ओर अंगुलियों से स्थिर कर लिया जाता है। इस के बाद लपेट को पीछे से फिर आगे की ओर लाते हैं। यह लपेट पहले लपेट के बाह्यभाग को ढांपे रहता है। यह भी अंगुली और अंगूठे से दब जाता है। तीसरा लपेट पहले लपेट के भीतर की ओर रहता है। इसप्रकार से जितने भी लपेट आवश्यक हों ठूंठ को ढांपने में बरतने चाहियें। इन

लपेटों को स्थिर रखने के लिये इन के ऊपर गोल लपेट दिये जाते हैं, जिससे लपेट खिसकते नहीं और स्थिर रहते हैं।

स्तन की पट्टी—

पहले स्तन के नीचे कमर के चारों ओर चार-पांच लपेट देकर पट्टी को रुग्ण स्तन के नीचे से गुज़ारते हुए पट्टी को दूसरे कन्धे पर लाना चाहिये। यहां से पट्टी पीठ पर होकर

चित्र नं० ३६

स्तन की पट्टी

फिर स्तन के नीचे आ जाती है। यहां से फिर कमर के चारों ओर घूम कर स्तन के नीचे पहुंच कर फिर स्कन्ध के ऊपर आ जाती है। इसप्रकार से एक लपेट कमर के चारों ओर घूमता है और दूसरा स्तन पर होता हुआ स्कन्ध के ऊपर चला जाता है। जब तक स्तन पूर्ण रूप से ढंप न जाये इसीप्रकार से लपेटों को घुमाते जाना चाहिये।

दोनों स्तनों की पट्टी

पूर्ववत् कमर पर लपेट देकर पट्टी प्रारम्भ की जाती है। वामपार्श्व के स्तन की ओर से पट्टी बांधना आरम्भ करना चाहिये। यहां से पट्टी को स्तन के नीचे से निकाल कर छाती पर से गुज़ारते हुए दाक्षिण कन्धे पर ले जाना चाहिए। वहां से पट्टी को कमर पर गुज़ारें जिस से लपेट स्थिर हो जाये फिर पीठ पर गुज़ारते हुए वाम कन्धे की ओर लाना चाहिए। पीछे से पट्टी को छाती पर होते हुए दाक्षिण स्तन के नीचे से गुज़ारते हुए पीठ पर से बाईं ओर लेजाना चाहिए। अगला लपेट पुनः वामस्तन के नीचे से होकर छाती पर आधे लपेट के पश्चात् दाक्षिण कन्धे पर ले जाना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः करते जाना चाहिए। इस में बाईं ओर तहें नीचे से ऊपर की ओर और दाक्षिण ओर ऊपर से नीचे की ओर बनती हैं और क्रमशः पट्टी छाती के सामने और पीछे की ओर परस्पर काटती हैं। यह क्रम बदल भी सकता है यदि इस से विपरीत क्रम से पट्टी बांधी जाय। पट्टी सब से पूर्व कमर पर तो बांधनी ही होती है पर दिशा में भेद हो सकता है।

स्तनच्छेदन के पश्चात पट्टी का बांधना—

व्रण पर उपचार रखकर भुजा को छाती के साथ सम-कोण पर रखते हुए पट्टी बांधनी चाहिये। चूंकि यदि बाहु

को नीचे रक्खा जाय तो संकोच होने पर इतना अधिक संकोच हो जाता है कि हाथ या भुजा ऊपर को नहीं उठती।

स्तन के ऊपर वस्त्र रखकर कमर पर दो या तीन लपेट लगाकर स्कन्ध पर सुपाशा पट्टी बांधनी चाहिये। जिस पार्श्व का स्तन काटा जाये उस पार्श्व की कक्षा और दूसरे पार्श्व के स्कन्ध पर कुछ लपेट देने चाहियें।

शिर की पट्टियां—

शिर की साधारण पट्टी शिर के चारों ओर पट्टियों को लपेट लगायी जा सकती है। यह लपेट ऊपर की ओर खिसक न जाये इस के लिए कान के सामने से पट्टी को गुज़ार कर नीचे की ओर इसप्रकार से मोड़ा जाता है जिस से चिबुक पर एक लपेट आ जाता है। यह लपेट दूसरी ओर से शिर के ऊपर ले जा कर फिर कान के पास लाकर जहां

चित्र नं० ४०

शिर की साधारण पट्टी
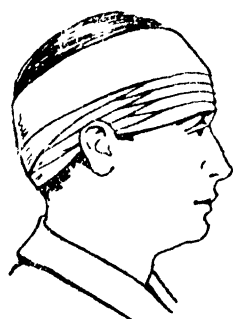
चित्र नं० ४१

दबाव डालने के लिए शिर की पट्टी

से पट्टी को मोड़ा था पहले लपेटों के साथ सी देते हैं।

जब शिर के ऊपर कुछ ड्रैसिंग को रखना हो तो चिबुक के नीचे होकर तीन या चार लपेट लगा कर माथे पर होते हुए कुछ गोल लपेट बांध कर पिन की सहायता से स्थिर कर देने चाहिएं।

जब व्रण शिर के एक भाग में स्थित हो और वहां पर दबाव देना आवश्यक हो तो ऊपर दिये चित्र नं० ४१ के अनुसार पट्टी बांधनी चाहिये। इस में एक लपेट ऊपर को जाता है और दूसरा नीचे को उतरता है। इसप्रकार से यह लपेट एक दूसरे को वहां पर काटते हैं, जहां पर दबाव देना आवश्यक होता है।

वितान पट्टी

शिर के ऊपर रखे उपचार को सुरक्षित करने के लिये अथवा दबाव देने के लिये इस पट्टी का प्रयोग किया जाता है। यह पट्टी बांधने में ज़रा कठिन होने के साथ २ शिर पर गरमी और बेचैनी पैदा करती है। इसका उपयोग बहुत कम होता है।

इस के लिये दो पट्टियां चाहियें, एक दो इंच चौड़ी और दूसरी तीन इंच चौड़ी। इन दोनों पट्टियों के सिरों को परस्पर सी दिया जाता है। अब इन बेलनों को दोनों हाथों में इस प्रकार से थामना चाहिये कि बड़ा बेलन वाम हाथ में और छोटा बेलन दाहिने हाथ में रहे। रोगी को कुर्सी या स्टूल पर बैठा कर चिकित्सक को रोगी के पीछे खड़ा होना चाहिये। दोनों बेलनों के बीच का भाग माथे पर रखना चाहिये, जितना हो सके इसे नीचे रखें। पट्टी को स्थिर करके दोनों बेलनों को कानों की ओर ले जाना चाहिये। पीछे की ओर ले जाते हुए पट्टी को नीचे करते जाना चाहिये। जिससे दोनों ओर की पट्टी गुद्दी पर आ जायेगी।

जिससमय दोनों पट्टियां गुद्दी पर मिल जाती हैं, उस समय इनका अगला क्रम बदल जाता है। चौड़ी पट्टी प्रथम की भांति शिर के चारों ओर घूमती है और छोटी पट्टी आगे से पीछे और पीछे से आगे चलती है। यह इसप्रकार से होता है—प्रथम वार गुद्दी के पीछे पहुंच कर छोटी पट्टी को बड़ी पट्टी के नीचे कर देते हैं, जिस से बड़ी पट्टी को तो छोटी पट्टी को दाबते हुए वामपार्श्व से दक्षिण की ओर चला देते हैं। किन्तु छोटी पट्टी को आगे की ओर मोड़ कर शिर के ऊपर होते हुए माथे की ओर ले जाते हैं। यह प्रथम लपेट शिर के बिल्कुल बीच में रहता है। माथे पर पहुंच कर इस छोटी पट्टी को फिर बड़ी पट्टी के नीचे कर देते हैं। पीछे की ओर से आने वाली छोटी पट्टी माथे पर

चित्र नं० ४३

शिर की वितान पट्टी

चित्र नं० ४२
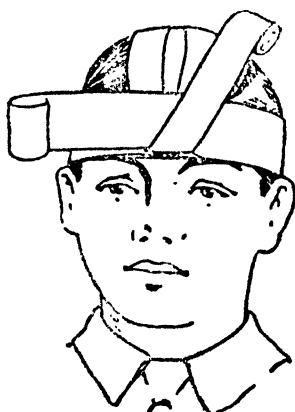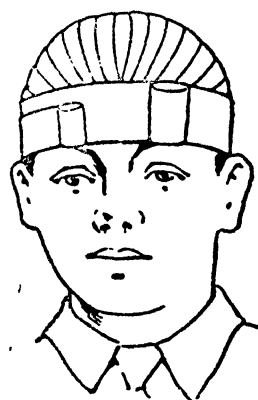
शिर की वितान पट्टी

पहिले पहुंच जाती है। दक्षिण ओर से आने वाली बड़ी पट्टी को इस के ऊपर से निकालते हैं। यह सीधी वामपार्श्व में चली जाती है। छोटी पट्टी को आगे से फिर पीछे की

ओर लौटा लेते हैं। उस को पीछे की ओर जहां से आरम्भ किया था, उस के जितना पास हो सकता है पहुंचा देते हैं। यहां फिर माथे की भान्ति छोटी पट्टी को बड़ी पट्टी से ढांप कर उस में अटका देते हैं जिस से छोटी पट्टी को फिर आगे की ओर लेजा सकते हैं। छोटी पट्टी के ये सब लपेट शिर के बीच वाले प्रथम लपेट के दोनों ओर लगाये जाते हैं, यद्यपि यह उस को कुछ ढांपे भी रहते हैं। इसप्रकार अधिक लपेट लगा कर सारा शिर ढांपा जा सकता है। अन्त में दोनों सिरों को बांध देना अथवा पिन कर देना चाहिये।

टेबलोयड एड्जैस्टेबल हैड ड्रैसिंग—

यह उपचार जहां सादा है वहां पूर्णरूप में सुरक्षित है। टोपी वाले भाग को शिर पर रख कर और पट्टी वाले भाग के साथ बाईं ओर खींचना चाहिये (चित्र संख्या ४४)। टोपी के स्वतन्त्र किनारे को नीचे खींचना चाहिये, जिससे कि सम दबाव पड़े। इसके ऊपर पट्टी वाले भाग को गुज़ार कर इसको स्थिर कर देना चाहिये। पट्टी को आवश्यकतानुसार खींचना चाहिये (चित्र संख्या ४५)। अब इस पट्टी को शिर के

चित्र नं० ४४
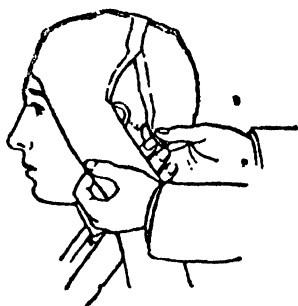
टेबलॉयड बैण्डेज
की प्रथमावस्था
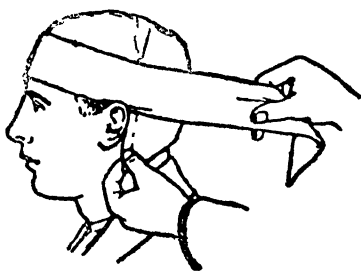
चित्र नं० ४५

टेबलॉयड बैण्डेज
की द्वितीयावस्था

पीछे चलाते जाना चाहिये। यह पट्टी माथे पर होकर जहां

चित्र नं० ४६
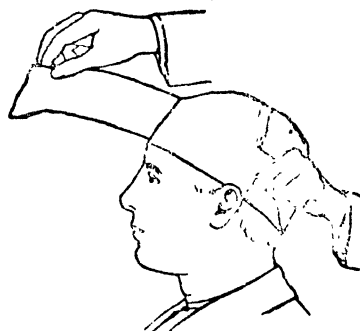
टेबलॉयड बैण्डज
की तृतीयावस्था

चित्र नं० ४७
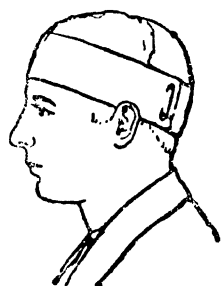
टेबलॉयड बैण्डज
की अन्तिम अवस्था

से आरम्भ की थी वहां पर आजायगी। निकले हुए भाग को जो हाथ से पकड़ा हुआ था मोड़ कर उसी पट्टी से स्थिर किया जाता है (चित्र संख्या ४६)। पट्टी के इस सिरे को यहीं पर सेफ्टी पिन लगा दिया जाता है। (चित्र संख्या ४७)।

T-पट्टी—

इस पट्टी का आकार अंग्रेज़ी के T (टी) के समान होता है। अण्डकोष के नीचे स्थित व्रणों के लिये यह बहुत उपयुक्त है। दोनों पट्टियां प्रायः चार इंच चौड़ी लेकर एक पट्टी को दूसरी पट्टी के बीच में समकोण पर सी देते हैं। फिर आड़ी पट्टी को कमर के दोनों ओर लेजाकर [एक भाग को दक्षिण ओर और दूसरी को वाम ओर] पेडू पर सामने लाकर बांध दिया जाता है। दूसरी पट्टी को अण्डकोषों के सामने ऊपर से लाकर पेडू पर इस पट्टी के साथ बांध देना चाहिये। इससे पट्टी द्वारा सब उपचार ढंप जाता है। यह पट्टी साधुओं की लंगोटी के समान रहती है।

अण्डकोषों को सहारा देने वाली पट्टी—

साधारणतः तिकोनिया लंगोट इस काम के लिये ठीक है। अथवा दुकानदारों के यहां से बिकती सस्पैन्सरी पट्टी लेकर काम चलाया जा सकता है। परन्तु जब अण्डकोष बहुत बढ़े हों अथवा उन में व्रण हो जांय तो लंगोट से कोषों पर दबाव पड़ता है, जिससे पीड़ा होती है। इसलिये पट्टी इसप्रकार की होनी चाहिये-जो दबाव तो न दे साथ ही कोषों को सहारा भी दिये रहे।

इसके लिये एक साधारण चौरस रूमाल को लेकर त्रिभुजाकार-तिकोन बना लेना चाहिये। इसको अण्ड कोषों के नीचे इसप्रकार से रखना चाहिये कि बड़ी भुजा अण्डकोषों के पीछे और त्रिकोण का शिखर कोषों से नीचे को लटकता रहे। इस रूमाल के दोनों कोनों को कमर के चारों ओर लपेटी हुई पट्टी में बांध देते हैं। आगे के कोने को कोषों के ऊपर से लेजाकर इस पट्टी में बांध देते हैं। इस प्रकार से एक थैला बन जाता है-जिसके भीतर कोष रहते हैं।

बिस्तर पर रोगी पड़ा हो तो जांघों के बीच में छोटी सी गद्दी रखकर अण्डकोषों को सहारा पहुंचाया जा सकता है।

विबन्ध (Many-tailed) पट्टी—

यह पट्टी उदर और वक्ष के व्रणों के लिये उपयोगी है; विशेषतः जब उपचारवस्त्र बारबार बदलने होते हैं। इस पट्टी को बनाने के लिये नरम फ़लालैन उत्तम है। फ़लालैन की पट्टियां इतनी लम्बी होनी चाहियें, जो कि उदर या वक्ष पर डेढ़ वार आ सकें और इनकी चौड़ाई दो इंच होनी चाहिये। पट्टियों को ऊपर नीचे इसप्रकार से रखना चाहिये कि ऊपर की पट्टी निचली पट्टी के उपरिभाग $\frac{3}{4}$ इञ्च को ढांप ले। इन पट्टियों के बीच का भाग एक फ़लालैन के

टुकड़े के साथ [जो कि आवश्यक्तानुसार २ से ६ इञ्च चौड़ा होता है] सी देना चाहिये। यदि इस पट्टी का प्रयोग उदर के लिये किया जाय तो सब से निचली पट्टी का सिरा ६ इंच या इससे अधिक लम्बा रखना चाहिये, जो कि ऊरू के चारों ओर बांधा जा सके। परन्तु जब पट्टी छाती पर बांधनी हो तो फ़लालैन पर नीचे की ओर दो लम्बी पट्टियां इसप्रकार बांध या सी देनी चाहिये कि कन्धों पर हो कर फिर आगे की ओर लाकर पट्टी के साथ पिन की जा सकें।

शीघ्रता के लिये फ़लालैन का टुकड़ा लेकर बीच के भाग को बचाकर दोनों ओर के भागों को दो २ इञ्च पट्टियों में फाड़ लेना चाहिये। बीच का भाग नहीं फाड़ना चाहिये। इस में पट्टियां एक दूसरी पट्टी को ढांपती नहीं है। इस के बीच के भाग से पट्टियां अपने स्थान पर रहती हैं।

हाथ या बाहु की गोफण पट्टी—

अस्थिभंग आदि की अवस्था में हाथ को या अग्रबाहु

चित्र नं० ४८

गोफण पट्टी

को आराम पहुंचाने के लिये हाथ को वस्त्र के एक लटकन में

रख कर ग्रीवा के साथ लटका देते हैं। यह लटकन किसी रूमाल या चौरस वस्त्र से बनाया जा सकता है। रूमाल या वस्त्र को बीच से त्रिकोणाकार बना लेना चाहिये। इसको कई बार मोड़ते हुए एक पट्टी के समान बना लेते हैं; जिस पट्टी का बीच का भाग किनारों की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। पट्टी के दोनों किनारों को ग्रीवा के पीछे लाकर बांध देना चाहिये। बांधते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पट्टी का वह सिरा जो हाथ के ऊपर है, दूसरे कन्धे पर हो कर ग्रीवा के पीछे आना चाहिये। इसप्रकार करने से हाथ को आराम मिलता है। यदि लटकन को छोटा करना हो तो इसको ज़रा खींचकर निचाई पर गांठ बांधनी चाहिये। .

यदि सम्पूर्ण अग्रबाहु पर सहारा देना हो तो वस्त्र को अधिकवार लपेटना नहीं चाहिये। वस्त्र को त्रिकोणाकार रखकर ही उससे काम ले लेना चाहिये। त्रिकोण के दोनों सिरों को गर्दन के पीछे बांध दिया जाता है। परन्तु बाहु के ऊपर रहने वाला सिरा गर्दन के उसी पार्श्व में गुज़रेगा जिधर की बाहु को लटकन में रखना है, दूसरी ओर के कन्धे पर नहीं जाता। त्रिकोण के दोनों सिरों को गर्दन के पीछे लाकर गांठ देते हैं। त्रिकोण का शिखर कोहनी के ऊपर होता हुवा पहिले दोनों सिरों में मिल जाता है। तीनों सिरों को पिन कर देते हैं। इससे गर्दन पर भार पड़ता रहता है, और उससे रोगी को कष्ट मालूम होता है। इसके लिये लटकन को रोगी के कोट के साथ पिन करने से रोगी को ज़रा भी कष्ट नहीं होता।

कई बार रोगी की भुजा को कोट की बाहु में रखकर छाती के हिस्से के साथ पिन कर देने से भी गोफण का

काम चल जाता है। दूसरा पिन कोहनी के पास कोट की भुजा के साथ लगा देना चाहिये।

पन्द्रहवां अध्याय

आदौ भग्नं विदित्वा तु सेचयेच्छीतलाम्बुना।
पंकेनालेपनं कुर्यात् बन्धनञ्च कुशान्वितम्॥

अस्थिभंग

अस्थि के टूटने को अस्थिभंग कहा जाता है। अस्थि पर चोट लगने से अथवा किन्हीं दो वस्तुओं में पिस जाने से हड्डी टूट जाती है। साधारणतः अस्थि वहीं पर से टूटती है, जहां पर आघात लगता है, परन्तु कई वार स्थान से दूर पर भी टूट सकती है। कभी कभी कुछ अस्थियां विशेषतया छोटी अस्थियां पेशी और कण्डराओं के खिचाव के कारण टूटती हैं।

भग्न तात्कालिक और गौण भेद से दो प्रकार के हैं। तात्कालिक करण प्रायः गिरना या चोट होती है। परन्तु इस के अतिरिक्त आयु, धन्धा और पैतृक प्रवृत्ति तथा अस्थियों के रोग इस भग्न में सहायक होते हैं। इन्हीं बातों के आधार पर अस्थिभंग की साध्यासाध्यता का विचार किया जाता है।

भग्न के भेद—

भग्न दो प्रकार के हैं। एक साधारण और दूसरा संयुक्त। इनमें साधारण भग्न के अन्दर ऊपर की त्वचा नहीं फटती,

---

१ पतन पीडन···अभिघातविशेषैरनेकविधमस्थ्नां भंगमुपदिशन्ति। तद् द्विविधम्, काण्डभग्नं सन्धिमुक्तं च। काण्डभग्नमत उर्ध्वं द्वादश विधम्—कर्कटकमश्वकर्णं चूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लितं काण्डभग्नं मज्जानुगतं अतिपातितं वक्रं छिन्नं पाटितं स्फुटितम्···द्वादश विधम्।

पेशी और स्नायु सब अपने स्थान पर रहते हैं: केवल अस्थि ही टूटती है। संयुक्त भग्न में त्वचा भी फट जाती है और साथ ही पेशी, स्नायु भी खिसक जाते हैं और विदीर्ण हो जाते हैं; कभी कभी रक्तप्रवाह भी हो जाता है। इसप्रकार के भग्न में संक्रमण का भय रहता है।

भग्न पूर्ण और अपूर्ण भेद से फिर दो प्रकार का होता है पूर्ण भग्न में तो अस्थि सम्पूर्ण रूप से टूट जाती है। अपूर्ण भग्न में कई बार तो लम्बी अस्थि में खप्पच सी उतर जाती है। बच्चों की अस्थियां टूटती नहीं परन्तु मुड़ या झुक जाती हैं। शिर की अस्थियों में दो स्तर होते हैं इन में कभी कभी तो ऊपर का ही स्तर टूटता है, और कभी कभी दोनों स्तर टूट-कर नीचे को दब जाते हैं। इसप्रकार के भग्न को "अवनत भग्न" कहते हैं।

पूर्ण भग्न भी कई प्रकार के हैं। जब अस्थि अभिघात के स्थान पर टूटती है तो वह 'अनुप्रस्थ भग्न' कहलाता है। कभी अस्थि में तिरछी रेखा पड़ जाती है, इसको 'तिर्यग् भग्न' कहते हैं। जब लम्बाई के रुख अस्थि में भग्न होता है तो इसको 'अनुदैर्घ्य भग्न' कहते हैं। अस्थि की एक लम्बी खप्पच सी अलग हो जाती है। कभी कभी अस्थि में लहर या चक्कर सा पड़ता है, इसको 'अनुवेल्लित भग्न' कहते हैं। 'अवशीर्ण भग्न' में अस्थि के कई छोटे २ टुकड़े हो जाते हैं। 'पिच्चित भग्न' में अस्थि कुचली जाती है, इसके बहुत से टुकड़े हो जाते हैं। 'मज्जानुगत' में अस्थि का भाग टूटकर मज्जा में घुस जाता है। जब अस्थि का एक भाग टूट कर दूसरे में धंस जाता है, तो उस को 'अन्तराविष्ट भग्न' कहते हैं।

भग्न के लक्षण

साधारणतः सब प्रकार के भग्नों में निम्न लक्षण मिलते हैं-

१ दर्द—सीधे आघात से उत्पन्न होने वाले भंग में यह मुख्य लक्षण होता है। क्योंकि स्थानिक चोट का स्वभाव आस पास की ओर फैलना होता है। सब अवस्थाओं में दर्द का कारण समीपवर्त्ती मांसपेशियों का उद्वेष्टन है। यदि भंग के स्थान पर कोई नाड़ी हो और उस पर भी चोट आ जाय तो दर्द नाड़ी के मार्ग के साथ दूर तक हो सकती है। सीधे आघात में स्थानिक चोट प्रायः स्पष्ट रहती है। त्वचा पर आघात का चिन्ह, शोथ आदि लक्षण दीखते हैं। पेशी सूत्र भी टूट जाते[1] हैं।

२—अंग की विकृति— अंग में परिवर्त्तन आने के दो मुख्य कारण होते है। एक—भंग के चारों ओर शोथ होने से तथा मांसपेशियों के विदीर्ण होने से एवं रक्तस्राव से अंग विकृत हो जाता है। दूसरा कारण-अस्थियों की स्वाभाविक स्थिति में परिवर्त्तन आने से अंग का आकार बिगड़ जाता है। कई बार भंग तन्तुवों को बिना खिसकाये भी होता है, उस अवस्था में भी अंग के अन्दर टेढ़ापन आजाता है।

३—अंग में कार्य की असमर्थता—अंग अपना स्वाभाविक कार्य नहीं कर सकता। उस को हिलाने जुलाने में पीड़ा अनुभव होती है।

४—अस्वाभाविक अस्थिरता—यदि भंग के दोनों छोरों को पकड़ कर हिलाया जाये तो दोनों भाग स्वतंत्र दिशा में हिलते हैं। इस लक्षण की परीक्षा साधारणतः सब अवस्था-

---

१ लक्षण···—विवर्त्तनस्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्तांगता विविधवेदनाप्रादुर्भावः ॥ सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभः ॥

ओं में करने का यत्न नहीं करना चाहिये। क्योंकि इससे अक्षत धमनियों पर भी चोट आने का भय रहता है।

५—अंग का छोटा होना—जिस अवस्था में बन्धन खिसक जाते हैं, उस अवस्था में अंग अवश्य छोटा हो जाता है। परन्तु जहां पर दो अस्थियां होती हैं और उन में से किसी एक का भंग हो और एक सुरक्षित रहे तो अंग छोटा नहीं पड़ता।

---

१ माप लेते समय विशेष सावधानी रखनी चाहिये। दोनों अंगों पर दो चिन्ह निश्चित करके उनके बीच का माप साधारण फीते से लेना चाहिये। यथा—

ऊर्ध्वशाखाओं में—चंचुप्रवर्धन से अन्तर्मणिक तक लेना चाहिये। बाहु का माप अंसकूट के शिखर से प्रगण्डास्थि के बहिरर्बुद तक लेना चाहिये और अंसतुण्ड से अन्तरर्बुद तक लेना चाहिये। अग्रबाहु में प्रगण्डास्थि के अर्बुदों से अन्तः मणिक और बहिर्मणिक तक माप लेना चाहिये।

अधोभाग की शाखाओं में—ऊरू प्रान्त में नितम्बास्थि के पुरोर्ध्वकूट से जान्वस्थि की निम्न धारा के अन्तर को नापना चाहिये। नितम्ब के पीछे की ओर जघन धारा से उर्विका के महा-शिखर तक नापना चाहिये। जंघा प्रान्त में जंघास्थि और अनु-जंघास्थि के ऊर्ध्व भाग से अन्तःगुल्फ और बहिर्गुल्फ तक लम्बाई नापनी चाहिये। सम्पूर्ण टांग की लम्बाई पुरोर्ध्वकूट से गुल्फ तक नापनी चाहिये।

नितम्बास्थि के पुरोर्ध्वकूट से कुकुन्दरास्थि (Ischium) की ट्युबरोसिटी तक एक रेखा खींची जाये तो यह रेखा स्वस्थ अवस्था में [जब कि पांव न तो बहुत संकुचित हो और न बहुत प्रसारित हो] महाशिखर की चोटी को छूती जाती है। इसको 'नेसल्स लाईन' कहते है।

६—भग्नध्वनि[1] —अंग को हिलाने से अस्थि के टुकड़े परस्पर रगड़ खाते हैं, जिस से एक खास प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द की ध्वनि बालों को परस्पर रगड़ से उत्पन्न शब्द के साथ मिलती जुलती है। इस रगड़ का अनुभव अंगुलियों को होता है और शब्द कान से सुनाई देता है।

पहिचान—

यदि भग्न स्थान पर शोथ उत्पन्न नहीं हुई और रोगी दुर्घटना के कुछ समय पीछे तुरन्त आ गया हो तो निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोगी का इतिहास, अंग-विकृति, साधारण चेष्टाओं में अशक्ति का होना स्थिति का परिज्ञान करा देते हैं। रोगी को यथाशक्ति कम बेचैन करते हुए तथा रुग्ण भाग को अधिक गति न पहुंचाते हुए अपनी पहिचान को निश्चित करना चाहिये। पहिचान को स्थिर करने के लिए भग्नध्वनि का सुनना कभी कभी आवश्यक हो जाता है, विशेष कर जब भंग सन्धि के पास में होता है। इस के लिए खिंचाव की आवश्यकता होती है। खिंचाव इसप्रकार से करना चाहिये, जिससे कि तन्तुवों पर अधिक क्षत न पहुंचे।

साधारणतः निम्न अवस्थाओं में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यथा—

(१) पुरानी चोट से उत्पन्न विकृति को नवीन अस्थि-भंग समझना। खासकर जब रोगी मद्यपान आदि से विवश हुआ प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकता।

(२) सन्धि के शब्द को अस्थिभंग का शब्द समझ

१ "सम्पीड्यमाने भवतीह शब्दः" ॥ सुश्रुत। चूर्णितमस्थि तु शब्दस्पर्शाभ्यां बोद्धव्यम् ॥

लेना। यह भ्रम प्रायः करके होता है। इस अवस्था में इस बात का ध्यान देना चाहिए कि रुग्ण भाग को घुमाते समय सम्पूर्ण अस्थि घूमती है वा नहीं। अथवा शब्द अस्थि में सुनाई देता है वा नहीं। सावधानी से लिया गया माप और दूसरे अंग से की गई तुलना थोड़े से भी अन्तर को निश्चित कर देती है। रोगी स्वस्थ भाग के समान रुग्ण भाग से कार्य नहीं कर सकता।

जिन स्त्रियों को दिन भर धोने का कार्य करना पड़ता है उनकी भुजा के निचले भाग पर रात्रि के समय प्रायः शोथ आजाती है। यह शोथ आघातजन्य शोथ से बहुत कुछ मिलती है। इस शोथ का भ्रम बाह्यप्रकोष्ठास्थि के भंग से हो जाता है। इसीप्रकार चिरकालीन अस्थिशोथ की अवस्था में यदि चोट लग जाय तो भी भंग का भ्रम हो जाता है। इसलिये चिकित्सक को अपनी सम्मति बहुत सोच विचार कर-भंग के साथ अन्य शरीर की परीक्षा कर के-स्थिर करनी चाहिये।

एक्सरे—

अपनी पहिचान को स्थिर करने के लिये और भग्न का रूप समझने के लिये रोगी का 'एक्सरे' कराना चाहिये। ये किरणें मांस-त्वचा आदि नर्म वस्तुओं के पार पहुंच जाती हैं, परन्तु अस्थि के पार नहीं जा सकती। इसलिये अस्थि की फोटो आ जाती है। यह फोटो सामने और पार्श्वों से लेनी चाहिये। जिससे कि भग्न की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाये। अस्थि के टूटे हुए दोनों टुकड़ों के बीच में खाली स्थान दिखाई देता है।

शोथ—

भग्न स्थान पर जब शोथ उत्पन्न होती है तो इसका

कारण रक्तसंचार में परिवर्त्तन आना है। इस परिवर्तन का कारण स्थानिक रक्तसंचय का दबाव अथवा तन्तुवों का दबाव होता है।

उपद्रव—

भग्न के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रव दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक व्यापक और दूसरे स्थानिक इनमें व्यापक लक्षण—

मूर्च्छा—

अस्थिभंग में रोगी को कुछ न कुछ धक्का या गशों का अनुभव होता है। इस मूर्च्छा का कम-वेशी आघात के स्वभाव पर निर्भर है। यदि आघात भयानक है तो मूर्च्छा भी बहुत वेग में आती है।

भग्नज्वर—

अस्थि भंग के दूसरे या तीसरे दिन रोगी को ज्वर आता है। इस ज्वर का कारण अस्थि मज्जा का विलीन होना तथा जमे हुए रक्त का फैलना होता है। यह ज्वर दो या तीन दिन रह कर शान्त होजाता है।

वसारक्तावरोध—

वसामय धातुओं के फटने से वसा के कण रक्त में पहुंच जाते हैं। फिर रक्तप्रवाह के साथ फेफड़े और मस्तिष्क में पहुंचते हैं। फेफड़ों में वसा के कण एकत्रित हो कर श्वास में काठिन्य पैदा कर देते हैं। मस्तिष्क में वसा के कण पहुंच कर मूर्च्छा उत्पन्न कर देते हैं। इसके साथ २ प्रलाप, आक्षेप, वमन भी हो जाता है। फेफड़ों के उपद्रव में कास, निमोनिया भी हो सकता है।

१ विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान्
उपाचरेद्यथाकालं कालज्ञः स्वचिकित्सितात् ॥ सुश्रुत

सकम्प उन्माद—

मद्य पीने वाले रोगियों में यह अवस्था उत्पन्न होती है। रोगी को नींद नहीं आती, उसकी दशा एक पागल के समान होती है। रोगी को भयानक स्वप्न दिखाई देते हैं, रोगी बिस्तर के कपड़ों को नोचता फेंकता है। रोगी कभी कभी कूद कर आत्मघात कर बैठता है। सारे शरीर में कम्प होता है। दूसरी अवस्था में मूर्च्छा उत्पन्न होती है और अन्त में रोगी का प्राणान्त हो जाता है।

स्थानिक उपद्रव—

स्तब्धता—यदि आघात किसी मर्मस्थान पर हो तो उससे गाढ़ी स्तब्धता आजाती है।

रक्तप्रवाह—प्रायः रक्तस्राव अधिक नहीं होता।

धमनियों के क्षत—संयुक्त भग्न में धमनियों में क्षत उत्पन्न हो जाता है। जिससे उस स्थान में रक्त एकत्रित हो जाता है।

नाड़ियों के क्षत—अभिघात के समय नाड़ी में क्षत पहुंच सकता है। अथवा आरोहण के समय सन्धान वस्तु के बीच में आ सकती है। क्षत के गहरे होने से नाड़ी की संचालन शक्ति प्रायः नष्ट हो जाती है।

मांसपेशियों की हानि—संयुक्त भग्न में मांसपेशियों को बहुत अधिक नुकसान पहुंचता है।

सन्धियों की हानि—सन्धि के पास के भग्नों में सन्धि के पास के अवयवों को भी हानि हो जाती है। इससे सन्धि में आवरणशोथ तथा अस्थिशोथ उत्पन्न हो जाती है।

सन्धिच्युत—अस्थिभंग के कारण कभी कभी सन्धि भी अलग हो जाती है। संयुक्त भग्न में त्वचा और इसके

निचले तान्तुवों में व्रण हो जाते हैं। ये व्रण टूटी हुई अस्थि तक पहुंचे हुए होते हैं। प्रायः इन व्रणों का कारण आघात है।

अस्थिसंयोजन—

टूटे हुए अस्थिखण्डों को मिलाने के लिये प्रकृति इसमें रोहण आरम्भ करती है। नई रचना के लिये नये अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। इनके पोषण के लिये रक्तनालिकायें बन जाती हैं। इन रक्तनालिकाओं के चारों ओर सौत्रिक तन्तु बन जाते हैं। ये सौत्रिक तन्तु कुछ समय पीछे धीरे २ अस्थि-तन्तुओं में बदल जाते हैं। इस समय इन तन्तुओं में अस्थि को बनाने वाले कोष रहते हैं। धीरे धीरे वहां पर चूने के समास एकत्रित होने लगते हैं और अस्थि का रूप बनना आरम्भ हो जाता है। अस्थि के दोनों टुकड़ों के बीच में जो नई वस्तु बनती है उसको 'सन्धानवस्तु' कहते हैं। प्रथम यह वस्तु अस्थि के चारों ओर फैली रहती है परन्तु फिर धीरे संकुचित होकर आवश्यक अन्तराल में रह जाती है। कुछ समय पीछे अस्थि में यह वस्तु बदल जाती है, जिससे कि पूर्व की भान्ति पूर्ण अस्थि बन जाती है। बच्चों में यह क्रिया अधिक सरलता एवं शीघ्रता से होती है। वृद्धों में बहुत धीरे धीरे तथा कठिनाई से होती है। इसलिये इनका भंग देर से जुड़ता है। यदि सन्धान ठीक प्रकार से न किया जाये तो अस्थि टेढ़ी जुड़ती है। जिससे कि आकृति बिगड़ जाती है।

---

१ सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणं सर्पिर्मधूत्तरैः।
प्रतिसार्य कषायैस्तु शेषं भग्नवदाचरेत्॥
भग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांसशिरास्नायु तद्धि कृच्छ्रेण सिध्यति॥ सुश्रुत

यदि अस्थि को भलीप्रकार से मिलाया न जाय तो दोनों भागों में अन्तर रह जाता है, अथवा एक भाग दूसरे भाग के ऊपर चढ़ जाता है; ऐसी अवस्था में अस्थि भली प्रकार नहीं जुड़ती, अंग भी टेढ़ा पड़ जाता है। यह अवस्था तब होती है जब उचित सन्धान के पीछे अंग को पूर्ण विश्राम न मिले।

ऐसी दशा में केवल एक ही रास्ता होता है, वह यह कि इस नयी बनी सन्धानवस्तु को फिर से उखाड़ कर या काट कर अस्थियों को ठीक प्रकार से रख कर जोड़ दिया जाये। यह कार्य विशेष विचार कर करना चाहिये। वृद्धावस्था में इस कार्य को यथासम्भव नहीं करना चाहिये। चूंकि एक वार जुड़ी अस्थि फिर कठिनाई से मिलती है।

साधारण चिकित्सा—

भग्न के पश्चात यथासम्भव शीघ्र ही चिकित्सा उपक्रम करना चाहिये। क्योंकि देर करने से रक्त और सीरम (रक्त-द्रवांश) एकत्रित हो जाते हैं; साथ ही पेशियां भी संकुचित हो जाती हैं; जिससे सन्धान में कठिनाई होती है।

भग्न की चिकित्सा में तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये।

१—यथासम्भव पहिले की स्थिति लाने का प्रयत्न करना चाहिये। टूटे हुए भागों का एक सरीखी स्थिति में बिठाना चाहिये, जिससे सन्धान शीघ्र और भलीप्रकार से हो जाये।

२—अंग को पूर्ण विश्राम मिल जाय। इस जुड़े भाग को ज़रा भी झटका या परिश्रम न पड़े। जिससे कि शान्ति से रहने पर अंग अच्छीप्रकार से जुड़ जाये। अंग के हिलाने जुलाने से जुड़े हुए भाग के खिसकने का भय रहता है।

३—अंग के जुड़ने के पश्चात उसके स्वाभाविक कार्य में

किसी प्रकार की अड़चन या रुकावट न आये। अंग पूर्व की भान्ति हिल-जुल सके।

अस्थिसन्धान—

अस्थि के टूटने पर पेशियों के आकर्षण से अंग के आकार में परिवर्तन आता है। इसलिये सबसे प्रथम और आवश्यक बात पेशियों को ढीला करना है। इसके लिये पेशियों को मलकर-तथा अंग को हिला जुलाकर [बहुत धीमे धीमे- जिससे कि अंग पर विशेष ज़ोर न पड़े] पेशियों को ढीला कर लेना चाहिये। पेशियों के ढीले होने पर ज़रा से आकर्षण से दोनों टूटे प्रान्त सीध में बैठ जाते हैं।

कई बार ऐसा होता है कि बलवत् आघात से अथवा ऊरु प्रदेश आदि प्रदेश की पेशियों के बलवान होने से पेशियां ढीली नहीं होती। इसके लिये रोगी को क्लोरोफार्म सुंघाना चाहिये। इस दवाई के सुंघाने से रोगी की सब पेशियां ढीली पड़ जाती हैं। ढीले होने पर अंग के हिलाने जुलाने से अस्थि अपने स्थान पर बैठ जाती है। परन्तु कभी कभी इस से काम नहीं चलता, उससमय आकर्षण करना आवश्यक होता है। टूटे भाग के निचले भाग को सीधा नीचे की ओर और ऊपर के भाग को ऊपर की ओर खींचना चाहिये। यह कर्षण एक ही रेखा में करना चाहिये, जिससे कि कोई भाग ऊपर की ओर न चढ़े। इस कर्षण में सहायकों की आवश्यक्ता होती है। जिस समय सहायक खींच रहे हों, उस समय चिकित्सक को अपने हस्तकौशल से अस्थि के भागों को मिला देना चाहिये। यदि पेशियां भली प्रकार से ढीली होंगी तो सन्धान करने में कुछ भी कठिनाई नहीं आयेगी। अंगों को मोड़ने से भी पेशियां ढीली हो जाती हैं। पेशियों का

कर्षण तब तक करना चाहिये जबतक कि भग्न भाग अपनी स्वाभाविक स्थिति में न आजाये।

अंग को स्थिर करना—

अंग को स्थिर रखने के लिये कई प्रकार के फलकों का (splints) प्रयोग किया जाता है। ये फलक लकड़ी, बांस की खप्पच, नमदा, गटापरचा, लोहे की शलाका आदि वस्तुओं के बनाये जाते हैं। साधारणतः लकड़ी और लोह के बने फलक कार्य में बरते जाते हैं। इन में भी साधारण भंगों में लकड़ी के फलक इस्तेमाल किये जाते हैं। ये फलक अंग के अनुरूप तथा इसप्रकार से बनाये जाते हैं कि अंग पर स्वाभाविक रूप में बैठ जायें। कईबार फलक अंग के अन्दर और बाहर दोनों पार्श्वों पर लगाने पड़ते हैं। इस अवस्था में अन्दर का फलक बाह्य फलक की अपेक्षा छोटा होता है। फलक अंग के ऊपर रगड़ न दे इस के लिये अंग पर रुई रखकर फलक बांधने चाहिये। अंग पर फलक लगा कर उनको स्थिर रखने के लिये ऊपर से पुनः रुई रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये। यह पट्टी न तो बहुत ढीली और न बहुत कसी होनी चाहिये, जिससे फलक स्थान पर रहे और रक्तसंचालन में किसीप्रकार की बाधा न आये।[1]

गूच (Gooch) का फलक काठ का बना होता है। एक मोटे वस्त्र पर काठ के लम्बे और पतले टुकड़े लगे रहते हैं। बाज़ार में इस के लम्बे लम्बे टुकड़े मिलते हैं। आवश्यकतानुसार इस वस्तु के टुकड़े काट कर प्रयोग किये जा सकते हैं।

---

१ तत्रापि शिथिलं बद्धे सन्धिस्थैर्यं न जायते।
गाढेनापि त्वगादीनां शोफो रुक्पाक एव च॥
तस्मात् साधारणं बन्धं भग्ने शंसन्ति तद्विदः॥ सुश्रुत॥

नमदे के फलक अंग के आकार के बन जाते हैं। उनको जैसा चाहें मोड़ सकते हैं। अंग पर लगाने से पूर्व इन को पानी में भिगो देना चाहिये, जिससे ये नरम पड़ जाते हैं। तत्पश्चात उनको अंगपर लगा कर उसी के आकार का बना देते है। शुष्क होने पर ये फिर भी उसी अंग के अनुरूप रहते हैं।

आजकल कंकाल के बन फलक भी प्रयोग में आते हैं। ये फलक लोहे क दो छड़ों से मिलकर बनाये जाते हैं। सामने की ओर दोनों छड़ें आपस में सीधी छड़ से जुड़ जाती हैं। और जो भाग अंग की जड़ में रहता है, वहां पर एक गोल चक्कर बनाया होता है। यह चक्कर अंग के साथ ठीक बैठ जाता है। इन छड़ों के बीच में लिन्ट या गॉज़ की कोई पट्टी पिन की सहायता से लगा देते हैं। अंग को इन पट्टियों पर आराम दिया जाता है। आवश्यक्तानुसार इन पिनों को तंग या ढीला कर सकते है। अंग में यदि प्रसारण करना आवश्यक हो तो अंग के ऊपर दो लम्बी पट्टियां प्लस्तर वाली लगा कर इनको छड़ों से मिली सीधी छड़ के साथ मिला देते हैं। कई छोटी छोटी पट्टियां अंग के चारों ओर लगा दी जाती हैं, जिससे कि ये बड़ी पट्टियां खिसकने नहीं पातीं। यदि अधिक आकर्षण अथवा प्रसारण करना अभीष्ट हो तो गरेरी लगाकर अंग का सम्बन्ध एक रस्सी के द्वारा गरेरी के नीचे लटकते भार के साथ कर देते हैं। यह गरेरी रोगी की शय्या के पांयत की तरफ़ एक लकड़ी में लगी रहती है। भार के कारण हाथ या टांग पर खिचाव बना रहता है।

इसप्रकार के फलकों में सुभीता यह है कि अंग को जिस अवस्था में चाहें उस में रख सकते हैं। ख़ासकर संयुक्त भग्न में इनका उपयोग अधिक लाभप्रद है। व्रणोपचार करने के

लिये लिन्ट के टुकड़े को निकाल लेना चाहिये। अथवा आगे पीछे खिसका कर कार्य कर सकते हैं। पीछे से इनको लगा दिया जाता है। इसप्रकार से अंग को विना निकाले पूर्ण काम किया जा सकता है।

पेरिस-प्लास्टर—

यह एक श्वेत बारीक चूर्ण होता है। जिससमय अंग को कुछ समय के लिये स्थिर रखना हो, वह हिले जुले नहीं, तब इसका उपयोग किया जाता है। इसको लगाने की विधि बहुत सरल है। जिस अंग पर यह प्लस्तर लगाना हो उस भाग के बाल साफ करके उस पर बारीक मलमल की पट्टी लपेट देनी चाहिये। फिर एक मोटे कपड़े की पट्टी लेकर इस पर प्लास्टर ऑफ़ पैरिस की पानी में बनी लेई लपेट देनी चाहिये। सारी पट्टी पर लेई लग जाने पर उसको लपेट कर एक वर्त्तन में इस लेई के अन्दर डुबो देना चाहिये। जब तक बुलबुले निकलते रहें तबतक इसको बाहर नहीं निकालना चाहिये। लेई बनाने के लिये प्लास्टर को गरम पानी में घोलना चाहिये। जब प्लास्टर की पट्टी तैय्यार हो जाये तब इस को उस पट्टी के ऊपर बांधना चाहिये। बांधने के समय पट्टी को बहुत कसना नहीं चाहिये। पट्टी बंध जाने पर इसके ऊपर प्लास्टर की लेई का लेप कर देना चाहिये। पीछे से ५-७ मिनट तक पट्टी को पकड़ रहना चाहिये। सूखने के पश्चात पट्टी कड़ी बन जाती है।

प्लास्टर शुष्क होकर अंग को दवाये नहीं इसके लिये दूसरे दिन प्लास्टर पर गोंद का अथवा अण्डे की सफ़ेदी का लेप कर देना चाहिये। बच्चों की अवस्था में प्लास्टर के ऊपर स्पिरिट में मिली वार्निश लगा देते हैं जिससे कि मूत्र आदि से यह गीला नहीं होता। उतारने के लिये प्लास्टर को पानी

से कुछ समय भिगो देना चाहिये इससे ढीला होकर सुगमता से उतर जाता है। अथवा इसको विशेष प्रकार के यंत्र से काटकर उतारा जाता है।

गटापरचे के भी फलक बनाये जाते हैं। ये भी नमदे के समान अंग का आकार बना लेते हैं। इसको लगाने के लिये गरम पानी में भिगो कर नरम करना चाहिये। ठण्डा होने पर इसको अंग पर लगा देना चाहिये। जब कड़ा हो जाये तब इसको उतार कर इनके किनारों को छील देना चाहिये। और फिर अंग पर लगा देना चाहिये। इनसे वायु रुक जाती है, इसलिये इनमें छेद कर देने चाहियें, जिससे कि वायु का प्रवेश हो सके।

चमड़े के भी फलक बनाकर इस कार्य में बरते जाते हैं।

अंग को स्थिर रखने का उपाय शस्त्रकर्म है। टूटे हुए भागों को धातुवों की प्लेट अथवा कील से जोड़ा जाता है। निम्न अवस्थाओं में शस्त्रकर्म करना आवश्यक होता है।

१ सन्धि में अथवा इसके समीप में ही भग्न हुआ हो,

२ जान्वस्थि अथवा अन्तःप्रकोष्ठास्थि के कूर्परकूट में भग्न हो जाये। इन दोनों अवस्थाओं में भग्न होने पर टूटे हुए भाग बलवत् पेशियों द्वारा इतनी दूर खिंच जाते हैं। कि साधारण अवस्थाओं में पास नहीं आसकते।

३ जब भग्न के भागों का स्थानभ्रंश अन्य उपायों से ठीक न हो, अथवा यह निश्चय हो जाये कि विना शस्त्रकर्म किये भंग ठीक नहीं होगा, यथा वृद्धावस्था के भग्नों में होता है।

साधारणतः भग्न को चार से दस दिन के भीतर शस्त्रकर्म द्वारा ठीक कर लेना चाहिये। चिकित्सा और परीक्षा की सुगमता के लिये यथा सम्भव 'एक्सरे' करने का प्रयत्न करना चाहिये। शस्त्रकर्म में यथासम्भव अधिक से अधिक निर्वि-

षता का ध्यान रखना चाहिये। जिससे कि भग्न व्रण में पूय का संचार न होने पाये।

शस्त्रकार्य में अस्थियों को जोड़ने के लिये कई वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। यथा—

चाँदी के तार—ये जान्वस्थि या कूर्परकूट को मिलाने के काम आते हैं।

लेन की प्लेट—

यह धातु की बनी होती है। इसमें छिद्र बने होते हैं। ये प्लेट भिन्न भिन्न आकार की और भिन्न भिन्न संख्या के छिद्रों वाली होती हैं। अस्थि में छिद्र बनाकर इन छिद्रों में कील या पेच लगा दिये जाते हैं, जोकि अस्थि के भीतर पहुंच कर इसको मज़बूती से पकड़ लेते हैं।

धातु—अस्थि या हाथीदांत की कीलें पेच-खूंटियां भी इसी काम के लिये बरती जाती हैं। अर्बुद या शिखरकों के भग्न में कील का प्रयोग किया जाता है। प्रथम बरमे से अस्थि में छिद्र बना कर फिर अस्थि में पेच कस दिये जाते हैं। यथासम्भव अस्थि का प्रयोग करना चाहिये।

(३) उद्वर्त्तन या चालन

बहुत समय तक अंग के फलकों में बंधा रहने से अथवा पट्टियों में जकड़ा रहने से अंग की गति बन्द हो जाती है। मांसपेशियों में वह पहिले की गति फिर आरम्भ हो जाय इसके लिये अंग पर मालिश और चालन करना चाहिये। मालिश तैल या शुष्क दोनों प्रकार से अंग के अनुलोम करनी चाहिये। चालन कार्य परिचारिक की सहायता से करवाना आरम्भ करना चाहिये। परिचारक को चाहिये कि रोगी के अंग को पकड़ कर धीरे धीरे दायें-बायें, ऊपर या नीचे करता रहे। इसप्रकार थोड़ा थोड़ा प्रतिदिन करने से

अंग में गति आजाती है और अंग पूर्व की भान्ति कार्य करने लगता है [1]।

साधारणतः भग्नों में पांचवें दिन उद्वर्त्तन कार्य करना प्रारम्भ कर लेना चाहिये। लकड़ी की अपेक्षा कंकालफलकों में अंग का चालन करने में सुगमता रहती है। सन्धियों को भी धीरे धीरे हिलाना चाहिये। इतने समय में सन्धान वस्तु बन जाती है, जोकि अस्थियों के टुकड़ों को पृथक् नहीं होने देती। आजकल भग्नों की चिकित्सा का आधार उद्वर्त्तन और चालन है। कंकालफलक भी इसी सिद्धान्त को लेकर प्रयोग किये जाते हैं, इसप्रकार करने से अंग में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती।

संयुक्त भग्न—

इस प्रकार के भग्नों में अंग पर व्रण बन जाते हैं। कभी कभी फलक के ठीक न बंधने से अथवा भार पड़ने से साधारण भग्न भी संयुक्त भग्न में बदल जाता है। अस्थि का कोई नोकीला सिरा त्वचा को छेद कर बाहर निकल आता है। मशीन इत्यादि में अस्थि कुचली जाती है, इस में अस्थि के बहुत से टुकड़े बन जाते हैं, पेशी, त्वचा आदि भी दरकची जाती हैं। इसप्रकार के भग्न प्रायः शोचनीय होते हैं। क्योंकि इसप्रकार के भग्नों में पूय के संक्रमण का भय रहता है। इससे अस्थिशोथ, अधस्त्वक् शोथ और विसर्प आदि उपद्रव हो जाते हैं। इस प्रकार के भग्नों में व्रण की शुद्धि तुरन्त करनी चाहिये। यदि व्रण पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाये अथवा इस में पूय का संक्रमण भी न हो तो अस्थियों के

---

१ तैलप्रयोग के लिये यदि वातनाशक तैल प्रयोग किये जांय तो बेहतर हैं। यथा—मांषतैल, त्रिशती प्रसारणी तैल, बलातैल आदि। तैलों के लिये भैषज्यरत्नावली देखिये।

जुड़ने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती। परन्तु जब व्रण में संक्रमण हो जाता है, उस समय 'अस्थिमज्जाशाथ' अथवा 'अस्थि गलन' आरम्भ होने का भय रहता है। संक्रमित भाग जब तक वहां पर रहता है, तब तक सन्धान आरम्भ नहीं होता। इन कारणों से संयोजन में बहुत समय लग जाता है।

चिकित्सा—

सब से प्रथम क्षत की चिकित्सा करनी आवश्यक है। यदि क्षत साधारण हो तो इसके शुद्ध करने में विशेष कठिनाई नहीं रहती। व्रण को परक्लोराईड लोशन या कार्बॉलिक लोशन (१/४०) से धोना चाहिये। परन्तु यदि व्रण क्रमहीन हैं और कुचल जाने से मांस खिंच कर फट जाये तो उसके स्वस्थ होने की अधिक आशा नहीं है। इसके लिये जीर्ण शीर्ण मांस को काट कर निकाल देना चाहिये और व्रण को एक समान बना लेना चाहिये। पीछे से विसंक्रामकों [एक्रिफलैमीन १/१००० लोशन] द्वारा व्रण को शुद्ध कर लेना चाहिये। जब यह निश्चय हो तब व्रण शुद्ध हो गया है तब व्रण को अलकोहल से धोकर इस में बिस्मथ-आयडोफार्म [अथवा आयडोफार्म ग्लिसरीन] का कल्क भर कर व्रण को सी देना चाहिये। यदि व्रण के शुद्ध होने में भय प्रतीत हो तो दूसरी ओर छेदन करके एक 'निर्हरण नालिका' [ड्रेनिंग ट्यूब] लगा देनी चाहिए। इस नलिका को इस प्रकार से लगाना चाहिए कि यह नलिका अस्थि के सम्पर्क में न आये। व्रण के शुद्ध होने पर अस्थि का सन्धान करना चाहिए। पीछे से अंग को उचित फलक पर स्थिर कर देना चाहिए। इसप्रकार के भग्नों के लिए 'कंकाल फलक' उत्तम हैं। इन में व्रण का उपचार सरलता

से हो सकता है। फलक और पट्टियां इसप्रकार बांधनी चाहिए कि अंग को उपचार करने में किसी प्रकार की बाधा न आये।

जिस समय अस्थि के बहुत से टुकड़े हो जाते हैं, उस समय छोटे छोटे टुकड़ों को काट कर निकाल देना चाहिए। बड़े टुकड़ों को न निकाल कर वहीं रहने देना चाहिए। परन्तु यदि इन में पाक आरम्भ हो जाये तो उन को निकाल देना ही उत्तम है। अस्थि के निकम्मे भाग को निकालते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक भाग न निकाला जाये, चूंकि अधिक भाग निकाल देने से अंग निकम्मा हो जाता है। इसके पश्चात् साधारण भग्नों के अनुसार फलक, उद्वर्त्तन और चालन कार्य करना चाहिये।

संयुक्त भग्नों में कई बार रोगी का अंगच्छेदन करना होता है। यह कार्य कर लेने से पूर्व इस बात का पूर्णरूप से निश्चय कर लेना चाहिये कि यह कार्य अनिवार्य है। कार्य करते समय अस्थि के पृथक् हुए छोटे से छोटे टुकड़े को 'एक्स-रे' के चित्रण की सहायता से पृथक् कर लेना चाहिये। अन्यथा सड़ा हुआ भाग पुनः पूय उत्पन्न कर देगा। इसलिये अंग-च्छेदन का निश्चय हो जाने पर देरी नहीं करनी चाहिये। अंग का छेदन करने में निम्न बातों का विचार कम से कम करना चाहिये—

(१) नर्म तन्तुवों का और अस्थियों का सम्बन्ध टूट गया हो।

(२) एक ही अंग में दो या इससे अधिक भंग हो।

(३) चोट के कारण अंग की मुख्य रक्तवाहिनियां और नाड़ियां विक्षत हो जायें अथवा वे विदीर्ण हो जायें।

(४) संयुक्त भग्न बड़ी सन्धि के पास में [यथा नितम्ब सन्धि अथवा जानुसन्धि] हुवा हो।

भंग की चिकित्सा में पेशी की क्रिया तथा विदीर्णता की परीक्षा करनी चाहिये। इसीप्रकार से भंग के समय अथवा तन्तुवों को वास्तविक स्थिति में लाने के समय रक्तवाहिनियां और नाड़ियां विक्षत हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त फलक के कारण अथवा सन्धान वस्तु से भी नाड़ी आक्रान्त हो जाती है।

कभी कभी भंग के साथ सन्धि भी आक्रान्त हो जाती है, जिससे कि सन्धि की आवरण कला में सूजन आ जाती है। और यदि सावधानी न बरती जाये [यथा अंग की उचित समय पर चालन क्रिया न की जाये] तो अंग जकड़ा जाता है। और यदि भंग सन्धि के ऊपर होता है, तो सन्धि में द्रव की अधिकता हो जाती है। यह द्रव केवल 'साइनोवियल द्रव' नहीं होता, अपितु इस में रक्त भी होता है। सन्धि अधिक मुड़ जाती है। इस अवस्था में सन्धान वस्तु के बनने से अथवा बन्धन या बन्धनों के कारण गति सदा के लिये विकृत बन जाती है।

सन्धिभ्रंश के साथ मिला अस्थिभंग—

कई बार अस्थिभंग के साथ २ सन्धिभ्रंश भी हो जाता है। इस अवस्था में अस्थिभंग को ठीक करने से पूर्व सन्धिभ्रंश को ठीक करना चाहिये। यह कार्य करने से पूर्व भंग को अस्थिर रूप में फलकों से सहायता देनी चाहिये। साथ में रोगी का संज्ञानाश करना चाहिये। दबे हुए भाग को खींच कर बाहर निकालना चाहिये।

अस्थियों का न जुड़ना—

निम्न अवस्थाओं में अस्थियां आपस में नहीं जुड़ने पातीं इस अवस्था में अस्थियों के दोनों भाग स्वतंत्र रूप में हिलते हैं। इन में भग्नध्वनि भी सुनाई देती है। अंग की पेशियों

को ढीला करने पर अंग की विकृति स्पष्ट रूप में दीखती है। ये अवस्थायें निम्न हैं—

(१) अस्थियों के बीच में पेशी का आजाना।

(२) अस्थियों के सन्धान करने के पीछे आराम न मिलने से अथवा चोट लगने पर।

(३) अस्थियों के रोग।

(४) रोगी का शारीरिक दशा का निर्बल हो जाना।

(५) ठीक प्रकार से अस्थियों का न जुड़ना।

चिकित्सा—

यदि अंग में विकार न आया हो तो अस्थि को उपर्युक्त स्थिति में लाकर बांध देना चाहिये। स्थान को नर्म करने के लिये तैलमर्दन और ऊष्मस्वेद देना चाहिये[1]। इसके प्रयोग से अंग में कोमलता आजाती है और रक्तसंचार भी बढ़ जाता है। रोगी को भोजन में घृतपान विशेष रूप में कराना चाहिये[2]।

यदि अस्थि भंगों की स्थिति उत्तम न हो और उनके कारण अंग में विकार आगया हो तो इनको शस्त्रकर्म के द्वारा ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये। कोमल भागों का छेदन कर के अस्थि के सिरों के आकार को ठीक बनाकर चांदी के तारों से जोड़ देना चाहिये। इस कार्य में अस्थि के कुछ भाग को काटना आवश्यक होता है। किन्तु यह इतना छोटा-थोड़ा होता है, जिससे अंग की उपयोगिता में कोई बाधा नहीं पहुंचती।

---

१ शुष्काण्यपिहि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान्॥

२ अस्थिसन्धान के लिये आभागुग्गुलु या लाक्षादिगुग्गुलु रोगी को खिलाना चाहिये।

सोलहवां अध्याय

विशेष भग्न

"मधूकोदुम्बराश्वत्थपलाशककुभत्वचः ।
वंशसर्जवटानां च कुशार्थमुपसंहरेत् ॥
आलेपनार्थं मंजिष्ठा मधुकं रक्तचन्दनम् ।
शतधौतघृतोन्मिश्रं शालिपिष्टं च संहरेत् ॥ सुश्रुते

कपालास्थियों के भग्न—

शिर पर सीधा आघात लगने से अथवा शिर के भार गिरने से शिर की अस्थियों में भंग होजाता है । ये भग्न प्रायः अवनत प्रकार के होते हैं । अस्थियों के नीचे दबने से मस्तिष्कवास्तु पर दबाव पड़ता है । रोगी में मस्तिष्कसंताप (कनकशन) अथवा संपीडन (कम्प्रेशन) के लक्षण पाये जाते हैं । इस अवस्था में रोगी के शिर की परीक्षा करके तुरन्त शस्त्रकर्म करना चाहिये ।

कभी कभी रक्तोत्सेध (Hœmatoma) से भग्न का भ्रम हो जाता है । क्योंकि इस रक्तोत्सेध के किनारे भी अस्थि के समान तीक्ष्ण होते हैं । इस उत्सेध में एक प्रकार की तरंग प्रतीत होती है, जोकि भग्नावस्था में नहीं होती । जमा हुआ रक्त भी अस्थि के समान कठोर नहीं होता । इस में संताप और सम्पीड़न के लक्षण भी उत्पन्न नहीं होते ।

भग्न का निश्चय होने पर शस्त्रकर्म करना चाहिये । यदि अस्थि दब गई हो तो उसको ऊपर की ओर उठा देना चाहिये । इस भाग के शस्त्रकर्म कष्टसाध्य होते हैं । चूंकि धमनियों की प्रबलता होने से कोई न कोई धमनी इस भाग में विक्षत हो जाती है, इसलिये सिद्धहस्त वैद्यों को ही इस कार्य में हाथ लगाना चाहिये ।

करोटितल के भग्न—

इस स्थान के भग्नों का स्थान करोटि के पूर्व मध्य अथवा पश्चात खात (Fossa) होते हैं। इन स्थानों के भग्न प्रायः भयानक होते हैं। इन में मस्तिष्क का तल, सुषुम्ना शीर्षक और सेतु आदि भी विक्षत हो जाते हैं। इसकारण रोग की तीव्रता बढ़ जाती है। साथ ही शिराकुल्याओं तथा मस्तिष्कगत धमनियों से भी रक्तस्राव होजाता है।

लक्षण—सब रोगियों में लक्षण एक समान नहीं होते। अवस्थाभेद से लक्षणों में भी अन्तर आ जाता है। यथा—

कपाल और मस्तिष्क के क्षत होने पर—

सन्ताप और सम्पीड़न के लक्षण भी मिलते हैं। परन्तु कभी कभी इन लक्षणों का अभाव रहता है।

रक्तस्राव—

पूर्व खात के भग्न में नासिका से रक्तस्राव हो सकता है। यह रक्त झर्झरास्थि के चालनीपटल में से होकर नासा के रास्ते बाहर आता है। यदि भग्न नेत्रगुहा की ऊपरकी भित्ति में होता है, तो नेत्र के फलकों तथा श्वेत भाग में रक्त एकत्रित हो जाता है। और जब शिरा कुल्याओं के फटने से रक्तप्रवाह होता है, तो रक्त नेत्र के पिछले भाग में एकत्रित हो जाता है, जिससे कि नेत्र आगे की ओर उभर आता है।

मध्यखात के भग्न में प्रायः शंखास्थि को हानि पहुंचती है। इस क्षति में कर्णपटह भी फट जाता है। ऐसी दशा में रक्त कान से बहने लगता है कुछ रक्त 'यूस्टेशियन ट्यूब' [जो नलिका कान को नासिका और मुख से मिलाती है] के मार्ग से नाक और मुख में भी आजाता है। कभी कभी मस्तिष्क-सुषुम्ना तरल भी बाहर आजाता है।

पश्चात्खात के भग्न में कोई खास लक्षण नहीं होते। प्रायः करके रक्त कपाल के पीछे तथा कर्णमूल भाग में एकत्रित होता है। यहां से यह रक्त ग्रीवा की त्वचा में फैल जाता है। यदि इस स्थान पर रक्त मिले और त्वचा पर चोट या आघात के लक्षण दिखाई न दें तो पश्चात्खात के भग्न का सन्देह करना चाहिये।

मस्तिष्क से नाड़ियों के बारह युगल निकलते हैं। इन के सब भिन्न भिन्न रूप में क्षत होने से लक्षणों में भी भिन्नता आजाती है। यद्यपि मस्तिष्क के सब भग्न भयानक होते हैं, तथापि प्रायः घातक नहीं होते। यदि मस्तिष्क के भग्न में कोई उपद्रव नहीं हुवा तो भग्न कुछ समय पीछे स्वयं जुड़ जाता है। परन्तु नाड़ियों के क्षत होने से अन्य उपद्रव हो जाते हैं।

चिकित्सा—

इन भग्नों में हम जो कुछ कर सकते हैं, वह इतना ही है कि रोगी को पूर्ण विश्राम दिया जाये। गले और नासिका के लिये हम एक प्रकार से कुछ भी नहीं कर सकते। कान के लिये-कार्बॉलिक लोशन [$\frac{1}{40}$] में बत्ती भिगोकर उसको कान में रखकर ऊपर रूई से ढांप कर पट्टी बांध देनी चाहिये जितनी भी आवश्यकता हो इस चिकित्सा को बदल देना चाहिये। सन्ताप और सम्पीडन के लक्षण होने पर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। शिर के उपर शीतल परिषेक करवाना उत्तम है। रोगी को अन्धेरे और एकान्त में रखना चाहिये। रोगी को विरेचन देना उत्तम है। इस की सुगमता न हो तो वस्ति करानी चाहिये। भोजन हलका देना चाहिये।

१ ऊर्ध्वकाये तु भग्नानां मास्तिष्क्यं कर्णपूरणम्।
घृतपानं हितं नस्यं प्रशाखास्वनुवासनम्॥

यदि रोगी में सम्पीडन के लक्षण न हों तो उसको एक सप्ताह पीछे बिस्तर पर बैठने देना चाहिये। परन्तु दो सप्ताह तक शय्या से नीचे नहीं आने देना चाहिये। स्वास्थ्यलाभ करने के छः सप्ताह के पीछे रोगी को अपने काम में लगना चाहिये।

पृष्ठवंश का भग्न—

जिस समय पृष्ठवंश का भग्न होता है, उससमय प्रायः मेरुदण्ड भयानक रूप में विक्षत हो जाता है। जिसके कारण चोट से निचले भाग का पक्षाघात हो जाता है, और यदि चोट मेरुदण्ड के अत्यन्त उच्च भाग पर होती है, तो श्वास-प्रश्वास की मांसपेशियों को पोषण देने वाली नाड़ियों का सम्बन्ध टूट जाता है; जिससे कि तत्क्षण रोगी की मृत्यु होती है।

इसप्रकार के रोगी में जब तक शल्यचिकित्सक किसी ख़ास विधि का निश्चय करे तबतक रोगी को एक बिस्तर पर [water Bed] रखना चाहिये। पानी की गद्दी पर रोगी को लेटाने में विशेष आराम मिलता है। इस अवस्था में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। एक तो रोगी में शय्याव्रण उत्पन्न न हो जाये और दूसरा मूत्र की अधिकता से मूत्राशय अधिक फैल न जाय एवं इस में संक्रमण न पहुंच जाये। इसके लिये निर्विष मूत्रशलाका (कैथेटर) से मूत्र को थोड़ी थोड़ी देर पीछे निकालते जाना चाहिये। और यदि मूत्राशय में संक्रमण हो जाय तो दिन में कम से कम एकवार मूत्राशय को धो भी देना चाहिये।

मूत्रावरोध में प्रायः पेडू पर दबाव देने से भी मूत्र बाहर आजाता है। यदि इस उपाय से सफलता मिल जाये तो इस को ही बरतना चाहिये; चूंकि इससे मूत्र-शलाका द्वारा होने

वाले संक्रमण से रोगी को बचाया जा सकता है। संक्रमण से बचाने के लिये शिश्न की सुपारी को तथा मूत्रमार्ग को पूर्ण रूप से स्वच्छ करना चाहिये। साथ ही शिश्न के मूल पर संक्रमणरहित उपचार बांध देना चाहिये।

बस्तिगह्वर का भग्न—

बस्तिगह्वर के कुचले जाने से अथवा ऊंचाई पर से नितम्ब के भार गिरने से यह भग्न उत्पन्न होता है। इस भग्न के साथ प्रायः कोष्ठ का कोई न कोई अवयव विदीर्ण हो जाता है, प्रायः करके मूत्राशय फटता है। इसलिये चिकित्सक को चाहिये कि सब से प्रथम मूत्र-शलाका द्वारा मूत्राशय को खाली कर ले। मूत्राशय से निकाला हुआ मूत्र इस बात की परीक्षा करवा देता है कि अवयव विदीर्ण हुआ वा नहीं। रक्त मिश्रित मूत्र का आना इस बात की साक्षी नहीं कि मूत्राशय फटा है, परन्तु इस बात की गवाही है कि वृक्क मूत्राशय अथवा मूत्रमार्ग में कहीं चरूट आई है। मूत्राशय के विदीर्ण होने की पूर्ण साक्षी यह है कि मूत्र-शलाका द्वारा मूत्राशय से मूत्र की बूंद भी न निकले, जबकि रोगी का वर्णन इस बात की साक्षी हो कि चोट लगाने के समय मूत्राशय में कुछ न कुछ मूत्र अवश्य था। यदि मूत्राशय फट गया हो तो मूत्र उदर की पर्यावरण कला में फैल जाता है। इसलिये पेट को चीरकर मूत्राशय को सी देना चाहिये।

बस्तिगह्वर में पेडू पर भग्न होने से प्रायःमूत्रमार्ग विदीर्ण हो जाता है। इस अवस्था में मूत्रशलाका का मार्ग रुका होता है। इस अवस्था में शीघ्र शल्यकर्म करना चाहिये।

चिकित्सा—

रोगी को सर्वथा पूर्ण विश्राम देना चाहिये। यहां तक कि

मल-मूत्र भी विस्तर पर ही करवाने चाहियें। फलक इस प्रकार से बांध देने चाहिये कि रोगी उठ न सके। बस्तिगह्वर के ऊपर चारों ओर पैरिस प्लास्टर की पट्टी अथवा चमड़े का प्लास्टर लगा देना चाहिये। अथवा दुहरी सुपाशा पट्टी बांध देनी चाहिये। जिस समय चोट अस्थि के सन्मुख भाग पर लगी हो तो गुदा अथवा योनि में अंगुलि डाल कर बन्धनों को उचित स्थिति में रख देना चाहिये।

प्रायः ऐसा होता है कि ऊर्वस्थि का शिखर एक या दो स्थानों पर से टूटता है। और ऊरूकी पेशियों के कारण ऊपर की ओर खिंच जाता है। इसके लिये फलक बांधना चाहिये, जिससे कि पूर्णरूप में आकर्षण कार्य हो सके। अथवा आकर्षण कार्य के उद्देश्य से विरुद्ध पार्श्व के वंक्षण में पट्टी को लगा कर भार लटकाना चाहिये जिससे कि खिचाव रहे।

नासास्थि का भग्न—

नथुनों में एषणी डालकर भग्न को ठीक पूर्व स्थिति में

चित्र संख्या ४०
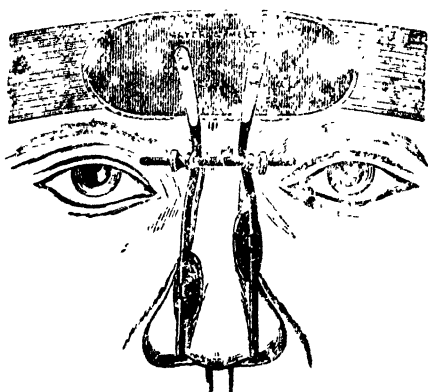
नासास्थि पर फलक

लाने का तुरन्त यत्न करना चाहिये। साधारणतः नथुनों में बत्ती आदि रखने के विना स्थिति बनी रहती है। परन्तु कभी कभी कई रोगियों में स्थानभ्रंश की आशंका बनी रहती है। इसके लिये गटापरचा से काठी के आकार का फलक लगाना चाहिये अथवा चित्र में दिखाया फलक बांध देना चाहिये। इस भग्न में कभी कभी नासा के मूल और फलकों पर शोथ भी आजाती है। इस शोथ का भ्रम 'प्लीस पैलिस' से हो जाता है। इसके लिये 'कोलोडियम' का लेप करना चाहिये। तन्तुवों में वायु न जा सके इसके लिये कोलो-डियम की कई तहें होनी आवश्यक हैं।

नासिका के प्रत्येक आघात में नासा के परदे की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। भग्न के साथ अथवा भग्न के विना भी आघात के कारण यह च्युत हो सकता है। और यदि यह च्युत हो गया हो तो रोगी को मूर्च्छित करके किसी मज़बूत एषणी द्वारा अथवा अन्य इस प्रकार के उचित यंत्र से इसको ठीक स्थान पर लाना चाहिये। इसके पीछे नासा में बर्त्ति का प्रयोग करना चाहिये, जिससे कि परदा पुनः स्खलित न हो। सब अवस्थाओं में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि श्लैष्मिक कला पर आघात न पहुंचे[1]।

अधोहन्वस्थि का भग्न—

इस अस्थि का भग्न प्रायः घूंसेबाज़ी में और कभी ही गिरने से होता है। भग्न छेदक दांत या 'मैन्टलफौरामैन' के समीप अस्थि में से होकर गुज़रता है। इसका रूप खड़ा सीधा होता है अर्थात् दांत के मूल के समानान्तर रहता

1 नासां सन्नां विवृत्तां वा ऋज्वीं कृत्वा शलाकया।
पृथङ् नासिकयोर्नाड्यौ द्विमुख्यौ संप्रवेशयेत् ॥
ततः पट्टेन संवेष्ट्य घृतसेकं प्रदापयेत् ॥

है। कई अवस्थाओं में अस्थि का गात्र प्रत्येक पार्श्व से टूट जाता है। परीक्षा करते समय इस बात का ध्यान पूर्ण रूप से रखना चाहिये कि कोई दांत अस्थि की दराड़ में अथवा भग्न के बीच में न आजाये। सब अंशों को ठीक करना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो रोगी को मूर्च्छित करना चाहिये जिससे कि सब टूटे हुए भागों को ठीक स्थान पर ले आया जासके। यदि भग्न थोड़ा हो तो मज़बूत रेशम के धागे से दोनों भागों को समीप में लाकर पास वाले दांत में बांध देना चाहिये। भग्न के पास का दांत प्रायः ढीला पड़ जाता है। इस अवस्था में धागा दूसरे पास वाले दान्त में बांध देना चाहिये। हन्वास्थि के बाहर की ओर गत्ता या गटा परचे का फलक बनाकर लगा देना चाहिये। अथवा निम्न प्रकार प्रकार से पट्टी बांधनी चाहिये—

एक तीन इंच चौड़ी एक गज़ लम्बी पट्टी लेनी चाहिये। इसको बीच में से चार इंच लम्बा चीर लेना चाहिये। यह कटाव किनारे से एक इंच दूर रहना चाहिये, जिससे कि ज़ोर से न फटे। पट्टी के दोनों किनारों को बीच से चोर लेना चाहिये, परन्तु इस बीच के कटाव से दो इंच परे तक ही रखना चाहिये। अब बीच के कटाव में से चिबुक को निकाल लेना चाहिये। चिबुक को निकालते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि तंग सिरा अधरोष्ठ के नीचे आये और चौड़ा सिरा हनु के नीचे बैठे। अब पट्टी के ऊपर के दोनों छोर गर्दन के पीछे बांध देने चाहिये। और निचले सिरे सिर पर बांध कर दोनों गांठों को मिला देना चाहिये; जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

कई अवस्थाओं में ऐसा "सिम्फिसिस" (symphysis) के त्रुटित तन्तुओं को ठीक स्थिति में रखना कठिन होता है,

चित्र संख्या ४१
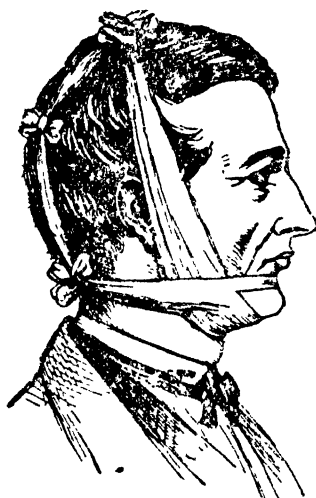
अधोहन्वस्थिभग्न पर पट्टी

परन्तु चिकित्सक अपने हाथों से इन को थामे रख सकता है। इसके लिये हैम्मौण्ड का वायर फलक बरतना ठीक है। इसके बरतने के लिये दांतों का ठीक अवस्था में होना आवश्यक है।

पर्शुकाओं का भग्न—

प्रायः करके पर्शुकाओं का भग्न गिरने से होता है। साधारणतः भग्न की परीक्षा करनी कठिन होती है। खास कर यदि रोगी चर्बीवाला हो तो परीक्षा और भी कठिन हो जाती है। वक्षःस्थल के आघात वाले सन्दिग्ध रोगियों में सब से उत्तम सरल उपाय यह है कि फ़लालेन की चौड़ी पट्टी छाती पर बांध दी जाये। इससे रोगी को पूर्ण विश्राम मिल जाता है।

जिससमय पर्शुकाभग्न निश्चय होजाय उस समय चौड़ा प्लास्टर बनाकर उसकी पट्टी बांधनी चाहिये। परन्तु

सब से उत्तम उपाय यह है कि प्लास्टर की छोटी छोटी पट्टियां बनाई जायें। एक पट्टी ऐसी लगानी चाहिये जो निचली पट्टी के २/३ भाग को ढांप ले तथा मध्य रेखा से दो इञ्च सामने और पीछे स्वस्थ भाग की ओर आ जाये। इस प्रकार से स्वस्थ भाग की क्रिया में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती। प्लास्टर की प्रत्येक पट्टी को तब लगाना चाहिये जब रोगी निःश्वास अवस्था में हो। इस प्रकार करने से वक्षःस्थल की गति नियमित रहती है।

प्रतरण शील पर्शुकाओं के भग्न में और कभी कभी स्थिर पर्शुकाओं के भग्न में भी पट्टी या प्लास्टर की छोटी छोटी पट्टियां सीधे तीव्र आघात की अवस्था में आराम देने की अपेक्षा कष्ट उत्पन्न करने लगती हैं; उस समय इन को हटा देना ही उत्तम है[1]।

उपद्रव—

पर्शुकाभग्न में प्रायः करके श्वासकाठिन्य उपस्थित हो जाता है। इसका कारण त्वचा के अधोवर्ती तन्तुओं में में वायु भर जाना है। यह वायु फफड़ों से निकल कर आती है। इसका होना इस बात की साक्षी है कि भग्न पर्शुका के कारण फुस्फुसावरण के दोनों स्तर फट गये हैं जिससे कि वायु फफड़ों में से त्वचा के नीचे इकट्ठी हो गई है। भग्न की परीक्षा के लिए रुग्ण भाग के ऊपर धीरे से हाथ फेरने पर भग्न ध्वनि अनुभव होती है। कई अवस्थाओं में यह 'एम्फाईसीमा' बहुत दूर तक फैल जाता है; यहां तक

१ पर्शुकास्वथ भग्नासु घृताभ्यक्तस्य तिष्ठतः।
दक्षिणास्वथवा वामास्वनुमृज्य निबन्धनीः।
ततः कवलिकां दत्वा वेष्टयेत् सुसमाहितः।
तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम्॥

कि छाती के समान मुख और ग्रीवा पर भी शोथ आ जाती है। यह उपद्रव स्वयं कोई भयानक नहीं है। यदि रोगी की अन्य बातें ठीक हों तो वायु स्वयं धीरे धीरे विलीन हो जाती है। प्रायः करके इस में पूयोत्पत्ति नहीं होती। इससे यदि त्वचा के पोषण में रुकावट हो रही हो तो त्वचा के अधोवर्त्ति तन्तुओं तक छेदन करना चाहिये।

रक्त का मुख से आना प्रायः करके फेफड़ों का उपद्रव है। पर्शुकाभग्नों के कुछ दिनों पीछे निमोनिया होने से यह उपद्रव उत्पन्न होता है। यह उपद्रव प्रायः करके वृद्ध एवं बालकों में होता है। वृद्ध पुरुषों को एकदम से अपनी निगरानी में चिकित्सक रखे।

अक्षकास्थि का भग्न—

इस अस्थि की बनावट और इसकी स्थिति इसप्रकार की है कि बाहु के प्रत्येक भाग की चोट का धक्का इस पर आता है। इसका भग्न सीधे आघात से अथवा हाथ या कन्धे के भार गिरने से भी हो जाता है। कभी कभी अस्थि का एक भाग त्वचा का छेदन करके बाहर निकल आता है। इस अस्थि का भग्न निम्न स्थानों पर होता है—

(१) सब से अधिक भग्न अस्थि के तृतीयांश का होता है। इसका कारण प्रायः दूरवर्त्ति अभिघात है। इससे भग्न की रेखा टेढ़ी होती है। बाहर से भीतर की ओर मुड़ती हुई नीचे को चली जाती है। इससमय अस्थि का जो भाग वक्षकास्थि से मिला होता है, वह उरःकर्णमूलिकापेशी के द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है। बाहर का अंसकूटभाग बाहु के भार के कारण नीचे को झुक जाता है। अस्थि लगभग १/२ इञ्च छोटी पड़ जाती है। यह भग्न भ्रंश के साथ मिला होता है।

२ अंसकूट का भग्न—यह भग्न प्रायः इस स्थान पर सीधे आघात लगने से होता है।

३ वत्तकीय भग्न—यह प्रायः कम होता है। इस भाग में विकृति अधिक नहीं होती।

४ अत्त-तुण्ड संयोजक बन्धनों के बीच का भग्न—इस में स्थानभ्रंश उत्पन्न नहीं होता। भग्नध्वनि भी कम होती है।

चिकित्सा—

इस की चिकित्सा में कर्तव्य यह है कि कन्धे को ऊंचा उठा कर पीछे की ओर तथा बाहर की ओर इस प्रकार से किया जाय कि स्थिति पूर्ववत् आजाये। यदि भ्रंश अधिक न हो तो चिकित्सा में अधिक कठिनाई नहीं आती। रोगी को अधिक हिलने जुलने नहीं देना चाहिये। भग्न भागों को ठीक करने के लिये कई विधियां प्रचलित हैं।

१ सेरे (Sayre) की विधि–इस में रोगी को एक कुर्सी पर बैठा कर चिकित्सक को रोगी की पीठ की ओर खड़ा होना चाहिये। फिर अपना घुटना रोगी की पीठ में लगा कर भुजा को पकड़ कर बाहर, पीछे और ऊपर की ओर खींचना चाहिये। इससमय सहायक दूसरे कन्धे को पकड़े रहता है। जिससे कि कन्धा घूम न सके। पीछे से टूटी हुई अस्थि के ओर की बाहु को बगल के साथ लगाकर इस पर चिपकने वाली पट्टी का लपेट इस प्रकार से देना चाहिये कि चिपकने वाला सिरा ऊपर रहे [त्वचा के साथ न चिपके]। यहां पर इसको सेफ्टीपिन से स्थिर करके पट्टी को छाती-पीठ पर इस

---

१ मुसलेनोत्क्षिपेत् कत्तामंससन्धौ विसंहते।
स्थानस्थितं च बध्नीत स्वस्तिकेन विचक्षणः॥
सन्नमुन्नमयेत् स्विन्नमत्तकं मुसलेन तु।
तथोन्नतं पीडयेच्च बध्नीयाद् गाढमेव च॥

प्रकार से गुज़ारते हैं कि चिपकने वाला पार्श्व त्वचा के साथ रहता है। पट्टी सामने से हो कर प्रथम लपेट के नीचे बगल में निकलती है। पट्टी के इस सिरे को पीठ पर आई पट्टी पर स्थिर कर देते हैं। शरीर पर लपेट लगाते समय बाहु को पीछे की ओर पर्य्याप्त खींचना चाहिये।

अब एक दूसरी पट्टी लेनी चाहिये इस पट्टी में लम्बाई के रुख एक छेद बना लेना चाहिये। यह छेद इतनी दूरी पर रहना चाहिये कि कोहनी और कूर्परकूट इस में से गुज़र जायें। अब रुग्ण भाग की भुजा को दूसरे पार्श्व के वक्ष पर रखना चाहिये। चिपकने वाली पट्टी को स्वस्थ कन्धे पर रख कर छेद में से कोहनी को निकाल कर पीठ पर से लाते हुए इस सिरे से मिला देना चाहिये। इसप्रकार करने से भुजा अपने स्थान पर स्थिर हो जायगी। बच्चों में एक तीसरी पट्टी लगादी जाती है जिससे कि हाथ और बाहु स्थिर रहते हैं यह पट्टी वक्ष पर से होती हुई जाती है। इन पट्टियों को चौदह दिन पीछे उतार कर उद्वर्त्तन और चालन क्रिया आरम्भ करनी चाहिये।

२ एक लम्बा फलक लेकर इस पर रूई की तह लगा कर इसको पीठ पर कन्धों पर बांधते हैं। पीठ पर रेत की थैली लगा देते हैं। जिससे साधारण अवस्था में फलक ढीला नहीं पड़ता। इस फलक से स्कन्ध पीछे की ओर खिंचे रहते हैं। इससे जुड़े हुए भाग छुटने नहीं पाते। हाथ को शय्या के पीछे नीचे की ओर लटका दिया जाता है। दस दिन के पीछे हाथ पर मालिश आदि करनी चाहिये।

एक विधि और भी है—उस में टूटी हुई अस्थि की कक्षा में मोटी गद्दी रखनी चाहिये और फिर स्वस्तिक पट्टी बांध देनी चाहिये। कोहनी पर साधारण पट्टी बांध कर

इस को स्थिर कर देना चाहिये। हाथ और अग्रबाहु को गोफण बन्धन में लटका देना चाहिये।

अंसफलक का भग्न

यह पतली चपटी अस्थि है—इसका भग्न प्रायः बहुत कम होता है। किसी सीधे आघात से यह अस्थि टूटती है। इसका भग्न प्रायः अंसकूट, अंसतुण्ड अथवा ग्रीवा पर से होता है। अंसकूट के टूट जाने से बाहु नीचे की ओर लटक जाता है, अंग कर्महीन हो जाता है। कन्धा चपटा दिखाई देता है। इसके लिये कोहनी को ऊपर को ओर उठा कर भुजा को वक्ष के ऊपर बांध कर स्थिर कर देना चाहिये।

ग्रीवा का भग्न-स्कन्ध पर तीव्र-सीधा आघात लाने से ग्रीवा टूट जाती है। इसके साथ कभी कभी अंसतुण्ड और अंसपीठ का भी कुछ भाग टूट जाता है। स्कन्ध चपटा दीखता है। इसके लिये कन्धे को पीछे की ओर हटा कर भुजा को वक्ष के पार्श्व में लाकर बांध देना चाहिये। कूर्पर को अक्षक के भग्न की भान्ति गोफण में रखना चाहिये।

प्रगण्डास्थि का भग्न

इस अस्थि के भग्न को तीन भागों में विभक्त कर लिया गया है। यथा—१—अस्थि के ऊर्ध्व प्रान्त का भग्न; २—मध्य गात्र का भग्न; —३ अधःप्रान्त का भग्न। इन में भी ऊर्ध्व प्रान्त का भग्न दो स्थानों से होता है—

यथा—१ अस्थि की ग्रीवा का भग्न •

२ शल्य ग्रीवा का भग्न

अस्थिग्रीवा का भग्न

सीधे आघात से अस्थि की ग्रीवा शिर और पिण्डकों के बीच की परिखा पर से टूटती है। चूंकि इस स्थान पर पतलापन है, इसलिये अस्थि यहां पर से प्रायः टूटती है। इस

भग्न का भ्रम प्रायः इसी सन्धि के भ्रंश से हो जाता है। नौ से सतरह साल की आयु में इस ग्रीवा का भग्न प्रायः होता है। नीचे का भाग ऊपर और भीतर की ओर खिंच कर अंसतुण्ड के नीचे आजाता है। रक्त एकत्रित होने से शोथ उत्पन्न हो जाती है। अंग की लम्बाई भी १/२ इंच कम हो जाती है। कभी कभी टूटा हुवा भाग अन्दर की ओर घुस जाता है।

चिकित्सा—

यदि भग्न के साथ भ्रंश न हुवा हो तो रोगी की कक्षा में एक मोटी गद्दी रखकर अथवा अंगुलियों को बगल में रख कर कोहनी को उपर की ओर उठाकर वाहु को कक्षा के पार्श्व में बांधकर स्थिर कर देना चाहिये। आठवें और दसवें दिन उद्वर्त्तन और चालन प्रारम्भ कर देना चाहिये।

यदि भग्न पूर्णरूप में हो गया हो तो अस्थि को जोड़ने के पीछे कक्षा में एक मोटी कवलिका रखकर फलक बांध देना चाहिये। कोहनी को सामने की ओर मोड़कर प्रगण्डास्थि को बाहर की ओर दूसरे हाथ से खींचना चाहिये। इस स्थान के लिये गटापरचा अथवा नमदे के फलक बरतने चाहिये। कवालिका के स्थान पर ∩ के आकार का[1] फलक लगाना चाहिये। हाथ और अग्रबाहु नीचे की ओर न लटके इसके लिये इनको गोफण बन्धन से सहारा देना चाहिये। छः सप्ताह में अस्थि पूर्णतया जुड़जाती है। फलक लगाने की अवस्था में ८ या १० दिन के पीछे उद्वर्त्तन आरम्भ कर देना चाहिये।

शल्यग्रीवा का भंग—

यह वह स्थान है, जहां पर अस्थि का ऊर्ध्वभाग अस्थि

१ ∩ के आकार का फलक 'हे प्रब स्प्लिन्ट' आता है।

के गात्र के साथ मिलता है। जिससमय अस्थि इस स्थान पर से टूटती है, उससमय निचला सिरा कोष्ठ की ओर खिंच आता है और ऊपर का भाग दूर को हट जाता है। परन्तु साधारणतः द्विशिरस्का और त्रिशिरस्का पेशियों की कण्डरायें इन भागों को दूर नहीं जाने देतीं। इस भग्न में पीड़ा बहुत होती है। यदि स्थानभ्रंश अधिक नहीं हुवा तो सन्धान करने में कोई कठिनाई नहीं होती। यदि भ्रंश अधिक हो और पेशियां तनी हों तो धीरे धीरे उद्वर्त्तन से पेशियों को ढीला करना चाहिये। यदि इसप्रकार से ढीला न हो तो रोगी को क्लोरोफार्म सुंघा कर पेशियों को ढीला कर लेना चाहिये। पेशियों को ढीला करके दक्षिण हाथ से नीचे के भाग को बाहर की ओर खींचना चाहिये। जब दोनों सिरे एक सीधी रेखा में आजायें तब हस्तव्यापार से इनको सन्धान करके कक्ष में ⌐ के आकार का फलक अथवा गद्दी लगा देनी चाहिये। कन्धे पर भी फलक रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये।

भग्न की रेखा तिर्यक् रूप में हो तो प्रसारण करने की आवश्यकता है। क्योंकि--उरश्छदा बृहती पेशी और कटिपार्श्वच्छदा पेशी के कारण एक भाग कोष्ठ की ओर आजाता है और दूसरा भाग दूर को हट जाता है। इसके लिये कंकाल फलक का उपयोग करना चाहिये। फलक का गोल चक्र कन्ध पर रखना चाहिये। इस फलक में भार रखने से प्रसारण हो जाता है। अस्थि के जुड़ने में चार से छः सप्ताह लगते हैं। तीन सप्ताह के पश्चात् इस फलक को निकाल कर साधारण फलक बरता जा सकता है। पीछे से उद्वर्त्तन आरम्भ कर देना चाहिये।

एक तीसरे स्थान से भग्न भी होता है। यह पिण्डकों का भग्न है। सीधे आघात से तथा पेशियों के प्रबल

कर्षण से यह होता है। बृहत् पिण्डक के टूटने से स्कन्ध की चौड़ाई बढ़ जाती है। इस में भग्नध्वनि भी स्पष्ट होती है। टूटा हुआ भाग पीछे और ऊपर की ओर तथा अस्थि का गात्र आगे की ओर खिंच आता है।

इसके लिये शस्त्रकर्म या कीलों द्वारा पिण्डकों को जोड़ना चाहिये। ऐसा न करने पर शल्यग्रीवा के भंग के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

प्रगण्डास्थि के गात्र के भग्न—

अस्थि का यह भाग सीधे आघात से टूटता है। जिस समय भग्न अंसाच्छादनी पेशी के निवेश स्थान से ऊपर होता है, उस समय ऊपर के भाग का निचला सिरा उरश्छ-दा बृहती पेशी के तथा कटिपार्श्वच्छदा पेशी के कारण अन्दर की ओर खिंच जाता है, और निचला भाग अंसाच्छादनी पेशी के कारण बाहर की ओर खिंच आता है। जब अंसाच्छादनी पेशी के निवेशस्थान से नीचे भंग होता है, तब ऊपर का भाग बाहर की ओर और निचले भाग का उपरि सिरा अन्दर की ओर आजाता है। इस दूसरे भाग में विरूपता स्पष्ट होती है।

इस स्थान के भंग में नाड़ी एवं धमनियां प्रायः आक्रान्त हो जाती हैं। यदि भग्न की चिकित्सा करने के समय इन का विचार न किया जाय तो ये सन्धान वस्तु में जुड़ जाती हैं इसलिये चिकित्सा के समय इस बात का ध्यान विशेष रूप में रखना चाहिये।

चिकित्सा—

इस स्थान के भग्न सन्धान करने में कठिन नहीं होते। भग्न संयुक्त या साधारण किसी भी प्रकार का हो-उसमें आक-र्षण करना होता है। अग्रबाहु को मोड़कर कूर्पर के नीचे

से पकड़ कर नीचे की ओर खींचना चाहिये। इससे भाग सीधी रेखा में आजायगा। यदि आवश्यक हो तो रोगी को बिस्तर पर लेटा कर कूर्पर को सख्त तकिये पर टेक देकर इसको नीचे की ओर खींचना चाहिये। चिकित्सक को हस्त-व्यापार द्वारा इसे सन्धान कर देना चाहिये। यदि भग्न अधिक न हो तो हाथ को वक्ष पर रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये। अग्रबाहु को गोफण पट्टी में आराम देना चाहिये। इस स्थिति में हथेली ऊपर को रखनी चाहिये।

जब भग्न तिरछा होता है, तब स्थानच्युति अधिक होती है। इस अवस्था में प्रसारण करना चाहिये। इसके लिये कंकाल फलक का उपयोग किया जाता है। इसके लिये टोमास (Thomas) का कंकाल फलक का उपयोग करना चाहिये। इसमें हथेली ऊपर को रहती है।

प्रगण्डास्थि के अधः प्रान्त का भाग—

इस स्थान का भंग प्रायः तीन स्थानों से होता है।

यथा—अर्बुदों से ऊपर, अर्बुदों के बीच में और अर्बुदों का भग्न। ये भग्न प्रायः हाथ के भार गिरने से होते हैं।

अर्बुदोपरि भग्न—

यह भग्न खुले हाथ के भार गिरने से अथवा सीधे आघात के कारण होता है। अग्रबाहु की अस्थियों के साथ प्रगण्डास्थि के नीचे के भग्न का भाग पीछे की ओर स्खलित हो जाता है और ऊपरी भाग बाहु में आगे की ओर उठ जाता है

चिकित्सा—

कुहनी को नीचे की ओर खींच कर व्यापार से तुरन्त सन्धान करना चाहिये। पीछे से अग्रबाहु को मोड़कर हाथ को वक्ष पर इसप्रकार रखना चाहिये कि हथेली खुली रहे और हाथ ठोडी के नीचे आजाये। हाथ को स्थिर

रखने के लिये अग्रबाहु और बाहु पर प्लस्तर लगा देना चाहिये। हाथ को गोफण बन्धन में आराम देना चाहिये।

अर्बुदान्तरिक भग्न—

इस भग्न की अवस्था में असली भग्न अर्बुदों के ऊपर होता है और वहां से चलकर एक रेखा खड़े रूप में अर्बुदों के बीच से होकर नीचे की ओर पहुंच जाती है। जिससे भग्न का आकार अंग्रेजी के अक्षर टी (T) अथवा वाई (Y) सा हो जाता है। दोनों अर्बुद अस्थि से भिन्न हो जाते हैं और कभी कभी आपस में थोड़े से जुड़े भी रहते हैं। सन्धि में रक्त और सीरम भर जाता है। जिससे कि भग्न का निश्चय करना कठिन होता है।

चिकित्सा—

यदि अर्बुद अस्थि से पृथग् हो गये हों तो शस्त्रकर्म करना चाहिये, और यदि अर्बुद अस्थि से पृथग् नहीं हुए तो अर्बुदोपरि भग्न के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

अर्बुदों का भग्न—

इनके भग्न का कारण प्रायः अभिघात है। इनमें भी बाह्यार्बुद अन्तरार्बुद की अपेक्षा अधिक टूटता है। इस भग्न का कुछ भाग सन्धि के भीतर और कुछ बाहर रहता है। अन्तरार्बुद में सन्धि का विक्षत होना आवश्यक नहीं है। इन भग्नों में पीड़ा भग्नध्वनि तथा भग्न के अन्य सब लक्षण पाये जाते हैं।

चिकित्सा—

प्रायः शस्त्रकर्म करने की आवश्यक्ता होती है। अर्बुदोपरिभग्न के समान चिकित्सा करके देखना चाहिये।

बच्चों की अवस्था में अस्थि का निचला भाग जो कि तरुणास्थि के रूप में होता है प्रायः टूट जाता है। इसकी

चिकित्सा अर्बुदोपरि भग्न के समान अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिये।

वॉकमैन (Volkmann) का इसचीमिक कनट्रेक्चर (Ischæmic Contracture)—

हाथ में यह अवस्था फलक के दबाव और पट्टी को कस-कर बांधने से उत्पन्न होती है। यह अवस्था प्रगण्डास्थि के अधोभग्न में होती है, जब कि कोहनी को मोड़कर रखना होता है, जिससे कि रक्तसंचार में बाधा उपस्थित हो जाती है।

इसके लिये आवश्यक है कि भग्न पर फलक बांधने के उपरान्त कुछ समय तक उसको निगाह में रक्खा जाये। यदि फलक से दबाव प्रतीत हो तो तुरन्त पट्टी को खोल देना चाहिये। कलाई को मोड़ने पर अंगुलियां खुली लटकती हैं। और कलाई को ताने तो अंगुलियां मुड़ जाती है। इस अवस्था में मांसपेशियों की क्षीणता तथा शोथ उत्पन्न हो हो जाती है। उपद्रवरहित रोगियों में विकृतावस्था मांस-पेशियों के छोटे होने से उत्पन्न होती है। परन्तु कई रोगियों में यह अवस्था 'अलनर नर्व' और 'मीडियन नर्व' के आघात से उत्पन्न होती है। इसके लिये मांसपेशियों को ताकत पहुंचानी चाहिये। उद्वर्त्तन, विद्युत धारा और चालन प्रक्रिया का आरम्भ करने से पेशियों को ताकत आती है।

प्रायः करके तन्तुवों को तानने के लिये फलक की सहा-यता ली जाती है। फलक यथासम्भव लचकदार होना चाहिये। इसको शनैः शनैः तानते जाना चाहिये।

अन्तः प्रकोष्ठास्थि के भग्न

कूर्परकूट का भग्न—यह भग्न प्रायः मुड़ी हुई कोहनी के बल गिरने से होता है। कभी कभी कूट पेशियों के कर्षण से

भी टूट जाता है। भग्नरेखा अनुप्रस्थ होती है। यदि अस्थि को ढांपने वाला आवरण विदीर्ण न हो तो कूर्परकूट और अस्थि में अधिक अन्तर नहीं आता। परन्तु यदि आवरण फट जाये तो त्रिशिरस्का पेशी के आकर्षण के कारण कूर्परकूट ऊपर को खिंच जाता है। अग्रबाहु की अस्थियां आगे की ओर लटक जाती हैं। यदि कोहनी को मोड़ा जाये तो बहुत अन्तर दिखाई देता है।

चिकित्सा—

अस्थि के गात्र और कूर्परकूट पास पास में आ जायें इसके लिये अग्रबाहु को फैला लेना चाहिये। कूर्परकूट के ठीक प्रकार से मिल जाने पर रूई रख कर पट्टी बांध देनी चाहिये। कोहनी मुड़ने न पाये इसके लिये कोहनी पर सामने की ओर सादा लम्बा फलक बांध देना चाहिये। इस फलक के बांध देने से बाहु फैली रहेगी। और कूर्परकूट तथा अस्थि का गात्र पास में रहेंगे। दस दिन के पीछे धीरे धीरे उद्वर्त्तन और चालन आरम्भ कर देना चाहिये।

यदि कूर्परकूट अधिक टूट जाये तो शस्त्रकर्म द्वारा कूट के भागों को चांदी की तारों से सी देना चाहिये।

चंचुप्रवर्धन का भंग—

यह भंग असाधरण है। यह भाग पेशियों से ढंपा रहता है, इस लिये साधारण तौर से यह टूटने नहीं पाता और इसमें स्थानभ्रंश भी नहीं होता। इसके निश्चय करने के लिये 'एक्स रे' करना चाहिये।

चिकित्सा—

बाहु को कोहनी पर मोड़ कर अस्थिसन्धान करना चाहिये। अस्थिसन्धान हो जाने पर अग्रबाहु को गोफण बन्धन में रखना चाहिये।

गात्र का भग्न—

इस स्थान का भग्न सीधे आघात से होता है। इस स्थान पर अस्थि सीधी त्वचा के नीचे है। अन्य स्थानों की अपेक्षा गात्र के ऊपरी तिहाई भाग का भग्न अधिक होता है। यह भग्न प्रायः संयुक्त होता है। यदि भग्न में बहिःप्रकोष्ठास्थि नहीं टूटती तो भ्रंश भी उत्पन्न नहीं होता। ऊपर का भाग तनिक आगे की ओर और नीचे का भाग बहिःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है।

चिकित्सा—

अस्थिसन्धान करना सरल है। पीछे से आगे और पीछे की ओर दो फलक लगा देने चाहियें। हथेली को वक्ष पर रख कर अग्रबाहु को गोफण में टिका देना चाहिये।

अन्तःमाणिक का भग्न—

अभिघात के कारण और बहिःप्रकोष्ठास्थि के भग्न के साथ यह भाग भी टूट जाता है। इस भग्न को ठीक करके अनुबन्धक प्लास्टर की पट्टी लगा देनी चाहिये। सामने की ओर फलक बांधना चाहिये।

बहिःप्रकोष्ठास्थि के भग्न—

शिर का भग्न—चूंकि इस शिर की सन्धि अन्तःप्रकोष्ठास्थि के साथ होती है, इसलिये सामान्यतः कूर्पर के अन्य भग्नों के साथ इसका भी भग्न हो जाता है। साधारणतः जब तक शिर का बन्धन नहीं टूटता, तब तक स्थानभ्रंश नहीं होता। जिस समय शिर टूट जाता है या पृथक् होकर इसके दो तीन भाग हो जाते हैं, तब स्पर्श से इसका अनुभव कर सकते हैं। इसके लिये रुग्ण हाथ को उसी हाथ में पकड़ कर घुमाना चाहिये। इस अवस्था में अस्थि का शिर भी अस्थि के साथ घूमता है।

चिकित्सा—यदि शिर अलग हो गया हो तो उस को शस्त्रकर्म द्वारा निकाल देना चाहिये। पीछे से बाहु को मोड़ कर वक्ष के ऊपर इसप्रकार से रखना चाहिये कि हथेली ऊपर रहे। उद्वर्त्तन और चालन क्रियाओं को शीघ्र प्रारम्भ करना चाहिये।

ग्रीवा का भग्न—

इस स्थान का भग्न असाधारण है। भग्न में नीचे का भाग ऊपर और आगे की ओर खिंच जाता है। जिससे कोहनी के सामने एक उभार दिखाई देता है। हाथ नीचे की की ओर घूम जाता है। इससे हाथ का पृष्ठ ऊपर और हथेली नीचे की ओर मुड़ जाती है।

चिकित्सा—

अग्रबाहु को आगे की ओर मोड़ कर हाथ को ऊपर की ओर घुमाकर अस्थि जोड़नी चाहिये।

गात्र का भग्न—

सीधे आघात से अथवा हाथ के बल गिरने से इस भाग का भग्न होता है। यदि भग्न करना विवर्त्तनी दीर्घा पेशी के निवेश से ऊपर हो तो ऊपर का टूटा हुवा भाग आगे की ओर मुड़ जाता है और कुछ बाहर की ओर आ जाता है। नीचे का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है। यदि भग्न करविवर्त्तनी दीर्घा पेशी से नीचे हो तो ऊपर का भाग आगे और भीतर की ओर खिंच आता है और नीचे का भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है। हथेली नीचे की ओर मुड़ जाती है।

भग्न के साधारण लक्षण रहते हैं। अग्रबाहु को कोहनी पर से मोड़कर हाथ को ऊपर की ओर घुमा कर अस्थि-सन्धान करना चाहिये। फिर एक खास प्रकार के फलक में

[कार का स्प्लिन्ट] रख देना चाहिये। इस फलक में हथेली इसप्रकार से रह सकती है कि वह सदा ऊपर रहे।

अधःप्रान्त का भग्न—

इस स्थान का भग्न प्रायः हथेली के भार गिरने से होता है। गिरने से आघात का झटका कलाई से होकर इस भाग पर आता है। मणिबन्ध से एक इंच की दूरी पर प्रायः भग्न होता है। प्रायः करके इस के साथ अन्तःप्रकोष्ठास्थि के मणिक का भग्न भी मिला रहता है। भग्न की रेखा· अनुप्रस्थ होती है। परन्तु रेखा अस्थि में से होकर पीछे और ऊपर की ओर चली जाती है।

शरीर भार और पृथ्वी के बीच में दबने से तथा अभि-घात की दिशा के कारण अस्थि के नीचे का भाग पीछे और ऊपर की ओर चला जाता है। नीचे का भाग जो कि मणि-बन्ध की अस्थियों के सम्पर्क में रहता है, पीछे और नीचे की ओर घूम जाता है। निचला भाग बाहर की ओर से अधिक स्थानच्युत होता है, चूंकि अन्तःपृष्ठ एक बन्धन द्वारा अन्तःप्रकोष्ठास्थि से बंधा रहता है। बहिर्मणिक अन्तः-मणिक से ज़रा ऊंचाई पर रहता है। अस्थि का उपरि भाग अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर खिंच जाता है।

भग्न की विकृतावस्था—

हाथ बाहर की ओर दूर हटा होता है, और अन्तर्मणिक अधिक स्पष्ट होता है। बहिःप्रकोष्ठास्थि के निचले भाग के कारण कलाई के ऊपरी पृष्ठ पर शोथ दिखाई देती है और सामने की ओर गड्ढा रहता है। ऊपरी भाग के निचले किनारे के कारण एक दूसरा उभार दिखाई देता है।

चिकित्सा—

इस भग्न को ठीक स्थान पर बैठाना आवश्यक है। एक

बार की उपेक्षा से कलाई सदा के लिये निष्क्रिय हो जाती है। आमतौर से भग्न को ठीक करने के लिये रोगी को मूर्च्छित करना आवश्यक होता है। चिकित्सक को चाहिये कि हाथ मिलाने की तरह रोगी के दक्षिण हाथ को अपने दक्षिण हाथ से और वाम हाथ को अपने वाम हाथ से पकड़े। अंग की अनुरूप रेखा में सब से प्रथम आकर्षण करना चाहिये। साथ ही ऊपर से पकड़ कर अथवा सहायक की सहायता से विरुद्ध दिशा में विपरीत आकर्षण करना चाहिये खींचते समय हाथ को अन्तःप्रकोष्ठास्थि की ओर एक हलका सा झटका दिया जाता है। इसप्रकार आकर्षण से अंग की लम्बाई पूर्ववत् हो जाती है और अस्थि के टूटे हुए भाग पूर्ववत् स्थान में आ जाते हैं।

यदि भग्न इस प्रकार से ठीक न हो तो भग्न स्थान को अपने दोनों हाथों में पकड़ना चाहिये। पकड़ते समय हाथ के अंगूठे के मूल का उभार ऊपरी भाग के निचले सिरे पर सामने की ओर और दूसरे हाथ का उत्सेध निचले भाग के ऊपरी सिरे पर मणिबन्ध के पीछे की ओर रहना चाहिये। अब अस्थि के भागों को दोनों हाथों से बीच में दबाते हुए तनिक झटका देना चाहिये। यह झटका हाथों को विरुद्ध दिशा में घुमा कर देना चाहिये। इससे अस्थि के भाग अपने स्थान में आजायेंगे।"

एक बार सन्धान ठीक प्रकार होने पर पुनः भग्न होने की आशंका नहीं रहती। सन्धान होने पर सब विकृतावस्थायें लुप्त हो जाती हैं। फलक को कोहनी से लेकर अंगुलियों तक लगा देना चाहिये। साधारणतः फलक को लगाने में पैरिस प्लास्टर का फलक बरता जा सकता है। यह फलक बाहु में आधे पूर्वपृष्ठ-पार्श्वभाग आधे पश्चात्भाग को ढांप लेता है।

इस भग्न के लिये कार का फलक उत्तम माना जाता है। इस फलक के दो भाग होते हैं एक बड़ा और दूसरा छोटा। बड़े भाग के सिरे पर एक तिरछा गोल डण्डा लगा रहता है। इस डण्डे को रोगी अपनी मुट्ठी में पकड़ लेता है। इस प्रकार से हाथ मुड़ा रहता है। बड़ा भाग बाहु के सामने की ओर और छोटा भाग पीछे की ओर रहता है।

इस भग्न के कारण कलाई में दर्द और स्थिरता (जकड़ना) होजाती है। प्रायः करके इनका कारण सन्धि और कण्डरा आवरण का परस्पर चिपक जाना हो जाता है। परन्तु जब कलाई में दर्द और स्थिरता इस भग्न के कारण से होती है तब शक्ति का क्षय तथा गति की नियमितता बनी रहती है। इसलिये आवश्यक है कि चालन की शनैः शनैः क्रिया को यथासम्भव शीघ्र आरम्भ कर दिया जाय और जब तक अस्थियां संयुक्त हों इसको चालू रखना चाहिये। प्रारम्भ से मृदु उद्वर्त्तन या मसाज (Massage) आरम्भ कर देना चाहिये। कलाई में द्रव आ जाने पर फलक उतार देने चाहियें और अंग को सहारा देना चाहिये। साधारणतः दो से तीन सप्ताह तक फलक रखने की आवश्यकता पड़ती है।

अग्रबाहु की दोनों अस्थियों का भग्न—

तीव्र सीधे आघात से अथवा हाथ के भार गिरने से दोनों अस्थियां टूट जाती हैं। कभी यह भग्न पूर्णरूप में होता है और कभी बहिःप्रकोष्ठास्थि का भग्न पूर्णरूप में रहता है और अन्तःप्रकोष्ठास्थि का अपूर्ण होता है। प्रायः करके भग्न अनुप्रस्थ रूप में होता है। परन्तु गिरने में अन्तः प्रकोष्ठास्थि बहिःप्रकोष्ठास्थि की अपेक्षा ज़रा ऊंचाई से टूटती है।

चिकित्सा—रोगी को क्लोरोफार्म सुंघाना चाहिये। इससे बन्धन ढीले हो जाते हैं। फिर कोहनी को मोड़ कर हथेली को ऊपर रख कर हाथ को आगे की ओर खींचना चाहिये। सहायक को चाहिये कि कोहनी को पकड़ कर पीछे की ओर खींचे। यह आकर्षण तब तक करना चाहिये, जब तक कि भग्न अपने वास्तविक स्थान पर न आजाये। फिर दो फलक सामने और पीछे बांध देने चाहियें। सामने का फलक कोहनी से लेकर कलाई तक और पिछला फलक कोहनी से करभास्थियों तक होना चाहिये। फिर हाथ को भुजा के समकोण पर मोड़ कर हथेली को ऊपर रखते हुए गोफण बन्धन में सहारा देना चाहिये।

यदि अस्थियों का संयोजन भलीप्रकार से न हुवा हो तो सन्धानवस्तु को काट कर पुनः अस्थियों को ठीक करना चाहिये। कभी कभी भुल से अस्थियां विरुद्ध अस्थियों से जुड़ जाती है।

मणिबन्ध की अस्थियों का भग्न—

तीव्र आघात से कलाई की आठ अस्थियों में से कोई एक अस्थि टूट जाती है। प्रायः करके नौनिभ या अर्धचन्द्र अस्थि का भग्न होता है। इनके भग्न का भ्रम प्रायः कलाई की मोच से हो जाता है। कलाई में बाहर की ओर बहिः-प्रकोष्ठास्थि के नीचे शोथ उत्पन्न हो जाती है। पार्श्व में [अंगूठे और अंगुली के मध्य में] दबाने से दर्द होता है। कलाई अधिक चौड़ी हो जाती है। हाथ को घुमाना अस-म्भव होता है।

चिकित्सा—

हाथ को ऊपर की ओर झुकाकर उसको विश्राम देना चाहिये। यदि कोई भाग टूट गया हो तो उसको शस्त्र क्रिया

द्वारा निकाल ही देना चाहिये। क्योंकि इस स्थान में उत्पन्न भग्न जुड़ना कठिन होता है।

करभास्थियों का भग्न—

घूंसेबाजी में अथवा चोट के कारण करभास्थियों में भग्न उपस्थित होता है। प्रायः करके मध्यम करभास्थि टूटती है। इनके लिये हाथ को एक लिपटी पट्टी का वेलन पकड़ा कर अंगुलियों को इसके ऊपर ज़ोर से मोड़ना चाहिये। हाथ को इसके ऊपर मोड़कर स्थिर कर देना चाहिये। ऊपर से स्वास्तिक पट्टी बांध देनी चाहिये। आठ या दश दिन के पीछे पट्टी खोल देनी चाहिये। यदि अन्तिम करभास्थि टूट जाये तो फलक का उपयोग करना चाहिये। अंगूठे की करभास्थि को स्थिर करना ज़रा कठिन होता है। इसके लिये प्लास्टर ऑफ पैरिस की पट्टी बांधनी चाहिये। इस पट्टी से अंगूठा, कलाई, और हाथ तीनों ढांप देने चाहियें।[1]

अंगुल्यस्थियों का भग्न—

यह भग्न प्रायः अभिघात से उत्पन्न होता है। प्रायः संयुक्त भग्न ही देखने में आता है। भग्नास्थि के निचले भाग का सिरा सामने की ओर उठ जाता है और हथेली में उभरी दिखाई देती है।

इसके लिये भग्न भागों को सन्धान करके लकड़ी या गटा-परचा का फलक रख कर आठ या दस दिन के लिये अंगुलियों को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। फलक इतना लम्बा

१ उभे तले समे कृत्वा तलभग्नस्य देहिनः।
बध्नीयादामतैलेन परिषेकं च कारयेत्॥
मृत्पिण्डं धारयेत् पूर्वं लवणं च ततः परम्।
हस्ते जातबले चापि कुर्यात् पाषाणधारणम्॥

होना चाहिये कि हथेली पर भी आजाये। लगाने से पूर्व इस में रूई रख देनी चाहिये।

अधःशाखा के भग्न—

ऊर्वस्थि का भग्न—इस अस्थि का ऊर्ध्वप्रान्त गम्भीर पेशियों से घिरा तथा छिपा होता है। इसकी दूसरे स्वस्थ भाग से तुलना करनी चाहिये। तुलना करने के लिये निम्न चिन्हों की जांच करनी होती है।

(१) ऊर्वस्थि का महाशिखरक—इस भाग को जांचने के लिये नितम्ब पर गरिष्ठा पेशी को दबा कर देखना चाहिये।

(२) पुरोर्ध्वकूट—यह नितम्ब के ऊपर जघनधारा का सब से आगे का स्थान है। यहां से वंक्षणबन्धन भग-सन्धानिका की ओर जाता है।

(३) कुकुन्दर पिण्ड—इसको नितम्बपिण्डका गरिष्ठा पेशी को ऊपर की ओर दबाने से प्रतीत कर सकते हैं।

निलेटन की रेखा—

इस में पुरोर्ध्वकूट से कुकुन्दरपिण्ड तक एक सीधी रेखा खींचते है। इस रेखा का मध्यबिन्दु 'महाशिखरक' के ऊपर आता है। किन्तु यदि जंघा अन्दर या बाहर की ओर मुड़ जाती है, तो मध्यबिन्दु शिखरक के ऊपर या नीचे आता है। यदि शिखरक इस बिन्दु से ऊपर हो तो इस का अभि-प्राय यह है कि अंग छोटा पड़ गया है।

शीन की परीक्षा—

रोगी को लेटाकर एक फीता दोनों पुरोर्ध्वकूट पर रखना चाहिये। और दूसरा फीता दोनों महाशिखरकों के ऊपर रखना चाहिये। स्वस्थ अवस्था में दोनों फीते समानान्तर आने चाहियें। यदि इनमें कुछ भेद होगा तो फीते परस्पर असमानान्तर आयेंगे।

ऊर्वस्थि के ऊर्ध्वप्रान्त के भग्न—

ग्रीवा का भग्न—इस भाग के भग्न दो रूपों में मिलते हैं।

(१) कोषान्तः भग्न

(२) बहिः कोष भग्न

इनमें कोषान्तःभग्न की अवस्था में भग्न शिर के पास जहां पर की ग्रीवा पतली पड़ती है सन्धिकोष के भीतर होता है। बहिःकोष भग्न में-भग्न ग्रीवामूल के पास, जहां कुछ चौड़ी हो कर अस्थि गात्र के साथ मिलती है, वहां पर होती है। कोषान्तः भग्न में भग्नरेखा कोष के अन्दर रहती है और बहिःकोषभग्न में रेखा आगे की ओर कोष के बाहर पीछे की ओर आजाती है।

बहिःकोषभग्न—

यह भग्न शिखरकों के पास सीधे अभिघात से होता है [यथा गिरने में]। चोट के कारण ग्रीवा का पश्चिम भाग प्रथम टूटता है, चूंकि यही भाग कमज़ोर है। यह भग्न प्रायः अन्तराविष्ट होता है। कभी कभी इस भग्न में दोनों शिखरक भी टूटते हुए देखे गये हैं।

नितम्ब के पार्श्व में अभिघात के लक्षण स्पष्ट होते हैं। यह भग्न प्रायः बच्चों में पाया जाता है। इस में अंग बाहर की ओर मुड़ने के साथ ऊपर की ओर खिंच आता है। जिससे अंग में १½ या २ इञ्च की लम्बाई कम हो जाती है। इस भग्न में अंग प्रायः अकर्मण्य हो जाता है।

चिकित्सा—

इस के लिये रोगी को मूर्च्छित करके भग्न को ठीक करना चाहिये। अंग का आकर्षण करने के साथ साथ इसको अन्दर की ओर घुमाकर प्लास्टर ऑफ़ पैरिस की पट्टी

बांधनी चाहिये। यह पट्टी गुल्फ तक आनी चाहिये। पट्टी बांधते समय जानु को ४५ अंश के कोण पर मोड़ कर रखना चाहिये। यह स्थिति कम से कम आठ सप्ताह रखनी चाहिये फिर मसाज (Massage) और उद्वर्त्तन आरम्भ करना चाहिये।

अन्तःकोष का भग्न—

यह भग्न शिर के पास होता है। प्रायः वृद्धवस्था में मिलता है। इस भग्न का कारण कोई दूरवर्त्ती छोटा सा भी आघात होता है। कई बार सीढ़ीयों पर चढ़ते समय पांव के फिसलने से भी भग्न हो जाता है। भग्नरेखा अनुप्रस्थ रहती है। इस का अधिक भाग कोष के भीतर रहता है। स्थानच्युति अस्थ्यावरण और सन्धिकोष के टूटने पर निर्भर है। जब अस्थि के दोनों भाग पृथक् हो जायें तो नीचे का भाग ऊपर और पीछे की ओर खिंच कर कुछ बाहर की ओर घूम जाता है। अस्थि के दोनों भाग बहुत कम अन्तराविष्ट होते हैं। अंग की लम्बाई १ से ३ इंच कम हो जाती है। अंग को हिलाने में दर्द होता है।

कभी कभी बच्चों में भी इसप्रकार का भग्न पाया जाता है। यदि यह भग्न पूर्ण हो तो बच्चे की चलने फिरने की शक्ति नष्ट हो जाती है, वह लंगड़ाने लगता है, टांग कुछ बाहर की ओर मुड़ जाती है और लम्बाई भी कम हो जाती है।

चिकित्सा—

वृद्ध पुरुषों में यदि अस्थि के भाग अन्दर को घुस जायें तो उन को वैसे ही छोड़ देना चाहिये। वृद्ध पुरुषों को देर तक बिस्तर पर नहीं रखना चाहिये। उनको यथा सम्भव जल्दी से जल्दी चलने की अनुमति देनी चाहिये। इस के लिये कोई ऐसा साधन या उपकरण बरतना चाहिये

[जैसा कि पांव में सीसे का छल्ला या कड़ा पहिनाना] जिससे कि अंग में आकर्षण होता रहे।

भग्न के अन्तराविष्ट न होने पर थोमास की कंकालकुशा (फलक) द्वारा अंग का प्रसारण करना आवश्यक है। अंग को इस प्रकार स्थिर करना चाहिये, जिससे वह सदा मध्यरेखा से बाहर की ओर खिंचा हुवा रहे।

ऊर्वस्थि के गात्र का भग्न—

सीधे अभिघात से अथवा दूरवर्त्ती चोट के कारण अस्थि का गात्र बीच से टूट जाता है। इसमें भी सब से अधिक भग्न गात्र के नीचे के भाग का होता है। किन्तु दूरवर्त्ती अभिघात से अस्थि के बीच का भाग टूटता है।

गात्र का भंग तीन स्थानों से होता है। १-ऊपर के एक तिहाई का भग्न, २-बीच के एक तिहाई का भग्न और ३-नीचे के एक तिहाई का भग्न। इन में से —

ऊपर के एक तिहाई के भग्न में—

ऊपर का छोटा भाग सामने की ओर खिंच कर बाहर की ओर घूम जाता है। यह कार्य 'सोआस मसल्स' और नितम्बपेशी के कारण होता है। नीचे का भाग उपरि भाग के भीतर और ऊपर की ओर खिंचता है। पांव का भार और वहिर्नायनी पेशी इसको बाहर की ओर खींच लेती है। अंग की लम्बाई कम हो जाती है।

बीच के एक तिहाई भग्न में—

यदि आघात के ठीक स्थान पर भग्न हो तो रेखा अनुप्रस्थ रहती है, और यदि दूरवर्त्ती आघात के कारण भग्न हो तो रेखा तिर्यक् होती है। ऊपर का भाग नीचे और सामने की ओर आता है, नीचे का भाग ऊपर और भीतर की ओर खिंच कर ऊपरी भाग के पीछे या सामने पहुंचता है। इस

भग्न में रक्तप्रवाह अधिक होता है अस्थि के टुकड़े उरः-प्रसारिणी चतुरस्रा पेशी में धंस जाते हैं।

नीचे के एक तिहाई का भग्न—

सीधे एवं समीपवर्त्ती अभिघात के कारण भग्न अनुप्रस्थ रूप में होता है निचला भाग जंघाप्रसारणी पेशियों द्वारा बाहर की ओर खिंच जाता है। जिससे रक्तवाहिनियां दब जाती हैं और रक्तसंचार बन्द हो जाता है। दूरवर्त्ती अभिघात से तिर्यक् भग्न होता है। ऊपर का भाग आगे की ओर खिंचकर चतुरस्रा पेशी में धंस जाता है। यह भाग आगे की ओर उठा हुवा रहता है तथा स्पर्श से जाना जा सकता है। अभिघात के अधिक तीव्र होने से चर्म विदीर्ण होकर संयुक्त भग्न हो जाता है।

चिकित्सा—

इन भग्नों की चिकित्सा प्रायः कठिन है। चूंकि शरीर की सम्पूर्ण अस्थियों में यही एक अस्थि सब से अधिक बलवान् और भारक्षम है। यही कारण है कि इस के साथ जुड़ी बलवान् पेशियों में सन्धान को विकृत कर देने की प्रवृत्ति रहती है।

इस चिकित्सा में मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं—

(१) सतत प्रसारण बहुकाल तक

(२) उद्बन्धन

(३) बहिर्नयन

(४) उद्वर्त्तन और चालन

प्रसारण करने की विधि—

प्रसारण करने के लिये घुटने से ऊपर उर्वस्थि के निचले सिरे या जंघास्थि के ऊपर के भाग का सहारा लिया जाता है। यदि घुटने के नीचे से आरम्भ करना हो तो अनुबन्धक

पट्टी (प्लास्टर) को चार इंच चौड़ा काटना चाहिये । यह पट्टी इतनी लम्बी होनी चाहिये कि घुटने के दो इंच नीचे से आरम्भ हो कर एक पार्श्व पर से होती हुई तथा पांव के तलुवे पर छः इंच तक ढीली रह कर दूसरे पार्श्व पर से होती हुई आरम्भ के स्थान के सामने दूसरी ओर आ जाये । इस प्रकार से पांव के तलुवे पर पट्टी छः इंच ढीली रह जायेगी। पट्टी को लगाने से पूर्व बालों को उस्तरे से साफ़ कर देना चाहिये । प्लास्टर ठीक प्रकार से बैठ जाये इसलिये स्थान स्थान पर इस को थोड़ा थोड़ा काट देना चाहिये । पादतल के ढीले महराब में ३×३ इंच मोटी एक लकड़ी गुजारनी चाहिये । इस लकड़ी में तथा प्लास्टर के मध्य में एक छेद बनाना चाहिये । इस में से एक रस्सी निकाल कर शय्या के नीचे की लकड़ी पर से गुज़ार कर उस में कंकड़ या छर्रों से भरे डिब्बे को लटका देना चाहिये । साधारणतः बलवान व्यक्ति के लिये १० सेर से अधिक भार की आवश्यकता नहीं होती । प्रथम प्रथम ४ या ५ सेर भार लटकाना चाहिये. फिर इस को धीरे धीरे बढ़ाना चाहिये । आम तौर से यह प्लास्टर काम दे जाता है, किसी खास फलक (कुशा) की आवश्यकता नहीं होती । जिस समय सन्धान प्रारम्भ हो जाये उस समय भार कम कर देना चाहिये[1] ।

बहुत काल तक प्रसारण के लिये बाज़ार में होजिन (Hodgen) या थोमास (Thomas) के फलक बरतने

१ 'अथ जंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम् ।
कीलका बन्धनार्थञ्च पञ्च कार्या विजानता ॥
यथा न चलनं तस्य भग्नस्य क्रियते तथा ।
सन्धेरुभयतो द्वौ द्वौ तले चैकश्च कीलकः ।
श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्षस्यक्षकयोस्तथा ।
भग्नसन्धिविमोक्षेषु विधिमेनं समाचरेत् ॥ सुश्रुत

चाहियें। इन फलकों में आराम यह रहता है कि रोगी टांग को घुटने पर मोड़ सकता है। उसकी टांग घुटने पर मुड़ी रहती है।

उद्बन्धन—

प्रसारण करने के पीछे अंग को लटका दिया जाता है। इसके लिये बाल्कन बीम [बाल्कन फ्रेम] का उपयोग उत्तम है। रोगी को एक से अधिक तकिये देने चाहियें।

बहिर्नयन—

उर्वस्थि के भग्नों में प्रायः अंग को बाहर की ओर खींच कर रखना आवश्यक होता है। इसके लिये बाल्कन बीम का प्रयोग करना चाहिये। यह बाल्कन बीम शय्या के बीच में न रखकर किनारे पर रखना चाहिये। इस में अंग को लटका देने से अंग बाहर की ओर खिंचा रहता है।

चालन—

जानु सन्धि को ढीला रख कर उससे सदा गति कराते रहना चाहिये, जिससे सन्धि जाड्य उत्पन्न न हो। जहां तक सम्भव हो उद्वर्त्तन और चालन शीघ्र प्रारम्भ करने चाहियें।

कुशाओं को छह से आठ सप्ताह के पीछे उतार देना चाहिये। रोगी को वैशाखी के सहारे चलने की इज़ाज़त देनी चाहिये। तीन मास तक उसको शरीर पर बोझ नहीं डालने देना चाहिये। इस भग्न में संयोजन बहुत धीमा होता है।

बच्चों की अवस्था में जब ऊर्वस्थि के गात्र का भग्न हो जाये तो फलक लगा कर उनको पर्य्याप्त समय तक शय्या पर आराम देना चाहिये। बालकों की अवस्था में दोनों अंगों पर प्लास्टर लगाना चाहिये। इससे प्रसारण भलीप्रकार होता है। स्वस्थ अंग को ऊपर उठाने का अभिप्राय यह है कि समस्त श्रोणी ऊपर को उठी रहती है। ऐसा न करने से

स्वस्थ अंग के भार से रुग्ण भाग भी नीचे को खिंचा रहता है। चार या पांच सप्ताह पीछे अंग को ढीला करके उद्वर्त्तन और चालन क्रियायें प्रारम्भ कर देना चाहियें।

ऊर्वस्थि के अधःप्रान्त का भग्न—

इस प्रान्त का भग्न प्रायः बच्चों में होता है; खासकर दस साल की आयुवाले लड़कों में जब कि वे रैंच द्वारा कोई कबला आदि जोड़ ढीला कर रहे होते हैं।

(१) अर्बुद के ऊपर का भग्न
(२) अर्बुदों का भग्न होना
(१) T और Y के आकार का भग्न

अर्बुदोपरि भग्न—

घुटनों के बल गिरने से अथवा सीधे अभिघात से भग्न होता है। सीधे भग्न में भग्नरेखा अनुप्रस्थ होती है और दूरवर्त्ति अभिघात में तिर्यक् रहती है। भग्न भाग पीछे की ओर मुड़कर आस्थि को विक्षत कर सकता है जिससे निचले अंग में रक्त संचालन बन्द होकर निर्जीवता या कोथ उत्पन्न होजाता है।

चिकित्सा—

प्रायः सन्धि में और उसके चारों ओर रक्त एकत्रित हो जाता है—इससे परीक्षा कठिन हो जाती है। रोगी को लेटा कर जंघा को ऊरूपर मोड़ना चाहिये और ऊरू को उदर पर मोड़ देना चाहिये। इससे सन्धान स्वयं हो जायेगा। रोगी को टोमास कुशा में रखना चाहिये। चार या पांच दिन पीछे फलक उतार कर जानु के पीछे एक मोटा तकिया लगाकर उसको आगे की ओर मोड़ देना चाहिये।

अर्बुदों का पृथक् होना—

प्रायः इन पर अभिघात लगने से अर्बुद टूट जाते हैं।

अर्बुद अस्थि से पृथक् हो कर पीछे की ओर खिंच जाते हैं। जंघा टूटे अर्बुद की ओर कुछ घूम जाती है

चिकित्सा—

पेशियों के कर्षण के कारण अस्थि-सन्धान कठिन होता है। यदि हस्त-व्यापार से सफलता न मिले तो शस्त्र कर्म करना चाहिये।

T और Y के आकर का भग्न—

यह भग्न प्रगण्डास्थियों के समान होता है। वास्तव में ये दो.भग्न होते हैं। प्रथम भग्न अनुप्रस्थ होता। सन्धि कुछ चौड़ी हो जाती है। पीड़ा तीव्र होती है, भग्नध्वनि सुनाई देती है।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा अर्बुदोपरि भग्न के समान है। इसमें प्रायः करके संज्ञालोप होने का भय रहता है।

श्रोणीचक्र का भग्न—

नितम्ब के भार गिरने से अथवा सीधे अभिघात से तीनों अस्थियों में भग्न हो जाता है। कई वार इस भग्न के कारण अन्दर के कोमल अवयव [यथा-मूत्राशय गुदा और गर्भाशय] भी विदीर्ण, हो जाते हैं। इस भग्न में अन्य अस्थियों की अपेक्षा भगास्थि सब से अधिक भग्न होती है। गुदा में अंगुलि डालकर परीक्षा करने से भग्नध्वनि और और टूटे हुए अस्थि के टुकड़े अनुभव किये जा सकते हैं।

चिकित्सा—

रोगी को हटाने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यक्ता है। रोगी को तख्त पर लेटा देना चाहिये। चिकित्सा करने से पूर्व इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि अन्दर का

कोई अवयव तो विदीर्ण नहीं हुवा। परीक्षा करने के उपरान्त भग्न को सन्धान करके दोनों टांगों को परस्पर मिलाकर बांध देना चाहिये। दोनों टांगों को मिलाने से पूर्व रुई बीच में रख देनी चाहिये+।

जान्वस्थि का भग्न

यह अस्थि स्वतंत्र रूप में रहती है, केवल बलवान पेशियों से ऊपर और नीचे बंधी है। इसलिये इसका भग्न दो प्रकार से होता है। यथा-मांसपेशियों के बलवत् आकर्षण से और २-सीधे अभिघात से। सीधे अभिघात से जब भग्न होता है तब भग्नरेखायें एक केन्द्रबिन्दु से कई दिशाओं में में जाती दीखती हैं। इस में अस्वथ्यावरण नहीं टूटता। सन्धि के भीतर रक्त और सीरम भर जाता है।

जब पेशियों के आकर्षण के कारण भग्न होता है, तब भग्नरेखा अनुप्रस्थ होती है। भग्न अस्थि के मध्य में या कुछ नीचे होता है। अस्थि की स्थानच्युतिउरूप्रसारिणी चतुरस्रा पेशी के कला वितान के टूटने पर निर्भर है। यह कलावितान अस्थि पर चढ़ा रहता है। इसलिये यदि यह सम्पूर्ण नहीं टूटता तो दोनों भागों में अन्तर एक इंच से अधिक नहीं होता; परन्तु सम्पूर्ण रूप में टूटने पर दो या तीन इंच का अन्तर आजाता है।

सन्धि शोथयुक्त हो जाती है, अंग में पीड़ा होती है। रोगी खड़ा नहीं हो सकता, यहां तक कि अपना पांव भी रोगी ज़मीन पर नहीं रख सकता। अस्थि के दोनों भागों को हिला कर प्रतीत किया जा सकता है।

+ अभ्यज्यायामयेत् जङ्घामूरूञ्च सुसमाहितः।
दत्वा वृक्षत्वधः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्॥ सुश्रुत।

चिकित्सा—

जान्वस्थि के सब तिर्यक् भग्नों में शस्त्रकर्म करना आवश्यक होता है। यदि शस्त्रकर्म कराने से रोगी इन्कार करे तो सम्पूर्ण अंग को एक लम्बे फलक के साथ बांध देना चाहिये जिससे घुटना पीछे जंघा पर न मुड़ सके। पांव को ऐसी पट्टी पर सहारा देना चाहिये जो कि हिल जुल सके, जिससे पांव को भी गति मिल सके। फलक के निचले सिरे को तकियों से पर्य्याप्त सहारा पहुंचाना चाहिये जिससे चतुरस्रा पेशी पर्य्याप्त ढीली हो जाये। पट्टी बांधते समय घुटने को खुला छोड़ देना चाहिये। इसके ऊपर उड़नशील घोल का कपड़ा रखना चाहिये जिससे सूजन कम हो जाये। जान्वस्थि के दोनों टुकड़ों को अनुबन्धक पट्टी के सहारे से पास में लाना चाहिये। अथवा फलक के दोनों पार्श्वों में दो 'हुक' लगाकर पट्टी एवं अनुबन्धक प्लस्तर के सहारे इन टुकड़ों में मिलाना चाहिये। शस्त्रकर्म करने के लिये कई विधियों का उपयोग होता है। यथा—

(१) जान्वस्थि के सामने के चर्म में अर्द्ध चन्द्राकार छेदन करना चाहिये। छेदन करके त्वचा को उलट देना चाहिये। पीछे से अस्थि के दोनों भागों में तार डालने के लिये 'ड्रिल' नामक यंत्र का उपयोग करना चाहिये। यह छेद नीचे के भाग में नीचे की ओर से और ऊपर के भाग में ऊपर की ओर से करना चाहिये। दोनों भागों में छेद की स्थिति इस प्रकार से होनी चाहिये कि परस्पर मिल जायें। पीछे से शुद्ध चांदी के तार को नीचे के छेद से में गुज़ार कर उपरि भाग के छिद्र के ऊपरी सिरे से निकाल कर पहले की भान्ति तार के दोनों सिरों को खींच कर मिला दिया जाता है। तार की गांठ ऊपर लगाई जाती है। तार को काटने के पीछे उन के सिरों को कण्डरा

या अस्थ्यावरण के नीचे दबा दिया जाता है। शल्यकर्म के उपरान्त तत्क्षण घुटने के पीछे फलक लगा देना चाहिये। आठवें दिन इस फलक को हटा देना चाहिये। रोगी को चौदहवें दिन उठने के लिये कहना चाहिये। इस बीच में उसको कुर्सी पर बैठने की इजाजत दे देनी चाहिये। पांव के आराम के लिये कुर्सी पर एक टेका लगा होना चाहिये। प्रति दिन इस कुर्सी को सीधा करते जाना चाहिये।

जंघास्थि का भग्न

ऊर्ध्वप्रान्त का भग्न—प्रायः उसी स्थान पर सीधा अभिघात लगने से होता है। ऐसी दशा में इस भाग के कई टुकड़े हो जाते हैं। इस भग्न के साथ बहिर्जंघिका के ऊपरि भाग का भी भग्न हो जाता है। इन भग्नों में प्रायः स्थानच्युति अधिक नहीं होती।

चिकित्सा—

जंघा को आगे की ओर मोड़कर उसके पीछे उपयुक्त कुशा लगा देनी चाहिये। इसके लिये मैकइन्टायर (mac Intyres splint) फलक ठीक है। यदि अर्बुद भी टूट गये हों तो इनको सन्धान करके अनुबन्धक पट्टी से स्थिर कर देना चाहिये। आवश्यक हो तो 'टोमास' फलक का उपयोग करना चाहिये। भग्नरेखा के टेढ़ी होने पर प्रसारण का आयोजन करना चाहिये।

गात्र का भग्न—

इस में प्रायः जंघास्थि और अनुजंघास्थि दोनो का एक साथ भग्न होता है। परन्तु केवल जंघास्थि भी कभी कभी सीधे अभिघात से टूट जाती है। उपरि भाग में भग्नरेखा अनुप्रस्थ और निचले भाग में तिरछी होती है। अनुजंघास्थि के सम्पूर्ण रहने पर जंघास्थि की स्थान च्युति बहुत

कम होती है। कभी कभी उपरि भाग का निचला सिरा त्वचा को विदीर्ण करके संयुक्त भग्न बना देता है।

चिकित्सा-अंग को आराम पहुंचाने के लिये अंग के पीछे एक फलक लगाकर शोथ कम करनी चाहिये। पीछे से अनुबन्धक प्लास्टर द्वारा अंग का प्रसारण करना चाहिये।

अन्तर्गुल्फ का भग्न—

इस में स्थानच्युति अधिक नहीं होती। परन्तु टूटा हुआ भाग अस्थि से पृथक् हो जाता है। उचित चिकित्सा न करने पर गात्र के साथ अस्वाभाविक रूप में सौत्रिक तन्तुवों द्वारा संयुक्त हो जाता है।

चिकित्सा—

पांव को भीतर की ओर मोड़कर भग्न को ठीक रूप में लाकर पैरिस प्लास्टर की सहायता से इसको स्थिर कर देना चाहिये। आठ या दस दिन के पीछे उद्वर्त्तन या चालन आरम्भ कर देना चाहिये। यदि इसप्रकार से सफलता न मिले तो शस्त्रकर्म करना चाहिये।

अनुजंघास्थि का भग्न

इस अस्थिका भग्न साधारणतः बहुत कम अकेला होता है। और यदि कदाचित् हो भी जाये जंघास्थि स्थानभ्रंश नहीं होने देती। भग्नध्वनि स्पष्ट अनुभव की जा सकती है।

इसके लिये अंग को कुछ समय तक आराम देना चाहिये। अंग को आराम देने के लिये उसे पैरिस प्लास्टर में रखना चाहिये। प्रतिदिन टांग के ऊपर उद्वर्त्तन करना चाहिये।

दोनों जंघास्थियों का भग्न

इन अस्थियों का भग्न एक साथ दो प्रकार से होता है।

एक तो सीधे अभिघात से और दूसरा दूरवर्त्ति अभिघात के कारण। जब सीधे अभिघात से ये अस्थियां टूटती हैं, तो एक ही स्थान से दोनों टूटती हैं,और दूरवार्त्ति अभिघात के कारण जंघास्थि निचले एक तिहाई भाग पर से टूटती है और अनु जंघास्थि इससे ऊपर से टूटती है। भग्नरेखा तिरछी रहती है।

चिकित्सा—

भग्नका निर्णय करना कुछ कठिन नहीं है। जंघास्थि पर ऊपर से नीचे हाथ फेरने पर भग्न का निश्चय सुगमता से हो जाता है। परन्तु अनुजंघास्थि की परीक्षा ज़रा कठिन है। रोगी को विस्तर पर लटा कर उरू को उदर पर और जंघा को उरू पर मोड़ना चाहिये। एक सहायक इस को पकड़ कर ऊपर की ओर खींचे और दूसरा सहायक गुल्फ को पकड़ कर नीचे एक सीध में खींचे। इसप्रकार करने से दोनों अस्थियों का सन्धान हो जाता हैं। जिस समय सन्धान भली प्रकार से हो जायेगा तो अंगूठे के भीतर की ओर का उभार अन्तर्गुल्फ और जान्वस्थि के भीतर की ओर का किनारा एक सीध में आ जाता है।

उद्वर्त्तन और चालन क्रियायें प्रतिदिन करनी चाहियें। तीन सप्ताह पीछे रोगी की अवस्था सन्तोषजनक हो तो नमदे के फलक अंग के दोनों ओर लगाकर चलने फिरने की आज्ञा दे देनी चाहिये '

गुल्फ भाग के भग्न

इन भग्नों के साथ सन्धिविश्लेष का होना प्रायः होता है। जिस समय रोगी का पांव फिसलता है, तो अन्दर या बाहर की ओर घूम जाता है; जिस से सन्धिभ्रंश हो

जाता है। पीछे से अस्थि का भग्न होता है।

पौट का भग्न [Potts Fracture]—

गिरते समय या फिसल जाने से पांव के बाहर की ओर फिसलने या मुड़ जाने से होता है। इस प्रकार के भग्न में कई अन्य प्रकार के आघात मिले होते हैं। प्रथम गुल्फ सन्धि का अन्तःपार्श्वबन्धन भार की अधिकता से टूट जाता है। कूर्च-शिर बाहर की ओर भ्रष्ट होकर बहिर्गुल्फ को उसी ओर को दबाता है। इससे अनुजंघिका भी बाहर की ओर को दब जाती है और गुल्फ के कुछ ऊपर से टूट जाती है। दोनों जंघास्थियों के बीच का बन्धन भी टूट जाता है।

जब भग्न केवल टांग के बाहर की ओर खिंचने से होता है तो अस्थि गुल्फ के लगभग ३ इञ्च ऊपर से टूटती है। अस्थि के अधोभाग का उपरि सिरा जंघास्थि की ओर खिंच जाता है और पांव बाहर की ओर घूम जाता है। साथ में एड़ी ऊपर की ओर उठ जाती हैं। अंगुलियां आगे की ओर झुक जाती हैं। यदि केवल अन्तःपार्श्वबन्धन ही टूटे तो त्वचा के नीचे गुल्फ उभरा दीखता है। परन्तु यदि गुल्फ और बन्धन दोनों टूट जायें तो वहां पर एक गड्ढा दिखाई देता है।

डुप्यीट्रन का भग्न—

इस भग्न में दोनों जंघास्थियों के निचले सिरों के बीच का बन्धन और बहिर्जंघास्थि का निचला भाग टूट जाता है। पांव का भाग बाहर की ओर सरक जाता है। कूर्चशिर जंघास्थियों से पृथक् होकर बाहर की ओर हट जाता है।

चिकित्सा—

सन्धि में यदि शोथ उत्पन्न न हुई हो तो सन्धान तुरन्त किया जा सकता है। परन्तु यदि शोथ उत्पन्न हो जाये तो

शीतोपचार करके प्रथम शोथ को कम करना चाहिये, फिर सन्धान का उपक्रम करना चाहिये। सन्धान करने के लिये जंघा को नीचे की ओर झुका कर उसकी पेशियों को ढीला करना चाहिये। पांव को नीचे की ओर और जानुसन्धि को ऊपर की ओर खींचने पर हस्तकौशल से भग्नसन्धान किया जाता है। प्रत्येक अङ्ग को ठीक बैठाकर दूसरे अंग से तुलना की जाती है। यदि सन्धान ठीक होगा तो पांव जङ्घा के समकोण पर आजायेगा। अन्तःगुल्फ और बहिर्गुल्फ अपने स्वाभाविक स्थान पर रहेंगे और कूर्चशिर दोनों गुल्फों के बीच में आजायगा। दस या बारह दिन में अस्थियें जुड़ जाती हैं। नित्य प्रति उद्वर्त्तन और चालन करना चाहिये। पहिले पहिल वैशाखी के सहारे चलना चाहिये।

कूर्चशिर का भग्न—

कुछ उंचाई से गिरने पर जंघास्थि और पार्ष्णि के बीच में दब कर यह अस्थि टूट जाती है। आघात लगने से भी इस का भग्न होता है। सन्धि में सीरम और रक्त के भर जाने से शोथ उत्पन्न हो जाती है। यदि भग्न के विषय में शंका हो तो एक्स-रे करना चाहिये।

इस अस्थि को आराम मिल जाये इसलिये सन्धान करने के उपरान्त पांव को पैरिस प्लास्टर से बनी कुशा में रख देना चाहिये और उद्वर्त्तन शीघ्र आरम्भ कर देना चाहिये। परन्तु जब तक दर्द बिल्कुल शान्त न हो जाये रोगी को चलने फिरने नहीं देना चाहिये।

पार्ष्णि का भग्न—

इस अस्थि का भग्न पांव के तले अथवा एड़ी के भार गिरने से होता है। भग्न के साथ टूटे हुए भाग भी भ्रष्ट हो जाते हैं। जिससे पार्ष्णि-कण्डरा के द्वारा पार्ष्णि का पिछला

भाग ऊपर की ओर खिंच जाता है। उंचाई से गिरने पर भग्न-रेखा अस्थि के बीच में रहती है और उससे कई छोटी छोटी दरारें चारों ओर जाती हैं।

इसके लिये छेदन करके अस्थि को नंगा कर लेना चाहिये। और फिर अस्थि को ठीक स्थान पर बिठाकर पेंच से कस देना चाहिये। इसके पीछे पैरिस प्लास्टर की पट्टी से अंग को स्थिर कर देना चाहिये।

प्रपादास्थियों और अंगुल्यस्थियों का भग्न—

इन अस्थियों का भग्न प्रायः चोट लगने से होता है। और जब भार के गिरने से भग्न होता है, तब कई अस्थियों का भग्न होता है; यह भग्न प्रायः संयुक्त होता है।

इस प्रकार के भग्न प्रायः विश्राम और उद्वर्त्तन से ठीक हो जाते हैं। उद्वर्त्तन और चालन क्रियाओं को प्रारम्भ से ही बरतना चाहिये[1]।

भग्नों के लिये समय—

साधारण भग्नों में निम्न अस्थियों की चिकित्सा के लिये लगभग निम्न समय चाहिये[2]—

अक्षकास्थि के लिये ६ से ८ सप्ताह

प्रगण्डास्थि के लिये ६ से १० „

---

१ अभ्यज्य सर्पिषा पादं तलभग्नं कुशोत्तरम्।
वस्त्रपट्टेन बध्नीयात् न च व्यायाममाचरेत् ॥
भग्नां वा सन्धिमुक्तां वा स्थापयित्वाङ्गुलीं समम्।
अणुनावेष्ट्य पट्टेन घृतसेकं प्रदापयेत् ॥

२ प्रथमे वयसि त्वेवं भग्नं सुकुमारमादिशेत्।
अल्पदोषस्य जन्तोस्तु काले च शिशिरात्मके ॥
प्रथमे वयसि त्वेवं मासात् सन्धिः स्थिरो भवेत्।
मध्यमे द्विगुणात् कालात् उत्तरे त्रिगुणात् स्मृतः ॥ सुश्रुत

दोनों प्रकोष्ठास्थियों
के लिये ६ से ८ सप्ताह
करभास्थियों ,, ४ सप्ताह
ऊर्वस्थि ,, ६ मास
जान्वस्थि ,, ४ से ६ सप्ताह [शस्त्रकर्म करने पर]
जान्वस्थि ,, २ से ४ मास [शस्त्रकर्म न करने पर]
जंघास्थि ,, ६ से १२ सप्ताह
अनुजंघास्थि ,, ४ से ६ ,, [गात्र के अधोभाग को छोड़ कर]
दोनो जंघास्थियों के
लिये ६ से १४ सप्ताह
पौट का भग्न— ६ से १२ ,,

सत्रहवां अध्याय

सन्धि भ्रंश—

ये दो प्रकार से होते हैं। एक सन्धि-विवर्त्त और दूसरा सन्धि-भ्रंश। इन में सन्धिविवर्त्त—के अन्दर सन्धान बन्धन अधिक खिंच जाते हैं। दौड़ने, कूदने अथवा गिरने से जिस सन्धि पर अधिक ज़ोर पड़ता है, उस सन्धि के बन्धनों में से कुछ सूत्र-बन्धन टूट जाते हैं। कभी कभी बलवान् आघात से अस्थि का वह भाग भी टूट जाता है, जिसपर ये सूत्र बन्धन लगे रहते हैं। सन्धि में शोथ उत्पन्न हो जाती है, अंग को हिलाने जुलाने में कठिनाई एवं पीड़ा होती है। अंग को फैलाने से पीड़ा बढ़ जाती है।

अंग को आराम देने से शोथ शान्त हो जाती है और

टूटे हुए बन्धन फिर से जुड़ने लगते हैं। इसके लिये अंग को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। शोथ की अवस्था में रक्त और सीरम सन्धि में एकत्रित हो गये हों तो दबाव देना चाहिये। इसके लिये पट्टी कस कर बांध देनी चाहिये। शीतोपचार से शोथ एवं पीड़ा कम हो जाती है। दो या तीन दिन के पीछे उद्वर्त्तन और चालन प्रारम्भ कर देना चाहिये।

दूसरे प्रकार के सन्धिभ्रंश में अस्थियों के सिरे एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। साधारणतः अस्थियों के सिरे समीप में रहते हैं; इनको एक कोष ढांपे रहता है। यह कोष स्नैहिक कला से बना होता है। इस कोष को 'सन्धिकोष' कहते हैं। सान्धिभ्रंश में अस्थि के सिरों को बांधने वाले बन्धन टूट जाते हैं। कभी कभी सन्धिकोष का भी कुछ भाग टूट जाता है। यह विकृति प्रायः चोट से होती है।

लक्षण—

अंग के रूप में विकार आने से सन्धिविश्लेष का होना स्पष्ट हो जाता है। सन्धि में अस्थियां अपनी अस्वाभाविक स्थिति में आ जाती हैं। जिससे कि स्वस्थ स्थान में गड्ढा और दूसरे स्थान में उभार दिखाई देता है। परीक्षा करते समय क्षत सन्धि की स्वस्थ सन्धि से तुलना करनी चाहिये। रोगी अंग को हिलाना जुलाना पसन्द नहीं करता। रोगी को स्तब्धता का अनुभव होता है। हाथ लगाने से भी रोगी भय का अनुभव करता है; साथ में शोथ भी उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सा—

जहां तक सम्भव हो सन्धि को उसके स्थान पर बिठाने का यत्न करना चाहिये। इसमें अधिक ज़ोर या किसी प्रकार के बल का प्रयोग करने की आवश्यक्ता नहीं। इस में दक्षता

को ही अधिक महत्त्व है । जिस समय अस्थि अपने स्थान पर आयेगी उस समय एक आवाज़ होगी एक बार सन्धि का संयोजन होजाने पर सुगमता से पुनः भ्रंश नहीं होता। सन्धि में एकत्रित सीरम और रक्त शुष्क हो जाते हैं। टूटे हुए बन्धन फिर से जुड़ जाते हैं। परन्तु कई व्यक्तियों में बन्धन बहुत ढीले हो जाते हैं, जिससे बार-बार च्युति होने लगती है। इस अवस्था में बांध कर अंग को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। सन्धान के पीछे कम से कम ८—१० दिन तक उद्वर्त्तन आरम्भ कर देना चाहिये।

विश्लिष्ट सन्धि के सन्धान करने में निम्न बाधायें आती हैं-

(१) सन्धि के चारों ओर की पेशियों का संकुचित होना, जिससे अस्थि को चारों ओर घुमाने में कठिनाई होती है ।

(२) कभी कभी सन्धि के भीतर अस्थि का कोई भाग पेशी सूत्र-बन्धन अथवा दूसरी अस्थि के किसी प्रवर्धन में फंस जाता है ।

(३) सन्धिकोष का छेद इतना छोटा हो जाता है कि सन्धि में पुनः प्रवेश करने में बाधा पड़ती है।

सन्धि के सन्धान करने में सबसे आवश्यक बात पेशियों का ढीला होना है। इस के लिये आकर्षण करना चाहिये। इसप्रकार से सफलता न मिले तो रोगी को क्लोरोफार्म सुंघाना चाहिये ।

यदि सन्धान न करके अस्थियों को वैसा ही रहने दिया जाये तो 'असत्य सन्धि' बन जाती है। अस्थियों के जो पृष्ठ आपस में मिलते हैं उनमें एक में उभार बन जाता है, और दूसरे में गड्ढा बन जाता है। गोल उभार इस गढ्ढे में रहता है। सन्धि में जो पहिले गड्ढा था वह धीरे धीरे भर जाता है। अंग की उपयोगिता भी घट जाती है।

अधोहन्वस्थिका भ्रंश

यह विकृति असाधारण है। मुख के खुले रहने पर तथा पेशियों के कर्षण होने पर यदि चोट लग जाये तो हनुसन्धि खिसक जाती है। यदि दोनों ओर के हनुमुण्ड सन्धि से खिसक जायें तो चिबुक नीचे आजाती है। और यदि एक ओर का हनुमुण्ड खिसकता है तो चिबुक मांसपेशियों के आकर्षण से उसी ओर को मुड़ जाती है। सब अवस्थाओं में रोगी का मुख खुला रहता है। चिबुक नीचे को उतर जाती है। हनुमुण्ड कनपटी के सामने नीचे खिसके हुए उभार के रूप में दीखते हैं। वास्तविक स्थान में गड्ढा दीखता है। मुख के अन्दर अंगुली डालकर परीक्षा करने पर हनु-मुण्डों का खिसकना स्पष्ट होता है।

चिकित्सा—

रोगी को कुर्सी पर बिठा कर चिकित्सक उसके सामने खड़ा हो कर अपने अंगूठों को अंगोछे आदि वस्तु से सुरक्षित करके रोगी के मुख में इस प्रकार से रक्खे, जिससे अंगूठे चर्वण दांतों पर रहें और अंगुलियां बाहर की ओर। फिर अंगूठे से पीछे और नीचे की ओर दबाव देने से हनुमुण्ड अपने स्थान में आ जाता है। इस प्रकार दबाव देने से चर्वण करने वाली पेशियां ढीली हो जाती हैं—जिससे कि हनुमुण्ड ठीक जगह पर बैठ जाते हैं।

इसके पीछे हनु पर पट्टी बांधनी चाहिये जिससे कि इस अस्थि को साधारणतः आराम रहे। यदि सम्भव हो तो रोगी को गण्डूष या तैल कवल देने चाहियें*।

---

*1 व्यात्ताननें हनुं स्विन्नामंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च।
प्रदेशनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम्॥

अक्षकास्थि का भ्रंश

अक्षकास्थि का भ्रंश दो प्रकार से होता है। एक वक्षकीय भाग का और दूसरा अंसीय भाग का भ्रंश । अक्षकास्थि के दूसरे सिरे पर सामने की ओर से अभिघात लगने पर इस भाग का भ्रंश सामने की ओर होता है। उरोऽस्थि के पार्श्व में इस भ्रंश को उभार के रूप में देख सकते हैं। स्कन्ध भीतर की ओर दब जाता है।

चिकित्सा—

रोगी को स्टूल पर बैठाना चाहिये । चिकित्सक को चाहिये कि रोगी की पीठ पर दोनों कन्धों के मध्य में पृष्ठवंश पर अपने दोनों घुटने लगाकर हाथ से कन्धों को बाहर और पीछे को खींचे, साथ ही पीठ को सामने को ओर दबाये। इस प्रकार एक झटका सा लगकर अस्थि ठीक स्थान पर आ जायेगी। अब पुनः यह भ्रंश न हो इसके लिये इस पर कवलिका रखकर और भुजा को छाती के साथ लगाकर पट्टी बांध देनी चाहिये।

अंसीय भाग का भ्रंश—

यह भ्रंश प्रायः स्कन्ध के भार गिरने से अथवा पीछे की ओर से चोट लगने पर होता है। इस में अक्षकास्थि का बाहरी भाग अंसप्राचीरक के ऊपर चला जाता है।

इसके लिये पूर्व की भान्ति घुटने पीठ पर लगा कर स्कन्ध को पीछे की ओर खींचना चाहिये। फिर कवलिका रखकर अंग को स्थिर कर दिया जाता है।

स्रस्तां संगमयेत् स्थानं स्तब्धां स्विन्नां विनामयेत् ॥ चरक. चि. अ. २८

२ हन्वास्थिनी समानीय हनुसन्धौ विसंहते ।
स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पंचांगीं वितरेद् भिषक ।
वातघ्नमधुरैः सर्पिः सिद्धं नस्ये च पूजितम् ॥

प्रगण्डास्थि का भग्न

यह घटना साधारण है क्योंकि अंसफलक में अंसपीठ की गहराई कम है और प्रगण्डास्थि का शिर बड़ा है। सन्धि-कोष ढीला तथा इसके नीचे का भाग निर्बल होता है। यही कारण है कि भ्रंश के समय इस कोष में छिद्र हो जाता है। प्रगण्डास्थि का शिर इस में से निकलकर कक्षा में या तुण्ड-धारा के नीचे आ जाता है।

लक्षण—

प्रगण्डास्थि के शिखर की अवस्था की भिन्नता से इस भ्रंश के कई भेद हैं। यथा—

प्रगण्डास्थि का शिर अंसपीठ के नीचे से शीघ्र हट जाता है, क्यों कि कक्षानुगा धारा की अपेक्षा प्रगण्डास्थि का शिर बड़ा है। दोनों आपस में मेल नहीं खाते। इस कारण शिर वहां से हट कर अंसफलक की ग्रीवा पर द्विशिरस्का और काकोष्ठिका पेशियों की कण्डरा और अंसतुण्ड के नीचे पहुंच जाता है। इसको 'तुण्डधारा भ्रंश' कहते है। और जब शिर उरःछदा लघ्वी पेशी के नीचे होकर अक्ष-कास्थि के नीचे पहुंचता है, तो इसको 'अक्षकाधर भ्रंश' कहते हैं। कभी कभी शिर पीछे की ओर हट कर अंस-प्राचीरक के नीचे पहुंच जाता है; यह 'अधो प्राचीरक भ्रंश' कहाता है। और जब शिर अंसपीठ के नीचे पहुंच जाता है, तो इसको 'पीठाधर भ्रंश' कहते हैं।

अंसप्राचीरक चर्म के नीचे उभर आता है; किन्तु इसके नीचे का स्थान खोखला दिखाई देता है। स्कन्ध की लम्बाई बढ़ जाती है। अंसप्राचीरक का अग्रभाग प्रगण्डास्थि का बाह्यार्बुद दोनों एक रेखा में आ जाते है। रोगी बाहु को कक्ष

के साथ लगाकर रुग्ण हाथ से दूसरी ओर के स्कन्ध को नहीं छू सकता। स्कन्ध में तीव्र पीड़ा होती है और कोहनी वक्ष से बाहर की ओर खिंची रहती है। पीठाधर विश्लेष में बाहु अधिक लम्बी दिखाई देती है।

चिकित्सा[1]—

सन्धान करने के लिये शिर को उसी मार्ग से अन्दर पहुंचाना आवश्यक है। इसके लिये पेशियों को ढीला करना चाहिये। यदि संकोच अधिक हो तो रोगी को मूर्च्छित करना चाहिये।

साधारणतः कोशर की विधि(Kocher's Method) का उपयोग किया जाता है। यह विधि निम्न है—

चित्र संख्या ४२
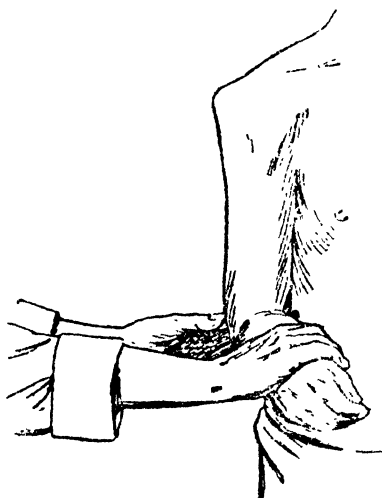
कोशर की विधि का पूर्व उपक्रम

१ 'मुसलेनोत्क्षिपेत्कक्षामंससन्धौ विसंहते।
स्थानस्थितञ्च बध्नीत स्वस्तिकेन विचक्षण.॥

रोगी को कुर्सी पर बिठाना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि रोगी की कलाई और कूर्पर को पकड़कर बाहु को वक्ष के पार्श्व में दबाये। साथ में अग्रबाहु को मोड़ते भी जाना चाहिये, जिससे कि वह समकोण पर आ जाये। पीछे से अंग को बाहर की ओर घुमाया जाता है। इससे अंसाच्छादिनी और अंसान्तरिका पेशी प्रथम संकुचित होती है, परन्तु बाहु को कुछ समय तक लगातार खींचे रहने से यह ढीली हो जाती है; इससे प्रगण्डास्थि का सिर नीचे की ओर फिसल जाता है—और स्वयं कोष के भीतर बैठ जाता है।

चित्र संख्या ४२
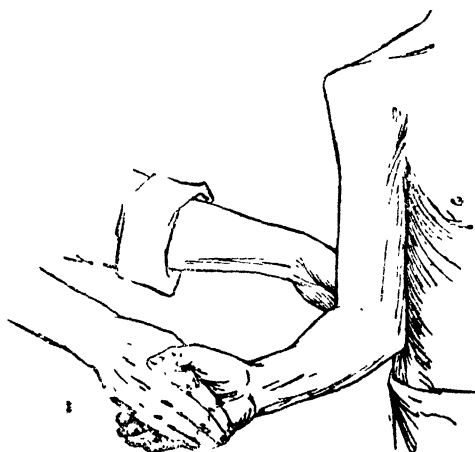
कोशर की विधि का दूसरा उपक्रम

यदि इस इस क्रिया से भी सन्धान न हो तो प्रगण्डास्थि को पहले की भांति बाहर की ओर घुमाते जाना चाहिये। इससे सन्धिकोष चौड़ा हो जाता है—और अस्थि का सिर उसके सामने पहुंच जाता है। पीछे से कूर्प को आगे, ऊपर और भीतर की ओर घुमाना चाहिये। अन्त में बाहु

चित्र संख्या ४४
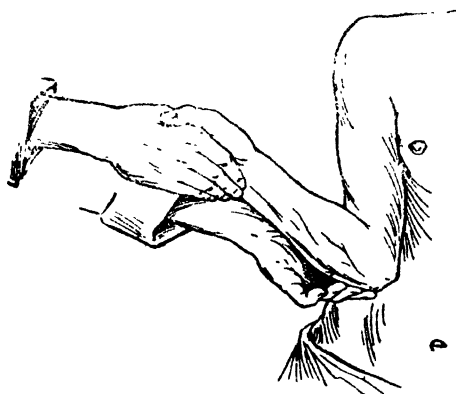
कोशर की विधि—तीसरा उपक्रम

चित्र संख्या ४५
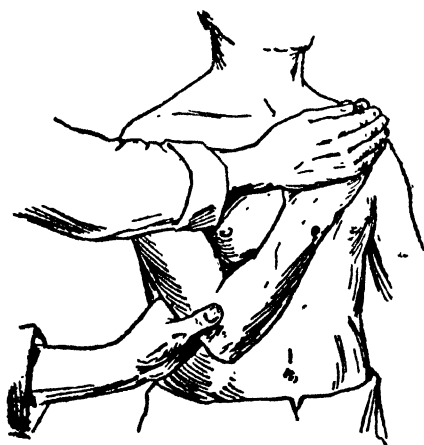
कोशर की विधि—चौथा उपक्रम

को और घुमाया जाता है। इसलिये हाथ को दूसरी ओर के कन्धे की ओर खींचा जाता है। इससे प्रगण्डास्थि की ग्रीवा जो अंस पीठ पर रुकी हुई थी स्वतंत्र होकर छिद्र द्वारा सन्धि कोष में चली जाती है।

मिलर की विधि—

रोगी को कुर्सी पर बिठाना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि अपना घुटना उसके पार्श्व में रखे। फिर एक हाथ से कलई और दूसरे हाथ से कोहनी के उपर से पकड़े। इसप्रकार पकड़ कर बाहु को सीधा कर लेना चाहिये, अग्रबाहु बाहु के समकोण पर रहती है। चिकित्सक बाहु को अपनी ओर तथा सहायक रोगी के शरीर को चादर के द्वारा दूसरी ओर खींचता है। पीछे से अग्रबाहु को नीचे की ओर लाया जाता है इससे बाहु स्वयं भीतर की ओर घूम जाती है। इस प्रकार से अस्थि सन्धि के भीतर चली जाती है।

सन्धान करने के उपरान्त दस-बारह मिनिट तक उद्‌वर्त्तन करना चाहिये। पीछे से कक्षा में स्थूल कवलिका रख कर बाहु को वक्ष के साथ बांध देना चाहिये। हाथ और अग्रबाहु को गोफण में लटका देना चाहिये। बाहु को पूर्ण विश्राम देना चाहिये।

स्कन्ध के आस लगी चोट की परीक्षा—

स्कन्ध के आस पास लगी हुई चोटों की परीक्षा प्रायः कठिन होती है खासकर यदि शोथ भी उत्पन्न हो गया हो। प्रायः करके जो रोगी इस आघात की शिकायतों के आते हैं उनमें बहुत से तो निश्चित रूप में होते हैं। इसका कारण गिरना अथवा स्कन्ध पर चोट लगना है। इसके लिये सब से उत्तम उपाय भुजा को गोफण बन्धन

में रखकर प्रथम शीतोपचार तथा पीछे से लिनिमैन्ट या तैल की मालिश करना है। रोगी बहुत दिनों तक अपनी भुजा को ऊपर उठाने में प्रायः असमर्थ रहता है, इसका मुख्य कारण अंसछादनी पेशी के कुछ भाग का क्रिया रहित होना होता है। इन अवस्थाओं में आघात के कारण स्कन्ध तथा अंसछादनी पेशी कुछ चौड़ी (विस्तृत) हो जाती हैं। इसके लिये विद्युतधारा का प्रयोग अथवा उत्तेजक लिनिमैन्ट का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये सबसे उत्तम उपाय यह है कि खिरड़ी पर लगे हुये बोझ को [जैसे कि कुए से पानी निकालना] खींचना चाहिये। अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के साथ मिलकर पम्प को चलाना चाहिये।

सब प्रकार के स्कन्धके भ्रंशों में या भग्न में ऐच्छिक मांस-पेशियों की शक्ति नष्ट हो जाती है। परन्तु पिच्चित रूप में लगे आघात में रुग्ण हाथ छाती के परे या पीठ पर जा सकता है यद्यपि क्रिया में रोगी को दर्द का अनुभव होता है रोगी हाथ को शिर पर नहीं ले जा सकता।

निम्न अवस्थाओं में मुख्य लक्षण ये हैं—

भ्रंश के लक्षण

प्रायः करके भ्रंश का कारण कोहनी या कन्धे के भार गिरना है। विकृत गति भी नहीं होती। भग्न ध्वनि का अभाव रहता है। जिस समय अस्थि अपनी असली स्थिति पर आजाती है तब बिना किसी सहारे के रहती है। कोहनी को छाती पर लगाते हुए रुग्ण हाथ स्वस्थ स्कन्ध पर कठि-नाई से पहुंचता है। प्रगण्डास्थि का गोल चिकना शिर नई स्थिति में अनुभव होता है। कोहनी बाहर की ओर खिसक जाती है, छाती के पार्श्व पर नहीं बैठती। सामने के भ्रंश में

भुजा छोटी हो जाती है और कक्षा में भ्रंश होने पर बढ़ जाती है।

अंसफलक की ग्रीवा के भग्न होने के लक्षण—

प्रायः करके भग्न का कारण सीधा आघात है। अंग विकृत रूप में हिलता है। साधारणतः भग्नध्वनि जानी जाती है। एक बार सन्धान किये जाने पर बिना सहारे के नहीं रहता। कठिनाई से हाथ दूसरे स्कन्ध पर पहुंचता है। भ्रंश की अपेक्षा न्यूनता से प्रगण्डास्थि का शिर कक्षा में अनुभव होता है। कोहनी सुगमता से छाती के पार्श्व में लग सकती है। भुजा की लम्बाई बढ़ जाती है।

शल्यग्रीवा के भग्न के लक्षण—

भग्न का कारण सीधा अभिघात है। प्रायः करके विकृत रूप में गति रहती है, परन्तु निरन्तर नहीं रहती। भग्न ध्वनि रहती है। बिना सहारे के भाग अपने वास्तविक स्थान पर नहीं रहते यदि दोनों भाग बहुत दूर न हटे हों तो हाथ दूसरे कन्धे पर पहुंच जाता है। अंसफलक की धारा के दो इंच नीचे एक गड्ढा दीखता है। भुजा छोटी हो जाती है। यदि भग्न भाग स्थानभ्रष्ट न हो तो कोहनी पार्श्व में लटकती प्रतीत होती है।

कूर्परसन्धि का भ्रंश—

इस सन्धि का भ्रंश प्रायः होता है। यह भ्रंश तीन प्रकार का है। यथा—आगे की ओर (पूर्वभ्रंश) पीछे की ओर [पाश्चिमभ्रंश] और पार्श्वभ्रंश। इन में—

पूर्वभ्रंश—

यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब कि कोहनी को मुड़ी अवस्था में पीछे की ओर से चोट लगती है अथवा मनुष्य कोहनी के भार गिरता है। इस अवस्था में कूर्परकूट

का भग्न अवश्य होता है। यदि कूर्परकूट नहीं टूटता तो वह अर्बुदों के नीचे पहुंच कर रुक जाता है। परन्तु त्रिशिरस्का पेशी की कण्डरा के क्षत होने पर वह आगे की ओर चला जाता है। अग्रबाहु की लम्बाई बढ़ जाती है। और सन्धि पीछे से चपटी दिखाई देती है।

पश्चिमभ्रंश—

दूरवर्त्ति या सीधे अभिघात के कारण अस्थियां अपने स्थान से हट जाती हैं। जब कोई व्यक्ति खुली हथेली के भार गिरता है तो सन्धि का अतिप्रसार हो जाता है। इससे सन्धिभ्रंश हो जाता है। पीछे की ओर से प्रगण्डास्थि आगे की ओर सरक जाती है। इस अवस्था में कूर्पर का उभार पीछे को वहुत अधिक दीखता है। परीक्षा करते समय प्रवर्धन और उभारों की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। यदि कदाचित् रज्जु प्रवन्धन टूट कर कूर्पर खात में रह जाये तो सन्धिभ्रंश का सन्देह भी नहीं होता। रोगी को मूर्च्छित करना चाहिये।

पार्श्वभ्रंश—

यह प्रायः बहुत कम होता है। भ्रंश प्रकोष्ठास्थियों के उपरिभाग के टूटने के साथ होता है। अस्थियां बाहर या भीतर को सरक जाती हैं।

चिकित्सा—

रोगी को कुर्सी पर वैठाना चाहिये। चिकित्सक को चाहिये कि वह उसके सामने खड़ा होकर अपना पैर कुर्सी पर इस प्रकार से रक्खे जिससे कि घुटना समान रूप में प्रगण्डास्थि के निचले भाग और दोनों प्रकोष्ठास्थियों के ऊर्ध्व भाग को दवाये। फिर रुग्ण कूर्पर वाले हाथ को उसी हाथ

चित्र संख्या ४६

कूर्परसन्धिभ्रंश में उपाय

से [दक्षिण हाथ को दक्षिण से, वाम हाथ को वाम से] तथा दूसरे हाथ से कलाई को पकड़ कर खींचना चाहिये। इसप्रकार प्रसरण करने से पेशियां ढीली हो जाती हैं। और प्रकार से बहिःप्रकोष्ठास्थि की सन्धि स्थालक पर पहुंच जाती है। ज्यूं ही भ्रंश ठीक हो जाये, उसी समय अग्रबाहु

को—भुजा पर पूर्ण रूप में मोड़ देना चाहिये और ४८ घंटों के लिये पट्टी बांध देनी चाहिये। फिर धीरे धीरे उद्वर्त्तन और चालन आरम्भ करना चाहिये।

आकृष्ट कूर्पर—

बच्चे को हाथ पकड़ कर ऊंचा उठाने से अथवा झुलाने से कोहनी खिंच जाती है। बहिःप्रकोष्ठास्थि का शिर 'ऑरबिक्युलर लिगमन्ट' से च्युत हो जाता है। अग्रबाहु आधी मुड़ी अवस्था में रह जाती है। आघात के स्थान पर अतिशय वेदना रहती है। अंग से गति असम्भव होती है।

कौन सी गति इस भ्रंश को स्वस्थ करती है, इस विषय में पर्य्याप्त मतभेद है। परन्तु सब गतियों में रोगी को मूर्च्छित करना आवश्यक है, तभी बाहु को सीधा करना या मोड़ना चाहिये[1]।

बहिःप्रकोष्ठास्थि का भ्रंश—

इस में प्रायः अस्थि आगे की ओर हटकर प्रगण्डास्थि के निचले भाग के सामने आ जाती है। यहां पर इसको अनुभव किया जा सकता है। कूर्पर के पीछे की ओर आघात लगने से या हाथ के भार गिरने से यह विकार उत्पन्न होता है।

चिकित्सा—

चिकित्सक को चाहिये कि कूर्परसन्धि के सामने जानु को रखकर रोगी की कलाई को पकड़ कर आगे की ओर खींचे और सामने की ओर यहां तक घुमाये कि समकोण पर आ

---

१ कौर्परन्तु तथा सन्धिमंगुष्ठेनानुमार्जयेत्।
अनुमृज्य ततः सन्धिं पीडयेत् कूर्पराच्च्युतम्।
प्रसार्याकुञ्चयेच्चैनं स्नेहसेकञ्च दापयेत्।
एवं जानुनि गुल्फे च मणिबन्धे च कारयेत्॥

जाये। बेहतर तो यह है कि खींचने से पूर्व अग्रबाहु को सामने की ओर मोड़ दिया जाये। इससे विकृति मिट जाती है। यह फिर न मुड़ जाये इसलिये अग्रबाहु को सामने की ओर मोड़ कर रखना चाहिये।

अन्तःप्रकोष्ठास्थि का भ्रंश—

यह बहुत कम होता है और प्रायः प्रगण्डास्थि के अन्तरार्बुद के भग्न के साथ होता है।

चिकित्सा—

कूर्परसन्धि के भग्न के समान है।

मणिबन्ध का भ्रंश—

यह दुर्घटना असाधारण है। केवल तीव्र आघात से उत्पन्न होती है। सन्धिभंग आगे और पीछे दोनों ओर हो सकता है, प्रायः पीछे की ओर अधिक होता है।

चिकित्सा—

रोगी को कुर्सी पर बिठा कर चिकित्सक को चाहिये कि हाथ को आगे की ओर खींचे और सहायक कूर्पर को पीछे की ओर। इसप्रकार करने से स्थानच्युति हट जाती है। फिर हाथ को ऊपर की ओर मोड़कर रखना चाहिये।

अंगुष्ठास्थिका भ्रंश—

प्रायः करके अंगूठे को सामने की ओर खींचने से प्रथम अंगुष्ठास्थि करभास्थि के शिखर से पृथक् हो जाती है।

इसके लिये उचित रूप में आकर्षण करके फिर मोड़ देना चाहिये। परन्तु कई बार यह उपाय सफल नहीं होता। इसके लिये करभास्थि की जड़ को नंगा करना चाहिये। इसके लिये हथेली पर छोटा सा छेदन किया जाता है। इसप्रकार सुगमता से भ्रंश को ठीक कर सकते हैं।

अंगुल्यस्थियों का भ्रंश—

आकर्षण या आघात से इन अस्थियों का भ्रंश हो जाता है। इसके लिये उचित दिशा में दबाव और संकोच (मोड़ना) करना चाहिये। इसके लिये चमड़े से मढ़े संदंश बरते जाते हैं। जिन में अंगुलि को रखकर दबाया जाता है।

वंक्षणसन्धि का भ्रंश

सम्पूर्ण शरीर की सब से मज़बूत और दृढ़ अस्थि यही है। परन्तु कभी पांव या जानु पर चोट लगने से जब कि इसको बांधने वाली पेशियां समुचित दशा में नहीं होतीं यह अस्थि अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाती है। इसका भ्रंश साधारणतः पूर्व भ्रंश और पश्चिम भ्रंश के रूप में होता है।

इनमें पूर्वभ्रंश गवाक्ष एवं भगास्थि के ऊपर की ओर होता है और पश्चिम भ्रंश जघनोपरि तथा गृध्रसीद्वार के नीचे।

पूर्व भ्रंश (गवाक्ष भ्रंश)

टांगों को चौड़ा करके आगे की ओर झुका होने पर पीठ के ऊपर किसी भारी बोझ के गिरने या तीव्र आघात से यह भ्रंश उत्पन्न होता है। सन्धिकोष के नीचे और भीतर के भाग में छेद हो जाता है, इससे अस्थि का शिर बाहर निकल कर नीचे गवाक्ष पर आ जाता है। स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। कदाचित् कुछ आगे और ऊपर की ओर सरक जाती है। नितम्ब में गड्ढा दीखता है, शिखरक पीछे की ओर मुड़ जाता है। अंग की लम्बाई बढ़ जाती है। वह बाहर की ओर खिंचा और मुड़ा होता है। अंग आगे की ओर झुका हुवा भी रहता है, पांव की एड़ी ऊपर और पीछे की ओर उठ जाती है।

भगास्थि के ऊपर का भग्न—

शिर गवाक्ष से थोड़ा और आगे खिसक कर भगास्थि के अनुप्रस्थ भाग पर पहुँच जाता है। अंग को हिलाने पर शिर चर्म के नीचे घूमता प्रतीत होता है। अंग की लम्बाई में कुछ परिवर्तन नहीं आता। ऊरू सामने की ओर झुकी रहती है, एवं बाहर की ओर खिंच जाती है, तथा घूम जाती है। इससे भीतर की ओर का भाग सामने आ जाता है।

चिकित्सा—दोनों प्रकार के भ्रंशों की चिकित्सा का सिद्धान्तसूत्र एक है। अर्थात्—मोड़ना और घुमाना अन्तिम सीमा तक करके अंग को बाहर की ओर सीधा करना। इसी सूत्र के आधार पर रोगी को दोनों भ्रंशों की अवस्था में ज़मीन या चटाई पर लेटाना चाहिये। फिर ऊरू को उदर पर तथा जंघा को ऊरू पर अन्तिम सीमा तक मोड़ना चाहिये। पूर्व भ्रंश में अंग को कुछ बाहर की ओर खींचे रहना चाहिये। सहायक को चाहिये कि ऊर्वस्थि के शिर को बराबर नीचे की ओर दबाता रहे। फिर कुछ समय तक इस स्थिति में रखने पर जानु के नीचे से पकड़ कर जंघा को ऊपर उठाना चाहिये और अंग को भीतर की ओर घुमा कर दूसरे अंग के समान कर देना चाहिये।

गवाक्षभ्रंश में क्रिया तो यही है, परन्तु उस में थोड़ी कठिनाई होती है। इसलिये रोगी को भूमि पर लेटाकर ऐसा यत्न करना चाहिये कि वह उठ न सके इसके लिये यन्त्रणशाटिका से उसको बांध देना चाहिये। फिर चिकित्सक को चाहिये के जानु के नीचे से जंघा को पकड़ कर ऊपर उठाये। इससे ऊरू भी उदर की ओर मुड़ जाता है। और जब ऊरू उदर के समकोण पर आजाये तो जंघा को अपने दोनों ऊरूवों के बीच में दबाकर दोनों हाथों से रोगी

की जंघा को जानु के नीचे से पकड़ कर ऊपर और बाहर की ओर खींचना चाहिये; इस सब क्रियाविधि में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि रोगी का शरीर उठने न पाये। साथ में ऊरू को बाहर की ओर भी मोड़ रखना चाहिये।

पश्चिम भ्रंश

जघनोपरिभ्रंश—यह विकृति रोगी के नितम्ब के भार गिरने से अथवा आगे की ओर झुके होने पर आघात होने से होती है। इससे अस्थि सन्धि की ओर दबती है। जिससे आघात ग्रीवा द्वारा शिर पर पहुंचता है। इस दबाव से सन्धिकोष के नीचे एवं पीछे का भाग फटजाता है और शिर बाहर निकल आता है। यहां से फिसल कर शिर जघनास्थि के गात्र पर पहुंचता है। श्रोणी गवाक्षिणी अन्तःस्था की कण्डरा ग्रीवा के ऊपर रहती है। सन्धि के भीतर वाला शिरः पृष्ठ नीचे को मुड़ जाता है और शिखरक आगे आजाता है। स्वास्तिक [Ligamentum Teres] बन्धन भी टूट जाता है।

अंग भीतर की ओर घूम जाता है और दूसरे अंग के समीप आजाता है। ऊरू प्रान्त की लम्बाई १½ या २ इञ्च कम हो जाती है, जंघा भी जंघा की ओर घूम जाती है। पांव का अंगूठा दूसरे पांव के पृष्ठ पर रह जाता है, अंगूठे तक नहीं पहुंचता। नितम्ब के नीचे का गढ़ा नष्ट होजाता है। शिखरक निलेटन रेखा के समीप पहुंच जाता है।

गृध्रसी भ्रंश [Sciatic Dislocation]—इसमें भ्रंश ऊपर के ही समान होता है; परन्तु अस्थि का शिर जघनास्थि के गात्र से नीचे गृध्रसीद्वार तक ही रहता है। श्रोणी गवाक्षिणी अन्तःस्था की कण्डरा शिर के नीचे ग्रीवा पर

आकर उसको ऊपर नहीं बढ़ने देती। अंग की लम्बाई में १/२ या १ इंच की कमी हो जाती है।

चित्र संख्या ४७ चित्र संख्या ४८
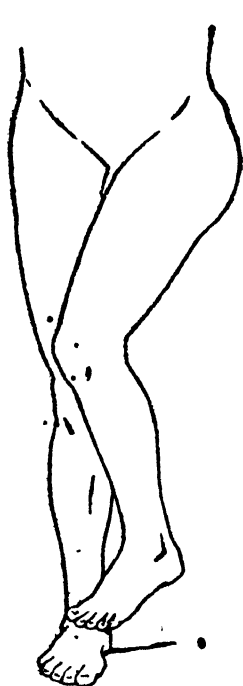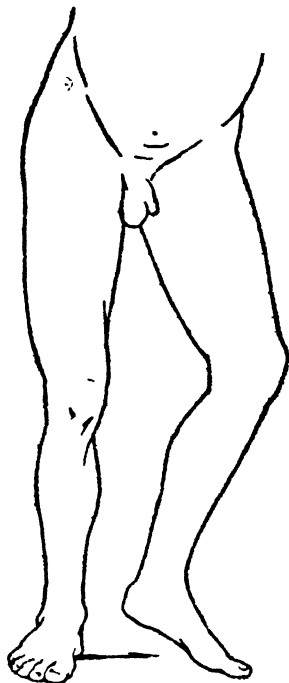
जघनोपरि भ्रंश भगास्थि भ्रंश

चिकित्सा—इसमें सब क्रिया पूर्व की भान्ति है। रोगी को भूमि पर लेटाना चाहिये, उसकी जंघा को ऊरू पर और ऊरू को उदर पर मोड़ना चाहिये। इस स्थिति में कुछ देर रखना चाहिये। फिर चिकित्सक को चाहिये कि अपनी दोनों अग्र-बाहुओं को जंघा के नीचे लगाकर उसको बाहर की ओर

घुमाये। साथ में जंघा को इसप्रकार से घुमाना चाहिये कि ऊरू प्रान्त अपने अक्ष पर बाहर की ओर घूम जाये। ऐसा करने से जंघा तनिक भीतर की ओर मुड़ती है और ऊर्वस्थि का शिर सन्धिकोष के छिद्र पर आजाता है। सन्धिकी पेशियां भी ढीली हो जाती हैं फिर जल्दी से अंग को सामने की ओर लाकर दूसरे अंग के समानान्तर कर देना चाहिये। इससे अस्थि का शिर वंक्षणोदूखल में चला जाता है[1]।

जानुसन्धि का भ्रंश

इस सन्धि का भ्रंश प्रायः होता है; इसका कारण तीव्र आघात है। पीछे की ओर से चोट लगने पर जंघास्थि जान्वस्थि सहित आगे की ओर हट जाती है, जिससे ऊपर की ओर एक गड्ढा बन जाता है। इस स्थान पर पीछे की ओर ऊर्वस्थि के अर्बुदों के उभार दिखाई देते है। कभी कभी इससे चर्म-क्षत हो जाता है। अथवा नाड़ी और धमनियों के दबने से निर्जीवांगता आजाती है।

जानु पर सामने की ओर चोट लगने पर प्रायः अपूर्ण भ्रंश होता है। जब अस्थि बाहर की ओर सरक जाती है, तो अन्तरार्बुद भीतर की ओर उठा रहता है। अस्थि के भीतर की ओर सरकने से अनुजंघास्थि का शिर चर्म के नीचे उभर आता है।

चिकित्सा—रोगी को मूर्च्छित कर उरू को उदर पर मोड़ना चाहिये, फिर जंघा का प्रसार करना चाहिये, किन्तु

---

1 आञ्छेदूर्ध्वमधो वापि कटीभग्नन्तु मानवम्।
ततः स्थानास्थिते सन्धौ बस्तिभिः समुपाचरेत्॥
मतिमांश्चक्रयोगेन आञ्छेदूर्वस्थि निर्गतम्।
स्फुटितं पिच्चितं चापि बध्नीयात् पूर्ववद् भिषक्॥ सुश्रुत

जंघा को सामने की ओर खींचने से अस्थियां अपने स्थान पर आजाती हैं। अब एक फलक जानु के नीचे बांध देना चाहिये, जिस से घुटने को पूर्ण विश्राम मिले। पीछे से उद्वर्त्तन और चालन आरम्भ कर देना चाहिये।

गुल्फ सन्धि का भ्रंश

यह सन्धि दोनों जंघास्थियों के अधः प्रान्त और कूर्च-शिर के मिलने से बनती है। इसके आगे और पीछे बन्धन रहते हैं। इसलिये सन्धि के अगले और पिछले भाग में दुर्बलता रहती है और प्रायः भ्रंश इधर ही होता है। कभी कभी भीतर, बाहर और ऊपर की ओर भी हो जाता है।

सन्धि का प्रायः पीछे की ओर भ्रंश होता है। इसका कारण पांव का सामने की ओर अत्यधिक मुड़ जाना है, जिससे दोनों ओर के बन्धन टूट जाते हैं। कभी कभी दोनों गुल्फों की नोक भी टूट जाती है, पांव की लम्बाई कम हो जाती है। दोनों गुल्फ सन्धि के सामने उभरे दिखाई देते हैं। पार्ष्णि पीछे की ओर बढ़ी दिखाई देती है।

पांव के नीचे की ओर अधिक मुड़ जाने से सन्धि-भ्रंश सामने की ओर होता है। एड़ी की ऊंचाई कम रह जाती है, पांव की लम्बाई सामने की ओर बढ़ी दिखाई देती है।

गुल्फास्थियों के टूटने से पांव भीतर या बाहर की ओर हटा दिखाई देता है। जंघास्थियों के बीच के बन्धन टूट जाने से भ्रंश ऊपर की ओर होता है, गुल्फ चौड़ा हो जाता है। दोनों गुल्फ नीचे की ओर खिसक कर पादतल के पास पहुंच जाते हैं।

आगे और पीछे के भ्रंश में ऊरू और जंघा को जितना भी हो सके उदर की ओर मोड़ना चाहिए। फिर पांव को मोड़ कर नीचे की ओर खींचा जाता है। एक सहायक जंघा

को ऊपर की ओर खींचता है। पीछे से हस्तकौशल द्वारा अस्थियों का सन्धान कर देना चाहिये।

कूर्चशिर का भ्रंश

यह अस्थि ऊपर की ओर जंघास्थियों और नीचे पार्ष्णि एवं नौनिभ से मिली रहती है। इसका भ्रंश पांव के अत्यधिक मुड़ने से अथवा तीव्र आघात से होता है। यदि आघात के समय पांव नीचे की ओर मुड़ा हो तो अस्थि आगे की ओर मुड़ जाती है, परन्तु यदि ऊपर की ओर मुड़ा हुआ हो तो पीछे की ओर हटेगी।

सामने की ओर हटने की दशा में कूर्चशिर आगे बढ़ कर तृतीय कोणक और घनास्थि पर पहुंच जाता है।

इसकी चिकित्सा गुल्फ के भ्रंश के समान है।

प्रपादास्थियों का भ्रंश

इनका निर्णय और सन्धान दोनों बहुत सरल है। जब पेशी इत्यादि के कारण सन्धान करने में कठिनाई होती है, तो शस्त्रकर्म करना आवश्यक है।

अठारहवां अध्याय

अर्बुद

'गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्धिपाकम्।
कुर्वन्ति मांसोपचयञ्च शोफं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥

शरीर के किसी भी भाग में जो नवीन रचना या रचनायें उत्पन्न हो जाती हैं और ये निरन्तर बढ़ती जायें एवं इनका शरीर में कोई विशेष उपयोग नहीं होता, तथा पकती नहीं और अन्त भी नहीं होता, उनको अर्बुद कहते हैं।

कारण—अर्बुद की उत्पत्ति का कोई कारण निश्चित नहीं है। सम्भव है कि शरीर की कई अवस्थायें मिल कर इस स्थिति को उत्पन्न कर देती हों। परन्तु सब अर्बुदों में मांस का दूषित होना आवश्यक है। परन्तु अर्बुदोत्पत्ति में पैतृक प्रभाव भी काम करता है। व्यवसाय से अर्बुदोत्पत्ति का कोई सम्बन्ध है या नहीं यह अभी निश्चित नहीं है।

बहुत से रोगियों में ७ से १४ प्रतिशतक अर्बुद आघात के पीछे उत्पन्न होते हैं* । प्रायः करके अर्बुद मांसभोजी व्यक्तियों में ही अधिक होते हैं। किसी भाग की निरन्तर उत्तेजना से भी अर्बुद उत्पन्न हो जाता है, जैसे ओष्ठ, जीभ एवं चर्म के कैन्सर इसीप्रकार से होते हैं।

अर्बुदों के भेद दो प्रकार के हैं। यथा—१ सामान्य और २-घातक। इन में सामान्य अर्बुद जीवन के लिये घातक नहीं होते। परन्तु दूसरे प्रकार के अर्बुद जीवन के लिये घातक होते हैं।

अर्बुदों की रचना इतनी जटिल है, जिनसे कि निश्चित रूप में हम उनके स्वभाव का पता नहीं लगा सकते। जो अर्बुद सामान्य हैं वे ही कुछ समय में घातक रूप धारण कर लेते हैं। साधारणतः अर्बुदों के लक्षण, स्थान, वृद्धि तथा गति को देखते हुए इनकी परीक्षा करनी चाहिये।

मुख्य रूप से इन अर्बुदों में निम्न लक्षण होते हैं—

सामान्य अर्बुद—१ सामान्यतः इनकी संख्या एक रहती है, इससे अधिक संख्या कम होती है।

२ इन में वृद्धि बहुत धीरे धीरे होती है।

---

* मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम्।
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य बाढमेतद् भवेन्मांसपरायणस्य॥ सुश्रुत

(३) ये एक आवेष्टन से परिवेष्टित रहते हैं ।

(४) एक बार छेदन के पश्चात् पुनः उत्पत्ति का भय नहीं रहता ।

(५) प्रायः करके इनमें व्रणोत्पत्ति या रक्तस्राव की प्रवृत्ति नहीं होती ।

(६) सामान्यतः इन की उत्पत्ति से शरीर पर कोई बुरा प्रभाव नहीं होता । यदि किसी मर्म का आश्रय लिये हों तो घातक प्रभाव की आशंका रहती है ।

(७) इनकी सूक्ष्म रचना चारों ओर की धातुओं की रचनाओं के बहुत कुछ समान होती है ।

घातक अर्बुद—

(१) इनकी वृद्धि सामान्य अर्बुदों की अपेक्षा जल्दी होती है ।

(२) इनकी सीमा परिमित नहीं होती, ये चारों ओर के धातुओं में फैले रहते हैं । कभी कभी इनका विस्तार बहुत दूरवर्त्ती अंगों में होता है ।

(३) छेदन के पश्चात पुनरुत्पत्ति की आशंका रहती है ।

(४) इन पर कोई परिवेष्टन नहीं होता, यद्यपि इनके चारों ओर की धातुओं के कठिन हो जाने से इन की सीमा दीखने लगती है ।

५ यद्यपि इन की संख्या एक ही होती है, तथापि दूरवर्त्ती कारणों में गौण अर्बुद उत्पन्न करने की प्रवृत्ति रहती है । इसका कारण यही है कि—इनका विष रक्त द्वारा ही पहुंच जाता है ।

६ प्रायः करके इनमें व्रण उत्पन्न हो जाता है, जिससे रक्तस्राव होता है ।

७ इनसे एक प्रकार का विष उत्पन्न होकर शरीर में फैल जाता है, जिससे शरीर कृश और सत्त्वहीन हो जाता है ।

चिकित्सा—

इसकी चिकित्सा छेदन है। यथासम्भव वेष्टनसमेत इनका छेदन करना चाहिये, जिससे कोई भाग रह न जाये। भाग रहने पर इनके वृद्धि की पुनः आशंका रहती है। घातक अर्बुदों में रेडियम या 'एक्सरे' का प्रयोग कहा जाता है; परन्तु इसके प्रयोग से त्वचा का रंग काला पड़ जाता है। *

संयोजक धातुओं से उत्पन्न होने वाले अर्बुद—

साधारणतः अर्बुद उसी स्वभाव के होते हैं, जिस स्वभाव के तन्तु होते हैं। परन्तु कई अर्बुदों में रक्तवाहिनियां एवं सैल्स की संख्या अधिक हो जाती है। जब अर्बुद ग्रन्थि से उत्पन्न होते हैं, तो इनका स्वभाव ग्रन्थि के समान होता है। परन्तु कभी कभी परिवर्त्तन हो जाता है। कभी कभी एक ही तन्तु की अतिवृद्धि हो जाती है। कभी कभी अर्बुदों में रक्त वाहिनियां अपूर्ण रहती हैं। जिनसे कि अर्बुदों में रक्तस्राव भी हो जाता है।

अर्बुदों का फैलना—

प्रारम्भ में सब अर्बुद स्थानिक होते है और वहीं पर आकार में बढ़ते रहते हैं। भिन्न भिन्न अर्बुदों में वृद्धिक्रम मन्द या तीव्र होता है। जिस समय अर्बुद चारों ओर बढ़ते हैं, तो वे गोल होते है। प्रायः करके अर्बुद उस ओर बढ़ते हैं, जहां पर कि वाधा कम होती है। इसलिये इस प्रकार के अर्बुदों का आकार भी अनियमित होता है।

---

* अपक्कं ईषत् परिशोषितश्च
प्रयाति भूयोऽपि शनैः विवृद्धिम्।
तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताव्
छेद्यो भवेदू वीक्ष्य शरीरदेशम्॥

बढ़ते बढ़ते कई बार ऐसा होता है कि ये अर्बुद परस्पर एक दूसरे से मिल जाते हैं। इनकी वृद्धि से समीप के तन्तु नष्ट या क्षीण हो जाते हैं। यहां तक कि अस्थियां तक खाई जाती हैं। इन अर्बुदों में शोथव्रण भी हो जाते हैं। अर्बुद के बढ़ने की गति केवल उसके स्वभाव पर ही निर्भर नहीं, अपितु स्थान एवं रोगी की शक्ति पर भी निर्भर करती है। जो अर्बुद मन्दगति से बढ़ते हैं, उनको साधारण अर्बुद कहते हैं। यही साधारण अर्बुद भिन्न भिन्न स्थानों पर दुर्बल तथा निर्बल रोगियों में घातक हो जाते हैं। अर्थात् वे बड़े वेग से बढ़ने लगते हैं। साथ ही समीप के तन्तुवों को भी नष्ट कर देते हैं। यह परिवर्त्तन कुछ तो पोषण में अन्तर आने से होता है और कुछ वातनाड़ियों के प्रभाव से होता है।

गर्भाशय के अर्बुद ऋतुकाल में अधिक प्रभावशाली होते हैं। यह भी देखा गया है कि डिम्बकोषों को निकाल लेने पर स्तनों के अर्बुद लुप्त हो जाते हैं। अर्बुदों में (विशेषतः घातक अर्बुदों में) यह शक्ति होती है कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान में चले जाते हैं। इस प्रक्रिया को 'मैटसटीसी-यस' कहते हैं।

कई अर्बुद पूर्णतः निकाल देने पर भी फिर उत्पन्न हो जाते हैं, इस प्रकार के अर्बुद प्रत्येक बार अधिक भयानक होजाते हैं। कई अर्बुदों में डिजनरेशन (भ्रष्टता) भी हो जाती है।

घातक अर्बुदों के फैलने की विधि—

ये अर्बुद दो प्रकार से बढ़ते हैं। यथा—

१ शोथ की विधि।

२ मैटसटीसयस विधि।

शोथ की विधि—घातक अर्बुद कई बार लसीकासंस्थान द्वारा फैलते हैं। यथा-कैन्सर। यह अर्बुद सीरस पृष्ठ द्वारा बढ़ते हैं। ज्यों ज्यों ये बढ़ते जाते हैं, समीप की रचना को नष्ट कर देते हैं। यह नाश इनके दबाव के कारण या इनमें से उत्पन्न किसी विष के कारण या Ferment के कारण होते हैं।

मेटसटीसयस विधि—इस विधि से अर्बुद एक स्थान से दूसरे स्थान पर निम्न रास्तों से फैलते हैं। यथा-

(क) शारीरिक कारण—जिस समय अर्बुद उदरपर्यावरणकला या फुप्फुसावरणकला के ऊपर की ओर हो तो कभी कभी इसका थोड़ा सा भाग टूट कर उदरपर्यावरण कला या फुफुसावरण कला के नीचे गिर जाता है। जहां पर वैसा ही अर्बुद उत्पन्न करते हैं।

(ख) कण्टैक्ट विधि—सीधे सम्बन्ध अथवा स्पर्श से होता है। जिस प्रकार कि अर्बुद निचले होठ पर हो तो ऊपर के होठ पर लगने से वहां भी हो जाता है।

(ग) लसीकावाहिनी द्वारा-कई अर्बुद लसीकासंस्थान द्वारा दूर के स्थानों तक पहुंच जाते हैं। जिसप्रकार कि आमाशय का कैन्सर ग्रीवा की ग्रन्थियों में भी हो जाता है

(घ) रक्तवाहिनियों द्वारा-कई अर्बुद शिरा या धमनियों द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों पर पहुंच जाते हैं[1]।

प्रायः करके अर्बुद की वृद्धि उन्हीं तन्तुवों से होती है, जिनसे उत्पन्न हुए हैं। परन्तु घातक अर्बुद सब प्रकार के तन्तुवों

१ जब एक ही प्रकार के अर्बुद शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों पर पाये जायें तो हमको इस बात का विचार करना चाहिये कि ये अर्बुद स्वतंत्रतया अपने अपने स्थान पर उत्पन्न हुए हैं; या एक ही अर्बुद शरीर में फैला हुवा है।

पर आक्रमण करते हैं। जिस स्थान पर एक ही प्रकार के तन्तुवों पर आक्रमण हो वहां ऐसा प्रतीत होता है कि वह अर्बुद उन्ही प्रकार के तन्तुवों के साथ रुचि रखते हैं। परन्तु इन तन्तुवों में बाधा करने की शक्ति नहीं रही। कई अवयव अपनी विचित्र रचना के कारण अर्बुद के फैलने में सहायक हो जाते हैं।

अर्बुद में सैल्स, सैल्स के बीच का पदार्थ, लसीकावाहिनियां और रक्तप्रणालियां भी होती हैं। इन तन्तुवों की राशी भिन्न भिन्न अर्बुदों में अधिक या न्यून होती है।

अर्बुदों के सैल्स—

अर्बुदों में सैल्स भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। इनकी रचना और स्वभाव में अन्तर रहता है। कई सैल्स साधारण तन्तुवों की तरह जिनसे वे उत्पन्न हुए हैं, बढ़ते हैं। परन्तु कई सैल्स अपने पैतृक तन्तुवों का स्वभाव छोड़कर नये प्रकार के सैल्स बन जाते हैं। इस परिवर्त्तन को 'मैटाप्लेजिया' कहते हैं। कई सैल्स नीचे की ओर पूर्वस्थिति की तरफ झुकते हैं। जिस प्रकार कि उच्चकोटि के सौत्रिक सैल्स नीचे की कोटि के सौत्रिक सैल्स में बदल जाते हैं। इस क्रिया को 'रिवर्शन' या प्रत्यावर्त्तन कहते हैं। इस प्रत्यावर्त्तन के साथ साथ अर्बुद की भयंकरता बढ़ती जाती है, और जब प्रत्यावर्त्तन इस अवस्था पर पहुंच जाये कि सैल्स अत्यन्त साधारण रूप में आजायें तो अर्बुद घातक हो जाता है।

रक्तवाहिनियां और लसीकावाहिनियां—ये रक्तवाहिनियां या लसीकावाहिनियां समीप की साधारण रक्त वाहिनियों के तन्तुवों से उत्पन्न होती हैं। कभी २ ये अपूर्ण होती हैं। किसी २ स्थान पर अर्बुदसैल्स में अनियमित स्थानों से रक्त आता है। रक्तवाहिनियों की दिवार इन

स्थानों पर न होने के कारण अर्बुद के सैल्स पृथक् पृथक् होकर रक्त में बहते हैं। यही कारण है कि हम कभी कभी वही अर्बुद अन्य स्थानों पर देखते हैं। दिवार के न होने से रक्तस्राव भी हो जाता है। किसी अर्बुद में रक्तवाहिनियां पूर्ण हो जाती हैं। इन में रक्तस्राव का यही कारण है कि अर्बुद के सैल्स रक्तवाहिनियों की दिवार को खा जाते हैं। लसीकावाहिनियां कैन्सर में अधिक होती हैं। इसलिये ये अर्बुद प्रायः दूसरे स्थानों पर लसीकावाहिनियों द्वारा पहुंचते हैं। किसी किसी अर्बुद में लसीकावाहिनियां इतनी अधिक होती हैं कि उस अर्बुद को "Lmphongimata" कहते हैं।

सैल्स के अन्दर का पदार्थ—

इस की राशी और गुण भिन्न भिन्न अर्बुद में भिन्न भिन्न होते हैं। नये उत्पन्न सौत्रिक तन्तु की गोद में यह पदार्थ स्वच्छ, एकरस—जैली की तरह से लेकर अच्छे फाईब्रस-टिसीयस तक दिखाई देते हैं। इन अर्बुदों में यह पदार्थ सैल्स के मध्य में रहता है। परन्तु कई अर्बुदों की अवस्था में यह सैल के ऊपर एक खोल की तरह चढ़ा रहता है। कभी कभी यह खोल अर्बुद के विक्षोभ से समीप के तन्तुवों से उत्पन्न होजाता है। जिससे खोल बन जाता है। यह खोल सदा सिम्पल अर्बुद के ऊपर होता है। अर्थात् उन अर्बुदों के ऊपर होता है, जो कि समीप के तन्तुवों को खोल बनाने का अवसर देते हैं। घातक अर्बुद अधिक शीघ्रता से बढ़ने के कारण खोल बनाने का अवसर भी नहीं देते। अर्बुद पर वातसस्थान का कोई प्रभाव नहीं होता। एवं न कोई नर्व तन्तु इसमें पाया जाता है। अर्बुद के उत्पन्न होने के पहिले जो वहां पर होती हैं, वे ही वहां पर रहती हैं

अर्थात् कोई नई उत्पन्न नहीं होतीं। इसकी साक्षी यह है कि सम्पूर्ण शरीर में यदि कोई वातिक रोग होता है तो अर्बुद की वातनाडी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अर्बुद में श्वेताणु (ल्युकोसाईट) और अन्य सैल्स भी होते हैं। इन सैल्स के होने से ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर के तन्तु इन अर्बुदों को नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु कभी कभी यह इसलिये दिखाई देते हैं कि अर्बुद में शोथ होती है।

फैगोसाईटोसिस—अर्बुदों के सैल्स में रक्तसैल, ल्युकोसाईटोसिस (श्वेताणु) और अन्य सैल्स को ग्रस्त करने की बड़ी शक्ति होती है। इसी शक्ति के आधार से ये तन्तुवों के सैल्स को खा जाते हैं, और बढ़ते हैं। परन्तु जहां पर ल्युकोसाईट आदि का ज़ोर चलता है, वह भी अर्बुद के सैल को खा लेते हैं।

कारण—वास्तव में निश्चय से हम अर्बुद के कारण नहीं बता सकते, केवल कल्पनायें मात्र हैं। जो कभी कभी किसी स्थान पर ठीक भी बैठती हैं। कारण दो प्रकार के हैं। यथा—१ सन्निकृष्ट और २ विप्रकृष्ट [दूरवर्त्ती]।

विप्रकृष्ट (दूरवर्त्ती) कारण—इनको पूर्ववर्त्ती कारण भी कहते हैं। यथा—

(क) आयु—ज्यों ज्यों आयु बढ़ती है, त्यों त्यों अर्बुद का आक्रमण बढ़ता जाता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि बच्चों और युवकों में भी अर्बुद हो जाते हैं, परन्तु बड़ी आयु की अपेक्षा बहुत कम होते हैं। घातक अर्बुद प्रायः इसी अवस्था में होते हैं। इस स्थापना के निम्न कारण हैं—

(१) तन्तुवों की शक्ति धीरे२घटती जाती है, जिससे अर्बुद के आक्रमण में बाधा नहीं हो सकती।

(२) बढ़ते हुए अर्बुद पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रहता।

(३) एक प्रकार के तन्तु में दूसरी प्रकार के तन्तु से बढ़ने की शक्ति कम हो जाती है। जिससे दूसरी प्रकार का तन्तु इतना बढता है कि अर्बुद का ज़ोर ले लेता है।

(४) कई अर्बुद केवल उसी समय उत्पन्न होते हैं जब कि अवयव क्षीण हो रहा होता है। यथा—प्रसूति का गर्भाशय, दूध छुटाने के पीछे स्तन्य ग्रन्थियों में या 'थाईमस ग्लैन्ड' में अर्बुद का होना।

(ख) लिंग—चूंकि अर्बुद प्रायः अधिकतर स्तन, गर्भाशय डिम्बकोषों में पाये जाते हैं इसलिये यह धारणा है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक रोग होता है।

(ग) कौटुम्बिक—कई अर्बुदों में वंश परम्परा का बहुत प्रभाव रहता है। इसका कारण अस्पष्ट है।

(घ) ज़ाति—कई अर्बुद विशेष जातियों में होते हैं।

(ङ) पेशा—कई प्रकार के काम करने वालों में [यथा-चिमनी साफ करनेवाले या पैराफीन का काम करने वालों में] कैन्सर प्रायः होता है।

(च) एन्वायरनमैन्ट(परिस्थिति)-कई शहर और गांव यहां तक घरों में विशेष प्रकार के अर्बुद होते हैं।

(छ) अर्बुद की उत्पत्ति में भोजन का भी कुछ हाथ है। इसका अभी तक कोई स्पष्टीकरण नहीं हुआ।

सन्निकृष्ट कारण—

(क) स्थानिक विक्षोभ—यह विक्षोभ 'चाहे भौतिक हो या रासायनिक' अर्बुद को उत्पन्न करता है। विक्षोभ से स्थानिक बाधाशक्ति नष्ट हो जाती है। इससे अर्बुद के उत्पन्न होने में सुगमता हो जाती है। जो लोग सिगार या

सिगरेट पीते हैं, उनके ओठों पर कैन्सर हो जाता है। पित्ताशय में पित्ताश्मरी के कारण अर्बुद उत्पन्न होजाता है।

(ख) यान्त्रिक आघात--आघात से जब तन्तुवों की शक्ति घट जाती है तो वहां पर कई अर्बुद भी उत्पन्न हो जाते हैं। कई बार ऐसा होता है कि उस स्थान पर अर्बुद पहिले से ही होता है, केवल आघात से ही उसकी वृद्धि होजाती है।

(ग) अर्बुदों का उठाकर लगाना (transplantation) कई बार अर्बुद कई स्थानों से काटकर दूसरे स्थानों पर लगाये गये हैं और उस स्थान पर भी अर्बुद की उत्पत्ति देखी गई है। यहां तक कि एक चूहे के कैन्सर को काटकर कई चूहों में लगाया गया है और उन सब में कैन्सर हो गये हैं। यह अवस्था केवल उन जीवों में होती है जो केवल एक ही जाति के होते हैं।

कुछ कल्पनायें--

१ Cohnheim's Embryonal Hypothesis—इस कल्पना के अनुसार यह माना गया है कि शरीर के बनने पर कई प्रकार के तन्तु अन्य प्रकार के तन्तुवों में ग्रस्त हो जाते हैं। अवसर मिलने पर ये तन्तु मिलकर अर्बुद उत्पन्न करते हैं। इस कल्पना से हम बहुत से अर्बुदों की उत्पत्ति का कारण नहीं जान सकते।

2 Tertomato—यह वह अवस्था है जब कि एक व्यक्ति या उसका कोई भाग Rudimentry form (अपूर्णावस्था) में दूसरे व्यक्ति के तन्तुवों में पकड़ा [या ग्रस्त] जाता है। जब एक व्यक्ति के तन्तुवों में कोई अण्डा ग्रस्त हो जाता है, तो कुछ समय पीछे यह बढ़ता है। बढ़ने पर यह पूर्ण या अपूर्ण व्यक्ति को उत्पन्न करता है परन्तु जब यह अपूर्ण रूप में है, तो यह व्यक्ति बहुत छोटा होता है। जहां पर

अण्डा ग्रस्त हुवा था वहां पर त्वचा वाल दांत अस्थियां उत्पन्न हो जाती हैं। यहां तक कि पूर्ण शिर, भुजायें, टांगें उत्पन्न होकर पराश्रयी के रूप में दूसरे व्यक्ति पर लगे रहते हैं। इसलिये हम कई बार दो सिर, चार हाथ, चार पांव वाले व्यक्ति देखते हैं। कई चिकित्सक अर्बुद सैल्स को जीवाणु पर आश्रित समझते हैं। जो कि यजमान के तन्तुवों पर पुष्टहोकर बढ़ते रहते हैं।

साधारण और घातक अर्बुदों में भेद

वास्तव में दोनों प्रकार के अर्बुदों में एक अवस्था का भेद है। कई साधारण अर्बुद इसप्रकार के होते हैं जो कि तीव्र होने के कारण घातक अर्बुद की सीमा तक पहुंच जाते हैं। कई घातक अर्बुद ऐसे होते हैं जो कि साधारण अर्बुद तक पहुंच जाते हैं। अतः इनका भेद करना कठिन है। इनके स्वभाव को देखने के लिये हमको स्थूल दृष्टि से इनके उत्पत्ति स्थान; बढ़ने की तीव्रता, रोगी का लिङ्ग आयु तथा अन्य बातों को देखते हुए सूक्ष्म निरीक्षण करना आवश्यक है। कई बार जहां पर अन्य बातों से निर्णय नहीं होता वहां पर सूक्ष्म निरीक्षण से ही निर्णय होता है।

सूक्ष्म निरीक्षण—

साधारण अर्बुदों में रचना नियमित और सादी होती है। तन्तुवों का स्वभाव पूर्ववर्त्ती तन्तुवों से मिलता जुलता है। अर्बुद के किनारे साधारण तन्तुवों पर आक्रमण नहीं करते। प्रायः करके बहुत से अर्बुदों पर खोल होता है। ग्रन्थ्यर्बुद की अवस्था में स्पष्ट रूप से 'बेसमैंण्ट मैम्ब्रेन' रहती है। यदि अर्बुद की संख्या बहुत हो तो सब स्वतन्त्रतया उत्पन्न होते हैं।

घातक अर्बुद—

इनकी रचना कुछ विषम होती है। इनमें समीप के तन्तुवों

पर आक्रमण करने की रुचि बहुत अधिक होती है। ये अर्बुद मैटेस्टैटिक अर्बुद भी उत्पन्न करते हैं। कुछ घातक अर्बुदों पर खोल होता है, जो कि अपूर्ण और पतला होता है। इन अर्बुदों में रक्तवाहिनियां भी अधिक संख्या में होती हैं।

स्थूलदृष्टि से परीक्षा करने में इनका आकार और रचना बहुत सहायता करती है। रक्त स्राव का होना, व्रण, निक्रोसिस आदि आवश्यक चिह्न हैं। हमको इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि अर्बुद ऐसे स्थान पर तो नहीं जहां पर रक्तवाहिनियां अधिक हों या विक्षोभ लगातार होता रहता है।

अर्बुद के रासायनिक गुण प्रायः वही हैं, जोकि साधारण तन्तुवों के हैं।

सौत्रार्बुद—Fibroma

ये सौत्रिक संयोजक तन्तुवों से उत्पन्न होते हैं। ये अर्बुद दो प्रकार के हैं—

यथा—कठिन और नर्म। इनमें—

कठिन अर्बुदों में सैल कम होते हैं और तन्तुवों [सूत्रों] की संख्या अधिक होती है, इनकी वृद्धि बहुत धीरे धीरे होती है। तन्तुवों के गुच्छे बहुधा एक केन्द्रीय क्रम में रक्तनालिकाओं के चारों ओर स्थित पाये जाते हैं। इनमें रक्तसंचार भी कम होता है। अर्बुद के कोष में बहुधा कुछ बड़े आकार की शिरायें उपस्थित मिलती हैं। इनसे रक्तस्राव हो सकता है।

कोमल अर्बुदों में सैल अधिक होते हैं, इनमें तन्तु कम होते हैं-ये अर्बुद कठोर की अपेक्षा जल्दी फैलते हैं। इनकी रक्तवाहिनियों की दिवार पूर्ण होती है; परन्तु कइयों में पतली भी होती है। इनके ऊपर खोल होता है, यह कोष समीप के तन्तुवों से बना होता है काटने पर भीतर से मांस के

समान कुछ लाल रङ्ग के दिखाई देते हैं।

ये अर्बुद त्वचा, फ़ेशिया [कलायें] कण्डरा, Dura-matter नर्व तन्तुवों के तन्तु में पाये जाते हैं। प्रायः नितम्ब पर पाये जाते हैं। इनके आकार में प्रायः भिन्नता रहती है। इन अर्बुदों में पैला एलास्टिक तन्तु बहुत कम होते हैं। प्रायः श्वेत होते हैं, इनमें डिजनरेशन बहुत ही शीघ्रता से होता है।

वसार्बुद—Lipoma

ये अर्बुद शरीर की साधारण वसा के बने हुए होते हैं। ये अर्बुद साधारण वसातन्तु से मिलते जुलते हैं। इनकी गति बहुत ही मन्द और चिरस्थायी होती है। कभी कभी एक ही मनुष्य में कई होते हैं। ये अर्बुद त्वचा के नीचे के तन्तुओं में, गर्दन पीठ और नितम्ब पर होते हैं। कभी कभी कोष्ठ के वसा तन्तु से भी पैदा हो जाते हैं; यथा—आंतों की झिल्ली और आंत्रपरिशिष्ट पर।

ये अर्बुद दबाने से दब जाते हैं और छोटे होने पर अंगुली के नीचे से फिसल जाते हैं। ये अर्बुद कभी भी घातक रूप नहीं लेते जिस समय इनके आकार में अतिशय वृद्धि हो जाती है उस समय छेदन से इनको निकाला जाता है। इनका भेद शीतल विद्रधि से करना चाहिये।

तरुणास्थि का अर्बुद (Chondroma)

अर्बुद तरुणास्थि से बने होते हैं। इनके ऊपर एक कोष होता है। दबाने पर लचकीले किन्तु दृढ़ प्रतीत होते हैं। ये प्रायः अस्थियों के ऊपर होते हैं। कभी कभी अस्थियों के अन्दर या अस्थियों के ऊपर की झिल्ली (पैरा औस्टीयम) के नीचे मिलते हैं। रिकिट (फक्क रोग) के पीछे प्रायः देखे जाते हैं। ये अर्बुद धीरे धीरे बढ़ते हैं इनसे किसी प्रकार की वेदना नहीं होती। यदि कोई नाड़ी दब जाये तो तीव्र वेदना

होती है। प्रायः ये अर्बुद छोटी और बड़ी अस्थियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं। प्रायः करके हाथ पांव की अंगुलियों में मिलते हैं। जिस स्थान पर अर्बुद होता है वह स्थान चौड़ा दिखाई देता है। इन अर्बुदों में कैलसीफिकेशन और अस्थि निर्माण भी हो जाता है। अर्बुदों के काटने पर पारदर्शक या अर्धपारदर्शक सफ़ेद या नीले रंग के हाईलाईन कार्टिलेज के टुकड़े होते हैं। इनके ऊपर सौत्रिकतन्तु होता है। ये अर्बुद कभी कभी लैरिंक्स, श्वास प्रणाली और पसलियों के कार्टिलेज पर भी मिलते हैं। एक्स-रे चित्रण से इन अर्बुदों की छाया दिखाई नहीं देती।

अस्थ्यर्बुद (Osteoma)

इन अर्बुदों की रचना अस्थि से होती है। ये दो प्रकार के हैं सुषिर और संहत। जिस समय अस्थि के संहत भाग से उत्पन्न होते हैं तो बड़े सख़्त, छोटे एवं चिकने से होते हैं। ये संहत अर्बुद प्रायः करोटि की अस्थियों से उत्पन्न होते हैं। यहां से ये भीतर की ओर बढ़कर दृष्टि, श्रवण और घ्राण शक्ति को नष्ट कर देते हैं।

सुषिर अर्बुद जब spongy tissues से उत्पन्न होते हैं तो बहुत कम ठोस होते हैं। यह अर्बुद लम्बी अस्थियों के सिरों के पास उत्पन्न होता है। जहां पर यह उत्सेध या प्रवर्धन की भान्ति निकला रहता है। इसके ऊपर स्वच्छ कार्टिलेज का एक स्तर चढ़ा रहता है, कभी कभी इसका आकार बहुत बढ़ जाता है। यह अर्बुद बालकों में या युवाओं में मिलता है, जिनमें अस्थि का सिरा पूर्णतया अस्थि रूप में परिणत नहीं हुआ होता। इसकी वृद्धि बहुत धीरे धीरे होती है। जब तक यह किसी नाड़ी को नहीं दबाता तब तक पीड़ा नहीं होती।

मज्जार्बुद (Myeloma)

यह अर्बुद अस्थि की मज्जा से उत्पन्न होते हैं। काटने पर यह भीतर से अत्यन्त गहरे लाल रंग का पाया जाता है। इसमें रक्त का संचार बहुत अधिक होता है। प्रायः रक्तस्राव के कारण इसके भीतर सिस्ट बन जाती है। जंघास्थि के उर्ध्वप्रान्त में यह अर्बुद प्रायः पाया जाता है। जहां पर यह उत्पन्न होता है वहां पर अस्थि चौड़ी हो जाती है और बीच से खोखली हो जाती है। यह अस्थि धीरे धीरे पतली हो जाती है। यहां तक कि अस्थि का केवल पतला स्तर रह जाता है।

यह अर्बुद बहुकेन्द्रिक वृहत् कोषाणुवों का बना होता है। जिन के चारों ओर गोल कोषाणु होते हैं। ये अर्बुद प्रायः घातक रूप धारण नहीं करते। अर्बुद कोमल होते हैं, दबाने से सुगमता पूर्वक दब जाते हैं।

मांसार्बुद (Myoma)

ये अर्बुद मांसपेशियों से उत्पन्न होते हैं। जब ये अर्बुद अनैच्छिक मांसपेशियों से बनते हैं तो इनको Liomiomata कहते हैं। जब अर्बुद धारीदार मांसपेशियों से उत्पन्न होते हैं, तब इनको Rhahdomyoma कहते हैं। इन में अनैच्छिक मांसपेशियों से उत्पन्न अर्बुद प्रायः होते है। ये अर्बुद अधिकतः गर्भाशय में पाये जाते हैं। यहां पर इनको अमूमन 'फाईब्रौयड' नाम से कहा जाता है। इनमें अनियमित रूप से 'नौनफाईब्रस' या 'फाईब्रस' के बन्डल्स होते

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम्
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य वादमेतद् भवेन्मांसपरायणस्य
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तम्......सुश्रुत

हैं। इनके ऊपर फाईब्रस तन्तु होते हैं। इस फाईब्रस तन्तु में रक्तवाहिनियां भी होती हैं। ये अर्बुद डिम्बकोष अष्ठीला, अन्नप्रणाली, त्वचा और मूत्राशय की पेशियों में भी पाये जाते हैं। गर्भाशय के मांसार्बुद गर्भाशय के बाहर या दिवार में अथवा अन्दर वृद्धि करते हैं। कभी कभी इन में Calcification भी हो जाता है; तब इसको गर्भाशय की अश्मरी कहते हैं।

दूसरे धारीदार पेशियों से उत्पन्न मांसार्बुद मांसतन्तुवों से बनते हैं। ये अर्बुद बहुत कम मिलते हैं। प्रायः करके भ्रूण में मिलते हैं इनका उत्पत्तिस्थान वृक्क या अण्ड है।

श्लेष्मार्बुद (Myxoma)

ये अर्बुद संयोजक धातुवों के कोषाणुवों से बना होता है। इन कोषाणुवों के चारों ओर बीच में एक लेसदार अर्धतरल पदार्थ भरा रहता है। इस अर्बुद में "म्युकोयड डिजनैरेशन" उत्पन्न हो जाता है। अर्बुद के कोषाणु तिकोने या नोकदार होते हैं। त्वचा के नीचे तथा श्लैष्मिक कला के नीचे पाया जाता है। ये अर्बुद होते तो बहुत साधारण हैं परन्तु इनका फैलाव बहुत होता है।

पीतार्बुद (Zanthoma)

इस में वसा और सौत्रिक दोनों प्रकार की धातुवें मिली रहती हैं। यह दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार में—त्वचा के ऊपर पीले रंग के उभरे हुए भाग दिखाई देते हैं; ये भाग पलकों की त्वचा पर बहुत मिलते हैं। दूसरे प्रकार के अर्बुद चर्म से उत्सेधित और पीत रंग से दिखाई देते हैं। बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में प्रायः पाये जाते हैं। कभी कभी इनका आकार बढ़ जाता है। काटने पर भीतर से नारंगी रंग के दिखाई देते हैं।

वसा विस्तृति (Lymphoma)

ये अर्बुद लिम्फैटिक तन्तु में उत्पन्न होते है। क्षय उपदंश और Hodkin's diseases में भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी रचना साधारण लिम्फैटिक तन्तु जैसी होती है।

रक्तार्बुद (Angioma)

ये अर्बुद वैसीक्युलर तन्तुवों से उत्पन्न होते हैं। जब ये रक्तवाहिनियों से उत्पन्न होते हैं तब इनको 'हैमोजीनस' कहते हैं। और जब लिम्फ़ से उत्पन्न होते हैं तब "लिम्फो जीनस" कहते हैं। दोनों ही पैतृक होते हैं। जिन हैमोजी- नस में रक्तवाहिनियां होती हैं उनको 'पैक्सीफार्म एनजी ओमा Pexiform Angioma कहते हैं। इसका उदाहरण नख हैं। जिन एनजीओमा में रक्तवाहिनियां फैल जाती हैं उनको "कैवरनस एनजीओमा" कहते हैं। कई स्थानों पर एनजीओमा बहुत उभरे हुए गोल, लाल, या नीले रंग के स्पन्दन युक्त होते है। ये प्रायः सिर पर होते हैं। चोट लगने से इन में रक्तस्राव होता है। धमनीजन्य एनजीओमा अकेला बहुत कम मिलता है, और जब मिलता है, तो सिर पर ही मिलता है। कैवरनस एनजीओमा पैक्सीफार्म एनजीओमा की अपेक्षा अधिक होता है। यह त्वचा, मस्तिष्क की कला एवं यकृत में पाया जाता है। लिम्फ एनजीओमेटा जब मिलता है, तो यह पैतृक होता है; इन में लसीकाप्रणाली बहुत फैली हुई होती है। ये त्वचा एवं त्वचा के नीचे के तन्तुवों में होते हैं. डिम्बकोष और वृक्क में भी मिलते हैं।

नाड्यर्बुद (Glioma)

ये अर्बुद न्युरोग्लिआ से उत्पन्न होते हैं। अर्बुद मस्तिष्क, मेरुदण्ड, दृष्टिपटल में पाये जाते हैं। ये कभी कभी मन्द गति वाले होते हैं। परन्तु जब इनमें कोषाणु

अधिक होते हैं तो ये बड़े नर्म और अति शीघ्रता से बढ़ने वाले होते हैं। तब इनका स्वभाव घातक होजाता है। इस में रक्तस्राव की सम्भावना बनी रहती है। दृष्टिपटल के अर्बुद प्रायः छोटे ही होते हैं। ये अर्बुद कभी कभी दोनों आंखों में हो जाते हैं।

न्यूरोमा—इसमें नर्वतन्तु होते है। जब नर्व के कोष से उत्पन्न होते है तव इनको असत्य न्यूरोमा कहते हैं। सच्चा न्यूरोमा नर्व सैल्स से मिलता है। त्वचा, सिम्पथैटिक गैंगलिया तथा सिम्पथैटिक फ्लैक्सस में मिलते हैं।

दन्तार्बुद (Odontoma)

यह अर्बुद दान्तों के तन्तुवों से उत्पन्न होता है। भिन्न भिन्न अर्बुदों में तन्तुवों की रचना भिन्न भिन्न होती है। साधारणतः ये मसूड़ों की श्लैष्मिककला के नीचे रह कर ही बढ़ते हैं। जब इन में पूयोत्पादन हो जाता है, तब इनकी ओर ध्यान जाता है। इनके कई प्रकार के भेद हैं।

उपकलज दन्तार्बुद (Epithelial-Odontoma)

ये अर्बुद दान्तों की इनैमल से उत्पन्न होते हैं। खास कर ये अर्बुद अधोहनु में होते हैं। अर्बुद के भीतर कई कोष होते हैं। प्रत्येक कोष उपकला से घिरा होता है। ये अर्बुद प्रायः युवावस्था के प्रारम्भ में उत्पन्न होते हैं। कोषों के भीतर भूरे रंग का चिकना पदार्थ भरा रहता है।

कोषीय दन्तार्बुद (Follicular-Odontoma)

इस अर्बुद में विकृत दान्त के चारों ओर तरल पदार्थ-युक्त एक कोष पाया जाता है। जिसके भीतर विकृत दान्त पड़ा रहता है। इस कारण उस का प्रस्फुटन असम्भव होता है। ये अर्बुद प्रायः चर्वण दान्तों के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाते हैं।

सौत्रिक दन्तार्बुद (Fibrous-Odontoma)

दन्तकोष के चारों और सौत्रिक धातु की अति वृद्धि हो जाती है। इससे दान्तों के चारों ओर एक कोष बन जाता है। यह कोष सौत्रिक दन्तार्बुद के समान होता है।

मिश्रित दन्तार्बुद (Composite odontoma)

दन्त रचना में भाग लेने वाले सब अवयवों के मिलने से यह उत्पन्न होता है। प्रायः करके ये अर्बुद अधोहनु में पाये जाते हैं। ये अर्बुद बाल्यावस्था में ही उत्पन्न हो सकते हैं और गोल अर्बुद की भान्ति कठोर प्रतीत होते हैं। जब इनमें पूयोत्पत्ति हो जाती है, तब दुर्गन्धित स्राव होता है।

चिकित्सा—

प्रायः निन्यानवें प्रतिशतक सब अर्बुदों की चिकित्सा शस्त्र-कर्म है। इनका छेदन ही करना उत्तम है। छेदन करते समय सम्पूर्ण कोष समेत इनको काटना चाहिये। फिर इनको जला देना चाहिये। जिससे कि पुनः उत्पन्न न हो सके*।

घातक संयोजक धातुजन्य अर्बुद—

सारकोमा (Sarcoma)

यह अर्बुद सौत्रिक तन्तुवों से बनता है। इन अर्बुदों में कोषाणुवों की अधिकता रहती है। इनमें कोषाएवन्तरिक वस्तु कम होती है। इनके कोषाणुकोषाएवन्तरिक वस्तु के कारण अलग अलग रहते हैं। इनमें रक्तसंचार बहुत अधिक

* कुछ लोगों का विचार है कि अर्बुदों में सीसक या ताम्र का उपयोग उत्तम है। आयुर्वेद में इन दोनों धातुओं की भस्म का उपयोग होता है। आयुर्वेद का 'आन्त्रशोषान्तक रस' प्रायः करके अर्बुदों के लिये उपयोगी समझा जाता है।

रहता है जिससे कि स्पन्दन का अनुभव होता है। अर्बुद के पास की शिरायें और धमनियां फैली होती हैं। रक्तसंचार की अधिकता के कारण अर्बुद से रक्तस्राव का भय रहता है। अर्बुद के भीतर के रक्तमार्गों का पास की शिराओं से सम्बन्ध रहता है। अर्बुद के कोषाणु या अर्बुद के छोटे छोटे भाग पृथक् होकर शिराओं द्वारा दूरवर्त्ति अंगों में पहुंचकर वहां गौण वृद्धि आरम्भ करते हैं। ये वृद्धियां प्रायः यकृत् और फेफड़े में होती हैं। फेफड़े और यकृत् से ये अर्बुद दूरवर्त्ती अंगों में फैल सकते हैं। कभी कभी इन अर्बुदों की विस्तृति लसीकावाहिनियों द्वारा भी हो जाती है।

इन अर्बुदों की घातकता और इनके विस्तार की शक्ति में बहुत भिन्नता रहती है। जो अर्बुद कठिन होते हैं उनकी वृद्धि बहुत धीरे होती है। इसप्रकार के अर्बुदों में सौत्रिक तथा कोषाणु का मध्यवर्त्ती पदार्थ बहुत अधिक होता है। और जो अर्बुद कोमल होते हैं उनकी वृद्धि शीघ्रता से होती है। इस प्रकार के अर्बुद अतिशय घातक होते हैं।

प्रायः करके अर्बुद किसी भी अवस्था में हो सकते हैं- परन्तु ये घातक अर्बुद प्रौढ़ावस्था में अधिक मिलते हैं। कभी कभी जन्म से भी ये अर्बुद उपस्थित रहते हैं। इन अर्बुदों में जितना भी रक्तसंचार अधिक होता है, उतना ही इनका रंग गहरा होता है और इनमें कोमलता तथा घातकता भी अधिक रहती है।

कोषाणुवों के आकार प्रकार और स्थितिक्रम की भिन्नता से अर्बुद कई उपजातियों में विभक्त किये गये हैं। यथा—

१—कोषाणुवों के आकार प्रकार और संस्थान के अनुसार इनको छोटे या बड़े गोल कोषाणवीय (Large Round Celled, Small Round Celled) सारकोमा, सिम्पल

सैल; मिक्सड मायलौयड और एल्व्युलर अर्बुद कहते हैं।

२—तन्तुवों के आकार जैसे बनने की रुचि जिन अर्बुदों में होती है, उनको उसके अनुसार अस्थि सारकोमा (Osleo sarcoma); सौत्रिक सारकोमा (Fibro sarcoma) मांस सारकोमा (Myo sarcoma), आदि कहते हैं।

३—कुछ अर्बुदों का नामकरण रंग के अनुसार भी होता है। यथा—क्लोरोमा (Chloroma) या मिलेनाटिक सारकोमा (Milanotic sarcoma).

४—जिस प्रकार की डिजनरेशन होती है, उसके अनुसार इनका नाम रक्खा जाता है। यथा—मिक्सो सारकोमा।

५—जिस समय ये अर्बुद किसी अन्य प्रकार के अर्बुद से मिले रहते हैं तब इनका नामकरण उसके अनुसार किया जाता है। यथा—एडिनौयस, एन्डाथैलिमस कहते हैं।

गोल कोषाणवीय सारकोमा

लघु गोल कोषाणवीय—

इनमें कोषाणु छोटे गोल एवं कम प्रोटोप्लाज्म वाले होते हैं। इनके न्युक्लिआई गहरे रंगे जाते हैं। कोषाणुवों का मध्यवर्त्ती पदार्थ थोड़ा, दानेदार एवं तन्तुयुक्त होता है। रक्तवाहिनियां अपूर्ण और अनन्त होती हैं।

वृहद् गोल कोषाणवीय—

कोषाणु गोल और बड़े होते हैं। इनमें प्रोटोप्लाज्म भी अधिक रहता है। न्यूक्लियाई हलका रंगा जाता है। रक्तवाहिनीयां भी कम रहती हैं।

लघु तर्कांकार कोषाणवीय (Small Spindle Celled)

इस में कोषाणु लम्बे और अनियामित रीति से फैले रहते हैं। रक्तवाहिनियां बहुत तथा अपूर्ण रहती हैं।

बृहत् तर्काकार कोषाणवीय (Large Spindle Celled)

कोष बन्डल्स (गुच्छों के रूप में) में संस्थापित रहते हैं ; फाइब्रस अधिक और मोटे हो जाते हैं। रक्तवाहिनियां पूर्ण होती है। ये अर्बुद सब प्रकार के उपरोक्त सारकोमा की अपेक्षा कम घातक होते हैं।

सारकोमा किसी भी तन्तु से उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु विशेष कर अस्थि, पेशियों और फाइब्रस मैम्ब्रेन में उत्पन्न होते हैं।

मिलेनॉटिक सारकोमा—इसमें Milanotice Pigment बहुत होता है। मैलेनीन की राशी भी भिन्न भिन्न अर्बुद में भिन्न भिन्न होती है। इस रंग के कारण अर्बुद भी धुवें जैसा भूरा दिखाई देता है। यह रंग या तो खातों में होता है या सारे अर्बुद में फैला रहता है। जहां पर साधारण रंग होता है, वहीं पर ये अर्बुद आरम्भ होते हैं। इनके कोषाणु तकवे के आकार के होते हैं; गोल एवं अण्डाकार अर्बुद बड़े घातक होते हैं। न्युक्लीयस में क्रोमेटीन बहुत कम होती है।

चिकित्सा—

जितनी भी शीघ्र हो सके अर्बुद को काटकर बाहर निकाल देना चाहिये। अर्बुद के कोषाणुओं के विस्तार करने के पीछे अर्बुद की पुनरुत्पत्ति का भय रहता है। इसलिये इनकी विस्तृति होने से पूर्व ही इनका छेदन करना चाहिये। अर्बुद का विस्तार कहां तक हो गया है-यह जानना सम्भव नहीं है। इसलिये रुग्ण भाग के साथ स्वस्थ भाग का भी पर्य्याप्त दूर तक छेदन कर देना चाहिये। छेदन के पीछे पुनरुत्पत्ति का भय रहता है। इसलिये इसमें रेडियम या 'एक्स-रे' की चिकित्सा करनी चाहिये। रेडियम की सहायता से अर्बुद घटने लगता है।

उपकला से उत्पन्न हुए अर्बुद

उपकला से नीचे लिखित अर्बुद उत्पन्न होते हैं।

सामान्य अर्बुद—

१—अंकुरार्बुद [Papilloma] २-ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) ३—घातक, अर्बुद कैन्सर [Cancar]

अंकुरार्बुद (Papilloma)

इन अर्बुदों की रचना साधारण अंकुरों की भान्ति होती है। बीच का अन्न संयोजक धातु का बना होता है। इसमें रक्तनलिकाओं की सूक्ष्म शाखायें भी उपस्थित होती हैं। सम्पूर्ण अर्बुद शहतूत के गुच्छे के समान दिखाई देता है। ये अर्बुद मूत्राशय में प्रायः पाये जाते हैं। स्वरयन्त्र एवं ग्रन्थियों के सम्बन्ध में पाये जाते हैं। इसके निम्न भेद हैं। यथा—

स्केमस पैपिलोमा (Squamas Papilloma)

यह अर्बुद त्वचा, मुख, श्वासप्रणाली, अन्नप्रणाली और योनि में उत्पन्न होते हैं। इनमें कोषाणु चपटे होते हैं। कइयों में सौत्रिक तन्तु कइयों में सैल्युलर और कइयों में फाईब्रोसिस होते हैं। इनमें रक्तवाहिनियां बहुत होती हैं-जो कि फैल जाती हैं। इनमें प्रायः शोथ भी होता है। कई अर्बुद पैतृक होते हैं; और बहुत से त्वचा के विक्षोभ से उत्पन्न होते हैं। कई रोगों में जैसे आतशक, या सूजाक में गुदा पर भी उत्पन्न हो जाते हैं।

म्यूकस पैपीलोमा (Mucous Papilloma)

ये अर्बुद म्यूकस से उत्पन्न होते हैं। विशेषतः श्वास प्रणाली, स्वरयंत्र अन्नप्रणाली, नाक, मूत्राशय और गुदा में भी पाये जाते हैं। इनमें रक्तस्राव बहुत शीघ्रता से होता है। यही कारण है कि रोगियों की नाक, गुदा तथा मूत्र में

रक्तस्राव होता रहता है।

ये अंकुरार्बुद कई बार सिस्ट (Cyst) में भी उत्पन्न हो जाते हैं। कई बार अर्बुद सीरस मैम्ब्रन में [जैसे पैरीटोनियम] भी हो जाते हैं।

ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma)

इन अर्बुदों की रचना उद्रेचक ग्रन्थियों के बहुत कुछ समान होती है। परन्तु इन में कोई भी प्रणाली नहीं होती और न इन में किसी प्रकार का उद्रेचन ही होता है। इनमें संयोजक तन्तु रहते हैं। ये अर्बुद प्रायः अकेले रहते हैं परन्तु कभी कभी अनेक अर्बुद भी एक ही समय में उत्पन्न हो जाते हैं। इन पर प्रायः कोष चढ़ा रहता है। ये अर्बुद जिस ग्रन्थि से उत्पन्न होते हैं उस के साथ एक डण्ठल द्वारा जुड़े रहते हैं। इस डण्ठल में से होकर रक्तवाहिनियां अर्बुद में पहुंचती हैं। ये अर्बुद भी अंग के बाहर निकले रहते हैं। ये सामान्यतः साधारण होते हैं परन्तु वृद्धा स्त्रियों के स्तनों में कभी कभी इनको घातक रूप में भी देखा गया है। इस कारण इनका छेदन करना आवश्यक होता है।

जो ग्रन्थ्यर्बुद घातक प्रकृति के होते हैं उन के कोषाणु ठोस प्रकृति के समूह रूप में रहते हैं। साधारण ग्रन्थ्यर्बुद प्रायः करके स्तन, आंत्र, लालाग्रन्थि, क्लोम, पित्तप्रणाली में उत्पन्न होते हैं। इनके कोषाणु, कोलमनर, क्युबीकल या एपिथीलियल होते हैं।

कैन्सर (Cancer)

ये घातक अर्बुद उपकला से उत्पन्न होते हैं। उपकला के कोषाणुओं में जिन में कि ये पहले ही से उपस्थित होते हैं अति शीघ्र गति से विभाजन होता है; इसप्रकार से उपकला के कोषों का एक नवीन समूह बन जाता है। यह

नवीन समूह चारों ओर के धातुओं पर तीव्रता से आक्रमण करता है। इसप्रकार से तन्तु नष्ट होकर इसी समूह में मिल जाते हैं। ये नवीन कोषाणु स्तम्भों के आकार में स्थित होते हैं। इसप्रकार से चारों ओर के तन्तुओं में इन के गुच्छे पाये जाते हैं। ये कैन्सर प्रायः लसीकावाहिनियों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते हैं। परन्तु कभी कभी रक्त के द्वारा भी फैलते हैं। ये कैन्सर जब त्वचा से उत्पन्न होते हैं, तो प्रायः गुदा ओष्ठ शिश्न अण्डकोष पर मिलते हैं। और जब श्लैष्मिक कला से उत्पन्न होते हैं तो प्रायः मुख आस्य स्वरयंत्र योनि और अन्न प्रणाली में होते हैं। इन के कोषाणु प्रत्येक दिशा में फैलते हैं। ऊपर के कोषाणु क्युबीकल या कोलमनर होते हैं। अन्दर के कोषाणु दबाव के कारण चपटे पड़ जाते हैं। कई बार ये अर्बुद विचित्र रूप ले लेते हैं और अन्दर की ओर बढ़ते हैं।

इन के चारों ओर कोई कोष नहीं होता और न इन के विस्तार की कोई सीमा ही रहती है। इसलिये छेदन करते समय समस्त अंग का जिस में ये उपस्थित हों छेदन करना चाहिये। कैन्सर के उत्पन्न होने के लिये उपयुक्त समय भिन्न भिन्न धातुओं में भिन्न भिन्न होता है। स्त्रियों में गर्भाशय का कैन्सर उस समय अधिक होता है, जिस समय उन का प्रजनन काल समाप्त हो जाता है अर्थात् ४५ से ५० तक की आयु में होते हैं। इस के पीछे अर्बुद बहुत कम उत्पन्न होते हैं। प्रायः यह देखने में आता है कि अर्बुद के कोषाणु उस अंग की सीमा को पार करके अन्य समीपवर्त्ती अंगों में पहुंच जाते हैं। स्तन के कैन्सर में वक्ष का चर्म तथा कक्षा की ग्रन्थियां शीघ्र ही आक्रान्त हो जाती हैं। वक्ष की पेशियों में भी अर्बुदोत्पत्ति होने लगती है।

अर्बुद या कैन्सर का कुछ भाग काट कर दूसरे प्राणी की धातुओं में स्थापित करने से सदा ही उस प्राणी के शरीर में अर्बुद या कैन्सर उत्पन्न नहीं हो जाता। वास्तव में एक श्रेणी के जन्तु के शरीर के अर्बुद दूसरी श्रेणी के प्राणी में कभी भी उत्पन्न नहीं होते। एक ही श्रेणी के प्राणियों में कभी कभी उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये अर्बुदों को संक्रामक नहीं माना जाता। और न ही ये अर्बुद सम्पर्क के कारण उत्पन्न होते हैं।

अर्बुद का छेदन करते समय चाकू को अर्बुद के सम्पर्क में नहीं आने देना चाहिये। अर्बुद को तौलिये से ढांप कर उस का छेदन करना चाहिये और छेदन के पश्चात् उस को तौलिये से ढांपे हुए ही पृथक् कर देना चाहिये। चाकू के अर्बुद के सम्पर्क में आने से अर्बुद के कोषाणु दूसरे स्थान में पहुंच कर गौण वृद्धि उत्पन्न कर देते हैं। और जहां पर अर्बुद तौलिये से ढांपा न जा सके, वहां पर चाकू को अर्बुद की सीमा से पर्याप्त दूर रखना चाहिये। यदि अर्बुद श्लैष्मिक कला या चर्म से ढंपा हो तो उसका इसी अवस्था में छेदन करना चाहिये। श्लैष्मिक कला या चर्म को काटना नहीं चाहिये।

साध्यासाध्यता—अमूमन इन अर्बुदों का परिणाम भयंकर होता है। कई कैन्सर इतने धीरे बढ़ते हैं कि वे जीवन-काल में कोई विशेष न्यूनता नहीं करते। किन्तु जो कैन्सर कोमल होते हैं, वे अति तीव्रता से वृद्धि करके जीवन का नाश कर देते हैं। इन अर्बुदों से एक प्रकार का विष उत्पन्न हो कर शरीर को गिरा देता है, जिस से उस को सदा ज्वर रहता है। भूख कम हो जाती है, शरीर निर्बल हो जाता है, रंग पीला पड़ जाता है और अन्त को रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—सारकोमा की भान्ति जिस अंग में यह उपस्थित हो उसका पूर्ण छेदन कर देना चाहिये। अर्बुद के साथ में जितनी भी लसीकावाहिनियां या ग्रन्थियां हों उन सबों को निकाल देना चाहिये। जहां पर समस्त अंग का छेदन आवश्यक न हो या न हो सके वहां पर चारों ओर के तन्तुओं का जितना भी छेदन किया जा सके, उतना कर देना चाहिये। इस अर्बुद का विस्तार लसीकावाहिनियों द्वारा होता है।

सारकोमा की भान्ति रेडियम और एकस-रे का प्रयोग भी बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। छेदन के पूर्व या पीछे जब भी आवश्यकता हो इन का प्रयोग करना चाहिये।

कैन्सर के भेद

कैन्सर के भेद निम्न पाये जाते हैं। कोषाणुओं के आकार के अनुसार इन का नाम रखा गया है। यथा—

(१) एपीथीलियोमा—ये अर्बुद उपकलाजन्य हैं। ये अर्बुद उस स्थान पर उत्पन्न होते हैं जहां पर चतुष्कोणाकार कोषाणुओं से निर्मित उपकला से रहती हैं। यथा—गला मुख और ओष्ठ। अन्नप्रणाली, मूत्रसंस्थान तथा जननेन्द्रियों में भी इसी प्रकार के अर्बुद की उत्पत्ति हो सकती है। ये अर्बुद बड़ी आयु वाले व्यक्तियों में पाये जाते हैं। ये मन्द गति से वृद्धि करने वाले कठिन अर्बुद होते हैं। इस में प्रायः सदा व्रण बन जाते हैं। इनके किनारे और तल भी मोटे एवं कड़े होते हैं। इस के पृष्ठ पर बहुत से अंकुर उत्पन्न हो सकते हैं। इस की समता खिले हुए गोभी के फूल से की जा सकती है। लसीकाग्रन्थियां शीघ्र आक्रान्त हो जाती हैं।

(२) बृहत् वृत्ताकार कोषाणवीय अर्बुद—ये अर्बुद

ग्रन्थियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं। जैसे स्तन या श्लैष्मिक कला की ग्रन्थि । इस अर्बुद में कोषाणुओं का कोई भी विशेष क्रम नहीं रहता। इसप्रकार के अर्बुद कठिन होते हैं और प्रायः स्तनों में पाये जाते हैं। इन को scireshus कैन्सर कहते हैं। इन की वृद्धि बहुत धीरे होती है। कोषाणुओं के गलने या नष्ट होने पर अर्बुद और भी अधिक कड़ा हो जाता है। आमाशय या पक्वाशय में उत्पन्न होने से इन में संकीर्णता उत्पन्न हो जाती है।

जब कोषाणुओं के गुच्छों की अधिकता रहती है और सौत्रिक धातु कम हो तो अर्बुद मास्तिष्क की भान्ति कोमल रहता है। इस को Medullary या Encaphaloid कैन्सर कहते हैं। इस में रक्त की अधिकता रहती है। इस के कोषाणु थोड़े ही समय में चारों ओर के तन्तुओं में फैल जाते हैं। ये बहुत शीघ्र फैलते हैं।

(३) कोलोयड कैन्सर (Coloid Cancer)—कैन्सर के कोषाणुओं में जब कोलोयड डीजनरेशन (क्षीणता) हो जाती है, तब ये अर्बुद उत्पन्न होते हैं। ये प्रायः करके आमाशय आंत्र एवं स्तनों में मिलते हैं। पर्य्यावरण कला तथा प्लूरा में भी मिलते हैं। ये कैन्सर प्रायः कोमल होते हैं। इन अर्बुदों में बहुत जगह होती है। इन स्थानों में कोलोयड पदार्थ भरा रहता है। यह पदार्थ कोषाणुओं के टूटने से बनता है।

स्तम्भाकार कैन्सर (Columnar Cancer)

इस में कोषाणु स्तम्भों में स्थित होते हैं। ये सामान्य कैन्सर हैं। ये कैन्सर पाचन संस्थान में खासकर आंतों में जहां पर कि उपकला स्तम्भाकार कोषाणुओं से ढंपी रहती है, मिलते हैं। दूसरी ओर पेशी के स्तरों के मध्य में फैल

जाते हैं। ये भी दो प्रकार हैं। कठोर और कोमल। इनमें कठोर अर्बुद धीरे धीरे बढ़ते हैं और कोमल अर्बुद अति शीघ्रता से फैलते हैं।

भिन्न भिन्न अवयवों के कैन्सर

स्थानानुसार कैन्सर के लक्षणों में भेद मिलता है। जिस समय कैन्सर शिरा या धमनी पर दबाव देते हैं उस समय विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं, अथवा व्रणोत्पत्ति के कारण नाड़ियों के प्रान्त भाग नष्ट हो जाते हैं।

अस्थि का कैन्सर

अन्य स्थानों के कारण अस्थि में कैन्सर उत्पन्न हो जाता है। स्तन के कैन्सर के कारण उरोस्थि के उपरिभाग तथा कशेरुकाओं में कैन्सर हो जाता है।

अधोहन्वस्थि का कैन्सर

ओष्ठ, जिह्वा या मसूड़ों के कैन्सर के कारण अधोहन्वस्थि में कैन्सर हो जाता है। अस्थि के अर्बुदयुक्त भाग को तुरन्त काट कर निकाल देना चाहिये। यह प्रायः एपिथीलियोमा होता है।

आंतों का कैन्सर

यह अर्बुद क्षुद्रांत्रों में बहुत कम होता है, प्रायः बृहदांत्र में पाया जाता है। यह कैन्सर बहुत जल्दी बढ़ता है, जिससे थोड़े ही समय में सम्पूर्ण आंत में व्याप्त हो जाता है। कभी कभी कैन्सर आंत्र को बाहर से घेर कर कुण्डल बना लेता है; जिससे कि अन्दर संकीर्णता आ जाती है। कभी कभी अर्बुद आंत के मार्ग को पूर्णरूप से रोक देता है, जिस से कि एक तिनका भी बाहर या आगे नहीं जाने पाता। इस अवस्था में ऊपर का भाग फैल जाता है और वहां पर

व्रण बन जाते हैं। कुछ समय में पास के अंगों के साथ जुड़ जाता है। कैन्सर के कोषाणु बहुत दूर तक फैल जाते हैं।

लक्षण—प्रारम्भ में लक्षण अनिश्चित रहते हैं। रोगी को कभी मलबन्ध और कभी दस्त आने लगते हैं। कभी उदर-शूल के समान वेदना होती है। मल के साथ रक्त और श्लेष्मकला आती है। रोगी की शारीरिक दशा क्षीण हो जाती है। रोगी की मृत्यु बद्धान्त्र के कारण होती है।

आमाशय का कैन्सर

आमाशय में कैन्सर पक्वाशय के समीपवर्त्ती भाग में प्रायः होता है। प्रायः करके कैन्सर पूर्व उत्पन्न व्रण पर होता है। कभी कभी कैन्सर सम्पूर्ण आमाशय में फैल कर इसको संकीर्ण बना देता है। इससे आमाशय की संकोच और विस्तार की शक्ति नष्ट हो जाती है। साधारणतः यह अर्बुद एक ग्रन्थि के समान ऊपर को उठा हुआ प्रतीत होता है। इसकी वृद्धि तीव्र गति से होती है। शीघ्र ही इस पर अंकुर तथा व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। आमाशय की भित्ति में जो लसीकावाहिनियां हैं, वे भी आक्रान्त हो जाती हैं। कुछ समय में अर्बुद समीपवर्त्ती अंगों के साथ जुड़ जाता है।

लक्षण—मुख्य लक्षण पीड़ा और वमन है। प्रारम्भ में उदर के अन्दर हलकी सी वेदना होती है, कुछ समय के पीछे पीड़ा बढ़ जाती है। अन्त में पीड़ा अतिशय भयानक रूप धारण कर लेती है। यह पीड़ा बराबर बनी रहती है। भोजन से पीड़ा बढ़ जाती है। रोगी को पहले खट्टी डकारें आती है। कुछ समय में वमन आरम्भ हो जाता है। वमन आया पदार्थ मैला लाल होता है। यह रंग रक्त के कारण होता है। रक्त अर्बुद के व्रणों से निकलता है। रोगी को भूख नहीं लगती। भोजन पचता नहीं, शरीर निर्बल हो

जाता है। धीरे धीरे क्षीण होता हुआ अन्त में उसका जीवन-दीपक बुझ जाता है।

परीक्षा के लिये वमन को देखना चाहिये। वमन में कभी कभी अर्बुद के टुकड़े आते हैं। अथवा रेडियम द्वारा छाया-चित्र लेना चाहिये।

ओष्ठ का कैन्सर—

यह एपिथीलीयोमा जाति का कैन्सर है। प्रायः करके यह अर्बुद उनमें अधिक होता है, जो कि सिगार, तम्बाकू या पाईप का अधिक उपयोग करते हैं। इसका प्रारम्भ एक कड़े दाने के रूप में होता है। अथवा बीच में एक श्वेत गर्त्त सा बन जाता है और चारों ओर के तन्तु कड़े एवं लालवर्ण हो जाते हैं। कुछ समय में अर्बुद बड़ा हो जाता है और अंकुरों का रूप ले लेता है। इस पर व्रण हो जाते हैं। बढ़कर यह सम्पूर्ण ओष्ठ को घेर लेता है। इस पर दुर्गन्धयुक्त व्रण हो जाते हैं। धीरे धीरे पास के तन्तुवों एवं ग्रन्थियों पर भी आक्रमण करके अर्बुद उनको भी आक्रान्त कर देता है।

गर्भाशय का कैन्सर—

स्त्रियों में ८० प्रतिशतक कैन्सर उत्पादक संस्थान के सम्बन्ध में होता है। इस में से ३० प्रतिशतक अर्बुद गर्भाशय में उत्पन्न होते हैं, चूंकि यह अवयव मांसबहुल है। इसमें भी अर्बुद गर्भाशय की ग्रीवा या इसके गात्र में प्रायः और भागों से अधिक होते हैं। प्रायः करके प्रथम यह उत्पत्ति ग्रीवा में होती है और फिर वहां से गात्र में फैलता है। किन्तु अर्बुद कभी कभी गात्र में ही प्रथम उत्पन्न होते हैं।

प्रायः करके अर्बुद ग्रीवा के मुख पर जो कि योनि की ओर होता है, उस पर एक कड़े एवं छोटे से दाने के रूप में उत्पन्न होता है। इसको अंकुरों के रूप में भी उत्पन्न होते

देखा गया है। कुछ ही समय में अर्बुद ग्रीवा से योनि में तथा गर्भाशय के चौड़े बन्धन (Broad Ligament) में भी फैल जाता है। कभी कभी इसके फैलने से योनि की सम्पूर्ण भित्ति गल जाती है। इन व्रणों में पूयोत्पादक जीवाणुवों का प्रवेश हो जाता है; जिससे कि योनि से अतिशय दुर्गन्धयुक्त रक्त-मिश्रित पूय बहती है; इसमें अर्बुद के कण भी मिले रहते हैं।

जब रोग प्रथम गर्भाशयगात्र में प्रारम्भ होता है, तब इसका आरम्भ श्लैष्मिककला तथा लसीकाग्रन्थियों से होता है। वहां से सम्पूर्ण गर्भाशय में फैल जाता है। इस से व्रणों के कारण गर्भाशय छत्ता सा दीखता है। अंगुली डालने से परीक्षा करने पर सम्पूर्ण कला व्रणयुक्त दीखती है। यहां से अर्बुद दूसरे स्थानों पर फैलता है।

लक्षण—इस रोग का लक्षण पीड़ा, रक्त स्राव तथा दुर्गन्ध युक्त पूय का स्रावित होना है। जब व्रण उत्पन्न होने लगते हैं तब पीड़ा प्रारम्भ होती है। रोग के बढ़ने पर पीड़ा असह्य हो जाती है। जिसको कि अस्थायी रूप में शान्त करने के लिये 'मौर्फिया' देना पड़ता है।

प्रारम्भ में रक्तस्राव थोड़ा होता है। रुग्णा को केवल इतना पता चलता है कि आर्त्तव अधिक हो गया है। कुछ समय पीछे रक्तस्राव निरन्तर होता रहता है; जिसके साथ श्लैष्मिककला और पूय भी मिली रहती है। इस कारण इसमें दुर्गन्ध रहती है। कुछ समय में रोग गर्भाशय से श्रोणि-गुहा में फैलने लगता है।

रोगी की भूख घट जाती है, उसको अरुचि होती है, शरीर का क्षय होने लगता है, पेशियां निर्बल और क्षीण हो जाती हैं, बल घट जाता है। मूत्राशय और आंतों के आक्रान्त होने से रोग और भी बढ़ जाता है। पीड़ा के

कारण उसको नींद नहीं आती। रोगी की आकृति निराशा-पूर्ण रहती है, कुछ समय पीछे उसकी मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—प्रारम्भ में रोगी की परीक्षा होने पर लाभ होने की आशा है। बढ़ने पर शस्त्रकर्म से भी विशेष लाभ नहीं होता। इसलिये रोग के प्रारम्भ होते ही गर्भाशय भित्ति में चमसक (spoon) से खुरचना चाहिये। खुरचे हुए पदार्थ की अणुवीक्षण यंत्र से परीक्षा करनी चाहिये। यदि इसमें कैन्सर के कोषाणु मिलें तो शस्त्रकर्म करके सम्पूर्ण अंग को बाहर निकाल देना चाहिये।

उन्नीसवां अध्याय

बद्धान्त्र

यह उस अवस्था का नाम है कि जिस समय आंतों में से किसी स्थान पर इस प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जब कि मल उस स्थान से आगे की ओर नहीं जा सकता है। इससे मल वहीं एकत्रित होकर सड़ने लगता है और अवरोध से पूर्व का स्थान फूल जाता है, आध्मान हो जाता है। जो कारण अवरोध उत्पन्न करते हैं, वह उस स्थान के रक्तसंचालन में भी विकार उत्पन्न कर देते हैं, जिससे कि आन्तों की अवस्था अवरुद्ध हर्निया के समान हो जाती है। *

* यस्यांत्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा वालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग् वा।
संचीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यश्चोदरे विट्समगन्धिकश्च॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः—सुश्रुत

इस रोग के कई कारण हैं। यथा—

(१) स्थानिक संक्रामक नवीन शोथ-जैसा कि परिशिष्ट शोथ अथवा संक्रामक पर्यावरणशोथ में होता है।

(२) नाड़ी सम्बन्धी रोग-जिन से कि सुषुम्ना तथा आंत्र में जाने वाली नाड़ियां विकृत हो जाती हैं।

(३) आंत्रकला को जाने वाली धमनियों में अवरोध होने से—जिससे रक्त का संवाहन भली प्रकार से नहीं होता।

(४) यान्त्रिक कारण—इसमें आंतें अपने ही अक्ष पर घूम कर दुहरी बन जाती हैं, अथवा अन्य किसी प्रकार से इस रूप में दब जाती है कि वहां पर न केवल मार्ग ही बन्द होता है, अपितु रक्तसंचालन भी रुक जाता है।

आंतों में परिवर्त्तन—

बद्धान्त्र हो जाने पर मल की गति रुक जाती है। मल की गति रुक जाने से आंतों में वायु का प्रकोप होकर आध्मान हो जाता है। साथ ही कोष्ठबद्धता के कारण नाड़ियों पर दबाव पड़ता है, इधर रक्तसंचालन की बाधा लक्षणों को और भी अधिक तीव्र कर देती है। अवरोध से निचले भाग में आंतों की गति तीव्र हो जाती है। यह तीव्रता आक्षेप भी उत्पन्न कर देती है। इस तीव्र गति के कारण संचित मल एक दम से बाहर आ जाता है। उदर भित्तियों के द्वारा परीक्षा करने पर यह भाग कड़ा दिखाई देता है।

मल के रुक जाने पर उसका सड़ना प्रारम्भ होता है। मल द्रव होने लगता है और इसमें अतिशय दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। इसलिये जीवाणुओं का संक्रमण-(Bacillus Colii Infection) हो जाती है। आंतों की भित्ति रक्तहीन और पतली हो जाती है। पीछे से शोथ भी उत्पन्न हो जाता है। इस शोथ को कम करने के लिये आंतों से बड़ी मात्रा

में कफ का निःसरण होता है। इस निःसरण से मल की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है। यदि अवरोध अपूर्ण रहता है, तो तरल भाग आगे थोड़ा थोड़ा आता रहता है।

सड़े हुए मल से विष निरन्तर रोगी के शरीर में व्याप्त होता रहता है, जिससे कि सम्पूर्ण शरीर में विष व्याप्त होकर रोगी की मृत्यु का कारण बन जाता है। इसलिये इस अवस्था में तुरन्त शस्त्रकर्म करके संचित मल को बाहर कर देना चाहिये।

आंत्रों में अवरोधज शोथ उत्पन्न होने से एवं शोथ के कारण श्लैष्मिक कला के आंतों से पृथक् हो जाने पर आंत्र-भित्तियों में व्रण हो जाते हैं। इन व्रणों के कारण जीवाणुवों का संक्रमण उदर की पर्यावरण कला में पहुंच कर वहां भी संक्रमण उत्पन्न कर देता है, जिससे शोथ एवं व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। व्रण इतने गहरे होते हैं कि भित्तियों में छेद बन जाते हैं। यह रोग दो प्रकार का है। १–नवीन और २ पुरातन।

तरुण (नवीन) बद्धान्त्र के लक्षण

ये लक्षण निम्न तीन कारणों से उत्पन्न होते हैं। यथा—

१ कोष्ठबद्धता के कारण उत्पन्न लक्षण—

इन में प्रायः मलबन्ध की शिकायत आध्मान, वमन और उदरशूल होती है।

२ स्तब्धता के कारण उत्पन्न लक्षण—

इस में शक्ति का ह्रास, चर्म का रक्तहीन दिखाई देना; ये लक्षण होते हैं।

३ विषसंचार से उत्पन्न लक्षण—

अंगों में मल के द्रवीभूत होकर सड़ने से रोगी के अन्दर विष फैल जाता है; इसको Ptomain Pôisoning कहते हैं।

प्रत्येक रोगी में कोई न कोई लक्षण रोग की न्यूनता या तीव्रता के अनुसार पाये जाते हैं। प्रायः करके रोग का आक्रमण अकस्मात् आरम्भ होता है। रोगी के उदर में तीव्र शूल उत्पन्न होती है। पीड़ा की प्रबलता के कारण रोगी को किसी भी प्रकार का आराम नहीं मिलता। रोगी टांगों को सीधा फैलाकर नहीं लेट सकता। प्रथम पीड़ा कुछ अन्तर से होती है और फिर निरन्तर बनी रहती है। दर्द का स्थान नाभि होती है। अवरोध से नीचे के आंत्रभाग में गति के बढ़ जाने से पीड़ा और भी बढ़ जाती है। जिस समय परिश्रम के कारण उदराभित्ति थक जाती है उस समय पीड़ा कुछ कम हो जाती है। इसी प्रकार शरीर में विष का संचार होने से पीड़ा बिल्कुल शान्त सी हो जाती है, स्पर्श से भी वेदना अनुभव नहीं होती।

पीड़ा के साथ दूसरा मुख्य लक्षण 'वमन' का होता है। रोग प्रारम्भ होने के एक या दो घण्टे में वमन आरम्भ हो जाता है। प्रथम प्रथम वमन में आमाशय में उपस्थित पदार्थ बाहर आता है, फिर पित्त निकलता है और अन्त में द्रवीभूत मल-जो कि अतिशय दुर्गन्धयुक्त होता है-बाहर निकलता है। प्रारम्भ में वमन से पूर्व जी मचलाता है-परन्तु पीछे से यह लक्षण नष्ट हो जाता है और मुख सहसा भर आता है और रोगी को वमन होने लगता है।

तीसरा मुख्य लक्षण 'स्तब्धता' (Tenderness) है। शरीर का तापक्रम घट जाता है, नाड़ी दुर्बल और तीव्र हो जाती है। त्वचा पर ठण्डा पसीना आता है, जिससे त्वचा ठण्डी प्रतीत होती है। ज्यों ज्यों वमन और पसीने से शरीर के अन्दर का तरल भाग कम होता जाता है, त्यों त्यों दशा गम्भीर होती जाती है। इसका कारण विष की मात्रा का प्रबल होना है। अन्त को मुख का रंग फीका पड़ जाता है।

नाड़ी अति तीव्र और क्षीण हो जाती है। श्वास मन्द और उथला हो जाता है, अन्त में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

रोग के प्रारम्भ होने पर रोगी को एक या दो वार मल-त्याग होता है, परन्तु फिर पूर्णरूप में अवरोध हो जाता है, यहां तक कि वायु भी बाहर नहीं आती। उदर फूल जाता है। उदर की पेशियां तनी रहती हैं।

पुरातन वद्धान्त्र

• इस अवस्था में यह रोग सहसा न होकर धीरे धीरे उत्पन्न होता है। कोष्ठवद्धता निरन्तर बढ़ती जाती है। समय समय पर रोगी को प्रवाहिका के समान बहुत मलत्याग होता है। यह रोग प्रायः करके बृहदांत्र में उत्पन्न होता है। इस रोग का कारण आंत्र के अन्दर या बाहर उदरभित्ति में कोई अर्बुद या कैंसर का होना है। इन के कारण आंत्र-भित्ति संकुचित बन जाती है। इसीप्रकार से आंत्रकला की लसीकाग्रन्थियों के रोग भी इस रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

इस अवस्था में स्तब्धता के लक्षण उपस्थित नहीं होते चूंकि रक्तसंचालन और नाड़ीमण्डल पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। अवरोध से ऊपर का भाग फूल जाता है। आंत्रकला में कुछ समय पीछे व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। जबतक रक्त संचार ठीक रहता है, तब तक उदर में वायु का प्रकोप नहीं होता और नाही आध्मान होता है।

लक्षण—इस रोग की उत्पत्ति मलबद्धता से होती है। रोगी को मलत्याग में अभूमन विरेचक ओषधियों की अपेक्षा रहती है। इनके सामयिक प्रयोगों से पीछे कोई भी प्रभाव नहीं रहता, केवल मरोड़ा ही उठ कर रह जाता है। किसी भी प्रकार का मलत्याग नहीं होती। यहां तक कि

पीछे से तीव्र विरेचन एवं वास्तिप्रयोग भी निष्फल रहते हैं।

प्रारम्भ में केवल उदर के अन्दर भारीपन का अनुभव होता है। पीछे से शूल भी होने लगती है। उदर के अन्दर कुछ आध्मान भी दीखता है। कभी कभी रोगी को वमन भी होता है। कुछ समय पीछे अवरोध से ऊपर का आंत्र फूला हुवा दिखाई देता है। गड़गड़ाहट का शब्द होता रहता है। यह अवरोध शनैः शनैः बढ़कर पूर्ण अवरोध के रूप में बदल जाता है और तब तीव्र अवरोध के लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। रोगी बराबर निर्बल होता जाता है। कभी कभी आंत्र में छेद भी हो जाते हैं-जिनसे मल निकल कर उदर में फैल जाता है। आंत्र में एकत्रित मल का विष शरीर में फैल कर शरीर में टोमेन (Ptomain) विष को उत्पन्न कर देता है और अन्त में रोगी की मृत्यु का कारण होता है।

रोग की परीक्षा—

यह स्थिति अति भयानक है। चूँकि जब तक रोग का निर्णय पूर्णरूप से होकर शस्त्रकर्म की आयोजना निश्चित की जाये, तब तक रोग बहुत दूर तक बढ़ जाता है। रोगी का पूर्व इतिहास पूर्ण ध्यान से सुनना चाहिये। रोगी का इतिहास इस रोग के निर्णय में बहुत कुछ मदद देता है।

निरीक्षण—

रोगी को सीधा चित लेटा कर उदर की परीक्षा स्वयं करनी चाहिये। इसमें शूलका स्थान,' आध्मान, उदर की

---

१ छिद्रोदर—शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः।
भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैः जृम्भयात्यशनेन वा॥
हृयात्पाकं रसस्तेभ्यः छिद्रेभ्यः प्रस्रवद् बहिः।
पूरयन्गुदमंत्रं च जनयत्युदरं ततः॥ चरक

पर होने वाली आंत्रगतियों को देखना चाहिये। पीड़ा का स्वभाव कैसा है ? निरन्तर है या रुक रुक कर होती है। वमन का निरीक्षण भी आवश्यक है। क्षुद्रांत्र के प्रथम भाग में अवरोध होने पर वमन मलामिश्रित नहीं होता, उस में दुर्गन्ध हो सकती है। परन्तु क्षुद्रांत्र के अन्तिम भाग में या बृहदांत्र के प्रारम्भ में अवरोध होने पर वमन मलामिश्रित रहता है।

स्पर्शन

रोगी के उदर को स्पर्श करने से पूर्व हाथों को रगड़ कर या आग पर सेक कर गरम कर लेना चाहिये। स्पर्श के द्वारा आध्मान, आंत्रों के फैलाव, आंत्रों की गति, एवं अर्बुद आदि का सामान्य परिज्ञान कर सकते हैं। स्पर्श से पीड़ा की वास्तविक स्थिति का भी ज्ञान मिल जाता है। साधारणतः यदि अवरोध क्षुद्रांत्र के उपरिभाग में होता है—तब वमन शीघ्र आरम्भ हो जाता है। वमन निरन्तर और अधिक होता है। इसमें पित्त का मिश्रण रहता है, मल नहीं होता। मल और वायु का आगमन होता है। मूत्र कम हो जाता है। उदर का ऊपर का भाग फूल जाता है। स्तब्धता गहरी और कम हो जाती है।

क्षुद्रांत्र के अन्तिम भाग या बृहदांत्र के प्रथम भाग में अवरोध होने से वमन अधिक दुर्गन्धयुक्त होता है। किन्तु इसमें मल नहीं होता। उदर के मध्यभाग में आध्मान रहता है। मल और वायु का निःसरण नहीं होता।

बृहदांत्र अथवा गुदा में अवरोध होने पर स्तब्धता गाढ़ी नहीं होती। वमन देर से आरम्भ होता है और थोड़े ही समय में मलामिश्रित हो जाता है। आध्मान अत्यन्त अधिक रहता है।

चिकित्सा—

इस रोग की एक मात्र चिकित्सा शस्त्रकर्म है। परन्तु लक्षणों को शान्त करने के लिये एवं इस कार्य से बचने के लिये औषधोपचार का भी व्यवहार होता है। इसके लिये शूलयुक्त स्थान पर उष्ण परिषेक, उपनाह, तारपीन के तल का सेक करना चाहिये। रोगी को तीव्र विरेचक [यथा-इच्छाभेदी या जमाल गोटे का तेल] देना उचित है। दर्द को शान्त करने के लिये उचित रूप में अहिफेन का भी प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु इसके लिये यदि 'मौर्फिया' का प्रयोग किया जाये तो उत्तम है।

परन्तु जब इससे भी आराम न हो तो शस्त्रकर्म की आयोजना करनी चाहिये। यदि रोगी निर्बल हो गया हो तो स्थानिक संज्ञानाश से शस्त्रकर्म करना चाहिये। और रोगी बलवान हो तो क्लोरोफार्म से रोगी का संज्ञापहरण कर सकते हैं।

शस्त्रकर्म में भेदन उदर के ऊपर उदरसीवनी पर ऊपर से नीचे किया जाता है। त्वचा, प्रावरणी एवं पेशियों का भेदन करने के उपरान्त पर्यावरण कला तथा औदर्यकला का भेदन किया जाता है। अब आंत्र का फूला भाग दिखाई देता है; जो कि व्रण के खुला होने के कारण बाहर निकल आता है। अब आंत्रों को शुद्ध तौलिये या नमक के उष्ण विलयन में भीगे तौलिये से ढांपकर फूले हुए भाग को बाहर रखना चाहिये। इस फूले भाग का भेदन करके संचित मल को बाहर निकाल देना चाहिये। भयानक अवस्थाओं में अवरोध के कारण को ढूंढने का यत्न नहीं करना चाहिये-अपितु तनाव को कम करने के लिये आंतों को खाली कर देना चाहिये। फिर एक या दो दिन पीछे अवरोध के कारण की चिकित्सा करनी चाहिये।

आंत्र का भेदन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मल का विष व्रण में न आ जाये। इसके लिये जहां से भेदन करना हो उसके दोनों ओर के भागों को तर्जनी और मध्यम अंगुलि के बीच में पकड़ कर बाहर की ओर सूंतना चाहिये। इसप्रकार करने से मल इधर-उधर हट जाता है। अब इन भागों पर आंत्रसंदंश [Intestinal clamps] लगा देने चाहियें। अब वेतसपत्र से लम्बा भेदन करके एक नलिका (Poul's Tube) लगा देते हैं। इस नलिका को कैटगट की सहायता से आंत्रों में सी दिया जाता है। इस नलिका का सम्बन्ध रबड़ की नलिका के द्वारा एक पात्र से होता है। जब सब प्रबन्ध पूर्ण हो जाता है तब आंत्रसंदंशों को हटा लेते हैं। इनके हटाने से मल वेग से नलिका द्वारा पात्र में आता है। इस प्रकार से आंत्रों को खाली कर लेना चाहिये। व्रण को गरम विलयन में भीगे तौलियों से ढांप कर रखना चाहिये। पीछे से नलिका को रखते हुए उदर को सी देना चाहिये। और जब रोगी की दशा सुधर जाय तब नलिका को निकाल कर आंत्रों को सी कर उदर को बन्द कर देना चाहिये। * शस्त्र कर्म से पूर्व आमाशय का प्रक्षालन करना

---

* बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नाभ्यक्तस्याधोनाभेर्वामतः चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणानि अंत्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यांत्रप्रतिरोधकरमश्मानं बालं वापोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यांत्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्। परिस्राविणि अप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यांत्रस्रावान्संशोध्य तच्छिद्रमंत्रं समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्। दृष्टे च तासां कायानपहरेत् न शिरांसि, ततः पूर्ववत् सीव्येत्।

सु० चि० अ० १४

आवश्यक है। शस्त्रकर्म के पीछे रोगी को फाउलर स्थिति (Fowler's position) में रखना चाहिये। इसमें रोगी की स्थिति ऐसी रहती है कि शिर एवं धड़ पीछे को मुड़े रहते हैं और जानु एवं ऊरू ऊपर की ओर मुड़े रहते हैं—रोगी स्वयं बैठने की स्थिति में रहता है।

आंत्रपरिशिष्टशोथ (Appendicitis)

बृहदांत्र के प्रारम्भ में एक पुच्छला सा होता है। इसी को आंत्रपरिशिष्ट कहते हैं। इसकी लम्बाई साधारणतः ३½ इंच होती है, कभी कभी ६ इंच भी देखी गई है। साधारणतः इसका मुख बन्द रहता है और शरीर में इसका क्या कार्य है यह भी अभी निश्चित नहीं हुआ है। जिस समय इस नलिका का मुख खुला होता है और बृहदांत्र का कोई पदार्थ इसमें आ जाता है, अथवा भोजन का कोई अंश-बीज आदि इस भाग में आ जाता है, और वह वापिस बाहर नहीं निकलता तो इस भाग में शोथ एवं कोथ उत्पन्न कर देता है। जो कि बहुत ही दुःखदायी होता है।

इस रोग की प्रचुरता एवं भयानकता को देखकर तथा शरीर में आंत्रपरिशिष्ट की उपयोगिता को न मानते हुए बचपन में ही काटकर बाहर निकलवा देने की प्रथा अमेरिका आदि देशों में चालू है।

साधारणतया इस भाग में कुछ श्लेष्मा और उसमें मिले हुए कुछ जीवाणु मिलते हैं। साधारणतः ये जीवाणु कोई हानि नहीं करते-परन्तु जब श्लैष्मिक कला विक्षत हो जाती है, तब ये जीवाणु संक्रमण फैलाकर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। शोथ के उत्पन्न होने से यह भाग कड़ा-रस्सी की भान्ति दिखाई देता है। इस नलिका का छेद शोथ के कारण छोटा हो जाता है। इससे अन्तः स्थित मल बाहर नहीं आता

और कभी कभी नलिका का मुख पूर्ण बन्द हो जाता है। शोथ के बढ़ने से श्लैष्मिक कला में व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। इस से पूयोत्पत्ति होजाती एवं विद्रधि बन जाती है। कभी कभी यह परिवर्त्तन कुछ ही घण्टों में हो जाता है-और यहां तक कि पर्य्यावरणकला भी शोथयुक्त हो जाती है।

यह रोग १० से ३० वर्ष की आयु में प्रायः होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। एवं शाकाहारियों की अपेक्षा मांसभोजियों में अधिक होता है।

लक्षण—

जब इस रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे होता है, तो उदर में नाभि के पास शूल आरम्भ होती है। यह शूल धीरे धीरे दक्षिण जघनं खात की ओर सीमित होती जाती है। आरम्भ में ही दर्द रह रह कर कुछ अन्तर से होती है। यदि रोगोत्पत्ति का कारण जीवाणु होते हैं तो पीड़ा धीमी किन्तु निरन्तर बनी रहती है। रोगी को वमन होता है, ज्वर भी १०० से १०२ तक रहता है। नाड़ी की गति बढ़ जाती है। आंत्रगति के रुक जाने से मलबन्ध की शिकायत हो जाती है। उदर की भित्तियां कड़ी मालूम होती है। उदर को स्पर्श करने से रोगी को पीड़ा मालूम होती है। इस दर्द का स्थान प्रायः निश्चित होता है। इस स्थान को मैकवर्नी का विन्दु (Mc.Burneys Point) कहते हैं। यदि दक्षिण पुरोर्ध्वकूट से नाभितक एक रेखा खींची जाये तो इस रेखा का मध्यविन्दु यह स्थान होता है। इस प्रान्त की पेशी बहुत कड़ी रहती है।

इस रोग के मुख्य लक्षण निम्न है-

१ रोगी को वमन होना और जी मचलना

२ ज्वर का बना रहना

३ दर्द और दबाने से पीड़ा का बढ़ना खास कर मैकबर्नी के बिन्दु पर।

जिस समय शोथ विद्रधि का रूप धारण कर लेता है उस समय ज्वर का वेग बढ़ जाता है। वमन भी होने लगता है। मलबन्ध रहता है। बच्चों में अतिसार भी देखा जाता है। उदर की पेशियां कड़ी रहती है। ये पेशियां श्वास-क्रिया में किसी प्रकार का भाग नहीं लेती। पीड़ा का क्षेत्र बढ़ जाता है। यदि विद्रधि फूटने से सम्पूर्ण उदर कला में फैल जाती है तो तीव्र विष संक्रमण हो जाता है। ताप क्रम घट जाता है। गाढ़ी स्तब्धता आ जाती है। नाड़ी क्षीण और तेज हो जाती है। उदर फूला दिखाई देता है। यदि पूय की उपस्थिति में कुछ सन्देह हो तो रक्ताणुवों की गणना करनी चाहिये। साधारणतः यह २० हजार से अधिक मिलते हैं।

यदि रोग के प्रारम्भ के साथ ही पर्यावरणकला में शोथ हो जाये तो रोगी घुटनों को पेट पर मोड़े पीठ के भार लेटा रहता है। वह टांगों को सीधा नहीं कर सकता वमन आता है। स्पर्श से भी रोगी वेदना का अनुभव करता है। श्वास तीव्र और अधूरा रहता है, तापक्रम अति न्यून रहता है, रोगी को हिचकी प्रारम्भ हो जाती है। मलबद्धता रहती है। रोगी की शक्ति निरन्तर घटती जाती है और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

जिस समय आंत्रपरिशिष्ट के छिद्र का मुख सहसा बन्द हो जाता है उस समय रोग की भयंकरता बढ़ जाती है। क्योंकि अन्दर का विषयुक्त मल वहीं रुक जाता है। इस मल के साथ जीवाणु उपस्थित रहते हैं नाड़ी प्रथम प्रबल रहती है, ताप परिमाण भी सामान्य या कुछ अधिक रहता है। रोग के प्रारम्भ होने के कुछ समय पीछे पीड़ा

कम हो जाती है। यह लक्षण आंत्रपरिशिष्ट में कोथ अथवा उसके विदीर्ण होने का है। इसके फटने से मल उदरगुहा में पहुंच कर पर्यावरणकला में शोथ उत्पन्न कर देता है। रोगी की मृत्यु ३६ घन्टे में हो जाती है।

इस रोग के दो जीर्ण रूप होते हैं। प्रथम रूप में रोग का आक्रमण एकबार हो कर रोग के लक्षण मन्द हो जाते हैं। किन्तु व्यक्ति पूर्णतया रोगमुक्त नहीं होता। कुछ समय के पीछे रोग के लक्षण फिर उभर आते हैं। इन आक्रमणों के अन्तर काल में रोगी को ज्वर बना रहता है। उचित चिकित्सा न होने पर पर्यावरणकला की शोथ उत्पन्न हो कर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

दूसरे स्वरूप में समय समय पर रोग के आक्रमण होते रहते हैं। आक्रमणों के अन्तर काल में रोग के समस्त लक्षण जाते रहते हैं। कई मास या एक या दो वर्ष के पीछे रोग के आक्रमण हो सकते हैं। रोगी की दशा अत्यन्त क्षीण हो जाती है। प्रायः आंत्रपरिशिष्ट के भीतर किसीप्रकार की अश्मरी बन जाती है। इस से मार्ग रुक जाता है।

चिकित्सा—

जब तक रोग की तीव्रता न बढ़े रोगी को बिस्तर पर आराम देना चाहिये। पीड़ा के स्थान पर तारपीन का स्वेद या उष्ण उपनाह बांधना चाहिये। वस्तिकर्म द्वारा बृहदांत्र को साफ कर देना चाहिये। वमन के लिये रोगी को बर्फ चूसने को देनी चाहिये। मुख से भोजन न देकर गुदामार्ग से पोषणपदार्थ देना चाहिये। २४ घण्टे तक चिकित्सा करने पर भी यदि रोगी को आराम न मिले तो शस्त्रकर्म की आयोजना करनी चाहिये। और यदि स्थानिक लक्षण

वेदना आदि बने रहें तो भी शस्त्रकर्म करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि पुनः आक्रमण का भय रहता है।

तीव्र अवस्थाओं में बिना समय नष्ट किये तुरन्त शल्य-कर्म करना चाहिये। रोग के प्रारम्भ में तीव्र पीड़ा बारम्बार वमन, नाड़ी स्तब्धता, उदरभित्तियों में कड़ापन उपस्थित हो तब ऊष्मस्वेद आदि में समय नष्ट नहीं करना चाहिये। विद्रधि के सम्पूर्ण लक्षण उपस्थित होने पर आंत्रपरिशिष्ट को बाहर निकाल देना चाहिये।

शस्त्रकर्म की विधि—

वंक्षणबन्धन से तनिक ऊपर किन्तु उसके समानान्तर दो या तीन इंच लम्बा छेदन करना चाहिये। यह छेदन इसप्रकार करना चाहिये कि मैकवर्नी का बिन्दु इस भेदन के बीच में आ जाये। चर्म और प्रावरणी के पीछे उदरच्छदा चरमा को और पीछे से मध्यमा और अन्तिमा पेशियों को व्यत्यस्त दिशा में काट कर कटे हुए भागों को दृढ़ निवर्त्तकों द्वारा दोनों ओर खींच लेना चाहिये। इस छेद में बृहदांत्र का प्रथम भाग स्पष्ट दिखाई देता है। आंत्रपरिशिष्ट उसके नीचे ही लगा होता है। आंत्रपरिशिष्ट पर गोल छेदन करना चाहिये। इस छेदन से केवल पेशी के स्तर कटने चाहियें, श्लैष्मिक कला ज्यों की त्यों रखनी चाहिये। पेशी के स्तर को कमीज़ की भान्ति पीछे की ओर उल्टा कर श्लैष्मिक कला की नालिका पर आंत्रपरिशिष्ट के जितना भी सम्भव हो कैट-गट का बन्धन बांध कर बाहर का भाग काट देना चाहिये। श्लैष्मिक कला का जितना भी भाग बन्धन से आगे निकला रहे वह सारा काट देना चाहिये। पीछे से आंत्रपरिशिष्ट के पेशीस्तरों में सूई की सहायता से कैटगट को बटुए की भांति डाल देना चाहिये। फिर सूई को निकालकर बन्धनयुक्त

श्लैष्मिक कला को बृहदांत्र के अन्दर ढकेल कर कैटगट के दोनों सिरों को खींच कर गांठ लगा देनी चाहिए। इस प्रकार से आंत्रपरिशिष्ट का शेष भाग आंत्र में समा जाता है और ऊपर से पर्यावरण कला आजाती है। पीछे से पेशी आदि को सीकर व्रण को बन्द कर देना चाहिए। आवश्यक हो तो निर्हरणनालिका का उपयोग करना चाहिए। पीछे से रोगी को विस्तर पर तीन सप्ताह तक आराम देना चाहिए।

जब विद्रधियुक्त परिशिष्ट को निकालना हो तो उदर की भित्तियों में पर्य्याप्त बड़ा छेदन करना चाहिए। परिशिष्ट के भाग को बाहर निकालने से पूर्व चारों ओर के भागों को शुद्ध गौज़ के टुकड़ों से ढक देना चाहिए। पीछे से परिशिष्ट को निकाल कर छेदन करना चाहिए। गौज़ का एक पतला टुकड़ा व्रणद्वार तक रखना चाहिए, जिससे कि पूय निकलती रहे।

बीसवां अध्याय

अर्श

मलद्वार के भीतर या नासिका आदि स्थानों में जब श्लैष्मिक कला के नीचे शिरायें दूषित होकर छोटे छोटे अर्बुदों के रूप में गांठ की भान्ति प्रतीत होने लगती हैं, तब इनको 'अर्श' कहते हैं। इन गांठों को मस्से कहा जाता है। यह अर्श दो प्रकार के हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य अर्श गुदा के बाहर की ओर रहते हैं और अन्तःअर्श अन्दर की वलियों में पाये जाते हैं।[1]

कारण—मलद्वार के चारों ओर एवं उसके अन्तिम

---

१ सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलेऽवकाशे त्रिभागान्तरास्थितो गुदवलयः क्षेत्रम्॥

एक या दो इंचों में शिराओं की रचना इस प्रकार से है कि मलत्याग के समय इन शिराओं पर बहुत दबाव पड़ता है। इस दबाव के कारण इसमें रक्तसंचार तेज़ी से बढ़ जाता है परन्तु वह जल्दी से वापिस नहीं जाता—नाहीं इन शिराओं में किसी प्रकार की कपाटियां हैं और नाहीं इन शिराओं के लिए कोई सहारा होता है, जिससे कि बढ़ा हुआ रक्त इनमें रुकने लगता है या इनमें से निकल कर द्रवरूप में तन्तुओं के अन्दर आता जाता है।

साथ ही इन शिराओं का सम्बन्ध यकृत के साथ बहुत है। यकृत के दूषित होने से या उसके रक्तसंचार में बाधा आने से इस स्थान की शिराओं में रुकावट उत्पन्न हो जाती है। यह तथा मद्य का प्रयोग, लगातार रुईदार गद्दियों पर या कुर्सियों पर बहुत समय तक बैठना, कोष्ठ बद्धता आदि कारण इस रोग की उत्पत्ति में कारण होते हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता के कारण भी यह रोग सन्तान में आता है। स्त्रियों में गर्भाशय के अर्बुद आदि के कारण भी यह रोग हो जाता है।

पुरुषों में यह रोग तरुणावस्था में होता है। वृद्धावस्था में भी यह रोग उत्पन्न होता देखा गया है।

बाह्य अर्श

मलद्वार के चारों ओर लम्बी एवं गहरी लाल रंग की सिकुड़नें दिखाई देती हैं। प्रकुपित अवस्था में इनके अन्दर शिरा का अन्तिम भाग रक्त से भर कर गांठ या अंकुर के रूप में दिखाई देता है। इन अंकुरों के बीच में सिरा होती है। और इसके चारों ओर सौत्रिक तन्तु रहते हैं।

जब तक शिराओं में प्रकोप नहीं होता—रोगी को खुजली और भारीपन की प्रतीत होती है। इनके प्रकुपित

होने पर अर्श छोटे छोटे अंकुरों के रूप में दीखने लगते हैं। इनका रंग कुछ नीला हो जाता है। इनमें पीड़ा होती है और कहीं भिच जाने से तीव्र वेदना होती है। शिरा के भीतर रक्त जम जाता है, जिससे वह फूल जाती है। धीरे धीरे यह सौत्रिक तन्तु बढ़कर शिरा को दबा लेते हैं, जिससे अब रक्तस्राव तो नहीं होता परन्तु अंकुर या मस्से का कोमलपन नष्ट होकर उनमें कर्कशता और कठोरता आ जाती है।

चिकित्सा[1]—रोगी को हल्का भोजन देना आरम्भ करके बस्तिकर्म एवं विरेचन द्वारा आंत्रों को स्वच्छ करना चाहिए। अर्श के ऊपर स्निग्ध परिषेक करके इनमें कोमलता लानी चाहिए। यदि रक्तस्राव बहुत हो तो हैमेमिलिस का प्रलेप या अफीम, माजूफल को घी में मिलाकर लगाना चाहिए। यदि अर्श अति प्रकुपित हो तो रोगी को बिस्तर पर आराम देना चाहिए। यदि इससे भी आराम न हो तो रोगी के अर्श का छेदन करना चाहिए। इसके लिए सरल उपाय संदंश से मस्से को पकड़ कर रेशम या क्षारसूत्र से मस्से को कसकर बांध देना है। अथवा जलौका द्वारा जमा

---

१ चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः। तद्यथा—भेषजंक्षारोऽग्निःशस्त्रमिति

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाग्निना॥
अस्त्येतद्भूरितंत्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः।
आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिप्रवर्त्तनम्॥
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्॥

लेप–स्नुहीक्षीरयुक्तं हरिद्राचूर्णमालेपः।

हुआ रक्त बाहर निकाल देना चाहिए।

आभ्यन्तरिक अर्श

ये अर्श मलद्वार के अन्दर होते हैं और श्लैष्मिक कला से ढंपे रहते हैं। इनमें भी बीच में एक शिरा और शिरा के चारों ओर संयोजक या सौत्रिक तन्तु होते हैं। ज्यों ज्यों अर्श पुराने होते जाते हैं त्यों त्यों इन तन्तुवों की अधिकता बढ़ती है। जिससे कि इनमें कठोरता या कर्कशता आजाती है।

साधारणतः अर्श दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो लम्बे आकार के और चिकने होते हैं। इनसे रक्तस्राव बहुत कम होता है। इनका रंग कुछ नीला या काला रहता है। इनमें किसी प्रकार की सिकुड़न नहीं होती। प्रत्येक अर्श अंगूर के दाने के समान चमकता है। दूसरे प्रकार के अर्श आकार में गोल एवं कर्कश होते हैं। इन से रक्तस्राव बहुत होता है-यद्यपि यह श्लैष्मिक कला ही से ढंपे रहते हैं परन्तु रगड़ खाने से यह कला कठोर एवं कर्कश बन जाती है। कभी कभी शिराओं के बीच में एक पतली धमनी की शाखा भी पाई जाती है।

लक्षण—

जबतक शिरा में प्रकोप नहीं होता, तब तक रोगी में कोई विशेष लक्षण नहीं होते; केवल गुदा में खुजली और भारीपन प्रतीत होता है। जब सारा अर्श फूल कर बाहर आ जाता है तब रोगी को उठने बैठने में यहां तक चलने में भी कठिनाई अनुभव होती है। रोगी को मलवद्धता की शिकायत रहती है। मलत्याग के समय बलप्रयोग करने से या मल के शुष्क होने से रक्त आता है। पहिले तो मलत्याग से पूर्व रक्त आने लगता है परन्तु पीछे से रक्त अधिक मात्रा में बहने लगता है। कभी कभी तो रोगी की धोती प्रति-दिन खराब हो जाती है। रक्तस्राव के कारण रोगी पाण्डुवर्ण हो जाता है,

उसकी भूख कम हो जाती है और निर्बलता आजाती है।

चिकित्सा—

शस्त्रकर्म द्वारा अर्श को काटकर निकाल देना ही उत्तम चिकित्सा है। रोगी के कोष्ठ को विरेचक वस्तुवों द्वारा स्वच्छ रखना चाहिये। साधारण लघुभोजन देना चाहिये, अर्श के स्थान को स्वच्छ रखना चाहिये, मद्य का निषेध करना चाहिये। मलबन्ध में एरण्डी का तेल या त्रिवृता-घृतलेह देना चाहिये।

शस्त्रकर्म—

कई प्रकार से किया जाता है। सब से सरल विधि यह है कि रोगी को मेज पर लिटा कर एक अर्श को चिमटी से पकड़ना चाहिये। फिर इस अर्श की श्लैष्मिक कला को काटकर अर्शमूल को कैटगट के साथ बांध देना चाहिये। शेष भाग को पीछे से कैंची द्वारा काट दिया जाता है। यदि उचित प्रतीत हो तो कटी हुई श्लैष्मिक कला को वहां पर सी देना चाहिये। इससे व्रण शीघ्र भर जाता है।

इसके अतिरिक्त कुछ औषधियों को इंजैकशन द्वारा मस्सों की जड़ों में देते हैं—जिस से कि मस्से स्वयं मुरझा जाते हैं। ये औषधियां क्युनीन और यूरिया का मिश्रण, कार्बोलिक एसिड आदि हैं। इन से अर्श सूख कर गिर जाते हैं। इसीप्रकार संदंश से पकड़ कर मस्सों को कॉटरी द्वारा जलाया जाता है। जलाने के लिये क्षारप्रयोग भी किया जाता है। क्षारप्रयोग या दाहकर्म

---

१ तत्र बलवन्तमातुरमर्शोभिरुपद्रुतमुपस्निग्धं परिस्विन्नमनिलवेदनाभिवृद्धिप्रशमार्थं स्निग्धमुष्णमल्पमन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तमुपवेश्य संभृते शुचौ देशे साधारणे व्यभ्रे काले समे फलके शय्यायां वा प्रत्यादित्यगुदमन्यस्योत्संगे निषण्णपूर्वकायमुत्तानं किञ्चिदुन्नतकटिकं परिकर्मिभिः

करने के उपरान्त रूई रखकर T के आकार की पट्टी बांध देनी चाहिये। रोगी को मलत्याग दो या तीन दिन बाद करना चाहिये। तब एरण्डतैल से मलत्याग करवाना चाहिये।

इक्कीसवां अध्याय

हर्निया के विकृत रूप

सामान्यतः यह रोग रोगी को कोई विशेष तकलीफ नहीं देता इसी से रोगी उसकी उपेक्षा करता रहता है, चूंकि दबाने से आंत्र का वह भाग जो नीचे उतरता है वह वापिस चला जाता है। परन्तु कई बार जब पुरातन या दीर्घकालीन हो जाता है-तब यह वापिस नहीं जाता-इसी से रोगी को कष्ट अनुभव होता है। बस इसी शिकायत को लेकर वह चिकित्सक के पास आता है। ये शिकायतें निम्नप्रकार की हो सकती हैं।

(१) अवरुद्ध हर्निया—Strangulated Hernia
(२) शोथयुक्त हर्निया-Inflamed Hernia
(३) अकर्षणीय हर्निया-Irreducible Hernia
(४) बन्धित हर्निया—Obstructed Hernia

अवरुद्ध हर्निया—

हर्निया के कोष की ग्रीवा पतली होती है। यदि किसी कारण से यह भाग दब जाता है तो रक्त का संचार रुक जाता

सुपरिगृहीतमस्पन्दनशरीरं कृत्वा ततोऽस्मिन् घृताभ्यक्तं यंत्रमृजुवणुमुखं पायौ शनैः शनैः प्रवाहमाणस्य प्रणिधाय प्रविष्टे चार्शो वीक्ष्य शलाकयोत्पीड्य पिचुवस्त्रयोरन्यतरेण प्रमृज्य क्षारं पातयेत्। पातयित्वा च पाणिना यंत्रद्वारं पिधाय वाक्छतमात्रमुपेक्षेत। क्षारं प्रक्षालयेत्-धान्याम्लेन। ततो यष्टीमधुकामिश्रेण सर्पिषा निर्वाप्य यंत्रमपनीयोत्थाप्यातुरमुष्णोदकोपविष्टं शीताभिरद्भिः परिषिञ्चेत्। सु० चि० ६ अ०

है। कोष के अन्दर जो शिरायें और धमनियां है उनमें तथा आंत्र एवं आंत्रकला में न तो रक्त आता है और न रक्त उनसे वापिस जाता है। इस अवस्था को अवरुद्ध हर्निया कहते हैं।

यह अवस्था प्रायः तब होती है जबकि पुरातन और दीर्घकालीन हो तथा भारी बोझ उठाने से या अन्य किसी इसी प्रकार के बलपूर्वक कार्य करने से जिससे कि एक साथ आंत्रों का बहुत सा भाग अन्दर चला जाये यह दशा उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में यदि छेदन करके देखा जाये तो ग्रीवा संकुचित तथा इसके चारों ओर के तन्तु कठोर दिखाई देते हैं।

लक्षण और चिह्न—

जब रोगी खांसता है या मलत्याग के समय अथवा अन्य प्रकार से बलप्रयोग में रोगी को यह अनुभव होता है कि उसके शरीर से कोई वस्तु जहां हर्निया है वहां चली गई है। रोगी को उस स्थान पर पीड़ा और कठोरता का अनुभव होने लगता है। मूर्छा आती है। नाड़ी दुर्बल हो जाती है। त्वचा पर शीतल पसीना आता है। शरीर का तापपरिमाण घट जाता है। हर्निया की पीड़ा धीरे धीरे सारे उदर पर फैल जाती है। स्पर्श करने से रोगी पीड़ा अनुभव करता करता है। अफारा होता है। रोगी को वमन आती है। वमन में प्रथम आमाशय का पदार्थ और फिर मल से मिला दुर्गन्धित पित्त बाहर आता है। रोगी का बल कम होता है। रोगी के शरीर में Ptomain विष के लक्षण दीखने लगते हैं।

स्थानिक लक्षण—

हर्निया में उत्सेध बढ़ता जाता है, इसका अनुभव रोगी

को स्वयं होता है। इसमें तनाव और पीड़ा होने लगती है-और अन्त में यह असह्य बन जाती है। आंतें उदर में वापिस नहीं जातीं-तथा खांसने पर कोई सनसनाहट भी इसमें पैदा नहीं होती। उत्सेध के ऊपर की त्वचा कुछ समय बाद लाल एवं शोथ युक्त बन जाती है। इसमें कोथ प्रारम्भ होने पर शोथ कम हो जाती है।

चिकित्सा—

इस अवस्था की चिकित्सा कर्षण या शस्त्रकर्म द्वारा दो ही प्रकार से हो सकती है।

कर्षण—

रोगी को शय्या पर लेटाकर घुटनों को मोड़ देना चाहिये, जिससे कि उदर की पेशियां ढीली हो जायें। फिर घुटनों को ज़रा बाहर की ओर मोड़कर चिकित्सक को रोगी के सन्मुख खड़ा होना चाहिए। दक्षिण हाथ से उत्सेध को और वाम हाथ से ग्रीवा को पकड़ कर उठाना चाहिए। दक्षिण हाथ से उत्सेध को दृढ़ता के साथ धीरे धीरे निरन्तर दबाते जाना चाहिए। इसप्रकार करने से आंतें उदर में वापिस लौटने लगती हैं। आंतों के वापिस लौटने के समय गड़गड़ाहट होती है। इस प्रयत्न का होना सफलता की सूचना है। यदि इसप्रकार से सफलता न मिले और रोगी हाथ आदि लगाने में पीड़ा का अधिक अनुभव करे, जिससे कि मांसपेशियां ढीली न हो सकें तो रोगी को क्लोरोफार्म देना चाहिए। इससे पेशीयां ढीली पड़ जायंगी। परन्तु यदि हर्निया की यह दशा उत्पन्न हुए चार-पांच घन्टे हो जायें और उत्सेध कड़ा अनुभव हो तो कर्षण करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। आंतों को वापिस करने में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस मार्ग से वे बाहर आई हैं

उसी मार्ग से वे वापिस लौट जायें। इसके लिए नाभि के हर्निया में उत्सेध को नीचे की ओर दबाना चाहिए। और्वीय हर्निया में उत्सेध को प्रथम नीचे भीतर की ओर तत्पश्चात् पीछे और ऊपर की ओर दबाना चाहिए। वंक्षण हर्निया में उत्सेध को कर्षण द्वारा ऊपर और बाहर को ला कर फिर पीछे की ओर को दबाना चाहिए।

हर्निया को कर्षणविधि से वापिस करने में रोगी की स्थिति का विचार पूर्णरूप से कर लेना चाहिये। जब हर्निया रोग पुराना हो, बड़े आकार में हो, लक्षणों का प्रारम्भ शनैः शनैः हुआ हो, लक्षण तीव्र न हों, सहसा प्रगट हुए हों, पहले भी कर्षण से लाभ हो चुका हो तो कर्षण की विधि प्रयोग करनी चाहिए। और यदि हर्निया छोटे आकार का हो, उसमें तनाव हो, लक्षण तीव्र हों, सहसा प्रगट हुए हों, तथा रोग प्रारम्भ से ही कठिन-भयानक हो गया हो, तो कर्षण का प्रारम्भ बड़ी सावधानी से करना चाहिये। यदि मल से मिला वमन हो रहा हो तो कर्षण का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

कभी कभी उत्सेध पर बर्फ के मलने से भी सफलता मिल जाती है। कई चिकित्सक प्रथम उत्सेध पर ऊष्मस्वेद देकर पीछे से बर्फ का टुकड़ा मलते हैं। इससे बहुत कुछ सफलता मिलती है।

शस्त्रकर्म

यह कर्मनिपुण व्यक्तियों को ही करना चाहिये। एक बार शस्त्रकर्म का निश्चय कर लेने में फिर इस कार्य में देरी नहीं करनी चाहिये। चूंकि कई बार एक दो घंटे की देरी से भी रोगी की जान पर आ पड़ती है।

शस्त्रकर्म के लिये क्लोरोफार्म द्वारा रोगी को बेहोश

करना उत्तम है। परन्तु यदि रोगी कमज़ोर हो तो स्थानिक संज्ञानाश करना चाहिये। इसके लिये नोवोकेन का प्रयोग या सुषुम्ना काण्ड में पिचकारी से दवाई देकर संज्ञानाश कर लेना चाहिये।

हर्निया के स्थान को साफ़ करके, रोगी को मूर्च्छित करके तेज़ चाकू से त्वचा का भेदन करना चाहिये। चर्म और पेशियों के भेदन के पश्चात हर्निया का कोष निकल आता है। यह कोष गोल और तना हुआ होता है। इसको चारों ओर से साफ़ कर देना चाहिये। यदि कोई जोड़ हों तो उसको तोड़ देना चाहिये। कोष को ग्रीवा तक पूर्ण स्वतंत्र कर लेना चाहिये। कोष के भीतर द्रव होता है, उसको बहुत सावधानी से निकाल देना चाहिये। पीछे से अवरोध का कारण देखना चाहिए। जो तन्तु इस अवरोध को उत्पन्न करते हों उनको चाकू से काट देना चाहिये। यह अवरोध ग्रीवा के पास होता है। ग्रीवा के नीचे अंगुष्ठ और तर्जनी डालकर आंत्रों को नीचे की ओर दबा देना चाहिये। अंगुलियों और उस अवरोधक तन्तुओं के बीच में चाकू को प्रविष्ट करके उसको ऊपर की ओर घुमाकर तन्तुओं को काट देना चाहिये।

यदि अवरोध मिट जाता है और आंतों की दशा बहुत बिगड़ी नहीं होती—तो रक्त का फिर से संचरण आरम्भ हो जाता है। कभी आंतों में कोई अन्तर नज़र नहीं आता, इसके लिये कोष में से आंतों को निकाल कर देखना चाहिये। इस कार्य की परीक्षा के लिये आंतों पर नमक के घोल का विलयन डालना चाहिये। यदि इसके डालने से आंतों का रंग काला-गहरे लाल से हल्का लाल हो जाय तो इनको स्वस्थ समझ कर पुनः कोष में वापिस कर देना चाहिये। और यदि रंग वैसा ही गहरा लाल रहे तो कोथ

समझना चाहिये। इस अवस्था में इनके काटने का प्रश्न आता है।
कर्म करने के पश्चात् छेदन को बन्द कर देना चाहिये। रोगी को वहुत सावधानी से रखना होता है—रोगी पर विशेष ध्यान देना होता है।

शोथयुक्त हर्निया

इस दशा का कारण आघात अथवा कर्षण करते समय आंतों की क्षति हो जाना है। रोगी को मलबन्ध की शिकायत् रहती है। रोगी का जी मचलाता है, ज्वर होता है, वमन होते हैं। हर्निया का स्थान तना हुवा एवं त्वचा लाल उष्ण होती है तथा स्पर्श का सहन नहीं करती। इस रोग का अवरुद्ध हर्निया से भेद करना चाहिये। जिसका मुख्य भेद इस अवस्था में ज्वर का होना तथा अवरुद्ध हर्निया में तापक्रम का कम होना है। साथ ही इस दशा में खांसने पर सरसराहट् उत्पन्न होती है।

चिकित्सा—

रोगी को विस्तर पर ही रखना चाहिये, पीने के लिये द्रव पदार्थ देना चाहिये। पीड़ा कम करने के लिये अफीम का प्रयोग करना चाहिये। उत्सेध पर उष्ण स्वेद देना चाहिये। वस्तिकर्म द्वारा आंतों के निचले भाग को स्वच्छ करना चाहिये। कुछ समय तक यही चिकित्सा करनी चाहिये। यदि इससे आराम न हो तो शस्त्रकर्म पूर्व की भान्ति करना चाहिये।

अकर्षणीय हर्निया

इस दशा में कर्षण के द्वारा हर्निया के अवयवों को उदर में वापिस नहीं किया जा सकता। इसका कारण प्रायः कोष और अवयवों का आपस में जुड़ जाना है। कभी कभी अवयव आपस में जुड़ जाते हैं। इसप्रकार जुड़ने से इनका एक

समूह बन जाता है, जो कि अब छिद्र में वापिस नहीं जा सकता। हर्निया के पुरातन होने पर यह दशा उत्पन्न होती है। अनुचित पेटी के प्रयोग से भी यह अवस्था हो जाती है।

चिकित्सा—

इसके लिये प्रथम अन्य उपाय बरतने चाहियें-जिससे कि आंतें उदर में वापिस चली जायें। रोगी को विस्तर पर रखना चाहिये। खांसने या बलप्रयोग से उसको रोकना चाहिये। उत्सेध पर दबाव या बर्फ का प्रयोग करना चाहिये। यदि इस सम्पूर्ण चिकित्सा से लाभ न हो और रोगी बलवान तथा यौवनावस्था में हो तो शस्त्रकर्म करना चाहिये।

बन्धित हर्निया

इस दशा में हार्नियाकोष के अन्दर स्थित आंतों में मल रुक जाता है और वह आगे नहीं सरकता। यह दशा केवल बृहदांत्र में ही पाई जाती है और वह भी नाभि के हर्निया में मिलती है। इसका कारण पाचन क्रिया का विकार है। कोष के भाग में स्थित आंत्र भाग में अपक्व भोजन का अवशेष तथा शुष्क मल के समूह एकत्रित होकर इस दशा को उत्पन्न करते हैं। हर्निया का उत्सेध अकर्षणीय होता है, यह उदर में नहीं समाता। इसमें तनाव अधिक होता है। उचित चिकित्सा न होने पर इसमें शोथ पैदा हो जाती है। रोगी को वमन तथा उदर में शूल होती है। उत्सेध में कोई पीड़ा नहीं होती।

चिकित्सा—

रोगी को विस्तर पर रखकर बस्तिकर्म द्वारा आंत्रों को स्वच्छ करना चाहिये। दिन में कईबार बास्तिकर्म कराया जाता है। साथ में कर्षण और ऊष्म स्वेद भी बरतना चाहिये। इससे लाभ न हो तो शस्त्रकर्म करना चाहिये।

हर्निया का शस्त्रकर्म

हर्निया जिस छेद से बाहर आता है, शस्त्रकर्म के द्वारा उसको बन्द कर दिया जाता है। इससे हर्निया का आना सदा के लिये बन्द हो जाता है। जिन लोगों को जीविकोपार्जन में मेहनत नहीं करनी पड़ती और जो कि पेटी का उपयोग आराम के साथ कर सकते हैं उनके लिये शस्त्रकर्म इतना उपयोगी नहीं है। परन्तु जिन लोगों को सदा रोटी के लिये मेहनत मज़दूरी करनी है—रूखा सूखा सब खाना है, उनके लिये शस्त्रकर्म ही सरल और उत्तम उपाय है। सामान्यतः १½ वर्ष से ६५ वर्ष की आयु तक शस्त्रकर्म भली प्रकार से कराया जा सकता है। विवाहित और विवाह करवाने के इच्छुक रोगियों को शस्त्रकर्म अवश्य करवा लेना चाहिये। सामान्यतः निम्नलिखित दशाओं में शस्त्रकर्म करना उचित है—

१ यदि उत्सेध का आकार शनैः शनैः निरन्तर बढ़ता जाता हो।

२ यदि पेटी से हर्निया को आराम न हो।

३ यदि अवरोध के लक्षण कभी उत्पन्न हो चुके हों।

४ शारीरिक मेहनत से जीविकोपार्जन करना पड़े।

५ यदि विवाह हो गया हो या होने वाला हो।

६ यदि हर्निया के साथ अण्डग्रन्थि भी वंक्षणी नलिका में हो।

७ यदि व्यक्ति को ऐसे स्थान पर जाना हो जहां शस्त्रकर्म करवाना सम्भव न हो।

शस्त्रकर्म से पूर्व निम्न अवस्थाओं पर विचार अवश्य कर लेना चाहिये—

१ यदि उदरभित्तियों की पेशियां दुर्बल हो गई हों।

२ यदि आयु ६५ वर्ष से अधिक हो।

३ यदि बीमार को मधुमेह वृक्कशोथ या पैतृक रक्तस्राव की प्रवृत्ति हो।

४ रोगी बहुत समय से हर्निया रोग से पीड़ित हो, जिससे आकार बहुत बढ़ गया हो। इस अवस्था में शस्त्र-कर्म करके सम्पूर्ण भाग को उदर में वापिस करने से उदर में भार बढ़ जाता है जिसका हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इन सब बातों पर विचार करके रोगी को शस्त्रकर्म के लिये तैयार करना चाहिये। समस्त वंक्षण, पेडू, तथा ऊरू के ऊपरी भाग की पूर्ण शुद्धि करने के उपरान्त शस्त्रकर्म से अव्यवहितपूर्व पुनः उन्हें स्वच्छ करना चाहिये। अन्त में रोगी को मेज़ पर लेटाकर टिंक्चर आयोडीन का लेप किया जाता है

प्रथम त्वचा पर चार इंच लम्बा छेदन किया जाता है। यह छेदन वंक्षणीबन्धन के मध्यभाग के आधा इंच ऊपर से आरम्भ करके वंक्षण के समानान्तर भगसन्धानिका से तनिक बाहर की ओर तक ले जाते हैं। कभी कभी भेदन को अण्डकोष पर भी लेजाना पड़ता है, परन्तु यथाशक्ति इस से बचना चाहिये, क्योंकि इस स्थान का व्रण स्वच्छ नहीं रह सकता, संक्रमण का सदा भय रहता है। साथ ही इस भाग में रक्तस्राव का बहुत भय बना रहता है।

भेदन द्वारा त्वचा, प्रावरणी आदि के कट जाने पर उदरच्छदा अग्रिमा के कलावितान के श्वेत चमकते हुए सूत्र दिखाई देते हैं। इन सूत्रों के नीचे और भीतरी भाग में स्थित बहिर्वंक्षणीय छिद्र द्वारा हर्निया निकलता है। वितान को भी बाहर और ऊपर की ओर वंक्षणी नालिका की दशा में विभाजित किया जाता है, और दोनों सिरों को निवर्त्तकों द्वारा (Retractors) दूर खींच लिया जाता है। इस समय हर्निया का कोष दिखाई देता है, जिसके साथ अण्डरज्जु भी लगी रहती है। इस रज्जु को

कोष से पृथक् करके एक ओर खींच लेने के पश्चात् कोष को वंक्षणीय छिद्र से अधिक से अधिक आगे की ओर खींच लेना चाहिये। यदि कोष के भीतर आंतें हों तो इनको उदर के भीतर लौटा देना चाहिये। इसके लिये कोष को एक स्थान पर काट कर उसमें अंगुली डाल कर देखा जाता है। कि आंते कहीं पर कोष के साथ जुड़ी हुई तो नहीं है। यदि जोड़ हो तो उसको तोड़ देना चाहिये।

आंतों को उदर में वापिस करने पश्चात् वंक्षणीय छिद्र के अत्यन्त समीप कोष को पूर्णतया बाहर की ओर खींच कर उसकी ग्रीवा में कैटगट और सूई से टांका लगा देना चाहिये। ये टांके उदर के जितने समीप लगाये जा सकें उतना ही अच्छा है। पीछे से कोष का शेष भाग काट दिया जाता है। ऊपर का ग्रन्थि लगा हुवा भाग स्वयं ही उदर के भीतर की ओर चला जाता है।

अब वंक्षणीय छिद्र और क्षत को बन्द करना रह जाता है। इसके प्रथम वंक्षणीय बन्धन को स्पष्ट करके उसके नीचे के भाग को उदरच्छदा मध्यमा और अन्तिमा की संयुक्त कण्डरा के साथ उसके ऊपर की ओर से कुछ दूर तक उदरच्छदा आदिमा के कलावितान को हटा कर सी दिया जाता है। अण्डरज्जु इससे ऊपर रहती है। पीछे से उदरच्छदा आदिमा के कलावितान के कटे हुए किनारों को सीने के पीछे क्षत के ओष्ठों को दुहरे टांकों से सी देना चाहिये।

साधारणतः दस दिन के पीछे टांके काट दिये जाते हैं। बालकों को दस दिन के पीछे चलने फिरने की आज्ञा दी जाती है। युवावस्था के रोगियों को दो सप्ताह तक बिस्तर पर रखना चाहिये। पीछे से तीन सप्ताह तक धीरे धीरे टहल सकते हैं। इसके पीछे अपना साधारण काम कर

सकते हैं। वृद्धावस्था के रोगियों को और भी अधिक समय तक विस्तर पर रखना चाहिये। इनको पीछे से पेटी का उपयोग करना चाहिये।

जिस शस्त्रकर्म का ऊपर वर्णन किया है, कुछ विद्वानों ने इस में कुछ भेद किया है-परन्तु सिद्धान्त एक ही है-कि-कोष को बन्द करना और वंक्षणी नलिका को पेशी आदि से दृढ़ करना।

बाईसवां अध्याय

संज्ञापहरण।

मत्तः शस्त्रं न बुध्यते। [सुश्रुत]

शस्त्रकर्म के लिये यह आवश्यक है कि रोगी इस अवस्था में हो, कि वह शस्त्रकर्म को न जान सके। इस प्रकार से करने पर चिकित्सक अपने कार्य को विना किसी हिचकिचाहट के कर सकता है।

इसके लिये प्राचीन काल में रोगी को यन्त्रण शाटिका' आदि से बांधकर अथवा मद्यप व्यक्ति को मद्य पिलाकर मूर्च्छित कर लेते थे *। परन्तु जब से क्लोरोफार्म या ईथर की खोज हो गई है तब से इस कार्य में सफलता बहुत मिल गई। इन वस्तुवों के उपयोग में सम्पूर्ण संज्ञानाश हो जाता है। साथ ही इन से रोगी के हृदय पर भी कुछ समय के लिये बुरा असर पड़ता है। इसलिये इस बात की आवश्यक्ता प्रतीत हुई कि कोई ऐसी औषध का सहारा देखा जाये जो इन दोषों से रहित हो। इसलिये स्थानिक संज्ञानाशक

* प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्ट भोजयेदातुरं भिषक्।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनासहः॥
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि॥

औषधियों की गवेषणा की गई है। इसलिये संज्ञानाश दो प्रकार का है—

(१) स्थानिक संज्ञापहरण।

(२) व्यापक संज्ञापहरण।

इनमें स्थानिक संज्ञापहरण दो प्रकार से किया जाता है। यथा—

(१) रोगी की त्वचा पर जहां शस्त्रकर्म करना होता है वहां पर इसप्रकार के लेप या बाष्पों का प्रयोग किया जाता है, जिससे कि उस स्थान की त्वचा में संज्ञालोप हो जाता है। इसके लिये—

(क) अमूमन कोकेन या इसके समासों का उपयोग किया जाता है। यह कोका (Cocoa) वृक्ष का सत (Alkloid) है। इसका ५ या १० प्रतिशतक घोल काम में आता है। इसका घोल पानी में बनाकर हाईपोडर्मिक पिचकारी से त्वचा में पहुंचा देते हैं। रक्तसंचरण रुक जाता है, और पांच या दस मिनट में स्थानिक संज्ञालोप हो जाता है।

इस दवाई से हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है; इसलिये इसके घोल में 'एड्रैनैलिन क्लोराईड' का (१: १०००) घोल मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। इसप्रकार प्रयोग करने से हृदय पर कोई बुरा प्रभाव नहीं होता।

कोकेन के समान नोवोकेन, स्टोवोकेन, वीटायूकेन का प्रयोग होता है, इनसे हृदय पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इनमें साधारणतः निम्न घोल अधिक बरता जाता है। इसके प्रयोग में बड़े बड़े शस्त्रकार्य भी हो सकते हैं! इसकी मात्रा ७ औन्स तक बरती जा सकती है—

वीटायूकेन	३ ग्रेन
सोडियम क्लोराईड	१२ ग्रेन

एड्रीनेलिन सोल्यूशन १० बूंद
शुद्ध जल ३॥ औन्स

जिस समय पूर्णरूप में संज्ञानाश करना कठिन या अनावश्यक होता है, उस समय इसका प्रयोग किया जाता है।

(ख) दूसरी वस्तु ईथर या इसके समास (ईथाईल-क्लोराईड) बरते जाते हैं। इनमें ईथाइल क्लोराईड एक शीशे की नली में भरा आता है। जिस स्थान पर शस्त्रकर्म करना हो, वहां पर इस नली में से वाष्प फैंके जाते हैं। कुछ समय पीछे वहां का स्थान श्वेत वर्ण हो जाता है। इससे संज्ञानाश होता है और चिकित्सक अपना कार्य भलीप्रकार से कर सकता है।

(ग) नमक, ठोसरूप में परिवर्त्तित कार्बानिक-एसिड गैस और बर्फ आदि का प्रयोग भी स्थानिक संज्ञानाश के लिये होता है। इनमें कार्बानिक एसिड गैस का ठोसरूप स्थानिक संज्ञानाश के सिवाय दाहकर्म में भी प्रयुक्त होता है। इसलिये इसका उपयोग बहुत समझ कर करना चाहिये।

स्थानिक संज्ञाहरण का ही एक भेद प्रान्तीय संज्ञाहरण है। इस क्रिया का मूलसिद्धान्त यह है कि जिस प्रान्त में जो संज्ञावाहनी नाड़ी है, उस नाड़ी के अन्दर औषध दे दी जाये; इससे उस प्रान्त में निर्जीवता आ जायेगी।

प्रायः करके यह विधि उदर या निम्न शाखाओं के शस्त्रकर्म में बरती जाती है। इसके लिये सौषुम्नीय संज्ञापहरण किया जाता है। इसकी विधि निम्न है—

रोगी को आगे की ओर झुका कर बिठाना चाहिये, जिससे पीठ मुड़ जाये और पीठ के मणके उभर जायें। फिर कटि प्रदेश के तीसरे और चौथे मणके के बीच में सूई चुभोनी चाहिये। सूई और पिचकारी को उबाल कर तथा त्वचा को मद्य (Alcohol) से शुद्ध कर लेना चाहिये। सूई को मध्य

रेखा में या इससे $\frac{1}{3}$ इंच की दूरी पर सीधी आगे की ओर इस ढंग से चुभोना चाहिये कि सूई की नोक ज़रा ऊंची रहे। प्रायः करके सूई सुषुम्ना में पहुंच जाती है। यदि सूई न पहुंचे तो निकाल कर ज़रा सा कोण बदल कर पुनः प्रविष्ट करना चाहिये। प्रविष्ट करने पर सुषुम्ना से थोड़ा सा द्रव खींचकर इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि सूई ठीक है। फिर दवाई प्रविष्ट कर देनी चाहिये। औषध प्रविष्ट करने के पांच या दस मिनिट पीछे मूर्च्छा आने लगती है। प्रथम नितम्बों के बीच में, फिर ऊरू और जंघा में आती है और अन्त में नाभि तक पहुंच जाती है। रोगी की पेशीयां ढीली पड़ जाती हैं, अंगसंचालन की शक्ति जाती रहती है। रोगी को पीड़ा का अनुभव नहीं होता। इन सब लक्षणों के साथ वह होश में रहता है, उससे बातें कर सकते हैं।

इस विधि के प्रयोग में भी कुछ चिकित्सकों को यह आपत्ति है कि शस्त्रकर्म को देखने से कई रोगियों के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उनके अन्दर वातसंस्थान के रोग हो जाते हैं। इसलिये जो रोगी व्यापक संज्ञाहरण की औषधियों को सहन न कर सकें उनके लिये ही इन उपायों का प्रयोग करना चाहिये।

व्यापक संज्ञापहरण—

इस क्रिया में रोगी पूर्णरूप से मूर्च्छित हो जाता है, उसकी क्रियाशक्ति, संज्ञा-ज्ञान नष्ट हो जाता है; केवल श्वास केन्द्र अपना कार्य कर रहा होता है, जिसके सहारे उसका जीवन टिका होता है।

इस कार्य के लिये क्लोरोफार्म, ईथर, अलकोहल पृथक् पृथक् या मिश्रण के रूप में तथा नाईट्रस आँक्साईड गैस का प्रयोग होता है। इनमें-

क्लोरोफार्म—

का प्रयोग बहुत अधिक है। इसके प्रयोग करने में किसी गूढ़ यन्त्र या उपकरण की आवश्यक्ता नहीं होती, साथ ही इसके दाम पर्य्याप्त सस्ते हैं। इसका सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव अच्छा नहीं होता। इसके प्रयोग करने की दो विधियां हैं-

खुली विधि—

इसमें एक 'मास्क' या मोटे कपड़े के चौगे का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्दर रूई रख कर उस पर क्लोरोफार्म को छिड़क कर रोगी को सुंघाना चाहिये। सुंघाने के लिये एकदम से इसको रोगी की नाक या मुख पर नहीं रख देना चाहिये-परन्तु कुछ दूरी से सुंघाना चाहिये, जिससे इसमें वायु का मिश्रण होता रहे। फिर धीरे धीरे पास में लाना चाहिये, सब अवस्थाओं में रोगी की नाक के साथ इसको नहीं रख देना चाहिये जिससे इसमें वायु का मिश्रण होता रहे। सब अवस्थाओं में रोगी के श्वास-प्रश्वास, नाड़ी और आंख की कनीनिका की परीक्षा बार-बार करते रहना चाहिये। यदि श्वास-कर्म में कुछ बाधा उत्पन्न हो तो क्लोरोफार्म देना एकदम बन्द कर देना चाहिये।

जंकर का इनहेलर—

आजकल क्लोरोफार्म देने के लिये यह बहुत प्रचलित उपाय है। इसमें एक शीशे की बोतल होती है, जिस पर निशान लगे रहते हैं। इस में धातु का डाट होता है। जिस में दो नलिकायें लगी रहती हैं। एक तो नीचे तक पहुंचती है और दूसरी बोतल के बीच तक। इनमें नीचे तक पहुंचने वाली नलिका रबर की नली से जुड़ी रहती है। यह नली धौंकनी से मिली होती है, जिसकी सहायता से वायु बोतल में पहुंचती है। दूसरी नलिका का सम्बन्ध रोगी के मुख पर रखे

जाने वाले मास्क से होता है। यह 'मास्क' धातु वा काच का बना होता है। जब इसका उपयोग करना हो तो इस शीशी में उचित प्रमाण में क्लोरोफार्म भर कर सहायक डाट में लगे हुक की सहायता से बोतल को अपने कोट पर लटका लेता है और धौंकनी को चलाता है; इससे क्लोरोफार्म के वाष्प 'मास्क' में पहुँचते हैं, इससे रोगी के मुख और नाक में पहुंचते हैं। इस में हम देख सकते हैं कि कितना क्लोरोफार्म रोगी को दिया। खुली विधि में इस बात का पता नहीं चलता कि कितना क्लोरोफार्म रोगी को दिया गया है। इस उपकरण

चित्रसंख्या ४६
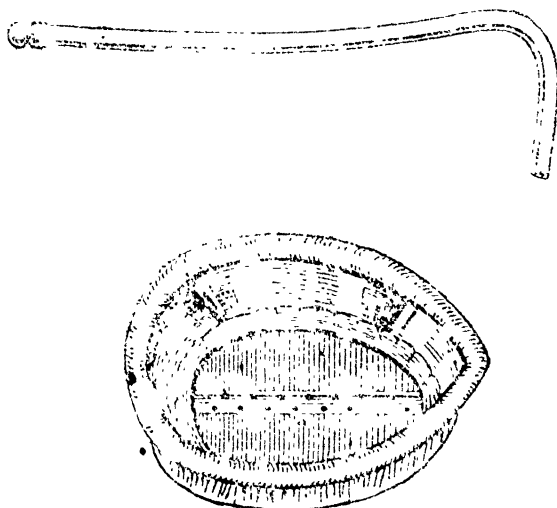
जङ्कर इनहेलर में प्रयुक्त होने वाली मुखनलिका और मास्क। मास्क के मध्य में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाती हुई एक धातु नलिका है। जिसमें छोटे छोटे छिद्र हैं। इन छिद्रों में से क्लोरोफार्म के वाष्प बाहिर आते हैं।

में भी रोगी के श्वास-प्रश्वास, हृदय की गति का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। कभी कभी मास्क के स्थान पर मुखनलिका का प्रयोग भी होता है।

क्लोरोफार्म की चार अवस्थायें—

प्रथम अवस्था—इसमें रोगी अपूर्ण रूप में अचेतन होता है। इसमें रोगी को त्वचा पर उष्णिमा अनुभव होती है; कानों में गुञ्जार का होना; आंखों के सामने प्रकाश की प्रतीति, श्वासकाठिन्य का होना, विचार गड़बड़ होते हैं। रोगी प्रश्नों के उत्तर ठीक नहीं देता, यदि दर्द हो तो वह कम प्रतीत होती है।

द्वितीयावस्था-इसमें रोगी साधारण रूप में उत्तेजित हो जाता है। रोगी अपने स्वभाव के अनुसार गाता है, रोता है, चिल्लाता है, हाथ-पांव मारता-पटकता है। रोगी अपने श्वास को रोक लेता है, जिससे चेहरा नीला हो जाता है, आंखें बाहर को निकलती दीखती हैं और गले की शिरा फैल जाती है। नाड़ी और हृदय की गति अनियमित हो जाती है, श्वास गति तीव्र हो जाती है, रक्त का दबाव बढ़ जाता है और आंख की पुतली थोड़ी फैल जाती है।

तृतीयावस्था—इस अवस्था में रोगी मूर्छित हो जाता है, वह सब नाड़ीकेन्द्र जो पहले उत्तेजित हुए थे अब शिथिल पड़ जाते हैं। स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है। रोगी के किसी अंग को ऊपर उठाकर छोड़ दें तो वह निर्जीव अंग के समान गिर पड़ता है। आंख के सामने प्रकाश करने पर कनीनिका संकुचित होती है, श्वास धीमा परन्तु गहरा चलता है और एक जैसा जाता है। नाड़ी धीमी हो जाती है। आंख के श्वेत भाग पर अंगुली स्पर्श करने से पलकें संकुचित नहीं होतीं। रक्त का दबाव गिर जाता है। शस्त्रकर्म के लिये यह स्थिति उपयुक्त है। पूर्ण संज्ञानाश के लिये साधारणतः १ से

३ ड्राम क्लोरोफार्म की आवश्यकता होती है।

चतुर्थावस्था—मात्रा से अधिक क्लोरोफार्म सुंघाने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। मांसपेशियों की शक्ति के पूर्णतः नष्ट होने से परावर्त्तित केन्द्र का पक्षाघात हो जाता है। मूत्र और मल बिना होश के निकल जाते हैं। हृदय और श्वास के केन्द्र स्तम्भित हो जाते हैं। नेत्र की पुतलियां फैलने लगती हैं, जिससे श्वासावरोध का होना समझ लेना चाहिये। रक्तप्रणालियां और केशिकायें फैल जाती हैं, जिससे रक्त का दबाव शून्य तक आ जाता है। श्वास उथला और कमज़ोर हो जाता है। प्रायः करके हृदय बन्द होने से पूर्व श्वास बन्द हो जाता है। नाड़ी अनियमित और निर्बल रहती है, और अन्त में हृदय प्रसारित अवस्था में बन्द हो जाता है।

क्लोरोफार्म और ईथर में भेद

क्लोरोफार्म	ईथर
१ क्लोरोफार्म को वायु के मिश्रण से हल्का बनाकर देना चाहिये। अर्थात् ६५ से ६७ वायु और ५ से ३ क्लोरोफार्म	१ ईथर को सान्द्र रूप में बरतना चाहिये। अर्थात् ७० प्रति शतक ईथर और ३० प्रतिशतक वायु मिला कर देना चाहिये।
२ साधारणतः ३ ड्राम से १ औंस पर्य्याप्त होता है।	२ मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिये कई औन्स तक देना पड़ता है।
३ क्लोरोफार्म की गन्ध बुरी नहीं लगती।	३ ईथर की गन्ध बुरी होती है।
४ उत्तेजना की अवस्था छोटी होती है, इस लिये अधिक बेचैन नहीं करती।	४ उत्तेजना की अवस्था लम्बी होती है इसलिये अधिक बेचैन करती है।
५ मूर्च्छा की अवस्था पूर्ण होती है।	५ मूर्च्छा की अवस्था छोटी और अपूर्ण रहती है।

६ रोगी का तापपरिमाण बहुत थोड़ा उतरता है।

७ अपेक्षया श्वासक्षोभ कम और उदर क्षोभ अधिक होता है।

८ हृदय, श्वास के केन्द्र जल्दी से स्तम्भित हो जाते हैं। इसलिये क्लोरोफार्म सुरक्षित संज्ञानाशक नहीं है।

९ श्वासनलिका और फेफड़ों के उपद्रव प्रायः कम होते हैं।

१० हृदय के रोगियों में मृत्यु का होना (मूर्च्छा के कारण) अधिक सम्भव है।

११ ज्वलनशील नहीं। परंतु फिर भी आग पास नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह नष्ट होकर फौसजीन गैस पैदा हो जाती है, जो रोगी की मृत्यु का कारण हो सकती है।

१२ यह शीघ्र निकल जाता है अतः इसकी गन्ध बहुत देर तक नहीं टिकती।

६ रोगी का तापपरिमाण बहुत उतर जाता है।

७ अपेक्षया उदर क्षोभ कम और श्वास अधिक होता है।

८ हृदय और श्वास के केन्द्र जल्दी से स्तम्भित नहीं होते इसलिये ईथर सुरक्षित संज्ञानाशक है।

९ श्वासनलिका और फेफड़ों के उपद्रव प्रायः रहते हैं। इससे निमोनिया और कास हो जाता है।

१० हृदय के रोगियों में मूर्च्छा के कारण मृत्यु का होना कम सम्भव है।

११ ज्वलनशील है। अतः सूंघते समय मुंह के पास किसी प्रकार की आग न आनी चाहिये

१२ यह धीमे निकलता है अतः बहुत देर तक रोगी के देह से गन्ध आती रहती है

क्लोरोफार्म से मृत्यु का कारण—

इस विषय में बहुत मतभेद है कि क्लोरोफार्म के प्रयोग में मृत्यु किस कारण से होती है। कोई कहता है कि हृदय की गति के प्रथम बन्द होने से मृत्यु होती है और दूसरों का कहना है कि श्वास की गति के प्रथम बन्द होने से मृत्यु होती है। निजाम सरकार ने दो कमीशन बिठाये थे उसमें यह निर्णय हुआ कि श्वासकी गति हृदय की गति से पहले बन्द होती है, परन्तु यह भी विवादास्पद है। कुछ चिकित्सकों का कहना है कि मृत्यु का कारण रक्त के दबाव का कम होजाना है, जिससे हृदय में रक्त नहीं रहता और हृदय का काम करना बन्द हो जाता है।

क्लोरोफार्म के सम्बन्ध में कुछ ध्यान देने योग्य बातें

क्लोरोफार्म के सुंघाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इसके वाष्प अधिक तीक्ष्ण (सान्द्र) रूप में रोगी को सुंघाये न जायें, जल्दी जल्दी सुंघाने से रक्त में होने वाले परिवर्तन का ध्यान रखना चाहिये।

१ क्लोरोफार्म शुद्ध होना चाहिये। यदि रोगी कमज़ोर या हृदयरोग-ग्रस्त हो तभी A.C. (अलकोहल और क्लोरोफार्म) मिश्रण या A.C.E. (अलकोहल, क्लोरोफार्म और ईथर) मिश्रण¹ बरतना चाहिये।

२ क्लोरोफार्म सुंघाने से छह घंटे पूर्व तक कोई भी ठोस भोजन रोगी को नहीं देना चाहिये। इसके लिये सब से उत्तम

१ अलकोहल, ईथर और क्लोरोफार्म के मिश्रण में १ भाग अलकोहल; दो भाग क्लोरोफार्म और तीन भाग ईथर मिला होता है। क्लोरोफार्म (२ भाग) और ईथर (३ भाग) को भी मिला कर देते हैं। अलकोहल और क्लोरोफार्म के मिश्रण में इनके भाग १ और ३ होते हैं। इससे हानि कम होती है।

समय प्रातःकाल का है, इस समय रोगी तरोताज़ा होता है और उसे बिना भोजन के रखा जा सकता है।

३ छाती, गला और पेट पर से सब तंग कपड़ों को ढीला कर देना चाहिये। रोगी को उठाते या थामते समय छाती या उदर पर दबाना नहीं चाहिये।

४ कृत्रिम दांतों को निकाल देना चाहिये।

५ एक ही चिकित्सक को शस्त्रकर्म करना तथा क्लोरोफार्म सुंघाना-ये दोनों कार्य नहीं करने चाहियें।

६ क्लोरोफार्म को वायु के मिश्रण से पूर्णरूप में हल्का कर लेना चाहिये।

७ यदि रोगी कमज़ोर हो तो क्लोरोफार्म सुंघाने से पूर्व ब्रांडी या ह्विस्की की थोड़ी मात्रा उसे दे देनी चाहिये।

८ श्वास के ऊपर विशेष ध्यान रखना चाहिये। वायु के पूर्ण न मिलने से श्वास में अनियमितता आ जाती है, जिससे कि रोगी का श्वास रुक जाता है।

९ जब तक रोगी पूर्णरूप में मूर्च्छित न होजाये, उसकी आंख की प्रत्यावर्त्तित क्रिया लुप्त न होजाये, तब तक कोई भी शल्यकर्म नहीं करना चाहिये। श्वास में घर्घराहट उत्पन्न होने पर अधिक क्लोरोफार्म नहीं सुंघाना चाहिये।

१० जब आंख की प्रत्यावर्त्तित क्रिया लुप्त हो जाये अथवा श्वास में घरघराहट आजाये तो उस समय क्लोरोफार्म का सुंघाना बन्द कर देना चाहिये।

११ वमन के समय रोगी का मुख एक पार्श्व में मोड़ देना चाहिये और जीभ को बाहर खींच लेना चाहिये, जिससे वमन का कोई पदार्थ श्वासप्रणाली में न जाये और यदि कभी ऐसा हो जाय तो तुरन्त स्वरप्रणाली का छेदन करना चाहिये।

१२ चेहरा जब पीला पड़ने लगे तो तुरन्त सिर को नीचा

करके 'एमाईल नाईट्राइट' सुंघाना चाहिये।

१३ क्लोरोफार्म सुंघाने के दो घन्टे पीछे तक कोई भोजन नहीं देना चाहिये। प्रथम बारह घंटे में केवल दूध, बर्फ और सोडे के साथ देना चाहिये। वमन को बन्द करने के लिये बर्फ चूसने के लिये देनी चाहिये।

प्राक् कर्म

शस्त्रकर्म के लिये रोगी को क्लोरोफार्म देना हो तो उससे पूर्व कुछ आवश्यक बातें हैं, जिन पर ध्यान देना चाहिये। यथा—

जिस दिन रोगी को क्लोरोफार्म देना हो उससे पूर्व रात्रि में रोगी को एरण्ड तैल या इसीप्रकार का कोई मृदु विरेचन देना चाहिये, साथ ही यथासम्भव भोजन भी द्रव ही देना चाहिये। प्रातःकाल रोगी को वस्ति देनी चाहिये। इससे कोष्ठ साफ़ हो जाता है और किसी भी प्रकार के वमन की आशंका नहीं रहती। इसके अतिरिक्त रोगी को मूर्च्छित करने में क्लोरोफार्म की अधिक मात्रा की भी ज़रूरत नहीं होती। निर्बल रोगियों को क्लोरोफार्म सुंघाने से पूर्व स्ट्रिक्नीन या एड्रेनलिन क्लोराईड का इंजैक्शन दे देना चाहिये।

मूर्च्छा के समय विशेष सावधानी बरतनी चाहिये। प्रथम या द्वितीयावस्था में क्लोरोफार्म अधिक नहीं सुंघाना चाहिये। जिस समय रोगी अपने श्वास को रोक ले उस समय मास्क को हटा लेना चाहिये। जब वह अपनी पेशियों को ढीला करले तब फिर सुंघाना चाहिये। इसप्रकार से रोगी को औषध धीरे धीरे बढ़ाकर सुंघाते हुए तीसरी अवस्था में ले आना चाहिये। शस्त्रकर्म में रोगी के लिये रोगी के अंग और पेशियों का ढीला होना तथा पुतली का संकुचित होना आवश्यक है। यदि अंगों में कड़ापन आने

लगे और पुतली फैलने लगे तो रोगी को औषध फिर सुंघा देना चाहिये। रोगी का श्वास नाड़ी और नेत्रों की पुतली ये पथप्रदर्शक होते हैं। इन से दवाई सुंघाने वाला सहायक अपने पथ को देख सकता है। सब से अधिक पीड़ा रोगी को शस्त्रकर्म में त्वचा के छेदन में होती है, उस समय रोगी को पूर्ण मूर्च्छित होना चाहिये, फिर उतनी मूर्च्छा की आवश्यकता नहीं रहती।

मूर्च्छा में निम्नलिखित उपद्रव हो सकते हैं, इनका प्रतिकार तुरन्त करना चाहिये।

श्वासावरोध—जिगर के पीछे की ओर मुड़ने से श्वास मार्ग का अवरोध होने से या वमनद्रव्य के श्वास मार्ग में आ जाने से श्वासावरोध होता है। इसके लिये अधोहन्वस्थि को आगे की ओर दबा कर संदंश द्वारा जीभ को आगे की ओर खींच लेना चाहिये।

क्लोरोफार्म की अधिक मात्रा के देने से भी श्वासावरोध हो जाता है। श्वास के बन्द होने पर भी नाड़ी कुछ समय तक चलती रहती है।

सब अवस्थाओं में क्लोरोफार्म देना बन्द करके कृत्रिम श्वास आरम्भ कर देना चाहिये। छाती पर गीले कपड़े को बार-बार मारना चाहिये। जिह्वा को आगे की ओर खींच लेना चाहिये। स्ट्रिकनीन का इंजेक्शन देना चाहिये।

हृदय की अवसन्नता—यह अवस्था उन व्यक्तियों में होती है, जिनमें वसा की मात्रा अधिक होती है अथवा जिनकी हृदय की पेशियां कमज़ोर होती हैं। ये लोग क्लोरोफार्म का अधिक सहन नहीं कर सकते।

इनकी चिकित्सा भी पूर्व के समान कृत्रिम श्वास तथा स्ट्रिकनीन का इंजेक्शन है।

श्वासावरोध में ओषजन पर्य्याप्त मात्रा में फेफड़ों में

नहीं आती और न कार्बन औक्साईड गैस बाहर निकलती है। इससे शरीर के तन्तुओं को ओषजन पर्य्याप्त नहीं मिलती और शक्ति क्षीण हो जाती है । मस्तिष्क या नर्म तन्तुओं पर सब से बुरा प्रभाव होता है । ऐसी अवस्था में कृत्रिम श्वासद्वारा फेफड़ों में अधिक वायु पहुंचानी चाहिये।

ईथर

कुछ लोग क्लोरोफार्म की अपेक्षा ईथर को उत्तम समझते हैं । व्यापकरूप में संज्ञानाश करने के लिये इसका उपयोग होता है । इसको देने की भी दो विधियां हैं, एक खुली और दूसरी क्लोवर या ह्यूलेट का उपकरण। इस में—

खुली विधि में–एक मास्क का उपयोग होता है । यह तारों से बना होता है। इस पर बारीक गौज़ की १५-२० तह करके रख देते हैं और ऊपर से एक लिन्ट की परत चढ़ा देते हैं। इन सब की रक्षा के लिये एक तार लगा रहता है। अब गौज़ में दो छेद कर देते है । इनसे रोगी का प्रश्वास

चित्र संख्या ५०
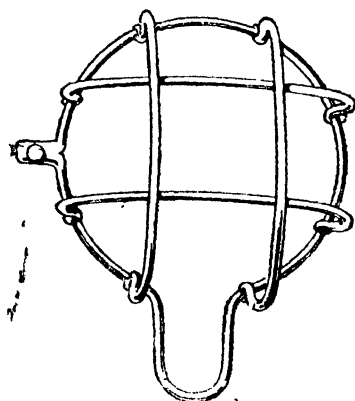
ईथर को सुंघाने के लिए मेयो का मास्क

बाहर निकलता रहता है। गौज़ पर ईथर की कुछ बूंदे छिड़क कर रोगी की नाक पर लाते हैं; ईथर के वाष्प रोगी की नाक में जाते है। दस-पन्द्रह मिनिट में रोगी मूर्च्छित हो जाता है। इसके पश्चात् ज़रूरत के अनुसार बूंदें छिड़कते जाना चाहिये।

इस प्रयोग में रोगी की आंख की रक्षा के लिये आंखों पर पट्टी या लिन्ट रख देना चाहिये अथवा एरण्डी का तेल डाल देना चाहिये।

इस प्रयोग में तथा ईथर के देने में दो बड़ी आपत्तियां हैं। एक-तो यह कि ईथर जलने वाली चीज़ है, इसलिये ज़रा भी आग से भभक उठता है। अतः मुख के या नाक के शस्त्रकर्म में इस का उपयोग बहुत सावधानी से करना चाहिये। दूसरी आपत्ति इसके ठण्डा होने से है। इसके वाष्प सम्पूर्ण वायु मण्डल में पहुंच जाते हैं, जो कि रोगी के श्वास के साथ उसके फेफड़ों में पहुंचते हैं, इसलिए निमोनिया होने का भय रहता है। साथ ही वहां पर उपस्थित रोगियों के लिये यह अतिशय असुविधा-जनक होता है। रोगी का तापपरिमाण भी घट जाता है, इसलिये कुछ ऐसे यंत्र बने है, जिनमें कि ईथर गरम करके सुंघाया जाता है।

क्लोवर या ह्यूलेट का उपकरण—इस उपकरण में ऐसा प्रबन्ध किया होता है। कि यदि नाईट्रस ऑक्साईड और ईथर को मिला कर सुंघाना हो तो वह भी सुंघाया जा सकता है। और यदि आवश्यक्ता न हो तो अकेला ईथर ही सुंघा सकते है।

ह्यूलेट के यंत्र में एक धातु का भाग बना है। इसके ऊपर दर्शक (द्योतक) लगा है। धातु के इस भाग में नालिका से ईथर भर देते हैं। इस भाग का सम्बन्ध एक ओर तो रोगी के मुख पर रक्खे जाने वाले भाग से होता है

और दूसरी ओर रबर के बैग से होता है। यह दूसरी नलिका ईथर के कोष्ठ में से हो कर जाती है। रोगी जब श्वास लेता है, ईथर के वाष्प उसको पहुंच जाते हैं।

द्योतक को शून्य पर लाकर, मुख के भाग को रोगी के मुख पर लगा कर श्वास लेने के लिये कहना चाहिये। श्वास लेने के उपरान्त निश्वास रूप में निकली वायु से रबर का बैग फूल जाता है। इसके पीछे ईथर के कोष्ठ को घुमा कर द्योतक को एक अंक पर ले आते हैं, फिर धीरे धीरे २-३ पर और ४ पर पहुंचा देते हैं। इससे ईथर अधिक जाने लगता है। इस क्रिया में १ या १½ मिनिट लगता है। एक से दो मिनिट में रोगी बेहोश हो जाता है और शस्त्रकर्म किया जा सकता है, फिर द्योतक को २ पर ला देना चाहिये, इससे अधिक ईथर देने की आवश्यक्ता नहीं होती।

बीच बीच में मुख पर से मुख का भाग हटा कर शुद्ध वायु जाने देनी चाहिये। यदि चेहरा नीला पड़ जाये तो ईथर सुंघाना बन्द करके शुद्ध वायु देनी चाहिये। इस अवस्था में औक्सीजन सुंघानी चाहिये।

ईथर के प्रयोग से जी मचलता है, कफ बहुत निकलता है, वमन होता है, और कभी कभी गले के भीतर एकत्रित हो जाता है। मूर्च्छा के पश्चात् शिर दर्द, मुंह से झाग निकलता होता है। निमोनिया तथा वृक्करोग भी होजाते हैं।

सुंघाने के अतिरिक्त निम्न प्रकार से भी इनका उपयोग होता है। यथा—

(१) गुदामार्ग द्वारा
(२) शिरा के द्वारा
(३) श्वासप्रणाली के द्वारा

(१) गुदामार्ग के द्वारा—प्रथम रात्रि में रोगी को विरेचन देकर प्रातः बस्तिकर्म से मलाशय को पूर्ण साफ़ कर देना

चाहिये। फिर एक लम्बी पिचकारी में २ औन्स जैतून का तैल, ४ औन्स ईथर और २ ड्राम पैरेलडिहाईड मिलाकर गुदा में प्रविष्ट करनी चाहिये। इसके पश्चात् रोगी को बिस्तर पर लेटा देना चाहिये । थोड़ी देर में रोगी को निद्रा आ जाती है, जो शीघ्र ही मूर्च्छा में बदल जाती है। फिर रोगी पर शस्त्रकर्म करना चाहिये । यदि मूर्च्छा कम होने लगे तो रोगी के मुंह पर गीला तौलिया रख देना चाहिये, जिस में कि रोगी अपने ही बाष्प सूंघता है, और मूर्च्छा फिर गाढ़ी होजाती है।

(२) शिरा के द्वारा-इस विधि में कूर्पर के सामने की शिरा को खोलकर कैन्यूला द्वारा ईथर एक भाग, और सामान्य लवण २० भाग मिलाकर प्रविष्ट किया जाता है। इससे मूर्च्छा बहुत जल्दी उत्पन्न होती है। इसके पीछे ईथर की गति को कम कर देते हैं।

इस विधि को तब बरतते हैं जब रोगी का हृदय पहिले से कमज़ोर हो, या रोगी निर्बल हो । इसमें द्रव की बहुत अधिक मात्रा का प्रयोग करना पड़ता है, यह एक आपत्ति है।

(३) श्वासप्रणाली के द्वारा—रोगी के गले में एक रबर की नलिका श्वासप्रणाली में प्रविष्ट करते हैं । इस नलिका को वहां तक प्रविष्ट करना चाहिये, जहां पर कि श्वास प्रणाली दो भागों में विभक्त होती है । इसके द्वारा वायु से मिल ईथर के बाष्प रोगी के फेफड़ों में पहुंचाये जाते हैं, जिससे रोगी मूर्च्छित हो जाता है।

नाइट्रस ऑक्साईड गैस

इस गैस का प्रभाव बहुत कम समय के लिये रहता है। इसलिये छोटे छोटे शस्त्रकर्मों के लिये इसका व्यवहार होता है, जैसे दांत का उखाड़ना आदि । इस गैस

का प्रभाव हृदय पर बहुत बुरा पड़ता है। इसलिये इसको ओषजन के साथ मिलाकर प्रविष्ट करते है । ओषजन या वायु के साथ मिलने से इसकी शक्ति बढ़ जाती है, साथ ही विषैला प्रभाव कम हो जाता है । मूर्च्छा के समाप्त हो जाने पर रोगी को तीन या चार मिनिट के पीछे होश आजाता है। वमन, शिरदर्द या अन्य किसीप्रकार का दुष्परिणाम इससे पैदा नहीं होता।

इस के देने के लिये एक खास प्रकार के यंत्र की सहायता ली जाती है। इसमें चार सिलिन्डर नाइट्रस ऑक्साइड्स गैस के और एक बड़ा सिलिण्डर ओषजन का होता है इन सिलिन्डरों पर एक चक्कर लगा रहता है। जिसके घुमाने से इन सिलिन्डरों के मुख बन्द या खोले जा सकते हैं। इन सिलिन्डरों मे से दो नालियां एक बोतल में जाती हैं। ये दोनों नलियां बोतल में धातुवों की नलियों से जुड़ी रहती हैं। बोतल में से एक दूसरी नालिका बोतल के रबड़ के काग में से हो कर रबर नालिका से मिल कर एक दूसरी शीशी में आजाती है । इस बोतल में एक काग लगा होता है। जिस में तीन नालिकायें होती है, एक नालिका बोतल के अन्दर जाती है । और शेष दो पार्श्वों में खुलती हैं। इस शीशी में ईथर रहता है ।

पेच में ऐसा प्रबन्ध होता है कि पेच को घूमा कर जिन दो नलिकाओं को चाहें आपस में सम्बन्ध कर लें। ईथर वाली बोतल से एक लम्बी नालिका एक बैग में जा कर मिलती है, इस के दूसरे सिरे पर मुंह पर रखने वाला भाग लगा रहता है। इसके पीछे की ओर एक और पेंच रहता है, जिससे गैस की मात्रा को घटा बढ़ा सकते हैं।

प्रयोग करने से पूर्व तीन चौथाई बैग को गैसों से भर देना चाहिये। बैग में ३ भाग नाइट्रस ऑक्साईड, और १ भाग ओषजन रहता है। रोगी को $\frac{1}{3}$ ग्रेन मोर्फ़िया और $\frac{1}{12}$ ग्रेन एट्रोपीन का इंजैक्शन देना चाहिये। फिर यंत्र का मुख वाला भाग रोगी के मुख पर इसप्रकार से चिपका दिया जाता है कि वायु इसके भीतर न जा सके। दो या तीन श्वास के पीछे नाइट्रस ऑक्साईड की मात्रा बढ़ा दी जाती है। जिससे मूर्च्छा शीघ्र उत्पन्न हो जाती है। इसके पीछे गैस की मात्रा को घटा देते है। रोगी इस गैस को जिसमें कि फेफड़ों से निकली कार्बोनिक एसिड गैस भी मिली रहती है–बार बार श्वास के रूप में ग्रहण करता है। इसमें वायु तनिक भी नहीं मिलने दी जाती। कहा जाता है कि कार्बोनिक एसिड गैस मिली ऐसी गैसों के इस मिश्रण द्वारा रोगी को मूर्च्छा गाढ़ी आती है। *

मूर्च्छा के समय रोगी की दशा पर पूरा ध्यान रखना चाहिये। यदि रोगी के चेहरे पर नीलापन आजाय या श्वासकाठिन्य हो तो तुरन्त ओषजन की मात्रा बढ़ा देनी चाहिये।

---

* साधारणतः हमारे श्वास में कार्बोनिक एसिड गैस और ओषजन में १ और ४ का अनुपात है। परन्तु निमोनिया आदि रोग में यही घटकर १ और ३ [illegible] होता है। रक्त में या फेफड़ों में कार्बोनिक एसिड गैस की मात्रा बढ़ने से मनुष्य बेहोश हो जाता है। उसकी बेभान अवस्था होती है। क्योंकि कार्बोनिक एसिड गैस का नर्व तन्तुओं पर मूर्च्छोत्पादक प्रभाव होता है।